सस्कृत व्याकरण-दर्शन

संस्कृत व्याकरण-दर्शन

रामसुरेश त्रिपाठी



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली ६ पटना ६

प्राक्कथन

'वाक्यपदीय विशेषत आख्यातार्थ का अध्ययन' विषय पर एक प्रबन्ध मैंने आगरा विश्वविद्यालय मे १९६५ मे प्रस्तुत किया था जो पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। कइ वर्षों तक वह प्रबन्ध कई कारणो से अप्रकाशित पडा रहा। उसे सस्कृत व्याकरण दर्शन के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। व्याकरण दर्शन से सम्बद्ध वाक्य विषयक विचार मूल प्रबन्ध म नही थे। उनका समावेश यहा कर लिया गया है शेष ग्रन्थ प्राय अपने मूल रूप म है।

इस ग्रन्थ म हरिवृत्ति शब्द से वाक्यपदीय पर स्वय भतृहरि द्वारा लिखी हुई वृत्ति अभिप्रेत है। श्री गगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड मे श्लोका की सख्या म व्यतिक्रम है। किन्तु पाठका की सुविधा की दृष्टि से श्लोको की सख्या जसे छपी है वसे ही इस ग्रन्थ मे उद्धत है। सस्कृत व्याकरण दर्शन एक दुरूह विषय है। इस पर धीरे धीरे किसी किसी तरह से मैं कुछ लिख सका हूँ। यहाँ जो कुछ विचार व्यक्त किये गए हैं वे सब प्राचीन आचार्यों के हैं। उनके विचारो को ठीक से समझने म भ्रम हो जाना अस्वाभाविक नही है। इस निवेदन के साथ यह ग्रन्थ विनम्र पाठको के सामने प्रस्तुत है।

व्याकरण दर्शन की ओर मेरी रुचि स्वर्गीय गुरुवर प० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय भूतपूर्व प्रधानाध्यापक व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की कृपा से हुई थी। अब उनका सादर स्मरण ही सभव है।

मैं राजकमल प्रकाशन के अधिकारियो का अनुगृहीत हू जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने उपर लिया।

—रामसुरेश त्रिपाठी

अनुक्रम

संस्कृत व्याकरणदर्शन की उपलब्ध सामग्री

संस्कृत व्याकरणदर्शन का आरंभ सुदूर प्राचीन काल में हो गया था। व्याकरण की रचना के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का आश्रय लेना पड़ा। लक्षण बनाए गए। लक्षणों पर विचार आरंभ हुआ। मतभेद सामने आए। दर्शन आरम्भ हुआ। जिज्ञासा दर्शन है। विचार की प्रक्रिया दर्शन है। गहरा चिंतन, सूक्ष्म विचार और सत्य के प्रति निष्ठा किसी भी विचारधारा को दर्शन का रूप दे देते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का भी एक अपना दर्शन है। इसके बीज वैदिक साहित्य में मिल जाते हैं

> ओंकार पृच्छाम को धातु, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम् किं लिङ्गम् किं वचनम् का विभक्ति, क प्रत्यय इति।[1]

यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाए तो पूरा व्याकरणदर्शन सामने आ जाता है। जब धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात आदि के प्रति जिज्ञासा थी तो इनका समाधान भी किया गया था और इनके विवेचन आचार्य प्रसिद्ध हो चले थे

> आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिन आचार्या पूर्वे बभूवु।[2]

यास्क ने नाम, आख्यात आदि के विवरण प्रस्तुत किए हैं और प्रसंगवश कतिपय पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की दार्शनिक प्रक्रिया ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व विकसित हो चुकी थी। किन्तु जैसे पाणिनि से पूर्व के व्याकरणों की बहुत ही अल्प सामग्री आज उपलब्ध है वैसे ही पूर्वाचार्यों के व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक विचार भी अल्प ही सुरक्षित रह पाए हैं। जिन आचार्यों के मत उपलब्ध हैं उनका व्याकरणदर्शन की दृष्टि से संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

जैसे संस्कृत व्याकरण का सुव्यवस्थित रूप पाणिनि से आरंभ होता है वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी स्पष्ट रूप पाणिनि से आरम्भ होता है। पाणिनि ने (छठी शताब्दी, ईसवी पूर्व) अष्टाध्यायी की रचना शब्दानुशासन की दृष्टि से की थी किन्तु उन्हें अनेक परिभाषा सूत्रों की रचना करनी पड़ी। अनेक संज्ञाएँ बनाने पड़े और पारिभाषिक शब्दों के लक्षण देने पड़े। फलत व्याकरणदर्शन की एक विस्तृत पृष्ठभूमि पाणिनि ने स्वयं

१ गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक १।२४, डॉ० ड्यूके गोऍर संपादित
२ गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक, १।२७

तैयार कर दी थी। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त विभाषा, पदविधि, आदेश, विप्रतिषेध, उपमान लिङ्ग, क्रियानिष्पत्ति कालविभाग, वीप्सा, प्रत्ययलक्षण, भावलक्षण, शब्दार्थप्रकृति जैसे सैकड़ों शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि वे उन शब्दों के दार्शनिक पक्षों से पूर्णरूप से अवगत थे और स्वयं उच्चकोटि के चिन्तक थे। उनके अनेक सूत्र अपने आप में एक दर्शन हैं जैसे

स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४
तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३
अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५
कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्तुः शरीरसुखम् ३।३।११६
समुच्चये सामान्यवचनस्य ३।४।५
तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११६
प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ आदि

वस्तुतः पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं। बाद के वैयाकरणों ने व्याकरण से सम्बद्ध जो कुछ विचार व्यक्त किए हैं उनका अनुमोदन वे किसी-न किसी तरह पाणिनि के सूत्रों से करते हैं। व्याकरणदर्शन से सम्बद्ध भी सभी मत पाणिनि की मान्यताओं से परिपुष्ट किए जाते हैं। किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति है कि जो कुछ वृत्ति ग्रन्थों में है, जो कुछ वार्तिकों में है, वह सब सूत्रों में ही है

सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
उदाहरणमन्यस्य प्रत्युदाहरणं परो ॥[3]

व्याकरणदर्शन की दृष्टि से भी यह उक्ति दूर तक ठीक है।

व्याडि (पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व)

पाणिनि के समय के आसपास ही व्याडि नाम के आचार्य हुए थे। उन्होंने 'संग्रह' नाम का व्याकरणदर्शन का ग्रन्थ लिखा था। भर्तृहरि के आधार पर जान पड़ता है कि वह पाणिनि सम्प्रदाय से सम्बद्ध ग्रन्थ था।

'संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। तत्रैकतन्त्रत्वात् व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि सिद्धशब्द उपात्तः।"[4]

व्याडि स्वतन्त्र विचारक थे। संग्रह में उन्होंने भर्तृहरि के कथनानुसार चतुर्दश सहस्र वस्तुओं पर विचार किया था।[5] संग्रह भर्तृहरि के समय से बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था।[6] संग्रह के कुछ उद्धरण भर्तृहरि के ग्रन्थों में मिल जाते हैं। उनमें भी अधिकांश वाक्यपदीय की भर्तृहरि द्वारा रचित वृत्ति में हैं। जो दो-तीन उद्धरण दूसरे लेखकों द्वारा दिए गए हैं वे भी भर्तृहरि से ही लिए जान पड़ते हैं।[7] पतंजलि ने संग्रह के बारे में कहा

---

३ द्वादशारनयचक्र की न्यायागमानुसारिणी व्याख्या में उद्धृत, पृ० ५२६
४ महाभाष्य दीपिका, पृ० २३ पूना संस्करण
५ चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे—महाभाष्य दीपिका, पृ० २२
६ संग्रहेऽस्तमुपागते—वाक्यपदीय २।४८४
७ अब तक उपलब्ध संग्रह के सभी उद्धरण इस ग्रन्थ में यथास्थान दे दिए गए हैं।

है शोभना खलु दाक्षायणस्य सग्रहस्य कृति ।[८] पतजलि का शोभना शब्द सग्रह के गौरव को व्यक्त कर देता है।

जो उद्धरण उपलब्ध हैं उनसे जान पडता है कि व्याडि ने सग्रह म प्राकृतध्वनि वकृतध्वनि, वर्ण पद वाक्य, अर्थ मुख्यगौणभाव सबध उपसर्ग, निपात कर्मप्रवचनीय आदि पर विचार किया था। उन्होने 'दशधा अर्थवत्ता' मानी थी।[९] शब्द के स्वरूप पर मौलिक विचार प्रस्तुत किए थे। शब्द के नित्य और अनित्य स्वरूप पर भी सग्रह मे पर्याप्त विवेचन किया गया था और दोनो पक्षो मे गुण दोष के विवेचन के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला गया था कि व्याकरण के नियम शब्द के नित्य पक्ष और शब्द के कार्य पक्ष दोनों ही दृष्टि से होने चाहिएँ। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनकी सर्वाधिक देन निम्न-लिखित मानी जा सकती है

१ द्रव्य द्वारा द्रव्य का अभिधान इस मान्यता के आधार पर भारतीय चिन्तन परम्परा में व्याडि का एक दर्शन ही खडा हो गया। वाजप्यायन ने शब्द द्वारा जाति का अभिधान निश्चित किया था। व्याडि और वाजप्यायन दोना के दर्शन व्याकरणशास्त्र मे गहीत है। पाणिनि के अनेक सूत्रो की व्याख्या दोनो दर्शनो के आधार पर की जाती है। कात्यायन न दोना मतो के विवरण दिए हैं और उन्हीं के आधार पर द्रव्यवाद व्याडि का माना जाता है (द्रव्याभिधान व्याडि)।[१०] भर्तृहरि ने भी इसका समर्थन किया है

वाजप्यायनस्याकृति व्याडेरसु द्रव्यम।[११]

२ अर्थसिद्धान्त व्याडि ने शब्द और अर्थ मे अर्थ को अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत मे पद और वाक्य का निर्णय अर्थ द्वारा होता है। दूसरे शब्दो मे, भाषा के स्वरूप और उसके अवयव का निर्णायक वाक्य का अर्थ है

न हि किञ्चित पद नाम रूपेण नियत क्वचित।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥[१२]

३ अपभ्रश की प्रकृति शब्द है—शब्दप्रकृतिरपभ्रश इति सग्रहकार[१३] सम्भवत अपभ्रश शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख यही है। व्याडि ने अपभ्रश की प्रकृति (मूल) संस्कृत को माना है। भर्तृहरि इस मत से पूर्ण रूप मे सहमत नही हैं। किन्तु अपभ्रश पर विचार प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य व्याडि हैं।

---

८ महाभाष्य २।३।६६, पृ० ४६८ कीलहार्न संस्करण
९ "तदुभय परिगृह्य दशधा अर्थवत्ता स्वभावभेदिका इति सग्रहे प ।" वाक्यपदीय २।२०७ हरिवृत्ति, हस्तलेख
१० महाभाष्य १। ।६४, पृ० २४४
११ महाभाष्य दीपिका, पृ० ११
१२ वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति, पृ० ४२ पर उद्धृत
१३ वाक्यपदीय १।१४८ हरिवृत्ति पृ० १३४, हेलाराज, सबध समुद्देश ३०, पृ० १४३, पूना संस्करण

४ सिद्ध शब्द कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक का आरम्भ सिद्ध शब्द से किया है। इस प्रसंग में पतञ्जलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द संग्रह से लिया है। संग्रह में मूल प्रयोग यो था

किं कार्य शब्द, अथ सिद्ध इति। [१४]

पतञ्जलि के अनुसार सिद्ध शब्द नित्य अर्थ का वाचक है। जो हो सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशिष्ट अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताना कठिन है। उत्पत्ति, निष्पत्ति और मंगल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिलाकर जो अर्थ झलकेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का ग्रंथ के अंत में व्यवहार आरंभ हुआ। पिछले दो हजार वर्ष से संस्कृत व्याकरण के समग्र लेखक अपनी कृतियों के अंत में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय व्याडि को है।

कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)

पाणिनि के सदृश मेधा रखने वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदर्शन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रकृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का भी विकास अनुपम रूप में किया। उनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ' एक ओर उनके दार्शनिक झुकाव को द्योतित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में संपूर्ण व्याकरणदर्शन है।

व्याकरणदर्शन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गई हो। अपनी व्यापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एवं अपूर्व शैली का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक न्यायवाक्यों का सृजन था। आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी इष्टियाँ परिभाषा और न्याय का रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदर्शन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदर्शन अवयवावयवीभाव अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दर्शनों में अन्य है।

कात्यायन ने उत्सर्ग अपवाद विधि प्रतिषेध, निपातन स्थानी आदेश लिङ्ग, नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान पद्धति को दार्शनिक रंग दे दिया है। कैयट ने अनेक स्थलों पर उसका उन्मीलन किया है। विशेषकर जहाँ वार्तिककार और महाभाष्यकार में मतभेद हैं। जैसे

भिन्नदेशत्वाद् विरोधाभावादनेकेमापि प्रयत्नेन प्रदीपेनेव घटादेः गार्ग्यायण्यां एकदेश्यां स्त्रीत्वस्यैवाज्ञातादेरेकत्वस्य द्योतनमविरुद्धं प्रमाणो वार्तिक कारः उत्सर्गप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमन्तरेणापि सामान्यविधे

---

१४ समग्रे पदग्रन्थे तु किं कार्य शब्दो वा सिद्ध इति—महाभाष्य दीपिका, पृ० २३

वाधक विशेयविधिम यत्रादीहशत।[१५]

कात्यायन ने अपने वार्तिको मे प्रकृत्यथ विशेपणवाद, प्रत्ययाथ विशेपणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अथनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदि वादो का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रो का इनके आधार पर विवेचन किया।

प्राचीन वैयाकरणो मे हेलाराज ने वार्तिको का विशेप अध्ययन किया था। उ होने वार्तिको पर वार्तिको मेप नामक ग्र थ भी लिखा था। वाक्यपदीय के प्रकीणक काण्ड की व्याख्या करते समय हेलाराज उन वार्तिको का उल्लेख करत चलत हैं जिनका आश्रय भतृ हरि ने लिया है। तृतीय काण्ड का वत्तिसमुद्देश कात्यायन के कुछ वार्तिको की व्याख्यामात्र है। हेलाराज ने वार्तिको के उद्धरण दे देकर इसे स्पष्ट कर दिया है। इससे बढकर कात्यायन की दाशनिक देन का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है।

सस्कृत व्याकरणदशन को, सस्कृत भाषा को, सपूण वाङमय को कात्यायन की एक विशेष देन है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा।

पतजलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतजलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है। वह सागर की तरह उत्तान है। सागर की तरह अगाध है। सागर की तरह रत्न छिपाए है। भत हरि की दृष्टि मे पतजलि तीथदर्शी हैं। महाभाष्य, सग्रह का प्रतिकचुक (प्रतिनिधिकल्प) है और सभी न्यायबीजों का अधिष्ठान है

> कृतेऽथ पतजलिना गुरुणा तीथर्दाशना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ 'सग्रहप्रतिकञ्चुके'[१६]

न्यायबीज शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज ने लिखा है

> तत्र भाष्य न केवल व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमिति। अतएव महत शब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।[१७]

पुण्यराज ने पुन लिखा है

महाभाष्य हि बहुविधि विद्यावादवलभाप व्यवस्थितम्[१८] अर्थात् महाभाष्य में अनेक विद्यावाद, दशनप्रवाद हैं।

जो कुछ वार्तिको म है वह सब तो महाभाष्य मे है ही बहुत कुछ अन्य भी है। इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदशन दोनो का आकर ग्रथ है। महाभाष्यकार की अलग से देन बताना कठिन है। उन्होंने जो कुछ कहा है सूत्रों और वार्तिकों के भाष्य के रूप म कहा है। जिनके मूल, सूत्र और वार्तिको मे नहीं हैं व भाष्यकार की देन माने जा सकते हैं। अथवा जहाँ भाष्यकार का सूत्रकार और वार्तिककार से विरोध है वे सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं। प्राचीन टीकाकारो ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं

१५ महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२
१६ वाक्यपदीय २ ४८५, ४८८
१७ वाक्यपदीय टीका २।४८५
१८ पुण्यराज वाक्यपदीय २।४८८

४ सिद्ध शब्द कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक का आरम्भ सिद्ध शब्द से किया है। इस प्रसंग में पतंजलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द संग्रह से लिया है। संग्रह में मूल प्रयोग यों था

किं कार्यः शब्द, अथ सिद्ध इति।[१४]

पतंजलि के अनुसार सिद्ध शब्द नित्य अर्थ का वाचक है। जो हो, सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशेष अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताना कठिन है। उत्पत्ति, निष्पत्ति और मंगल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिलाकर जो अर्थ झलकेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का ग्रन्थ के अंत में व्यवहार आरम्भ हुआ। पिछले दो हजार वर्ष से संस्कृत व्याकरण के समस्त लेखक अपनी कृतियों के अंत में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय व्याडि को है।

कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)

पाणिनि के सदृश मेधा रखने वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदर्शन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रकृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का भी विकास अनुपम रूप में किया। उनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' एक ओर उनके दार्शनिक झुकाव को द्योतित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में संपूर्ण व्याकरणदर्शन है।

व्याकरणदर्शन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गई हो। अपनी व्यापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शैली का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक न्यायवाक्यों का सृजन था। आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी इष्टियाँ परिभाषा और न्याय का रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदर्शन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदर्शन अवयवावयवीभाव अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दर्शनों में अन्य है।

कात्यायन ने उत्सर्ग अपवाद विधि प्रतिषेध, निपातन स्थानी आदेश लिङ्ग नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान पद्धति को दार्शनिक रंग दे दिया है। कैयट ने अनेक स्थलों पर उसका उन्मीलन किया है। विशेषकर जहाँ वार्तिककार और महाभाष्यकार में मतभेद हैं। जैसे

भिन्नदेशत्वाद् विरोधाभावादनेकेऽपि प्रत्ययेन प्रदीपेनेव घटादे गार्ग्यायण्यां क्रुङोभ्यां स्त्रीत्वस्येवाज्ञातादेरेकस्यार्थस्य द्योतनमविरुद्धं मन्यमानो वार्तिककार उत्सर्गप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमन्तरेणापि सामान्यविधे

---

१४ समर्थे पदविधि उत किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्ध इति—महाभाष्य दीपिका, पृ० २३

क्षाधक विशेयविधिम यत्रादीहशत ।[१५]

कात्यायन ने अपन वार्तिको मे प्रकृत्यथ विशेषणवाद, प्रत्ययाथ विशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अयनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदि वादो का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रों का इनके आधार पर विवेचन किया।

प्राचीन वैयाकरणो म हेलाराज ने वार्तिको का विशेष अध्ययन किया था। उ होने वार्तिको पर वार्तिको मेष नामक ग्र थ भी लिखा था। वाक्यपदीय के प्रकीणक काण्ड की व्यारया करते समय हेलाराज उन वार्तिका का उल्लेख करते चलते हैं जिनका आश्रय भतृहरि ने लिया है। तृतीय काण्ड का वत्तिसमुद्दश कात्यायन के कुछ वार्तिका की व्यारयामात्र है। हेलाराज ने वार्तिको के उद्धरण दे देकर इसे स्पष्ट कर दिया है। इससे बढकर कात्यायन की दाशनिक देन का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है!

सस्कृत व्याकरणदशन को, सस्कृत भाषा को, सपूण वाङमय को कात्यायन की एक विशेष देन है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा।

पतजलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतजलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है। वह सागर की तरह उत्तान है। सागर की तरह अगाध है। सागर की तरह रत्न छिपाए है। भत हरि की दृष्टि म पतजलि तीथदर्शी है। महाभाष्य, सग्रह का प्रतिकचुक (प्रतिनिधिरूप) है और सभी न्यायबीजों का अधिष्ठान है

कृतेऽथ पतजलिना गुरुणा तीथदर्शिना। सर्वेषा न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ 'सग्रहप्रतिकञ्चुके'[१६]

न्यायबीज शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज न लिखा है

तत्र भाष्य न केवल व्याकरणस्य निबन्धनम, यावत सर्वेषा न्यायबीजानां बोद्धव्यमिति। अतएव महत शब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।[१७]

पुण्यराज ने पुन लिखा है

महाभाष्य हि बहुविधि विद्यावादवलमाये व्यवस्थितम[१८] अर्थात् महाभाष्य मे अनेक विद्यावाद, दशनप्रवाद है।

जो कुछ वार्तिको म है वह सब तो महाभाष्य मे है ही, बहुत कुछ अन्य भी है। इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदशन दोनो का आकर ग्रथ है। महाभाष्यकार की अलग से देन बताना कठिन है। उन्होने जो कुछ कहा है सूत्रो और वार्तिका के भाष्य के रूप मे कहा है। जिनके मूल, सूत्र और वार्तिका म नहीं हैं वे भाष्यकार की दन माने जा सकते हैं। अथवा जहां भाष्यकार का सूत्रकार और वार्तिककार से विरोध है व सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं। प्राचीन टीकाकारो ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं

१५ महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२
१६ वाक्यपदीय २।४८५, ४८८
१७ वाक्यपदीय टीका २।४८५
१८ पुण्यराज वाक्यपदीय २।४८८

जहाँ वार्तिककार का मत भिन्न है और भाष्यकार का मत भिन्न है। व्याकरणदर्शन की दृष्टि से भी ऐसे स्थलों पर प्राचीन आचार्यों की दृष्टि गई है और भर्तृहरि ने भी अनेक स्थलों पर वार्तिककार के दर्शन भाष्यकार के दर्शन और सूत्रकार के दर्शन की अलग-अलग चर्चा की है। वस्तुतः सूत्रकार और वार्तिककार आदि के मत भी पतञ्जलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं। अतः संपूर्ण व्याकरणदर्शन महाभाष्य में जहाँ-तहाँ बिखरा पड़ा है। भर्तृहरि ने उन विचारों को अपने ढंग से एकत्र किया है जो व्याकरणदर्शन के नाम से अलग वस्तु जान पड़ती है। इस विषय में अभी भी अवकाश है और महाभाष्य में आए दार्शनिक विचारों का क्रमबद्ध संकलन नवीन रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें सबसे अधिक कठिनाई परस्पर विरोधी मतों के भ्रमजाल में से तथ्य ग्रहण की है। व्याकरण की परम्परा से सर्वथा अवगत, महाभाष्य में निष्णात हरदत्त मिश्र ने यह घोषणा की थी कि महाभाष्य को संपूर्ण रूप में समझना किसी के लिए दुष्कर है।[19] आज तो हम केवल उसका दर्शन ही कर पाते हैं। अस्तु जैसे व्याकरण का वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी सर्वस्व महाभाष्य है। माघ ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक को शब्दविद्या का सौन्दर्य कहा है।[20]

महाभाष्य में वर्ण शब्द आकृतिपदार्थ, द्रव्यपदार्थ गुणपदार्थ लिङ्ग वचन संख्या वृत्ति वाक्य वाक्यार्थ आदि पर पर्याप्त विचार मिलते हैं। यहाँ पतञ्जलि के कुछ वाक्य लिखे जा रहे हैं जो अपने पीछे एक एक दर्शन छिपाए हैं और महाभाष्यकार की व्यापक भावभूमि के संकेतक हैं

> सर्ववेदपारिषदं हि इदम् शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्था शक्य आस्थातुम्
> —महाभाष्य २।१।५८
>
> संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते—महाभाष्य १।१।१
>
> प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति न काञ्चित् प्राधान्येन विभक्तिम् आश्रयन्ति—महाभाष्य १।८।५६
>
> न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।९४
>
> इह व्याकरणे तु सर्वान्तेष्वेव स्वरव्यवहार स मात्रया भवति, साधमात्रया व्यवहारोऽस्ति। महाभाष्य ८।१।१

वसुरात (लगभग ४०० ईसवी सन्)

वसुरात भर्तृहरि के गुरु थे। विभिन्न दर्शनों के आधार पर व्याकरणदर्शन की व्याख्या इन्होंने आरम्भ की थी। उन्हीं की प्रेरणा से भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की रचना की थी। वसुरात व्याडि के संग्रह से प्रभावित थे। भर्तृहरि भी थे। इसलिए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय को स्वयं आगमसंग्रह कहा है और उसकी मान्यताओं को अपने गुरु की देन माना है। इस प्रसंग में पुण्यराज ने लिखा है

> अयं कदाचित् योगतो विचार्य तत्रभवता वसुरातगुरुणा ममायमागम संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्यास्य ग्रन्थस्य गुरुपूर्वकमभिधातुमाह

१९. तस्य नि शेषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभ। पदमंजरी १।१।२, पृ० ५६

२० शब्दविदेव नो भाति राजनीतिरपस्पशा—शिशुपालवध, २।११२

न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः ॥[21]

वसुरात के स्वतन्त्र मत का उल्लेख मल्लवादिक्षमाश्रमण ने किया है और वसुरात को भर्तृहरि का उपाध्याय बतलाया है। मल्लवादि ने भर्तृहरि के मत से भिन्न रूप में वसुरात के मत का उल्लेख किया है। इससे जान पडता है कि वसुरात के कुछ वक्तव्य परम्परया कुछ काल तक सजीव थे। शब्द से अर्थ के प्रत्यायन के सम्बन्ध में और अभिजल्प-दर्शन के सम्बन्ध में वसुरात और भर्तृहरि में, मल्लवादि के अनुसार, कुछ मतभेद था। मल्लवादि ने दोनों की समीक्षा की है

> निरुक्तार्थोऽप्यभिजल्पस्य तथा घटते, नान्यथा। आभिमुख्येन जल्पत्यर्थं शब्द, [illegible] प्रयुक्तेऽर्थ अभिजल्पयति तदविषय एवाभिजल्प इत्युच्यते। एतदुक्तं भवति अर्थविषयं शब्दं शब्दार्थकल्पनायां युक्ततरं स्यात्, न तु स्वतः परिकल्पिते शब्दप्रेरिते। एष तावद् भर्तृहर्यादिदर्शनमयुक्तम्। यस्तु वसुरातो भर्तृहरेरुपाध्यायः स च स्वरूपानुगतमर्थमविभागेन सन्निवेशयति। तेन द्वावपि शब्दोऽर्थ इत्याभ्युपगताविति प्राप्त्यादर्थयन्तार्थ अदर्शनात् समिरिकदर्शनमिव तत्त्वदृष्टि प्रत्यासीदति। अभिजल्पस्वरूपं तु पुनस्तेनापि निरस्तम्[22]।
>
> —द्वादशारनयचक्र पृ० ८०० ८०१

भर्तृहरि

भर्तृहरि का काल-निर्णय

वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि के समय का ठीक ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कुछ दिनों पूर्व तक भर्तृहरि के समय के बारे में इत्सिंग की उक्ति प्रमाण मानी जाती थी। इत्सिंग ने भर्तृहरि के ग्रन्थों और उनके वैराग्य का उल्लेख करते हुए लिखा है 'वह धर्मपाल का समकालिक था। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।"[23] मृत्यु वाले कथन के आधार पर भर्तृहरि की मृत्यु का समय ६५० ईसवी सन् के आसपास ठहरता है। परन्तु इत्सिंग के अनुसार भर्तृहरि और धर्मपाल समकालिक थे। उसके अनुसार धर्मपाल ने भर्तृहरि के पेइन' ग्रन्थ (प्रकीर्णक) पर टीका भी लिखी थी। धर्मपाल की मृत्यु सन् ५७० में हो गई थी।[24] यदि धर्मपाल की समकालिकता वाली इत्सिंग की उक्ति को महत्त्व दिया जाए तो भर्तृहरि का समय ईसवी ५५० के आसपास ठहरता है। इत्सिंग के कथन के आधार पर भी भर्तृहरि के समय में लगभग सौ वर्ष का अन्तर आ जाता है और उनका समय ५५० ईसवी से लेकर ६५० ईसवी के बीच सिद्ध होता है।

---

२१ वाक्यपदीय २।४६०

२२ इस विषय पर शब्दस्वरूप के विचार के अवसर पर इस ग्रन्थ में विचार किया गया।

२३ इत्सिंग की भारत यात्रा सन्तराम बी० ए० द्वारा अनूदित, १९२५ पृष्ठ २७४,२७८

२४ इण्ट्रोडक्शन टु वैशेषिक फिलासफी एकार्डिंग टु दशपदार्थी शास्त्र, द्वारा एच० यी० १९१७, पृ० १०

भर्तृहरि के समकालीन या परवर्ती जैनाचार्य ... ने स्याद्वादमञ्जरी[16] तथा ... का उल्लेख किया है।[17] इससे भर्तृहरि के विषय में राजतरंगिणी[17] ... भर्तृहरि और ... दोनों के ... का उल्लेख पाया जाता है।[18] ... अतः इनका समय ४५ से ६५ ईसवी माना जाता है। भर्तृहरि इनसे पहले के नहीं हो सकते। अतः प्रथम भास्कर से भर्तृहरि के काल निर्णय की पुष्टि होती है।

भर्तृहरि के काल निर्णय का उपजीव्य निश्चित रूप से ६०० ईसवी है। प्रथम भास्कर द्वारा लिखित आर्यभटीय भाष्य में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रमाण मिले हैं

यथा प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारादिभिः उपायैः साधु शब्दं व्याकुर्वते एवमत्रापि। तस्मादुपाया अनेके नैषां च नियमः।

उक्तञ्च—

उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते।

उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते॥ इति।

तस्मादुपायमात्रत्वादस्याविरोध। —आर्यभटीयभाष्यम् गी० ३ हस्तलेख पृ० ३१[18]

इस उद्धरण का 'उपादायापि' यह श्लोक वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड का ३८वाँ श्लोक है। सौभाग्यवश प्रथम भास्कर ने अपना समय अंकित कर दिया है

सर्वदा ... भगणशेषकाः ... ... १९८६१२३७३० अस्मिन् वर्षादिगत ... युक्ते ... कल्पादेः गतभोगा ... —आर्यभटीयभाष्यम् गी० ८, हस्तलेख पृ० ३२

गणना करने पर प्रथम भास्कर द्वारा निर्दिष्ट वर्ष ईसवी सन् ६२९ होता है।[19]

---

१५ वाक्यपदीय २.१४०, २१०, ४८७, ४८८

१६ स्याद्वादमञ्जरी का उद्धरण महाभाष्य, त्रिपादी (हस्तलेख पृ० ११० ...) में भी है

१७ राजतरंगिणी १।१७५

१८ यह हस्तलेख ... की ... में है

१९ ७२ युग = १ मनु

४३२०००० = १ युग

१०८०००० = १/४ युग = युगपाद

कलियुगारम्भ = ३१७९ वर्ष शकारम्भ से पूर्व

शकारम्भ काल में कल्पादि से गतकाल = ६ मनु + २७ युग + ३ युगपाद + ३१७९

अतः ६ × ७२ युग + २७ युग = ४५९ युग। ४५९ × ४ = १८३६ युगपाद

१८३६ युगपाद + ३ युगपाद = १८३९ युगपाद कलियुगादि में गतयुगपाद

१८३९ × १०८०००० = १९८६१२००००० कलियुगादि में गतवर्षसंख्या।

१९८६१२०००० + ३१७९ = १९८६१२३१७९ = शकारम्भ काल में कल्पादि से गतवर्ष

अतः १९८६,१२३१७९ — ७८ = १९८६,१२३१०१ ईसवी सन् के आरम्भ में कल्पादि से गतवर्ष।

१९८६१२३१०१ को प्रथम भास्कर के भाष्य के आरम्भकालिक गत कल्पवर्ष १९८६१२३७३० में से घटाने पर ६२९ ईसवी सन् होता है। अतः प्रथम भास्कर ने ६२९ ई० में भाष्य लिखा था।

(उपर्युक्त गणित के लिए मैं अपने मित्र प्रा० श्री ... शास्त्री, प्राध्यापक ज्योतिष विभाग,

प्रथमभास्कर के द्वारा वाक्यपदीय के श्लोक के उद्धृत होने के कारण और प्रथमभास्कर का समय ६२६ ई० निश्चित रूप से ज्ञात होने के कारण भर्तृहरि के समय निर्णय की उत्तर सीमा ६०० ई० के आगे नहीं लाई जा सकती। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों में यह प्रमाण सर्वश्रेष्ठ है। निश्चित रूप में भर्तृहरि ६०० ई० के पहले हुए थे। अब यह विचारणीय है कि यह सीमा और कितने पीछे हटाई जा सकती है।

जैनाचार्य मल्लवादि क्षमाश्रमण कृत द्वादशार नयचक्र महाशास्त्र भर्तृहरि के समय पर प्रकाश डालता है। इस ग्रंथ में भर्तृहरि के गुरु वसुरात का उल्लेख है। कई स्थानों पर "इति भर्तृहर्यादि मतम् वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतं तु", "एवं तावद् भर्तृहरि दर्शनमुक्तम् यत्तु वसुरातो भर्तृहरेरुपाध्याय" आदि रूप में भर्तृहरि और उनके गुरु वसुरात के मतों का उल्लेख है। यह ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य के पहले का है। विशेषावश्यक भाष्य की रचना ५०६ ई० में हुई थी।[३०] इस दृष्टि से वाक्यपदीय की रचना ४५० ई० के पूर्व हुई होगी।

मल्लवादि की तरह पुण्यराज भी वसुरात को भर्तृहरि के गुरु मानते हैं।[३१] चीनी भाषा में अनूदित वसुबन्धु के जीवन वृत्तान्त से यह पता चलता है कि वसुबन्धु और वसुरात दोनों समकालिक थे और दोनों में शास्त्रार्थ हुआ था। श्री विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार वसुबन्धु का समय ३३७ ४१७ ई० है।[३२] ह्वेनत्साग और इत्सिंग के अनुसार वसुबन्धु का समय ४०० ई० के आसपास होना चाहिए। इत्सिंग धर्मपाल और धर्मकीर्ति को अर्वाचीन लिखता है और वसुबन्धु और असंग को मध्यकालिक।[३३] भर्तृहरि के वसुरात के शिष्य होने के कारण उनका समय भी ४२५ ई० के समीप निश्चित होता है।

हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण की टीका में—अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः इत्याह इस रूप में वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का उद्धरण दिया है। हरिस्वामी ने अपने समय का संकेत किया है

> श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशतुः।
> धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥
> यदाब्दाना कलेर्जग्मु (यदाब्दीना कलेर्जग्मु) सप्तत्रिंशच्छतानि व।
> चत्वारिंशत समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

इसके अनुसार हरिस्वामी ने ग्रंथ की समाप्ति ३७४० कलि वर्ष में (तदनुसार ६३९ ई० में) की थी। परन्तु अवन्ती में उस समय किसी नए विक्रम का होना इतिहास से सिद्ध नहीं है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने पुलकेशी द्वितीय के पुत्र विक्रम प्रथम के अवन्ति के प्रशासक होने की सम्भावना की है (प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजैक्शन्स आफ द सिक्स्थ ओरियण्टल

हिन्दू विश्वविद्यालय का आभारी हूँ। —लेखक)

३० द्रष्टव्य विशाल भारत जून १९४६ में मुनि जम्बू विजय का लेख

३१ वाक्यपदीय २। ४८६

३२ तत्त्वसंग्रह की भूमिका

३३ इत्सिंग की भारत यात्रा पृ० २७७

का फ्रेंस, पटना १९३० पृष्ठ ५९८)। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने षट्त्रिंशत पाठ अनुकूल माना है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय पञ्चत्रिंशच्छतानि पाठ का अनुमान करते हैं

'हमारी समझ में तो यह आता है कि भ्रम से पञ्चत्रिंशच्छतानि का सप्त त्रिंशच्छतानि हो गया है और चत्वारिंशत्समाश्चान्या का अर्थ है अन्य संवत् का ४० वर्ष। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अपना संवत् भी चलता था और अपने वंश का भी। प्रमाण की दृष्टि से उसके मथुरास्तम्भ का यह अभिलेख पर्याप्त है श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय राज्य संवत्सरे पंचमे ५ कालानुवर्तमान संवत्सरे एकषष्ठे (सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस पृ० २७०)। यह गणना से ३८० ई० ठहरता है। इस दृष्टि से इस चत्वारिंशत् का मान हुआ (३८०+४०—५) ४१५ ई०, जो इस विक्रमादित्य का अन्तिम वर्ष कहा जा सकता है और सामान्यतः कलि के ३५०० वर्ष बीतने का परिचायक है।"

—चन्द्रबली पाण्डेय कालिदास, पृ० १२, १९५५

परन्तु हरिस्वामी ने "अथवा सूत्राणि यथा विप्युद्वेन इति प्राभाकरा" के रूप में प्रभाकर का भी उल्लेख किया है (युधिष्ठिर मीमांसक संस्कृत व्याकरण का इतिहास, पृष्ठ २५९)। कुमारिल और प्रभाकर के पौर्वापर्य का अभी अंतिम निर्णय नहीं हुआ है। स्वर्गीय श्री गंगानाथ झा प्रभाकर को कुमारिल के पूर्ववर्ती मानते थे। यदि हरिस्वामी का समय ६३९ ई० भी माना जाए तो भी यह स्मरण रखने की बात है कि हरिस्वामी के गुरु श्री स्कन्दस्वामी ने निरुक्त १।२, पृष्ठ २८ पर अपने भाष्य में वाक्यपदीय की कारिका 'पूर्वावस्थामजहत् (साधनसमुद्देश ११९) उद्धृत किया है। अतः इस आधार पर भी वाक्यपदीयकार का समय ५५० ई० के आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

युक्तिदीपिका (सांख्यकारिका की टीका) में वाक्यपदीय के श्लोक उद्धृत हैं। इस ग्रंथ में कुमारिल या धर्मकीर्ति का नाम नहीं है। इस ग्रंथ की रचना ५५० ई० के पहले की जान पड़ती है।[१४]

वाक्यपदीय १/३१ की हरिवृत्ति में निम्नलिखित वक्तव्य है

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्या विशिष्टज्ञानस्य प्रवृत्तिराख्यायते।

यह वक्तव्य योगसूत्र भाष्य में भी २।२० और ४।२२ में ज्यों का त्यों पाया जाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह वाक्य पंचशिख का है। संभव है भर्तृहरि ने भी पंचशिख से लिया हो। फिर भी ऐसे कई उद्धरण हैं जिनसे यह जान पड़ता है कि योगसूत्र भाष्यकार वाक्यपदीय से परिचित हैं और उसकी शब्दावली ले रहे हैं।

योगसूत्रभाष्य २/६ में भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते —यह वाक्य मिलता है। वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति में भी यह वाक्य मिलता है। योगसूत्र ३/१७ के भाष्य के साथ वाक्यपदीय में कई वाक्य और सिद्धान्त मिलते जुलते हैं। इन्हें आकस्मिक कहकर नहीं टाला जा सकता।

काशिका वृत्ति ४।३।८८ में वाक्यपदीय का उल्लेख है। काशिका निश्चित रूप से

१४ हि०ी आफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न भाग १ में सतकरी मुकर्जी का लेख पृ० २४२

४०० ई० के बाद की और ५५० ई० के पहले की रचना है। काशिका ५।२।१२० मे केदार सिक्के का उल्लेख है। केदार नामक सिक्के को केदार सनक कुषाणो ने लगभग तीसरी शताब्दी मे चलाया था।[३४] काशिका ३।३।४२ मे प्रमाणसमुच्चय का उल्लेख है जो दिङनाग का ग्रन्थ है। काशिका ३।१।३८ मे 'कल्पनापोढ' शब्द का उल्लेख है। यह शब्द भी दिङनाग की प्रत्यक्ष परिभाषा से लिया गया है। दिङनाग का समय ४०० ई० है।

काशिका ६/३/३४ म दढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूवपदस्याविवक्षितत्वात सिद्धमिति समाधेयम यह वाक्य है। इसमे रघुवश १२/१६ के 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे' की ओर सकेत जान पड़ता है।

काशिका १/३/२३ म किरातार्जुनीय ३/१४ का 'सशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य' का उल्लेख है। किरातार्जुनीय की रचना ४७५ ई० के पूव की है। यह महाराज दुवनीत (राज्यकाल ई० ४८२ ५२२) की टीका से स्पष्ट है।

काशिका के टीकाकार न्यासकार का उल्लेख भामह (ई० ६००) ने किया है [३६]

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन च।
तृचा समस्तषष्ठीक न कथचिदुदाहरेत ॥

इस श्लोक मे न्यासकार से तात्पय जिनेन्द्र बुद्धि से ही है। उसे कोई दूसरा न्यासकार समझना भ्रम है। जिनेन्द्र बुद्धि ने २/२/१६ और ३/२/८७ के न्यास मे तच के साथ षष्ठी समास का निषेध किया है। इस दृष्टि से काशिका वृत्ति का समय ई० ५०० के बाद नही बढाया जा सकता।

बाणभट्ट ने भी काशिकावृत्ति का सकेत किया है[३७] और यह सकेत भी काशिका का समय ५०० ई० के आसपास सिद्ध करता है।

अत काशिका वृत्ति के आधार पर वाक्यपदीयकार का काल ४५० ईस्वी के पहले सिद्ध होता है।

वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभ के समय के आधार पर भी वाक्यपदीय पाँचवी शताब्दी अथवा इससे पूव की रचना है। वृषभ ने लिखा है कि वह देवयश का पुत्र और विष्णुगुप्त नरेश का भृत्य था

विमलचरितस्य राज्ञो विदुष श्री विष्णुगुप्तदेवस्य।
भृत्येन तदनुभावाच्छ्रीदेवयशस्तनूजेन ॥
ध्यानेन विनोदार्थं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षर नाम।
क्रियते पद्धतिरेषा वाक्यपदीयोदधे सुगमा ॥

---

३५ वासुदेवशरण अग्रवाल—'हर्षचरित एक अध्ययन' पृ० ५४

३६ काव्यालकार ६।३६

३७ वायस्य चत्वार पितृव्यपुत्रा भ्रातर प्रमननवयसो गृहीतवाक्या कृतगुरुपदन्यासा न्यायवादिन सुकृतसग्रहाभ्यासगुरवो लब्धसाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि परस्परमुखानि यलोकयन्।

—हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास, पृ० १३२, कमर सस्करण

विष्णुगुप्त का समय ५३५ और ५५० ई० के बीच में माना जाता है।[३८ (अ)] यह विष्णुगुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त का पौत्र और कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र था। उसकी एक मुद्रा नालन्दा में मिली है। वराहमिहिर (४८७ ई० में जन्म और ५८७ ई० में मृत्यु) ने भी बृहत्संहिता में विष्णुगुप्त का उल्लेख किया है।[३८ (ब)] अतः इन प्रमाणों के आधार पर टीकाकार वृषभ का समय ५५० ई० के समीप सिद्ध होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वृषभ वाक्यपदीय पर कई टीकाओं के होने का निर्देश करते हैं

यद्यपि टीका बह्व्य पूर्वाचार्यैः सुनिमला रचिता ।
सन्त परिश्रमभारतथापि चर्ना ग्रहोऽर्थति ॥

अतः ५५० ई० तक वाक्यपदीय पर कई टीकाओं का होना यह प्रमाणित कर देता है कि वाक्यपदीय की रचना इससे बहुत पहले हुई होगी।

भर्तृहरि का जीवन

भर्तृहरि के जन्म स्थान और उनके जीवन के बारे में प्रामाणिक रूप में कुछ भी ज्ञात नहीं है। एक श्लोक के अनुसार जिसकी प्रामाणिकता निश्चित रूप से संदिग्ध है वे शबरस्वामी की क्षत्राणी पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र थे। इत्सिंग के अनुसार ये सात बार परिव्राजक और सात बार गृहस्थ बने थे। अतः में परिव्राजक रूप में इन्हें शान्ति मिली थी। इत्सिंग की उक्ति भी किंवदन्ती से अधिक मूल्य नहीं रखती।

इत्सिंग के अनुसार वे बौद्ध थे। मैक्समूलर ने इन्हें विज्ञानवाद सम्प्रदाय का बौद्ध माना है।[३९] वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु में—

यदाहु बाह्या अपि परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते ।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदामानुमानिकम् ॥

तत्त्वबिन्दु मद्रास पृ० ६०

ऐसा लिखा है। यह कारिका वाक्यपदीय १।३५ (लाहौर संस्करण) की है। बाह्य से तात्पर्य वेदबाह्य अर्थात् नास्तिक या बौद्ध से है।

परन्तु व्याकरण सम्प्रदाय में कभी भी भर्तृहरि का वेदबाह्य के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। वाक्यपदीय में श्रुति स्मृति की महिमा पर्याप्त गाई गई है और स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कहा गया है कि जो शब्द का संस्कार है वह परमात्मा की सिद्धि[४०] है। वाक्यपदीय के श्लोक आस्तिक हृदय के उद्गार हैं। उसमें आविर्भूतज्योति वाले ऋषियों का सादर स्मरण है और भर्तृहरि ने अनादि निधन शब्द तत्त्व की सिद्धि विशेष रूप में श्रुति के आधार पर ही प्रतिपादित की है। बौद्ध दर्शन ग्रन्थों में भर्तृहरि का उल्लेख बौद्ध रूप में नहीं

---

३८ (अ) द हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपुल गुप्त वाकाटक एज २०० ५५० ए० डी०, वाल्यूम सिक्स्थ, पृ० २१४

३८ (ब) सुधाकर द्विवेदी, गणक तरंगिणी, पृ० १५

३९ मैक्समूलर का टक कुसु के नाम पत्र, इत्सिंग की भारत यात्रा की प्रस्तावना में उद्धृत पृ० १०

४० वाक्यपदीय १।१३२

है। जन ग्रंथों में भर्तृहरि का बहुत उल्लेख है किन्तु वहाँ भी बौद्ध रूप में नहीं। अतएव इत्सिंग वाली कथा किसी अन्य भर्तृहरि से सम्बन्ध रखती होगी। वाचस्पति मिश्र की उक्ति भी उपर्युक्त आधार पर नितान्त चिन्त्य है। बहुत सम्भव है उपर्युक्त श्लोक वाचस्पति मिश्र ने किसी बौद्ध ग्रंथ से उद्धृत किया हो। वाक्यपदीय के श्लोक सभी प्रकार के ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं।

हाँ, वाक्यपदीय के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय से द्वेष नहीं था। वस्तुतः भर्तृहरि अत्यन्त शिष्ट व्यक्ति थे। उनके जैसे सुसंस्कृत विचारक संस्कृत वाङ्मय में कम हैं। वे खण्डन-मण्डन में नहीं पड़ते। अनेक विभिन्न मतों का बहुत ही सौजन्य के साथ उल्लेख करते हैं। कहीं कहीं तो यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि भर्तृहरि का अपना मत कौन है। संस्कृत के प्राचीन टीकाकारों और विचारकों में अपने प्रतिपक्षी को या नास्तिक दर्शन के मानने वाले को खरी खरी सुनाने और उनकी बुद्धि पर तरस खाने की आदत बहुत प्राचीन काल से देखी जाती है। भर्तृहरि ऐसी अहम्मन्यता से सर्वथा मुक्त हैं।

वे उच्चकोटि के विचारक थे। बहुश्रुत थे। उन्होंने स्वयं लिखा है "भिन्न भिन्न आगमों के सिद्धान्तों के अध्ययन से प्रज्ञा और विवेक की प्राप्ति होती है। बुद्धि विशद होती है। केवल अपने तर्क और अपने दर्शन के पारायण से मनुष्य कितना जान सकता है! जो विभिन्न प्राचीन दर्शनों की उपेक्षा करते हैं और मिथ्या अभिमानवश वृद्धजनों की उपासना विद्या के लिए नहीं करते उनकी विद्या पूर्णरूप में सफल नहीं होती।'[४१] वाक्यपदीय को 'आगम संग्रह' का रूप देते हुए उन्होंने लिखा है कि व्याकरणदर्शन तथा अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों (न्याय प्रस्थान मार्ग) का अनुशीलन कर लेने के बाद इसकी रचना की गई है। भर्तृहरि की निरहङ्कारिता का एक प्रमाण तो यही है कि वाक्यपदीय ऐसे प्रौढ़ और अप्रतिम ग्रंथ को उन्होंने अपनी कृति न कहकर अपने गुरु की रचना माना।

अभिनवगुप्त जैसे आचार्य भर्तृहरि का सादर स्मरण करते हैं। वे सदा भर्तृहरि का तत्रभवान् शब्द के साथ उल्लेख करते हैं। भर्तृहरि का सौजन्य, उनकी अगाध विद्वत्ता और उनकी चतुर्दिक् प्रसिद्धि आदि सबका द्योतक अभिनवगुप्त का निम्नलिखित उद्गार है— प्रायः देखा जाता है कि संसार में जनता लोक प्रसिद्धि के आधार पर किसी में विश्वास करती है और उसकी ओर अग्रसर होती है। यह विश्वास उसके नाम के बराबर सुनाई देने से, अथवा उसके आचरण, कवित्व, विद्वत्ता आदि की प्रसिद्धि के कारण जगता है। जैसे कि जब कहा जाता है कि यह उसी भर्तृहरि का श्लोक प्रबन्ध है जिसने यह किया था, जिसकी उदारता ऐसी थी जिसका इस शास्त्र में ऐसा सार है और इसलिए उनकी कृति आदरणीय है तब जनता उस ओर स्वयं झुक जाती है।'[४२]

---

४१ वाक्यपदीय २।४९२।४९३

४२ "इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या सम्भावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते। स च सम्भावनाप्रत्ययो नामश्रवणवशात् प्रसिद्धात्तदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुस्मरणेन भवति। तथाहि भर्तृहरिणेदं कृतं यस्यायमौदार्यमहिमा, यस्यास्मिन् शास्त्र एवंविधः सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदिति लोकः प्रवर्तमानो दृश्यते इति।"

—ध्वन्यालोक लोचन पृ० ५५३, (चौखम्भा संस्करण)

भर्तृहरि के ग्रन्थ

वैयाकरण भर्तृहरि के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं — महाभाष्य त्रिपादी (महाभाष्यदीपिका), वाक्यपदीय और वाक्यपदीय १, २ पर स्वोपज्ञ वृत्ति। इनके शब्दधातुसमीक्षा नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्रथम अध्याय के तीन पादों पर व्याख्या लिखी है। तीन पाद पर होने के कारण उस विवरण को त्रिपादी कहते थे। व्याकरण सम्प्रदाय में भर्तृहरि 'टीकाकार' के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। यह प्रसिद्धि इसी भाष्य व्याख्या के कारण है। भर्तृहरि कृत भाष्यत्रिपादी का उल्लेख वर्धमान[४३] और हेलाराज आदि ने किया[४४] है। संप्रति यह व्याख्या केवल १।१।५३ तक मिलती है। इसका एक हस्तलेख की एक प्रतिलिपि श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के पास मैंने देखी है।[४५] प्रथम आह्निक पर कैयट का प्रदीप भर्तृहरि की भाष्यदीपिका का लघु संस्करण है। कहीं कहीं पूरे के पूरे वाक्य ज्यों-के-त्यों लिए गए हैं। भर्तृहरि की टीका का उल्लेख नागेश ने भी किया है।[४६] इत्सिंग ने इसे 'भर्तृहरि शास्त्र' लिखा है और इसे चूर्णि की व्याख्या कहा है जो ठीक है। व्याकरण सम्प्रदाय में भाष्यकार चूर्णिकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वयं भर्तृहरि ने महाभाष्यकार को चूर्णिकार कहा है।[४७] इस ग्रन्थ के कई महत्त्वपूर्ण वाक्यों का संकलन श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में कर दिया है।

भर्तृहरि कृत शब्दधातुसमीक्षा का उल्लेख उत्पल ने शिव दृष्टि की टीका में किया है।[४८] इस ग्रन्थ के केवल दो श्लोक मिलते हैं जो यहीं उद्धृत हैं। इनमें से एक श्लोक भर्तृहरि के नीतिशतक का प्रथम श्लोक है। उत्पल की दृष्टि से वाक्यपदीय और नीतिशतक के कर्ता एक ही भर्तृहरि हैं ऐसा जान पड़ता है। उत्पल का उद्धरण यों है

> न केवलमस्माभिः पश्यन्त्यभिधानेन सम्यग्ज्ञानाभास एव उक्तो यावच्छब्दधातु-
> समीक्षायामपि विद्वद्भर्तृहरिणा
>
> दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये। —
>
> दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते।
> अवश्यं व्यापको यो हि सर्ववित्सु स वर्तते॥

---

४३ भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।

४४ त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदीकृता।
तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥ हेलाराज, प्रकीर्णप्रकाश के अन्त में।

४५ अब छप चुका है।

४६ नागेश ने हरिटीका का उल्लेख इन स्थलों में किया है—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।१।८ १।१।४०, १।३।२१।

४७ अस्मिंस्तु दर्शने पाणिनिना मुख्यग्रहणं पठितमिति दृश्यते। चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्टे (भाष्यदीपिका, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का हस्तलेख) पृष्ठ १७६।

४८ भर्तृहरि के शब्दतत्त्वाद्वैत ग्रन्थ की चर्चा अन्यत्र भी है—तेन यदाह शब्दतत्त्वाद्वैत नाम न्याय भर्तृहरेरात्माद्वैत महाभाष्य व्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, आर० ४४३६।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥
इति लक्षणेन दिग्देशकालरवच्छेदो विशिष्यमाणता निषिद्धा ।

—शिवदृष्टि पृष्ठ ८४

भर्तृहरि की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना वाक्यपदीय है। इसमें तीन काण्ड हैं। पहला आगम काण्ड, दूसरा वाक्य काण्ड और तीसरा पद काण्ड कहलाता है। पूर्व के आचार्य वाक्यपदीय शब्द से वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड ही समझते थे। तीसरा काण्ड प्रकीर्णक नाम से भी प्रसिद्ध था। हेलाराज ने वाक्यपदीय (पहला और दूसरा काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी और प्रकीर्णक पर प्रकीर्णकप्रकाश नाम की टीका लिखी है। स्वयं भर्तृहरि वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड के अन्त में पुस्तक की समाप्ति करते जान पड़ते हैं परन्तु वहीं उन्होंने तीसरे काण्ड की भी सूचना दे दी है

वस्त्वनामात्र केवाचित वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥

—वाक्यपदीय २।४६१

पुण्यराज ने तृतीय काण्ड को पूर्व के दोनों काण्डों का निष्यन्दभूत कहा है। वस्तुतः तृतीय काण्ड में व्याकरणदर्शन की अनेक मान्यताओं पर अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के संकेत के साथ विचार किया गया है। प्रकीर्णक उस तरह के ग्रन्थों को कहते थे जिनमें विषय विभाग ठीक ठीक बिना किए ही विचार किया जाता था (प्रकीर्णकत्वं च ग्रन्थस्य विषय विभागेन विना प्रवक्तत्वमुच्यते—मल्लिनाथ संगीत रत्नाकर ३।१)। इत्सिंग ने इसी को पइन्न कहा है जिसकी पहचान सबसे पहले कीलहार्न ने प्रकीर्णक से की।[४६] प्रकीर्णक खण्डितरूप में ही मिलता है और पुण्यराज को भी इसके कुछ समुद्देशों का पता नहीं था। लक्षणसमुद्देश और बाधासमुद्देश इन दो का उल्लेख है पर ये मिलते नहीं हैं। पुण्यराज अथवा हेलाराज को भी ये नहीं मिले थे। लक्षणसमुद्देश का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वयं किया है

तत्र द्वादश पट् चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं विस्तरेणव्याख्यास्यते

—वाक्यपदीय २।७६ पर हरिवृत्ति, पृष्ठ ४५ लाहौर संस्करण

बाधासमुद्देश का उल्लेख भी भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में किया था। इसका निर्देश पुण्यराज ने किया है 'यस्मादुक्तम नेयमपरिणामविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यत इति'

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७ पृष्ठ ५०

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर एक वृत्ति भी स्वयं लिखी थी। श्री चारुदेव शास्त्री ने इस वृत्ति को लाहौर से छापा है। अब तक केवल प्रथम काण्ड

---

४६ द्रष्टव्य—इण्डियन एण्टीक्वेरी १८८३ खण्ड १२ पृष्ठ २२६, 'इत्सिंग की भारत यात्रा' के परिशिष्ट में अनूदित।

पर और द्वितीय काण्ड के एक चौथाई हिस्से पर ही वृत्ति छपी है। श्री चारुदेव शास्त्री ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भर्तृहरि ने स्वयं वृत्ति लिखी थी और बनारस की पुस्तक में प्रथम-काण्ड की वृत्ति भर्तृहरि की वृत्ति का संक्षिप्त रूप[५०] है। भर्तृहरिवृत्ति के पोषक कई प्रौढ़तर प्रमाण मुझे भी मिले हैं जिनमें कुछ का निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग पृष्ठ २२६ पर लिखा है

तदाह तत्रभवान् भर्तृहरिः प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा च अचला च चला च, प्रतिलब्धा समाधाना च, सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा च सर्वार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तप्रत्यवभासा च इति।

यह अंश वाक्यपदीय १।१४३ (१४४) की हरिवृत्ति पृष्ठ १२६ पर ज्यों का त्यों मिलता है।

धर्मकीर्ति के प्रमाण वार्तिक की टीका में कर्णकगोमी ने लिखा है

यदाह भर्तृहरिः सर्वेषां पृथगवस्थितानां सर्वेषु प्रतिशब्दं कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेः। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वे रूपार्थोपग्राहिणि नियमानुपातनिबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्त इति।[५१]

गद्यमय होने के कारण यह अंश अवश्य ही हरिवृत्ति का होगा। अब तक के प्रकाशित हरिवृत्ति में यह अंश नहीं है।

पुण्यराज ने एक स्थान पर लिखा है

एतेषां च वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृता स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशाल्लेखकप्रमादाद्वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।[५२]

पुण्यराज का यह कहना कि ग्रंथकार ने अपनी वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख स्वयं किया है ठीक है क्योंकि वाक्यपदीय २।७६ की वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख है।

भर्तृहरि के विवरण का उल्लेख वृषभ ने भी किया है

यद्यपि च शब्दतत्त्वानादिनिधनश्रुतिस्तथापि कारिकाविवरणप्रायवसीयते अयद्गमागीकरणेन शास्त्रहेतोपात्तेति।

वृषभ, वाक्यपदीय १।१ ३ पृष्ठ

अतः भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर वृत्ति लिखी थी और चारुदेव शास्त्री ने जिस वृत्ति को प्रकाशित किया है वह भर्तृहरि की ही है।

हरिवृत्ति का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। अनेक गम्भीर विषयों का विवेचन इस वृत्ति में किया गया है। भाषा के दार्शनिक इतिहास के लिए तो वह अत्यन्त मूल्यवान है।

---

५० द्रष्टव्य—वाक्यपदीय प्रथम काण्ड की भूमिका लाहौर संस्करण, पृष्ठ १[illegible] १८

५१ प्रमाणवार्तिक, पृ० ४६४ राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित

५२ वाक्यपदीय २।८७ लाहौर संस्करण

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भर्तृहरिशतक और ब्रह्मसूत्र की टीका तथा मीमांसा-सूत्र पर वृत्ति—इन ग्रंथों को भी भर्तृहरि ने लिखा था ऐसा सुना जाता है पर इन ग्रंथों को वैयाकरण भर्तृहरि की रचना मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

वाक्यपदीय के अन्य टीकाकार

भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त वाक्यपदीय पर बहुत सी टीकाएँ लिखी गई थीं। वृषभ ने पूर्वाचार्यों की टीकाओं का संकेत किया है।

वृषभदेव

इन समग्र उपलब्ध टीकाओं में वृषभ की टीका उल्लेखनीय है। वृषभ का समय ५५० ई० है। यह ऊपर सप्रमाण निश्चय किया जा चुका है। वृषभ ने वाक्यपदीय और हरिवृत्ति दोनों पर टीका लिखी है। पहले वह वाक्यपदीय के श्लोक का भाव देते हैं। इसके बाद हरिवृत्ति के शब्दों की व्याख्याएँ करते हैं। वह व्याकरणशास्त्र और अन्य आगमों में निष्णात जान पड़ते हैं। हरिवृत्ति के अनेक दुरूह अंशों का परिज्ञान वृषभ की टीका के सहारे ही सम्भव है। इनकी टीका का नाम वाक्यपदीयपद्धति है।[५३] यह टीका प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध है। इसे चारुदेव शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित किया है।

पुण्यराज

पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड (वाक्य काण्ड) पर टीका लिखी है। उनका दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था। उन्होंने लिखा है कि मैंने शशांक के शिष्य से वाक्य काण्ड पढ़ा था। यह कौन शशांक हैं इसके बारे में विशेष पता नहीं है। पुण्यराज का समय ९०० ई० के आसपास जान पड़ता है। पुण्यराज ने अपनी टीका में अनेक ग्रंथों और लेखकों का उल्लेख किया है। जैसे काशिका वृत्ति,[५४] कुमारिल के श्लोकवार्तिक[५५], भर्तृहरि शतक[५६] का एक श्लोक राघवानन्द नाटक का एक श्लोक आदि उसमें उद्धृत हैं।[५७] राघवानन्द वैंकटेश्वर की रचना है।

पुण्यराज ने 'इन्दोलक्ष्मस्मरविजयिन' यह श्लोक वाक्यपदीय २/२४९ की टीका

---

५३ ट्रावन्कोर लाइब्रेरी के हस्तलेख नं० २०७ वाली प्रति में यह पुष्पिका है इति वृषभ रचितायां वाक्यपदीयपद्धतौ प्रथम काण्ड समाप्तम्।

५४ यथैव कमणीति किं मातुर्गुणैः स्मरणमिति कथ प्रत्युदाहृतम्''—वाक्यपदीय २।२०० पृ० १६४, यह अंश काशिका में २।३।५२ पर है। पुण्यराज ने यहाँ कारकान्तरे त्वेकैवेति वृत्तिकारा ' भी लिखा है

५५ वाक्यपदीय २।६४ में मीमांसाश्लोकवार्तिक का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—
यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥ —मीमांसाश्लोकवार्तिक, स्फोटवाद ६९

५६ मणि शाणोल्लीढ समरविजयी हेतिनिहत —भर्तृहरि शतक, वाक्यपदीय २।८६ में उद्धृत है

५७ रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परामस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि पर देवो न जानाति तम्। बन्दीवैष यशासि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहतिश्रेणीभूत विशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः —वाक्यपदीय २।८६। काव्य प्रकाश की व्याख्या चन्द्रिका में यह श्लोक राघवानन्द नाटक का कहा गया है।

मे उद्धृत किया है। यह श्लोक राजशेखर का कहा जाता है। परन्तु राजशेखर के ग्रन्थों मे नहीं मिलता। वस्तुत यह राजशेखर का श्लोक नही हो सकता क्योंकि मुकुल ने इस श्लोक को उद्धृत किया है। मुकुल और राजशेखर समकालिक हैं। नीचे लिखे वक्तव्य से जान पडता है कि पुण्यराज आनन्दवर्धन के बाद हुए थे परन्तु थोड़े ही दिन बाद या समकालिक क्योंकि ध्वनि मे भेद-उपभेद स्वरूप मे पूर्णतया अवगत नही जान पडते

एतेन श्लोकेन प्रकारद्वयेन लक्षणा प्रदर्शिता। कदाचित् मुख्यार्थत्यागेनवाऽर्थयोपलक्षणमेतदेवाविवक्षितवाच्यमुच्यते। कदाचित् मुख्यार्थाविरोधोपायपूर्वकमर्थोपलक्षणमेतदेव विवक्षितान्यपरवाच्यमुक्त विज्ञेयम्।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।११५

इस उद्धरण मे अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य दो शब्द आए हैं जो आनन्दवर्द्धन के गढे हुए हैं। साथ ही इनका उन्होंने लक्षणा के साथ किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि की पर्याप्त चर्चा पुण्यराज के समय म नही थी। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मुकुल भट्ट ने ध्वनि के उपर्युक्त भेदो को लक्षणा म अन्तर्भाव किया था

समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु लक्षणायाम अविवक्षितवाच्यता छत्रिणो यान्तीत्यत्रैवोदाहार्या।

—अभिधावृत्तिमातृका पृष्ठ २०

पुण्यराज ध्वनि के भेदो को लक्षणा के भीतर लेते हुए मुकुलभट्ट से प्रभावित जान पडते हैं। मुकुलभट्ट भट्टकल्लट के पुत्र और प्रतिहारेन्दुराज के गुरु थे। भट्टकल्लट अवन्तिवर्मा (८५५ ८८३ ई०) के समकालिक थे (राजतरंगिणी ५।६६)। इसलिए मुकुल भट्ट का समय ९०० ई० है। पुण्यराज ९०० ई० के बाद के हैं। पर वे अभिनवगुप्त (१००० ई०) के पूर्व हुए होंगे अन्यथा ध्वनि को लक्षणा के भीतर स्वीकार बिना विशेष युक्ति के नहीं कर सकते थे।

पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।२४३ की टीका मे निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है

सतां च न निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थ प्रलय गत ॥

श्री के० एम० शर्मा ने बालभट्ट के आधार पर इस श्लोक को खण्डनखण्डखाद्य का माना है और इसी आधार पर पुण्यराज को श्री हर्ष के बाद का बारहवी शताब्दी का माना[४८] है। परन्तु यह उचित नही जान पडता। मुद्रित खण्डनखण्डखाद्य मे उपर्युक्त श्लोक नही मिलता। इसके अतिरिक्त यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है और अनेक ग्रन्थो मे उद्धृत पाया जाता है। हेलाराज ने भी वाक्यपदीय ३ पृष्ठ ११७ पर इसे उद्धृत किया है। श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य म दूसरो की कारिकाओ का भी उल्लेख किया है। अत यदि किसी प्रति म उपर्युक्त श्लोक मिले भी तो वह श्री हर्ष का ही है नही कहा जा सकता। सम्भवत यह श्लोक धर्मकीर्ति का है।

---

४८ एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च १९४२, पृ० ४११ १२

पुण्यराज ने अपनी टीका में संक्षेप शैली को अपनाया है, फिर भी वह सौष्ठव-पूर्ण और गम्भीर है। भर्तृहरि की तरह पुण्यराज भी मीमांसा दर्शन के मर्मज्ञ जान पड़ते हैं।

हेलाराज

हेलाराज ने वाक्यपदीय (प्रथम और द्वितीय काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उन्होंने कई स्थानों पर किया है।[५९] अब तक यह टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड (प्रकीर्णक) पर प्रकीर्णप्रकाश नाम की इनकी टीका है जो काशी से छपी है और साधन क्रिया समुद्देश से लेकर वृत्ति समुद्देश तक ट्रावंकोर से भी दो भागों में शुद्ध रूप में छपी है।

हेलाराज कश्मीरी थे। वे मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण के वंशज थे और उनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त ने अपने साहित्यिक गुरु इन्दुराज के पिता का नाम भी भूतिराज बताया है।[६०] यदि भट्टेन्दुराज और हेलाराज भाई हों तो हेलाराज का समय ९७५ ई० के आसपास होना चाहिए। हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। वाक्यपदीय के वृत्तिसमुद्देश के सम्पादक श्री रघुनाथ शर्मा ने कैयट और हेलाराज के कई समान वाक्यों का उद्धरण दिया है और संकेत किया है कि हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। वस्तुतः हेलाराज कैयट के बाद के हैं। हेलाराज ने कैयट के कई व्याख्यानों का उनका बिना नाम दिये खण्डन किया है। जैसे, हेलाराज ने लिखा है

'धातुरर्थः प्रयोजनमस्येत्येतत्तु भाष्यव्याख्यानमयुक्तम्।'

—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश पृष्ठ १७३

हेलाराज ने यहाँ जिस भाष्यव्याख्यान का उल्लेख किया है वह कैयट का है। कैयट ने लिखा है

> धात्वर्थः क्रिया सा अर्थः प्रयोजनं यस्य साधनस्य तस्मिन् वर्तमानाद् उपसर्गात् स्वार्थे वतिप्रत्ययः।

—कैयट प्रदीप ५।१।११८ ४।१।७८ भी द्रष्टव्य

अलंकार सर्वस्व (११३५ ई०) में कैयट के 'भाष्याब्धी ब्वातिगम्भीरम्' इस वाक्य का उल्लेख है।[६१] ई० ११७२ में लिखी दुर्घट वृत्ति में कैयट का कई बार नाम आया है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'व्याकरण का इतिहास' में कैयट का समय ई० १०३५ के लगभग अनुमान से निश्चित किया है। श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य कैयट का

---

५९ विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति। (वाक्यपदीय ३।४६ पृ० ३९।

६० "श्रीभूतिराजतनय स्वपितृप्रसाद" तन्त्रालोक ३७।६०, डा० के० सी० पाण्डेय द्वारा अभिनवगुप्त ऐन हिस्टारिकल ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी पृ० १४३ पर उद्धृत।

६१ अलंकार सर्वस्व अन्तिम श्लोक की वृत्ति। इस पर डा० वी० राघवन् ने प्रकाश डाला था।

समय ९०० ई० मन् के आसपास मानते हैं।[९२] इस आधार पर हेलाराज और इन्दुराज को सहोदर भाई माना जा सकता है क्योंकि इन्दुराज का भी यही समय है।

हेलाराज ने वाक्यपदीय ३ द्रव्य समुद्देश ११ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है

एकदेशेन साक्ष्ये सर्वं स्यात् सर्ववेदनम्।
सर्वात्मना तु साक्ष्ये ज्ञानमज्ञानतां व्रजेत्॥

यह तत्त्वसंग्रह की १२५८वीं कारिका है। तत्त्वसंग्रह के लेखक शान्तरक्षित का समय ७८० ई० है।

माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में वाक्यपदीय के व्याख्याता हेलाराज का उल्लेख किया है

क्रमप्रवर्तीयेन च पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वं इति हेलाराजो व्याख्यातवान्।

इसलिए १३वीं शताब्दी के पूर्व हेलाराज हुए थे। १००० ई० इनका समय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती।[९३]

हेलाराज अतीव प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। शब्दप्रभा और प्रकीर्णकप्रकाश के अतिरिक्त इन्होंने क्रियाविवेक वार्तिकोन्मेष और अद्वयसिद्धि नाम के ग्रन्थों की भी रचना की थी। इन पुस्तकों का उल्लेख उनकी टीका में मिलता है।

हेलाराज की लेखनी में अद्भुत शक्ति है। वे महाभाष्य में निष्णात, आगम शास्त्र के पण्डित विभिन्न दर्शनों के परिज्ञाता और वाक्यपदीय के परम मर्मज्ञ हैं। इनकी टीका में जो मौलिकता और चारुता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

धर्मपाल

इत्सिंग के अनुसार धर्मपाल ने भर्तृहरि के पेइ न (प्रकीर्णक) पर टीका लिखी थी। धर्मपाल की टीका के बारे में अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता। इत्सिंग के अनुसार

---

९२ परिभाषा वृत्ति की भूमिका, पृ० ८।

९३ हेलाराज ने कई श्लोकों और वाक्यों के उद्धरण दिए हैं जो अन्य कवियों के हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है, क्योंकि ये उद्धरण उनके काल पर प्रकाश डालते हैं। इन श्लोकों और वाक्यों का मूल अभी तक नहीं मिल पाया है

ईर्ष्यावशेन कलुषत्वमुपागतस्य
दूरान्मुखस्य तव सुन्दरि साम्यमेत्य।
येन प्रहर्षभरपूरितपूर्णदेह
स्वाङ्गेष्वपि प्रसभमद्य न माति चन्द्र॥

—वाक्यपदीय, ३, वृत्तिसमुद्देश २७३ में उद्धृत

रोलम्ब गवल (गरल) व्याल तमालश्यामल नभः।
नभोनिर्मलनिस्त्रिंश न्ययपाणय वे॥

—वही, वृत्तिसमुद्देश २७२

भर्तृहरि और धर्मपाल समकालिक थे। धर्मपाल शीलभद्र के गुरु थे। ह्वेनत्सांग (६२५ ई०) के समय में शीलभद्र इतने अधिक वृद्ध थे कि वह ह्वेनत्सांग को पढ़ा नहीं सकते थे। धर्मपाल की मृत्यु ५७० ई० में हो गई थी। धर्मपाल अपने समय में नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य थे।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय का अन्यदर्शन के क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में जितने महान चिन्तक उत्पन्न हुए वे सब किसी-न-किसी रूप में भर्तृहरि दर्शन से परिचित जान पड़ते हैं। भारतीय चिन्तन परंपरा में एक खटकने वाली प्रथा प्राचीन काल से ही दिखाई देती है। वह है अपने सम्प्रदाय अथवा दर्शन का सर्वथा पोषण और दूसरों के विचारों का खण्डन। जो विचारक जिस दर्शन से नाता जोड़ लेता था, वह अपनी प्रतिभा का उपयोग उसी के समर्थन में करता था और अन्य मत उसे त्रुटिपूर्ण दिखाई देते थे। सम्प्रदायनिरपेक्ष रूप में स्वतन्त्र विचारक भारतीय दर्शन के इतिहास में अल्प हैं। भर्तृहरि के मतों की समीक्षा भी प्रायः साम्प्रदायिक आधार पर की गई है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अन्य दर्शनों के भी विचारों को स्थान दिया था किन्तु समीक्षकों ने उन सब विचारों को वाक्यपदीय में लिखे देखकर भर्तृहरि का ही मानकर उनकी समीक्षा की है। इसके एक रोचक उदाहरण का उल्लेख आवश्यक है। भर्तृहरि ने वाक्यकाण्ड के आरम्भ में वाक्य के कई लक्षण एक साथ दे रखे हैं। ये लक्षण निश्चित रूप से संगृहीत हैं। भर्तृहरि ने भी स्वयं 'वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि ये वाक्यलक्षण संगृहीत हैं। उन्होंने 'न्याय दर्शिनाम्' शब्द से यह भी संकेत कर दिया है कि इन लक्षणों का सम्बन्ध मीमांसा दर्शन से है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भी इसे मीमांसकों का वाक्यलक्षण माना है और तदनुरूप व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु कुमारिल भट्ट को ये लक्षण वाक्यपदीय में दिखलाई दिए और सबका उन्होंने खण्डन कर दिया। कुमारिल के श्लोकवार्तिक के टीकाकार सुचरितमिश्र और पार्थसारथि मिश्र ने भी वैयाकरणों के मत के रूप में वाक्यपदीय में दिए वाक्यलक्षण को उद्धृत कर उनका खण्डन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि समीक्षा करते समय आवश्यक छानबीन नहीं की जाती थी। अवश्य ही दूसरे दर्शन के आचार्यों द्वारा उल्लिखित वाक्यपदीय सम्बन्धी मत अनेक दृष्टियों से बहुत उपादेय हैं और स्वयं भर्तृहरि के समझने में बहुत सहायक होते हैं।

बौद्ध दार्शनिकों में धर्मकीर्ति ने भर्तृहरि की मान्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने भर्तृहरि का नाम नहीं लिया है किन्तु उनकी मान्यताओं का उल्लेख अवश्य किया है। प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कर्णकगोमी और प्रज्ञाकर गुप्त ने भी वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओं का उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है। कर्णकगोमी की टीका में भर्तृहरि की वृत्ति का एक अंश मिल गया है जो प्रकाशित वृत्ति में खण्डित

है। शांतरक्षित और कमलशील भी भर्तृहरि से प्रभावित हैं। कमलशील ने कई कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट किया है। किसी बौद्ध आचार्य ने 'शब्दार्थचिन्ताविवृत्ति' नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा था ऐसा रत्नश्रीज्ञान रचित काव्यादर्श की टीका से जान पड़ता है।[१४]

जैन आचार्यों में मल्लवादिक्षमाश्रमण, वादिदेव सूरि, प्रभाचन्द्र आदि ने वाक्यपदीय के अनेक सिद्धान्तों पर विचार किया है। वादिदेव सूरि के सामने हरिवृत्ति भी थी और इसके कुछ अंश वहीं मिलते हैं।

भर्तृहरि की सबसे अधिक समीक्षा कुमारिल भट्ट ने की है। श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक दोनों में स्थान स्थान पर भर्तृहरि का नाम दिए बिना किन्तु उनकी कारिकाओं के मकन्द देते हुए कुमारिल ने वर्ण, पद, वाक्य प्रतिभा स्फोट सम्बन्धी वाक्यपदीय में आए मतों की आलोचना की है। भट्ट उम्बेक सुचरित मिश्र और पार्थसारथि ने वाक्यपदीय की कई कारिकाओं के उद्धरण दिए हैं और उनका खण्डन किया है। मीमांसकों में मण्डन मिश्र व्याकरणदर्शन के प्रति उदार हृदय रखते थे। उन्होंने कुमारिल के कई तर्कों के उत्तर दिए हैं। किन्तु स्फोटसिद्धि की रचना का मुख्य उद्देश्य मेरी समझ में व्याकरण के सिद्धान्त के समर्थन की अपेक्षा धर्मकीर्ति का खण्डन है। वस्तुतः स्फोटसिद्धि में अधिकांश वाक्यसमूह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के हैं अल्प मण्डनमिश्र के हैं। वाचस्पति मिश्र ने मीमांसादर्शन की दृष्टि से तत्त्व बिन्दु की रचना की है। इसमें भी वाक्यपदीय की आलोचना है।

प्राचीन नैयायिकों में जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में व्याकरणदर्शन की कुछ मान्यताओं की आलोचना की है। जयन्त भट्ट अच्छे वैयाकरण भी थे। उनका हृदय व्याकरणदर्शन की ओर है और मस्तिष्क न्यायदर्शन की ओर।

छठी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के प्रसिद्ध वैयाकरणों में काशिकाकार (जयादित्य और वामन), न्यासकार, कैयट और भोज प्रमुख हैं। यद्यपि इन आचार्यों ने व्याकरणदर्शन पर ग्रन्थ नहीं लिखे हैं किन्तु इनकी टीकाओं में व्याकरण दर्शन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। इनमें न्यासकार बड़े ही मौलिक विचारक थे। कैयट (ई० ९००) ने महाभाष्यप्रदीप में वाक्यपदीय का बहुत आधार लिया है और वाक्यपदीय के अनेक उलझे मतों को थोड़े में स्पष्ट रूप से रखने में वे बेजोड़ हैं। महाभाष्य के दार्शनिक संकेतों को वे स्पष्ट करते चलते हैं। ऐसे अवसर पर उनकी शैली भी होती है

---

१४ एतच्च विस्तरेण शब्दार्थचिन्ताविवृतौ चिन्तितम् इति बोद्धव्यम्।—रत्नश्रीज्ञान, काव्यलक्षण टीका—पृ० १४३। यह विवृति प्रमाणवार्तिक के शब्द चिन्ता प्रकरण पर थी अथवा किसी शब्दार्थचिन्ता ग्रन्थ पर थी, अज्ञात है। प्रमाणवार्तिक के 'शब्द चिन्ता प्रकरण' में उद्धृत वक्तव्य का सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। उद्धरण में वाक्यपदीय की भी एक कारिका है जिसमें पाठभेद है। उदाहरणस्वरूप उद्धरण में क्रिया की प्रधानता सिद्ध की गई है।

'भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनम् अनिभियत'
'ज्ञानस्य शब्दरूपत्वापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य'[१८]

कैयट का प्रदीप एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है।

भोज (९७५ ई०) के सरस्वतीकण्ठाभरण मे तो नहीं किन्तु शृंगार प्रकाश मे व्याकरणदर्शन सम्बन्धी अपार सामग्री है। भोज ने व्याकरणदर्शन से सम्बद्ध प्राय सभी पक्षों पर विचार किया है। और सब जगह से सामग्री एकत्र कर उसे विस्तृत रूप दे दिया है। इस ग्रन्थ मे वाक्यपदीय की बहुत कारिकाएँ उद्धृत हैं। सबसे अधिक हर्ष की बात तो यह है कि वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड की लगभग दो सौ कारिकाओं की हरिवृत्ति शृंगारप्रकाश मे विभिन्न स्थलों पर ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। भोज ने उन्हे ऐसे ढग से अस्तव्यस्त रूप म रखा है कि प्रथम दृष्टि म उन्हें पहचानना सरल नही है। महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) के भी कुछ भाग शृंगारप्रकाश म उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनेक उद्धरण अज्ञात वैयाकरणों के हैं। कही कही भोज ने भर्तृहरि की समीक्षा भी की है। उनके प्रतिभादर्शन का उन्ही के शब्दों म उल्लेख कर भोज ने उसमे असहमति व्यक्त की है। स्फोट और शब्दब्रह्मवाद का अपने ढग से उल्लेख किया है।

ग्यारहवी शताब्दी से लेकर सत्रहवी शताब्दी तक संस्कृत के वैयाकरणों का एक जाल-सा बिछा हुआ है। इस बीच कुछ ग्रन्थ व्याकरण के दार्शनिक पक्ष को सामने रखकर लिखे गए थे उनम भी कुछ ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों म भी प्रकाशित ग्रन्थ अल्प हैं। इन प्रकाशित ग्रन्थों के सब लेखक भी मूल रूप से दार्शनिक विचारधारा के नही थे। उन्होने जैसे व्याकरण के अन्य पक्षों पर विचार किया वैसे ही व्याकरणदर्शन पर भी कुछ लिखा। किन्तु इस रूप मे भी बहुत सी उपादेय सामग्री अभी तक सुरक्षित है। इस अवधि मे व्याकरणदर्शन पर लिखने वालो मे पुरुषोत्तमदेव, सायण शेष श्रीकृष्ण और भट्टोजि दीक्षित प्रमुख हैं। पुरुषोत्तमदेव (बारहवी शताब्दी) ने व्याकरण की अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमे उनका कारक चक्र व्याकरणदर्शन से सम्बन्ध रखता है। सायण (चौदहवी शताब्दी) अपने युग के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होने सर्वदर्शन सग्रह म पाणिनिदर्शन के नाम से व्याकरण दर्शन का परिचय दिया है। शेष श्रीकृष्ण अकबर के समय मे थे और भट्टोजि दीक्षित के गुरु थे। उन्होंने शब्दाभरण नाम का एक प्रौढ ग्रन्थ लिखा था जो आज अनुपलब्ध है। इनका 'स्फोटतत्त्व निरूपण' प्रकाशित है। इनके प्रक्रियाप्रकाश और पदचन्द्रिका विवरण में भी व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों की चर्चा है। पदचन्द्रिका उनका स्वतन्त्र व्याकरण है। शेष श्रीकृष्ण के पुत्र शेष नारायण ने महाभाष्य पर सूक्तिरत्नाकर नाम की टीका लिखी है। इसमे मीमांसादर्शन और व्याकरणदर्शन का कई स्थलो पर तुलनात्मक विवेचन मिलता है। भट्टोजि दीक्षित (१६०० ई०) ने शब्दकौस्तुभ मे व्याकरण के दर्शन पक्ष पर भी यथास्थान विचार किया है। इनमे आई हुई कारिकाओ का सग्रह वैयाकरणसिद्धान्तकारिका के नाम से ज्ञात है। इनम व्याकरण के दार्शनिक

---

१८ महाभाष्यप्रदीप १।१।६४, १।४।२१

पदाथ उल्लिखित हैं ।

सत्रहवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वाध तक अनेक आचार्यों ने सस्कृत व्याकरणदशन की सुरक्षा मे योग दिया जिनमे कुछ नयायिक भी हैं । इनमे उल्लेखनीय कौण्डभट्ट, नागेश भट्ट, जगदीश भट्टाचाय कृष्ण मित्र भरत मिश्र आदि हैं । कौण्ड भट्ट ने वयाकरणभूषण लिखा जो भट्टोजि दीक्षित की कारिकाओ की व्याख्या है । उसका लघु सस्करण वयाकरणभूषणसार नाम से प्रसिद्ध है । वयाकरण भूषण विद्वत्तापूण ग थ है और पहली बार एक वैयाकरण ने मीमासको, नयायिको और वेदान्तियो के आक्षेपो के उत्तर देने का प्रयत्न किया है । वयाकरणभूषणसार पर प्रकाशित टीकाओ म हरिराम काले की काशिका महत्त्वपूण स्थान रखती है । हरिवल्लभ ने भी इस पर दपण नाम की टीका लिखी है ।

नागेश भट्ट (१७०० ई०) ने व्याकरणदशन पर स्वत त्र ग्र थ 'वयाकरण सिद्धा तमजूषा' लिखा है । इसका एक लघु सस्करण परमलघुमजूषा है । मजूषा की कला टीका पृ० ५३० ५३५ पर गुरुमजूषा का भी उल्लेख है । नागेश ने वाक्यपदीय विशेषकर पुण्यराज और हेलाराज के आधार पर इसकी रचना की है । किन्तु मीमासा और याय के पदार्थों पर भी विचार किया है । यह महत्त्वपूण ग्रथ है । नागेश ने स्फोटवाद पर एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है जो अडयार से प्रकाशित है । नागेश की मजूषा पर रामसेवक त्रिपाठी के पुत्र कृष्ण मित्र की कुञ्जिका नाम की टीका है । इस पर कला टीका नागेश के शिष्य वद्यनाथ पायगुण्ड की लिखी हुई है । दोनो ही टीकाए सारगर्भित हैं ।

जगदीश भट्टाचाय की शब्दशक्तिप्रकाशिका' भी प्रसिद्ध पुस्तक है । श्री गिरिधर भट्टाचाय रचित विभक्त्यथनिणय' और गोकुलनाथ रचित पदवाक्यरत्नाकर उल्लेखनीय हैं । भरत मिश्र ने स्फोटवाद पर छोटी सी किन्तु विचारपूण पुस्तक लिखी है । कृष्णमित्र ने व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । नागश की मजूषा पर इनकी टीका का उल्लेख हो चुका है । व्याकरणदशन स सम्बन्ध रखने वाले इनके कई छोटे छोटे ग्रन्थ भी प्रकाशित हैं । इनम वादसुधाकर लघुविभक्त्यथनिणय और वृत्तिदीपिका उल्लेखनीय हैं । कृष्णमित्र के पुत्र लक्ष्मीदत्त का पदाथदीपक भी व्याकरणदशन का ग्रथ है । मौनी श्रीकृष्णभट्ट की स्फोटचन्द्रिका, रसमनदि का कारकसम्बन्धोद्योत अचलोपाध्याय का वाक्यवाद श्री हरियशोमिश्र की वाक्यदीपिका (वाक्यवाद टीका) भी उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं । बीसवी शताब्दी के पूर्वाध म व्याकरणदशन पर अल्प काय हुआ है । डॉ० गोपीनाथ जी कविराज प्रो के एस ए अय्यर और प० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय ने *व्याकरणदशन पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं ।* प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती की दो पुस्तकें फिलासफी आफ सस्कृत ग्रामर और लिंग्विस्टिक स्पकुलेशन आफ द हिन्दूज इस अवधि की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं । प० रामाज्ञा पाण्डेय का प्रतिभादशन और प सभापति उपाध्याय रचित मजूषा की टीका भी उल्लेखनीय हैं ।

इधर व्याकरणदशन की ओर कई विद्वानों का ध्यान गया है और इस विषय म शोधकाय हो रहे हैं । डॉ० के० राघवन् पिल्ल ने वाक्यपदीय का अंग्रेजी म अनुवाद

किया है। प्रो अय्यर ने भी प्रथम काण्ड सवृत्ति का अग्रेजी मे अनुवाद किया है। प रघुनाथ शास्त्री ने वाक्यपदीय प्रथम काण्ड पर वृषभ के आधार पर सस्कृत मे टीका लिखी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्यपदीय से सम्बद्ध विषय पर कुछ प्रबन्ध अग्रेजी और हिन्दी मे प्रस्तुत किए गए हैं जिनमे उल्लेखनीय डा० गौरीनाथ शास्त्री का 'फिलासफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग' है।

२

वाक्-ध्वनि-वर्ण-शब्द

व्याकरण का सम्बध भाषा से है और भाषा का मूल रूप वाक है। वाक का एक स्वतन्त्र दशन है। वाक के बिना जगत् सूना और जीवन पगु है। ससार के प्राय सारे व्यवहार वाग् व्यापार पर ही निभर है। सभ्यता और सस्कृति इसकी गोद म फूलती फलती हैं। वाक केवल विचारो के विनिमय का ही माध्यम नहीं, अपितु विश्व म जो कुछ सत्य है शिव है, सुदर है उन सब का भी व्यजक है। वाक का एक स्थूल रूप है, एक सूक्ष्म रूप है। स्थूल रूप म वाक भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। सूक्ष्म रूप मे वाक ब्रह्ममय है, चिति तत्त्व है। वाक तत्त्वमेव चितिक्रियारूपमित्यये (वाक्य पदीय १।१२७ हरिवत्ति)। भत हरि ने वाक की महिमा का उद्घाटन मुख्य रूप म तीन तरह से किया है श्रुति के आधार पर, आगम के आधार पर और भाषाविज्ञान के आधार पर। वेदो और उपनिषदो मे वाक पर पर्याप्त विचार किया गया है। भत हरि ने श्रुतियो के उन वाक्यो को उद्धत किया है जिनमे वाक सृष्टि का मूल तत्त्व मानी गयी है। सम्पूण सष्टि नाम और रूप इन दो वर्गों म विभाजित है। दोनो एक ही के विवत हैं। रूप अपने सूक्ष्म रूप मे नाम है

नामवेद रूपत्वेन ववते रूप चेद नामभावेवतस्थे।
एके तदेकमविभक्त विभेजु प्रागिवाये भेदरूप वदन्ति॥

—वाक्यपदीय १।१२ हरिवत्ति म उद्धत

वेद म वाक को सूक्ष्म और अथ स अविभक्त तत्त्व कहा गया है और इसके नाना रूप माने गये हैं

सूक्ष्मामर्थनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमनभिस्य दमानाम।
उताये विदुरयामिव च एना नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम॥

—वाक्यपदीय १।१ हरिवत्ति म उद्धत

वेद को ब्रह्मराशि कहा गया है। वेद ब्रह्म का प्राप्ति उपाय है और अनुकार भी है। प्राप्ति शब्द का प्रयोग यहा पारिभाषिक है। भत हरि के अनुसार मेरा या मैं' इस अहकार ग्रथि का सवथा उन्मूलन ब्रह्म की प्राप्ति है। कुछ लोगा के मत म विकारो का अपने मूलप्रकृतिरूप म हो जाना प्राप्ति है। प्राप्ति के निम्नलिखित नव विकल्प भत हरि ने वाक्यपदीय १।५ की वत्ति म गिनाए हैं—

(१) चक्रव्य—चक्षु आदि पाँच ज्ञानेंद्रियो हाथ पर आदि पाँच कर्मेन्द्रिया

बुद्धि और मन इन सब की निवृत्ति को वकरण्य कहते हैं। क्योकि ससार का परिज्ञान इद्रियो द्वारा ही होता है, इद्रियो की निवृत्ति से ससार की निवत्ति मान ली गई है।

(२) असाधना—वृषभ के अनुसार असाधना का अथ अबहि साधना है। बाह्य समार में अनुकूल विषयो की साधना भी की जाती है। उससे भी तृप्ति होती है। परतु अन्त साधना का ही महत्त्व अधिक है।

(३) परितप्ति—वह तप्ति जिसमे कोई इच्छा नही रह जाती।

(४) आत्मतत्त्वम—वह अवस्था जिसमे बाह्य परिस्थिति सवथा ओझल हो जाती है और व्यक्ति केवल आत्मानुभूति मे लीन हो गया रहता है। उपनिषदो मे इस परिस्थिति को प्रिय स्त्री से आलिंगित पुरुष की आत्मविभोर परिस्थिति के प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया है (आत्मतत्त्व यदुपनिषत्सु वण्यते यथेष्टया स्त्रिया परिष्वक्तो न किंचन वेद इति—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।५)।

(५) आत्मकामत्व—रूप, रस आदि विषय भोगो की कामना न होना और केवल आत्मा की कामना होना आत्मकामत्व है। आत्मतत्त्व और आत्मकामत्व मे भेद यह है कि आत्मतत्त्व मे आत्मानुभूति की गहराई द्योतित है जबकि आत्मकामत्व मे बाह्य विषयो मे अनासक्ति लक्षित है।

(६) अनागन्तुकात्व—आगन्तुक या परिवर्तनशील भोगो म तितिक्षा का होना। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे सस्पशज भोगों को उत्पन्न होनेवाला (आगामी) माना गया है।

(७) परिपूण शक्तित्व—सब तरह के सामथ्य का होना।

(८) कालवत्तियों का आत्ममात्रा मे असमावेश—जन्म विपरिणाम आदि विकार कालवत्ति के रूप हैं। कालवत्ति के धर्मों का आत्मवत्ति के धर्मों से पृथक् परिज्ञान कालवत्तियो का आत्ममात्रा मे असमावेश है।

(९) सर्वात्मना नराश्य—सवथा निरीह होना। नराश्य परमसुख माना गया है।

प्राप्ति के उपयुक्त भेद एक दूसरे से सवथा भिन्न न होकर एक दूसर से मिले हुए हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि वेद के प्रसग मे प्राप्ति शब्द का जो पारिभाषिक अथ मीमासादशन मे गृहीत है उससे अतिरिक्त अथ यहाँ भत हरि द्वारा गृहीत हुआ है।

वेद ब्रह्म का अनुकार अर्थात् अनुकरण माना गया है। ऋषियो ने दृष्ट श्रुत और अनुभूत अर्थों का सब साधारण के लाभ के लिए प्रवचन किया है। यह प्रवचन वाक् के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि वाक् सूक्ष्म, नित्य तथा अतीन्द्रिय है फिर भी ध्वनि-नाद के सयोग से वह अभिव्यक्त होकर भेद के द्वारा अभेद के प्रतिपादन मे समथ होती है। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय वाक् प्रतिभा द्वारा क्रमशक्ति के साहचय से ज्ञान के रूप म, अर्थ के रूप म परिणत होती है और उपदश का विषय बनती है। अतीन्द्रिय के बोध को समझाने के लिए भत हरि ने स्वप्न वृत्त का उदाहरण दिया है। स्वप्न में बिना बाह्य व्यापारो के विषय अनुभूत होते हैं और उनका अन्वाख्यान किया जाता है।

> यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मभ्योऽवरेभ्यः प्रवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्नवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्त इत्येष पुराकल्पः ।
>
> —वाक्यपदीय १।५ हरिवृत्ति पृ० १३ (द्रष्टव्य निरुक्त १।२०।२)

अतीन्द्रिय प्रज्ञास्वरूप वाक् कैसे ज्ञान का अथवा प्रत्यक्ष का विषय होती है इस पर भर्तृहरि की तरह योगसूत्र १।४३ के भाष्य में व्यास ने भी प्रकाश डाला है। उनके मत में शब्द के साहचर्य से अतीन्द्रिय और असंकीर्ण प्रज्ञा ज्ञान के रूप में बदल जाती है और प्रत्यक्ष का विषय होती है। योगियों को सूक्ष्म प्रज्ञा का दर्शन 'निर्वितर्क समाधि' में होता है। किन्तु निर्वितर्क समाधिज दर्शन शब्द संकेत के साहचर्य से परिशुद्ध स्मृति में ग्राह्यस्वरूप वाला हो जाता है। बिना शब्द का सहारा लिए उस निर्वितर्क समाधिज ज्ञान का उपदेश दूसरों को दिया ही नहीं जा सकता और न वह दूसरों से गृहीत हो सकता है। ग्राह्यस्वरूप वाली अवस्था को 'निर्वितर्का समापत्ति' कहते हैं। दृष्ट मन्त्रों का वाणीरूप में व्यक्त होने का प्रकार यही माना जाता है। इसी पद्धति से वेद प्रकाश में आए। इसमें यास्क, व्यास और भर्तृहरि एकमत[1] हैं।

वाक् की महिमा उसके व्यावहारिक दृष्टि से भी स्पष्ट है। वाक् और ज्ञान के विषय में दो तरह के मत प्रचलित रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द प्रकृति है और ज्ञान उसका विकार है। कुछ आचार्य ज्ञान को प्रकृति और शब्द को उसका विकार मानते हैं। पहले पक्ष के अनुसार शब्द भावना बीज रूप में मस्तिष्क में उद्बुद्ध होती है। इसके बाद उसके अर्थ का संवेदन होता है। दूसरे पक्ष के अनुसार अर्थ ज्ञान पहले होता है। बाद में उसके लिए शब्द की सृष्टि होती है। इसलिए ज्ञान प्रकृति और शब्द उसका विकार है। भर्तृहरि पहले पक्ष के समर्थक हैं। उनके मत में शब्द भावना अनादि है। शब्द की अभिव्यक्ति के प्रकार अर्थात् प्रयत्न भी स्वाभाविक (प्रतिभाजन्य) हैं।

> अनादिश्च शब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञानबीजपरिग्रहा । न ह्येतस्याः कश्चित्पौरुषेयत्वं संभवति । तथा ह्यनुपदेशसाध्या प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादयः ।
>
> —वाक्यपदीय १।१२३ हरिवृत्ति पृ० ११०

शब्दानुविद्ध ज्ञान के द्वारा वस्तु का अवभास होता है। सुप्तावस्था में भी जाग्रत् अवस्था की तरह ज्ञानवृत्ति व्यापारित रहती है। केवल अन्तर यह है कि स्वप्नावस्था में शब्दभावनाबीज अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहते हैं। अतः उस अवस्था को आचार्यों ने तामसी अवस्था (अस्पष्ट अवस्था) कहा है।[2]

सभी प्रकार के ज्ञान निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यावहारिक अनुभव के विषय

---

१ द्रष्टव्य-वाक्यपदीय १।१५ हरिवृत्ति पृ० १३-१४, निरुक्त १।२० और योगसूत्र व्यास भाष्य १।४३ और गोपीनाथ जी कविराज का लेख शैव एंड शाक्त स्कूल, हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एंड वेस्टर्न, वाल्यूम फर्स्ट, पृष्ठ ४०१, ४०२।

२ हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२४, पृष्ठ १११।

होते हैं—(१) स्मृतिनिरूपणा (२) अभिजल्प निरूपणा और (३) आकार निरूपणा के द्वारा।

शब्दानुविद्ध बुद्धि के द्वारा 'यह है', ऐसा है' आदि का जो स्मरण होता है वह *स्मृति निरूपणा* कहा जाता है। *स्मृति के द्वारा शब्द और अर्थ का अभेद ज्ञान अभिजल्प* निरूपणा कहलाता है। 'यह वह है' इस रूप मे जब शब्द का अर्थ के साथ अध्यास किया जाता है उस शब्द का अभिजल्प कहा जाता है। भर्तृहरि ने अभिजल्प की परिभाषा या की है

सोऽयमिति सम्बन्धाद्रूपमेकी कृत यदा।
शब्दस्यार्थेन त शब्दमभिजल्प प्रचक्षते॥

—वाक्यपदीय २।१३०

कुछ लोगो के मत मे 'यह' इस तरह के अनुसधान मे स्मृति, यह वही है' इस तरह के बोध में प्रत्यभिज्ञा, वह उसके तरह है' इस तरह के ज्ञान मे उत्प्रेक्षा, 'यह वही है' इस तरह की धारणा म अनुयोगव्यवच्छेद होता है और ये सभी विकल्प अभिजल्प के ही भेद हैं।[3]

यह इसका साधन है' 'यह इनका साध्य है' इसे आकारनिरूपणा कहते हैं। स्मृति निरूपणा से ज्ञान का अभिजल्पनिरूपणा से शब्द का और आकारनिरूपणा से अर्थ का निरूपण होता है ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।[4]

भर्तृहरि के मत मे जिस तरह प्रकाशकत्व अग्नि का धर्म है चैतन्य आत्मा का धर्म है उसी तरह ज्ञान भी शब्द का धर्म है। बिना शब्द के ज्ञान हो ही नही सकता। यदि वाक न हो, जगत प्रकाशित ही न हो। वाक ही प्रकाशक है। वही समस्त विद्याओं, कलाओं तथा विज्ञान का आधारभूत है। सभी विद्यायें वाक् रूप से बुद्धि म निबद्ध हैं। वाक न हो तो घट-पट आदि की सत्ता ही न हो। वाक से ही वस्तु का निष्पादन होता है। वह सूक्ष्म रूप मे बुद्धि मे स्थित है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति ही वस्तु है। वाक तत्त्व और चेतना तत्त्व एक ही बात है। वाक तत्त्वमेव चितिक्रियारूपमित्यर्थः।[5]

वृषभ के अनुसार वाक और चैतन्य में अभेद इस दृष्टि से है कि परा प्रकृति मे भावों के आकार ग्रहण के रूप मे विवत होता है और वह चैतन्य के रूप मे परिणत होता है। (यतश्च भावनामाकारपरिग्रहेण परा प्रकृति विवर्तते, तच्चैतन्यात्मना परिणमत इति वाक्चैतन्ययोरभेद।—वाक्यपदीय १।२७ टीका, पृष्ठ ११४)

---

३ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ १२५

४ वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।१२६, पृष्ठ १०७ (स्मृतिनिरूपणयेति ज्ञानस्य निरूपणमाह। अभिजल्पनिरूपणयेति शब्दस्याह। आकारनिरूपणयेत्यर्थस्याह। सर्व एवैते शब्दानुविद्धा व्यवहाराङ्ग न स्वलक्षणरूपेणेति।)

५ वाक्यपदीय १।१२५, १२६, १२७।

तीन तरह की वाक्

वखरी

भर्तृहरि ने वाक के तीन अवयव माने हैं। वखरी, मध्यमा और पश्यन्ती। भर्तृहरि के अनुसार वैखरी सभी तरह के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। यह व्यापाररूप और कार्यरूप दोनों है। व्यक्तवर्ण और अव्यक्तवर्ण साधुशब्द और असाधु शब्द (अपभ्रंश) गाडी के पहिये की चरचराहट, नगाड़े की आवाज बाँसुरी की ध्वनि और वीणा की झंकार जैसे अपरिमित ध्वनि समूह का द्योतक शब्द वैखरी है और इसलिये वखरी के अपरिमित भेद सम्भव हैं।[६] चरचराहट, झंकार आदि यद्यपि शब्दभेद के रूप में गृहीत होते हैं, वाक के भेद के रूप में नहीं, फिर भी अर्थवाद के आधार पर वखरी की व्याख्या में इनका स्थान[७] है। वैखरी शब्द का निर्वचन विखर शब्द से किया जाता है जिसके अनेक तरह से अर्थ किये गये हैं

(१) विखर शरीर तत्र भवा तत्पय त चेष्टा सपादिकेत्यथ।

—अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग ३ पृ० १८७

(२) *अस्तभि विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वखरी।*

—वादिदेवसूरि स्याद्वादरत्नाकर १।७ पृष्ठ ८६

(३) विखर इति देहेन्द्रिय सघात उच्यते तत्र भवा वखरी।

—जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी पृ० ३४३ चौखम्बा सस्करण १९३६

(४) विशिष्ट खमाकाशा मुखरूप राति गृह्णाति इति विखर प्राणवायुसचारविनिष्ट वर्णोच्चार तेनाभिव्यक्ता वखरीति।

—जयरथ अलकारसर्वस्व टीका पृ० २

वखरी सज्ञा वर्णों के उच्चारण से सम्बद्ध है। वखरी की विशेषता यह है कि यह स्वसवेद्य और परसवेद्य दोनों है। व्याकरण की दृष्टि से वखरी का महत्व बहुत अधिक है। इसी के आधार पर साधु असाधु विचार चलता है। और कुछ आचार्य यहाँ तक मानते हैं कि वैखरी का सस्कार अन्य सभी वाक के अवयवों के सस्कार का उपलक्षण है। येय वैखरी वाक तस्या सस्क्रियमाणाया सर्वा एव सस्कृता भवन्ति तज्जातीयत्वात—वृषभ, वाक्यपदीय १।१४३, पृष्ठ १२९)।

---

६ परै सवेद्य यस्या श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियत श्रुतिरूप सा वैखरी। श्लिष्टा व्यक्तवर्णसमुच्चारणा प्रसिद्धसाधुभावा भ्रष्टसस्कारा च। तथा याऽक्षे, या दुन्दुभौ, या वेणौ (या) वीणायामित्यपरिमाणभेदा।

—वाक्यपदीय १।१४३, हरिवृत्ति, पृष्ठ १२६

वैखरी करणव्यापारानुगम्या श्रोत्रज्ञानविषया शब्दबुद्धि।

—महाभाष्यव्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, बार ४४३६

७ ननु वाचो भेदकथनमेतत्, न तु शब्दमात्रभेदकथनम्। तत्कथ शब्दाख्य उपात। उच्यते, अर्थवाददर्शनादिदमुपात्तम्।

—वृषभ वाक्यपदीय १।१४३

मध्यमा

मध्यमा को भर्तृहरि ने 'अन्तःसन्निवेशिनी' कहा है। उसका व्यापार भीतरी है। यह सूक्ष्म प्राणशक्ति के सहारे परिचालित होती है। उसका उपादान केवल बुद्धि है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रम रूप से प्रतिभासित से होते हैं। उसमें क्रमसंनिवेश नहीं भी हो सकता है। मध्यमा में बुद्धिगत आकार के अवभास से क्रम, और एक बुद्धि होने के कारण और शब्द का बुद्धि से अभिन्न होने के कारण अक्रम दोनों रूप माने जाते हैं—(बुद्धिस्थ-वान्तःसंनिवेशित्वक्रमादाकारेण प्रत्यवभासनात् क्रमवत्त्वमेवबुद्धित्वादव्यतिरेकादक्रमत्वम्—वाक्यपदीय १।१४३, पृ० १२६)। मध्यमा में यद्यपि प्राणवृत्ति का संचार माना जाता है फिर भी प्राणवृत्ति का अतिक्रमण कर शब्द के उपादान के रूप में केवल बुद्धिमात्र भी रह सकती है। दूसरे शब्दों में, चिन्तन शब्द से जो कुछ द्योतित होता है उसे मध्यमा का रूप दिया जा सकता है। भर्तृहरि के अनुसार द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता इन तीनों वृत्तियों में शब्द के उच्च मन्द (शनैः) उपांशु, परमोपांशु और संहृतक्रम ये पाँच औपाधिक भेद माने जाते हैं।[८] इनमें उपांशु और परमोपांशु मध्यमा के प्रतीक हैं। उपांशु मौन भाषण को कहते हैं। इसमें प्राणवृत्ति का संचार रहता है। पर वाक् किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा गृहीत नहीं हो सकती। वह दूसरों द्वारा सर्वथा असंवेद्य होती है। प्राणवृत्ति की सहायता के बिना जब शब्द अपने एकमात्र उपादान बुद्धि में ही समाविष्ट रहता है उस अवस्था को परमोपांशु कहते हैं।

तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येव यत्र शब्दस्वरूपं परैरसंवेद्यं भवति तदुपांशु।
अन्तरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादानएव शब्दात्मा तत् परमोपांशु।

—वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति पृ० १९

मध्यमा के भीतर ये दोनों अवस्थाएं आ जाती हैं और इनके आधार पर मध्यमा के दो भेद माने जा सकते हैं। वाक् के तीन भेद—वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती में मध्यमा मध्य अवस्था को अभिव्यंजित करती है और इसलिए उसे मध्यमा कहते हैं।

पश्यन्ती

पश्यन्ती का स्वरूप भर्तृहरि ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है 'प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा चला च अचला च प्रतिलब्धसमाधाना च, आवृता विशुद्धा च संनिविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरिमितभेदा।'

—वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति पृष्ठ १२६

पश्यन्ती प्रतिसंहृतक्रमा है। प्रतिसंहृतक्रम परमोपांशु के एक डग और परे की

---

८ वाक्यपदीय २।१९, हरिवृत्ति, पृष्ठ १७, लाहौर संस्करण।

स्थिति है। क्रम नाम की शक्ति है। उसके साथ बुद्धि का योग होता है। बुद्धि द्वारा व्यवहार काल में शब्दों में क्रम का अध्यारोप होता है। ये अध्यारोपित शब्द जब दूसरे निमित्तों से युक्त होते हैं—प्रयोक्ता की मानसिक चेष्टाओं से परिचालित होते हैं उनका साक्षात्कार सा होता है। इस पूरी प्रक्रिया को प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं। (यत्र तु प्रतिसंहृत क्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपग्राह्यमध्यस्तो व्यवहारेऽध्यारोपित हि शब्दानां क्रम रूपमिव साक्षात् क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम्—वाक्यपदीय २।१८ हरिवृत्ति)। पश्यन्ती में क्रम शक्ति संनिहित रहती है इसलिए उसमें क्रमों में भेद के कारण भेद होना चाहिए। पर वस्तुतः भेद नहीं होता क्योंकि क्रम आरोपित होते हैं वास्तविक नहीं। जब बुद्धि में क्रमरूप का पूर्णतया उपसंहार हो जाता है वह असंख्यात अवस्था की-सी हो जाती है और लोक व्यवहार (शब्द व्यवहार) से अतीत होती है। वाक् की अन्य विकसित अवस्थाओं का मूल पश्यन्ती है, इसलिए उन सबका इसके साथ सम्बन्ध है और उनके स्वरूपों का बीज भी इसमें हैं। अतः पश्यन्ती चला और अचला दोनों है। वह चला है क्योंकि शब्दात्मा की अभिव्यक्ति में गति होती है। टीकाकार वृषभ के अनुसार पश्यन्ती चला इसलिए है कि रूप रस आदि विषयों में लीन बुद्धि साधारण व्यक्ति को वाक् की तरह जान पड़ती है। (रूपादिषु विषयेष्ववाग्दर्शनानां विक्षिप्तोत्पद्यते बुद्धिर्वागिव हि सा—वाक्यपदीय १।१४३ टीका) वह अचला है क्योंकि अपने स्वरूप में वह निस्पन्द है। वह प्रतिलब्धा है क्योंकि उसमें क्रम आदि की अलग अलग उपलब्धि संभव है। वह समाधाना भी है क्योंकि क्रम आदि उसमें एक साथ समाहित भी हैं। वह आवृत्ता है क्योंकि वह अपभ्रंश आदि से संकीर्ण है। वह विशुद्धा भी है क्योंकि वाक् के रहस्य को जानने वाले (वाग्योगविद) उसके अंतःस्वरूप में अथवा अपभ्रंश से असंकीर्ण रूप में दर्शन करते हैं वह सर्वथा शुद्ध स्वरूप वाली है। वह संनिविष्टज्ञेयाकारा है क्योंकि उसमें ज्ञेय का रूप आविष्ट (जुड़ा) रहता है जैसे ज्ञान में ज्ञेय का रूप अनुस्यूत रहता है। उसमें ज्ञेय का आकार पूरा लीन भी रहता है और ऐसा भी हो सकता है कि उसमें ज्ञेय के आकार का बिल्कुल ही परिज्ञान न हो। उस दशा में वह निराकारा है। उसमें शब्द के अर्थों का, गो अश्व आदि का अलग अलग अवभास हो सकता है। इस दशा में उसे परिच्छिन्नार्थ प्रत्यवभासा कहते हैं। संनिविष्टज्ञेयाकारा और परिच्छिन्नार्थ प्रत्यवभासा इन दो रूपों में भेद केवल इतना है कि एक में ज्ञेय का आकार ज्ञान में संनिहित रहता है और दूसरे में शब्द में अर्थ का आकार संनिहित रहता है। एक ऐसी भी दशा संभव है जिसमें शब्द और अर्थ एक दूसरे में बिल्कुल गुथे हुए से जान पड़ते हैं—संसृष्ट रहते हैं। प्रतिलीनाकार और संसृष्टार्थप्रत्यवभास इन दो रूपों में यह भेद है कि पहले में आकार का परिज्ञान अत्यन्त कठिन है पर दूसरे में शब्द और अर्थ के आकार का अलग अलग तो नहीं परन्तु संसृष्ट रूप में ज्ञान संभव है। ऐसा भी हो सकता है कि अर्थों का अवभास अनुद्बुद्ध रह जाय उनका बिल्कुल ही भान न हो। उस समय पश्यन्ती प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा है। इस तरह पश्यन्ती अनेक भेद वाली है। परन्तु अपने मूल रूप में वह क्रमरहित है स्वप्रकाशा है और संविद् रूप है।

वैखरी मध्यमा और पश्यन्ती के लिए इतिहास के निदर्शन का उल्लेख करते हुए

भर्तृहरि ने महाभारत के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। उद्धृत श्लोकों में कुछ श्लोक महाभारत के आश्वमेधिक पर्व के २१वें अध्याय में पाठभेद के साथ मिलते हैं। भर्तृहरि द्वारा उद्धृत श्लोकों का सारांश निम्नलिखित है —

भारती वाणी (संस्कृत) दिव्य और अदिव्य भेद से दो प्रकार की है। उसमें एक प्राण और अपान के बीच रहती है और दूसरी बिना प्राणवृत्ति के ही रहती है और अप्रमेयमाणा भी है। उससे प्राण उत्पन्न होता है और प्राण से युक्त होकर वह व्यवहार का साधन बनती है। व्यवहारनिबन्धन वाक के भी तीन रूप हैं। घोषिणी, जाननिर्घोषा और अघोषा। घोषिणी और निर्घोषा में निर्घोषा का अधिक महत्त्व है। भर्तृहरि ने तीन प्रकार के वाक के लिए भी महाभारत का उद्धरण दिया है। महाभारत के अनुसार वैखरी वाक प्राणवृत्तिनिबन्धना है अर्थात प्राणों के आधार पर उसकी स्थिति निर्मित है। मध्यमा वाक का उपादान बुद्धि है और उसमें क्रम रहता है। परन्तु प्राणवृत्ति नहीं रहती। पश्यन्ती में क्रम का उपसंहार हो गया रहता है उसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं होता। वह स्वप्रकाशा है और नित्य है। वाक के स्थूल भेदों में सम्पृक्त होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं होता। वह अमृतकला है।[९]

यह ध्यान देने की बात है कि भर्तृहरि परा वाक का कहीं उल्लेख नहीं करते। वे वाक के केवल तीन अवयव पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी ही स्वीकार करते हैं। भर्तृहरि के इस व्यवहार से कुछ प्राचीन आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि व्याकरण दर्शन में परा वाक् का कोई स्थान नहीं है। अभिनवगुप्त ने लिखा—"ननु पश्यन्त्येव परं तत्त्वमिति जरद्वैयाकरणा मन्यन्ते"[१०] अर्थात प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार पश्यन्ती ही परमतत्त्व है परा वाक नहीं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त ने वैयाकरणों के साथ शास्त्रार्थ किया है और समझाने का प्रयास किया है कि वैयाकरणों को भी परा वाक की सत्ता माननी चाहिए।[११] क्षेमराज ने भी लिखा— 'शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपं आत्मतत्त्वमिति वैयाकरणाः'।[१२] अर्थात वैयाकरणों के मत में पश्यन्ती ही परम तत्त्व है। वाक के तीन प्रकार का उल्लेख सुचरित मिश्र ने मीमांसाश्लोकवार्तिक की काशिका नाम्नी टीका में किया है—त्रेधा हि वाचं विभजन्ते वैखरी मध्यमा सूक्ष्मा चेति। यथाहुः—

शब्दब्रह्म यदेतद्धि परिणामि प्रधानवत्।

वैखरीमध्यमासूक्ष्मा वागवस्था विभागतः ॥ —काशिका टीका पृष्ठ २४८

भर्तृहरि ने परा वाक का उल्लेख क्यों नहीं किया, उसकी सत्ता क्यों नहीं मानी, यह प्रश्न विचारणीय है। उनके त्रय्या वाचः परं पदम् (वाक्यपदीय १।१४४) इस वाक्य से स्पष्ट है कि वे वाक के केवल तीन ही अवयव मानते हैं। परा वाक की चर्चा भी उनके समय अवश्य रही होगी। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में

९ वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति में उद्धृत।

१० ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ २२१।

११ द्रष्टव्य वही, तृतीय भाग, पृष्ठ १९५।

१२ प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ४३ अनुसार सरकरण।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' यह ऋग्मन्त्र उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट है कि ये चार भेदों से अवगत थे। वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती के साथ परा वाक् की चर्चा अवश्य चल पड़ी थी। तभी यहाँ उपर्युक्त मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है। केवल तीन भेद मानने से उक्त मन्त्र के चत्वारि शब्द का सामंजस्य नहीं बनता।

इस प्रश्न पर पहले से कुछ विद्वानों का ध्यान गया था। नागेश ने इस प्रश्न का एक उत्तर निकाला। उनके मत में भर्तृहरि के त्रयी वाक् कहने का कारण यह है कि वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती इन तीनों तक प्रकृति प्रत्यय विभाग का ज्ञान होता है। यद्यपि पश्यन्ती लोकव्यवहार से सर्वथा परे है फिर भी योगियों को उसमें भी प्रकृति प्रत्यय का विभाग दृष्टिगोचर होता है। परा वाक् में प्रकृति प्रत्यय आदि का ज्ञान योगियों को भी नहीं होता। इसलिए भर्तृहरि ने परा वाक् का उल्लेख नहीं किया और वाक् को केवल तीन अवयव वाली माना

पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता योगिनां तु तत्रापि प्रकृति प्रत्यय विभागावगतिरस्ति, परायां तु नेति त्रय्या इत्युक्तम्

—उद्योत, महाभाष्य पस्पशाह्निक।

परन्तु नागेश की यह उक्ति युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि भर्तृहरि जब शब्द-ब्रह्म और शब्द से जगत् का विकास जैसे गूढ़ विचार सामने रख सकते हैं तो परा वाक् के मान लेने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी और परा वाक् की सत्ता चाहे जिस किसी रूप में भी मानते हुए वाक् को त्रयी वाक् कहना असंगत होता। नागेश ने प्रमाण के रूप में 'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी' यह वाक्य उद्धृत किया है। परन्तु वाक्यपदीय की हरिवृत्ति में न्यायमंजरी में और स्याद्वादरत्नाकर में 'परावागनपायिनी' के स्थान पर सूक्ष्मावागनपायिनी पाठ मिलता है। कहीं-कहीं सूक्ष्मा के स्थान पर सर्वा पाठ है। अस्तु नागेश की उक्ति से उपर्युक्त प्रश्न का समाधान नहीं होता।

हेलाराज का ध्यान इस प्रश्न पर अवश्य गया होगा। क्योंकि एक स्थान पर वे पश्यन्ती को ही परा वाक् के रूप में व्यवहृत करते हैं

सविकल्प पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्द ब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते। विवर्त दशायां तु वस्तुपरिमना भेदः

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ द्रव्य समुद्देश ११।

इससे तो इतना स्पष्ट हो जाता है कि हेलाराज के अनुसार भर्तृहरि परा की सत्ता नहीं मानते और पश्यन्ती को ही परम तत्त्व मानते हैं। परन्तु यह प्रश्न अभी बना हुआ है कि परा वाक् को स्वीकार करने में उनके सामने क्या कठिनाइयाँ थीं।

एक कठिनाई का संकेत उत्पल ने किया है। उत्पल के मत में यदि वैयाकरण प्रत्यभिज्ञादर्शन में गृहीत पश्यन्ती के स्वरूप को मान लें तो उन्हें ईश्वर की भी सत्ता (उपगम) माननी पड़ेगी

पश्यन्ती च नेश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त न्यायेन शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते भवद्भिः ईश्वरोपगमप्रसंगात् अपितु सूक्ष्मो वाच्याभेदेन स्थितः वाचक शब्द इत्येव शब्दनात्मासौ। —शिवदृष्टि २।३५ पृष्ठ ५८।

वैयाकरणभूषण के एक टीकाकार कृष्ण मित्र ने स्फोट को ही परा वाक माना है, परा वाक ही शब्दब्रह्म है। 'अत्र परावाक् स्फोट शब्देनोच्यते। सव शब्दब्रह्म इत्युच्यते" (कृष्णमित्र, वैयाकरणभूषण टीका, मैनुस्क्रिप्ट पृष्ठ १)। परन्तु ऐसा जान पड़ता है परा वाक को वाक्यपदीय मे स्थान न देने का मुख्य कारण भर्तृहरि का 'प्रतिभावाद है। प्रतिभावाद पर आगे विवेचन किया जायगा। यहा केवल यह दिखलाना है कि भर्तृहरि के मत से वाक का मूल प्रतिभा है वाग विकाराणां प्रकृति प्रतिभामनुपरति (वाक्यपदीय १।११८ हरिवृत्ति, पृष्ठ २७)।

व प्रतिभा, सत्ता और महासत्ता का एक ही तत्त्व मानते हैं।

सदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रभवा भाव विकारप्रकृति सत्ता साध्यसाधनशक्तियुक्ताम् सम्यगवबुद्ध य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

—वाक्यपदीय १।१३२ हरिवृत्ति, प० ११८।

शैवागम म विश्व का विकास परा वाक स व्यक्त किया गया है। भर्तृहरि विश्व का विवर्त प्रतिभा से मानते हैं। प्रतिभा से विश्व का विकास मानने पर उन्हें परा वाक् नाम की किसी अन्य वस्तु के मानने की आवश्यकता नही रह जाती। शैवागम म भी परा वाक और परा सत्ता को एक ही माना गया है

चिति प्रत्यवमर्शात्मा परावाक स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्य तदश्वय परमात्मन ॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सषा सारतया प्रोक्ता हृदय परमेष्ठिन ॥

उत्पलकारिका १३ १४।

भर्तृहरि ने पर शब्द का आध्यात्मिक अर्थ म केवल एक बार प्रयोग किया है और उसे प्रतिभा के अर्थ म लिया है' भेदानुरागमात्रच परस्मिन् अभेदे शब्दात्मनि सन्निवेशयति (वाक्यपदीय १।११८ हरिवृत्ति प० १०५) टीकाकार वृषभ ने यहा परस्मिन् का अर्थ प्रतिभारूपी शब्दतत्त्व किया है (परस्मिन इति प्रतिभारूपे शब्दतत्त्वे—वृषभ प० १०६)।

शिवदृष्टिकार उत्पल और उनके अनुगामी अभिनवगुप्त आदि ने वैयाकरणों द्वारा परा वाक के गृहीत न किए जाने पर जो आक्षेप लगाए हैं उन पर विचार करने के पूर्व कश्मीर शैवागम म गृहीत परा पश्यन्ती आदि का संक्षेप म उल्लेख यहा आवश्यक है।

कश्मीर शैवागम में वाक्

शैवागम की दृष्टि म परमेश्वर ही शब्द राशि है। उसकी शक्ति भिन्न और अभिन्न रूप म विचित्र है। मातृका के वर्गाष्टक रुद्र के शक्त्यष्टक हैं और पचास वर्ण रुद्र की पचास शक्तियाँ हैं। आगमो म प्रकाश शरीर वाले विमर्शात्मा भगवान का स्वरूप शब्दनामय

माना गया है।[13] शैवागम में वाक् को एक सूक्ष्म सत्ता या शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति (शक्त्यद्वयवाद नहीं) के रूप में मानने का प्रधान कारण यह है कि कश्मीर के आभासवादी वाक् को पाणिनि आदि की तरह द्रव्य रूप नहीं देना चाहते। उनके मत में सम्पूर्ण ज्ञान और बोध सविमर्श है। 'प्रकाश और विमर्श' इन दो तत्त्वों में सम्पूर्ण विश्व आ जाता है। प्रकाश और विमर्श दो विभिन्न वस्तु नहीं हैं, किन्तु एक ही के दो पहलू हैं। विश्व का वाच्य अंश प्रकाश है और वाचक अंश विमर्श है। वाच्य और वाचक में कोई भेद नहीं है

न च वाच्य पृथक् जातु वाचकाद् व्यवतिष्ठते।

—मालिनीविजय वार्तिक पृ० ४०।

इसलिए शब्द विमर्श से अभिन्न है, परन्तु चिद्रूप है और स्व पर प्रकाशक है— इत्थं चिदात्मकविमर्शप्रकाशाभिन्न

शब्दः स्फुटत्वत इह स्वपरप्रकाशः।[14]

चार प्रकार की वाक्

वाक् के चार प्रकार के भेद की चर्चा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद का चत्वारि वाक् परिमिता पदानि यह मन्त्र[15] उपर्युक्त भेद का आधार मान लिया गया है। परन्तु चार से वैदिक ऋषि का तात्पर्य क्या था यह आज तक स्पष्ट न हो सका है। ब्राह्मण ग्रन्थों में चार प्रकार की वाक् का तात्पर्य मनुष्य की भाषा, पशुओं की बोली, पक्षियों के कूजन और क्षुद्र जन्तुओं जैसे सरीसृप आदि की ध्वनियाँ—इन चार रूपों में बतलाया गया है।[16] प्राचीन वैयाकरण चार प्रकार की वाक् का अभिप्राय नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में समझते थे। यास्क ने अपने समय में प्रचलित अन्य अर्थों का भी उल्लेख किया है।[17] बहुत बाद में चार प्रकार के वाक् का विवरण परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार रूपों में किया जाने लगा। महाभाष्यकार पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) तक यह अर्थ स्वीकृत नहीं हुआ था। मुझे ऐसा जान पड़ता है ये चार भेद पहले पहल तन्त्र ग्रन्थों में व्यवहृत हुए। उसका प्रसार बाद के उपनिषदों पर पड़ा और वैयाकरण भर्तृहरि भी इन भेदों से प्रभावित हुए। परन्तु भर्तृहरि ने परा वाक् का अपने दर्शन में स्थान नहीं दिया। शेष तीन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जो तन्त्र ग्रन्थों में गृहीत व्याख्याओं से बहुत दूर तक भिन्न है। शैवागम के आगम जो सभी भर्तृहरि के बाद हुए और प्रायः सभी भर्तृहरि के व्याकरण दर्शन से परिचित हैं, वैखरी आदि की व्याख्या के लिए तन्त्रों की अपेक्षा वाक्यपदीयकार के अधिक ऋणी हैं। अवश्य ही वे भर्तृहरि के

---

13 स्वच्छन्दतन्त्र[illegible]विमर्शिनी, [illegible] भाग, पृष्ठ १६६।

14 [illegible] पृ० ४१।

15 ऋग्वेदसंहिता १।१६४।४५।

16 शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१६

17 द्रष्टव्य निरुक्त १३।९ परिशिष्ट

विपरीत परा वाक की सत्ता मानते हैं और पश्यन्ती आदि का विवेचन आगम की मान्यताओं के अनुसार करते हैं फिर भी वे अपने मत की पुष्टि के लिए वाक्यपदीय के अवतरण आदर के साथ उद्धृत करते हैं। अस्तु आगमों में वाक के चार भेद परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी स्वीकृत कर लिए गए और इनकी चर्चा इतनी अधिक हुई कि बाद का सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य और लोक साहित्य उनके प्रभाव में आ गए। और अन्य वैयाकरणों ने भी परा को स्थान देते हुए चार भेद मान लिए।

वैखरी

शैवागम के अनुसार वाक का वैखरी रूप क्रियाशक्ति से परिचालित है। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये तीन शैवागम की आधारशिला हैं। क्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व वैखरी करती है। वैखरी क्रियाशक्तिरूपा है। जिह्वा व्यापार वागिन्द्रिय का उपलक्षण है और वह विमर्श स्वभाव वाला है। सभी तरह के व्यापार या क्रियायें—विमर्श रूप के भीतर आ जाती हैं। वैखरी में दो रूप मिलते हैं। एक सघोष और दूसरा अघोष। सघोष से यहाँ तात्पर्य अन्य द्वारा श्रूयमाण से है जो दूसरों द्वारा स्पष्ट सुन लिया जाता है। अघोष से तात्पर्य यश उपांशु से है अर्थात् ऐसा उच्चारण जो स्वतः सुनाई दे परन्तु जो दूसरा को न सुनाई दे सके। सघोष और अघोष दोनों रूप शब्दानुविद्ध होते हैं। स्वतन्त्र वर्ण के उच्चारण में सुने जाने की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। पद भी यदि उसमें अल्प वर्ण हों, अच्छी तरह सुन जा सकते हैं। परन्तु वाक्य में श्रूयमाणतावुद्धि अस्पष्ट रहती है क्योंकि बुद्धि वर्णों के सकलन और स्मरण की क्रिया में संलग्न रहती है इसलिए स्फुट श्रवण संभव नहीं। अतएव वैयाकरण भी वाक्यस्फोट को बुद्धिग्राह्य ही मानते हैं।

वैखरी मध्यमा का बाह्य प्रसार है। प्रमाता का स्थान करण अभिहनन रूप जो व्यापार है वैखरी पहले उसका रूप धारण करती है पुनः उन व्यापारों से सम्पादित शब्दरूप धारण करती है और श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होकर भिन्न रूप से आभासित होती हुई तथा वेद्य अथवा ग्राह्य वस्तु के स्वरूप को छूती हुई सी परिस्पष्ट होती है। वैखरी व्यापार रूप और कार्यरूप दोनों है।

अभिनवगुप्त ने सामान्य वैखरी और विशेष वैखरी के आधार पर वैखरी के कई रूप माने हैं

> वचनं सप्तधा। तद् यथा मध्यमारूपतत्प्ररोहात्मकं सामान्यवैखर्यात्मकं तत्प्ररोहात्मकं विशेषशब्दात्मकं वैखरीस्वभावं आवेशोचितं विशेषवैखरीरूपं तत्प्रबन्धविच्छेदं च। —अभिनवभारती तृतीय भाग, पृ० ३०७

शैवागम में गृहीत वैखरी का उपर्युक्त स्वरूप भर्तृहरि के मत से मेल खाता है। वैखरी शब्द का निर्वचन अभिनवगुप्त ने विखर शब्द से किया है जिसका अर्थ शरीर है।

> विखरं शरीरं तत्रभवा तत्प्रयत्नचेष्टा सम्पादिकत्वात्। —अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग २ पृ० १८७

विशेष कर अपने प्राकृत स्वर ध्वनि के प्रतीक होने के कारण इसका नाम वैखरी पड़ा होगा।

मध्यमा

अन्तःकरण मन, बुद्धि और अहंकार लक्षणवाला है। मध्यभूमि में पुर्यष्टक प्राणाधार में यह विश्राम करता है। विमर्श शक्ति जब अन्तःकरण को प्रेरित करती है तब वह शक्ति मध्यमा वाक् कहलाती है। विमर्श शक्ति से प्रेरित अन्तःकरण में विकल्पना नामक व्यापार पैदा होता है, जिसके भीतर संकल्प, निश्चय और अभिमान व्यापार गृहीत हैं। उस समय वह विमर्शमयी वाक् सम्पूर्ण वस्तु (ग्राह्य अथवा वाच्य और संकल्प करने वाले (ग्राहक अथवा वाचक) को स्पष्ट रूप से क्रम से ग्रहण करती है। चैत्र के घट देखने की क्रिया में इस घट को मैं चैत्र देख रहा हूँ इस रूप में ग्राह्य और ग्राहक दोनों का स्पष्ट भान होता है। चिन्तनप्रधान होने के कारण मध्यमा को चिन्तन शब्द से भी कहते हैं। इसलिए मध्यमा ज्ञानशक्ति रूप भी मानी जाती है। ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के बीच की वस्तु है। मध्य में होने के कारण मध्यशक्ति के प्रतीक वाक् को भी मध्यमा वाक् कहते हैं।

काश्मीर शैवागम में मध्यमा ही विकल्प भूमि मानी जाती है। विकल्प के प्राण अभिलापस्वरूप हैं, विकल्प में ही वाचक का स्वरूप निहित है जो शब्द अन्तर्भाव रूप में होता है। किसी शब्द का संकेत आदि भी विकल्प भूमि में ही होता है। अभिनवगुप्त के मत में जो शब्द सुनाई देता है, वास्तव में वह वाचक नहीं है। उसके पूर्व का मध्यमास्थित जो उसका स्वरूप है वही वाचक है। क्योंकि वाच्य और वाचक में यह वही है ऐसा अध्यास माना जाता है। स्वलक्षण का स्वलक्षणान्तर में अध्यास संभव नहीं है। इसलिए शब्द का जो शब्दरूप और अर्थरूप है वह मध्यमावस्था में ही स्फुट हो गया रहता है। श्रोत्रग्राह्य जो शब्द है वह मध्यस्थित शब्द रूप का एक विकसित या पल्लवित रूप है। विकल्प्य घट से बाह्यघट में कोई भेद नहीं होता। दोनों का रूप एक ही माना जाता है। यही घटाभास देश आदि अन्य आभासों के संकर से स्वलक्षणभाव प्राप्त करता है। यही बात शब्द के विषय में ठीक है। यही शब्द स्थूलरूप में पूर्ण आभासित होने पर भी दूसरे आभासों से भेद करने के लिए श्रोत्रग्राह्य शरीर वाला माना जाता है। यही उसका स्वलक्षण है।[18]

अभिनवगुप्त के मत में स्मित मध्यमा का सूचक है क्योंकि स्मित एक तरह का भीतरी संजल्प है जो मध्यमा का रूप है—

'स्मितं त्वन्तः संजल्परूपा मध्यमां सूचयति' —

—अभिनवभारती भाग तृतीय पृ० ३०७

---

१८ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी द्वितीय भाग, पृ० १९२

पश्यन्ती

पश्यन्ती में ग्राह्य और ग्राहकगत क्रम देश और काल दृष्टि से यद्यपि सम्भव है, परन्तु वह स्फुट नहीं होता। क्योंकि पश्यन्ती का विमर्श निर्विकल्पक होता है वह अक्रम है और इसलिए उसमें विभाग सम्भव नहीं है। जिस तरह प्रसेवक (बोरा) अपने भीतर अन्नराशि को समेटे रहता है उसी तरह पश्यन्ती में भी ग्राह्य और ग्राहकगत क्रम अन्त संकुचित रहते हैं। अतः पश्यन्ती को संहृतक्रम वाली कहते हैं। उसमें शब्द अन्तर्लीन से रहते हैं। अतः उसे सूक्ष्म भी कहते हैं। उसमें रस सर जैसे पद और देवदत्ततुरगादि जैसे वाक्य क्रमहीन रूप में पिण्डीभूत से हो गये रहते हैं एक में मिले रहते हैं। जिस तरह सूत्र अधिक से अधिक भाव को अपने अन्दर समेटे रहते हुए भी सूक्ष्म कहा जाता है उसी तरह पश्यन्ती का 'अभिजल्प' भी सूक्ष्म माना जाता है। भर्तृहरि ने भी पश्यन्ती को 'प्रतिसंहृतक्रमा और समाविष्टक्रमशक्ति' कहा है।

पश्यन्ती को इच्छाशक्ति रूप माना गया है। मध्यमा ज्ञानशक्तिरूपा है और वैखरी क्रियाशक्तिरूपा है। इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अनुग्राहक है। वैसे ही पश्यन्ती भी मध्यमा और वैखरी का अनुग्राहक है। पश्यन्ती को बोध्य और बोधस्वभावा भी माना गया है। उसमें वस्तु का अवभास परिपूर्ण रहता है। इच्छा शक्ति का प्रकाश रूप अप्रतिहत होता है। इच्छाशक्तिमयी पश्यन्ती विद्याशक्ति और उसके प्रसारस्वरूप बुद्धि और इन्द्रिय वर्ग को समेटती हुई निर्विकल्पक नाद का उद्बुद्ध करती है।

कश्मीर शैवागम की दृष्टि में पश्यन्ती में चिन्तन की भी सत्ता है। इसी लिए वह पश्यन्ती का परा वाक् के रूप में नहीं स्वीकार करता

> यत पश्यन्त्या प्रमाणोपपन्न चिन्तामयत्व तत पश्यन्त्या परत्व शिवदृष्टि-शास्त्रे निवारितम्।[१६]

साथ ही पश्यन्ती देश और काल से उसके मत में, संकुचित है और जैसा कि उसके नाम (पश्यन्ती शब्द) से ध्वनित होता है वह दर्श क्रिया अथवा देखने के व्यापार के कारण सम्भव विषयगर्भित है। देश और काल से संकुचित वस्तु परिपूर्ण नहीं हो सकती। अत पश्यन्ती को परा वाक का महत्व नहीं दिया जा सकता।

शैवदर्शन के किसी किसी आगम में पश्यन्ती को अवश्य परा वाक कहा गया है। परन्तु सोमानन्द और उत्पल ऐसे स्थलों में परा का पश्यन्ती में उपचार मानते है। श्रीकिरणसंहिता में नाद बिन्दु आदि के रूप में पश्यन्ती में परा का उपचरित रूप स्वीकृत है।[२०]

पश्यन्ती को देश और काल से संकुचित इसलिए मानते है कि यदि पश्यन्ती देश और काल में असंकुचित मानी जाएगी तब मध्यमा में जो विकल्प होता है और

---

१६ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृ० १९०

२० शिवदृष्टि २।१५, और उस पर उत्पल की टीका।

के आधार पर नहीं गया है और न उसे देश काल से सीमित माना है। अभिनवगुप्त ने यह सुझाव रखा कि यदि पश्यन्ती को देश काल से संकुचित नहीं मानेंगे तो मध्यमा और वैखरी में भी वाक् को असंकुचित ही मानना पड़ेगा।[54] इसलिए पश्यन्ती को देश काल से संकुचित ही मानना चाहिए। परन्तु यही तर्क शैवागम की 'परा' के विरुद्ध भी रखा जा सकता है क्योंकि इस तर्क के अनुसार 'परा' की नित्य असंकुचित शक्ति विशेषताएँ वैखरी में भी आ जानी चाहिए। अभिनवगुप्त के मत में वाक् को करण रूप में मानने पर वह कर्मेन्द्रियवर्ग की वस्तु होगी इसलिए उसे कर्तृ रूप (शक्ति) में स्वीकार करना चाहिए। परन्तु भर्तृहरि ने स्वयं शब्द तत्त्व को अनादिनिधनब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अभिनवगुप्त का उपर्युक्त आक्षेप निःसार है।

बाद के वैयाकरणों ने परा वाक् को स्वीकार कर लिया परन्तु उन पर कश्मीर शैवागम का प्रभाव न पड़कर तन्त्र ग्रन्थों का पड़ा। नागेश ने परा, पश्यन्ती आदि का विवेचन तन्त्र ग्रन्थों के आधार पर किया है जो प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय के मन्तव्यों से मेल नहीं खाता।

भाषा

संस्कृत

संस्कृत का प्राचीन नाम भाषा था। बोलचाल की भाषा होने से इसे भाषा कहते थे। 'भाष्यते इति भाषा'। बाद के वैयाकरण जिनमें पाणिनि मुख्य हैं वैदिक संस्कृत से अथवा छान्दस भाषा से लौकिक संस्कृत को अलग करने के लिए इसके लिए भाषा शब्द का व्यवहार करते थे। जब बोलचाल में अपभ्रंश भाषाएँ अपना घर करने लगीं तो उनसे पाणिनि की 'भाषा' को अलग करने के लिए संस्कृत शब्द का प्रचलन हुआ। अपभ्रंश शब्दों को प्रकृति प्रत्यय के झमेले में डालने की आवश्यकता प्रारम्भ में नहीं थी। एक तरह से वे असंस्कृत थे। जिन शब्दों को प्रकृति प्रत्यय के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता था वे ही संस्कृत शब्द थे। और ऐसे शब्दों से गठित भाषा संस्कृत भाषा थी। संस्कृत शब्द संस्कार किया हुआ के अर्थ को व्यक्त करता है। यास्क ने संस्कार शब्द का उल्लेख किया है और भाष्यकार ने भी पदों के संस्कार का उल्लेख किया है। (संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते महाभाष्य १।१।१) संस्कृत का अर्थ शुद्ध की हुई भाषा नहीं है जैसा कि बहुत-से लोग समझते हैं। यह उन शब्दों को व्यक्त करती है जो प्रकृति प्रत्यय के द्वारा बनाए जा सकते हैं जिनकी सिद्धि की जाती है। भर्तृहरि ने स्वरूप संस्कार शब्द का प्रयोग किया है (शब्द ब्रह्मणो हि स्वरूपसंस्कारः साधुत्वप्रतिपत्त्यर्थः वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।११) वृषभ ने संस्कार का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी विशेष या उत्कर्ष का आधान यहाँ संस्कार से तात्पर्य नहीं है अपितु प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग से है। न विशिष्टोत्पत्तिरेव संस्कारः, अपितु प्रकृति

---

५४ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग पृष्ठ १६३।

प्रत्ययादिविभागाद्व्याख्यानम (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी द्वितीय भाग, पृष्ठ १६३) कालिदास ने संस्कृत के लिए संस्कारवत्येव गिरा, (कुमारसंभव १।२८) शब्द का प्रयोग किया है। इस पर मल्लिनाथ ने लिखा है—संस्कारो व्याकरणजन्या शुद्धि। संस्कारपूतेन पर वरेण्य (कुमारसंभव १।६०)। इसमें भी संस्कारपूत शब्द से उपयुक्त ही भाव है। संस्कृत शब्द का भाषा के अर्थ में व्यवहार वाल्मीकि रामायण में हुआ है। साथ ही संस्कृत से इतर भाषा का भी संकेत है। पतंजलि के समय में प्राकृत बोलचाल में आ गई थी।[२४] भर्तृहरि के समय तक संस्कृत लोक जीवन से दूर जा पड़ी थी और इसलिए दैवी वाक् मान ली गई थी। (वाक्यपदीय १।१५५)।

अपभ्रंश

संस्कृत के वैयाकरण अपभ्रंश शब्द से उन शब्द समुदायों को द्योतित करते हैं जिनके मूल (प्रकृति) संस्कृत शब्द रहे हैं। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ उनके मत में संस्कृत से विकसित हुई हैं। अपभ्रंश के विषय में वाक्यपदीय में कई उल्लेखनीय बातें दी गई हैं और अनेक तरह की विचारधाराओं का संकेत किया गया है।

भर्तृहरि के मत में संस्कारहीन शब्द को अपभ्रंश कहते हैं। भर्तृहरि ने संग्रहकार के एक वाक्य का उल्लेख किया है जिसमें संस्कृत को अपभ्रंश की प्रकृति माना गया है। शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकार (वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४८)। उनके मत में ऐसे अपभ्रंश की जिसका मूल संस्कृत न हो स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (नाप्रकृतिरपभ्रंश स्वतन्त्र कश्चिद विद्यते। सर्वस्यैव साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृति।—वाक्यपदीय १।१४८ टीका)।

अपभ्रंश शब्दों के बारे में चार मूल्यवान विचार भर्तृहरि ने व्यक्त किए हैं—

(१) शुद्ध संस्कृत शब्द के उच्चारण के असामर्थ्य से या प्रमाद से उसका अशुद्ध उच्चारण चल पड़ता है और वह कालान्तर में शब्द मान लिया जाता है। गो शब्द से गावी शब्द उच्चारण की अशक्ति या प्रमाद से चल पड़ा।

(२) बहुत से अपभ्रंश शब्द प्रतीक पद्धति पर और अनुकरण के आधार पर प्रचलित हो गए। जैसे संस्कृत में गोणी शब्द आवपन (एक विशेष प्रकार की थैली) के अर्थ में व्यवहृत होता था। गौ के लिए गोणी शब्द का व्यवहार संभवतः इसलिए होने लगा कि उसके थन गोणी के आकार में साम्य रखते थे या गोणी की तरह अधिक दूध धारण करने में समर्थ थे (गोणी येय गौ गोणीति बहुक्षीरधारणादिविषयाशावपनत्वसामान्यादभिधीयते।—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४९)।

(३) कुछ अपभ्रंश शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता थी। अर्थात उनकी प्रकृति का कोई

---

२४ महाभाष्य १।३।२ महाभाष्यकार के समय में कृषि के लिए लोक में 'किसि' शब्द और दृश्य के अर्थ में 'दिसि' शब्द प्रचलित थे। लोके हि कृष्यर्थे किसि प्रयुञ्जते दृश्यर्थे च दिसिम्। महाभाष्य १।३।२। महाभाष्य में देव दिण्ण (देवदत्त के लिये), आणवयति, वट्टति और वड्ढति ये प्राकृत शब्द मिलते हैं। 'स्वपादिषु'(६।१।१८१) वार्तिक अपभ्रंश सुपिनि शब्द को सामने रखकर लिखा गया था। सपनि—सोवइ।

पता नहीं था। इन्हीं पीछे के वैयाकरण देशी शब्द द्वारा व्यक्त करने लगे (प्रसिद्धेस्तु रूढितामापद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४८)।

भर्तृहरि ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि संस्कृत के साथ साथ अन्य भाषाओं की भी सृष्टि हुई होगी। यवन देश में यवन भाषा ही पहले बनी होगी। यवनों के यहाँ भी पहले संस्कृत भाषा थी बाद में अपभ्रंश का प्रयोग प्रारम्भ हुआ—इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

> न हि तदानीं संस्कृतमेव सृष्टं न भाषा तद्भिन्नेत्यत्र मानमस्ति। ततश्चनादिसिद्धौ तदीयभाषाया अपि तदानीमेव सृष्टत्वात्। न हि तेषामपि प्रथमं संस्कृतेनैव व्यवहारः पश्चादपभ्रंशरूपभाषाप्रवृत्तिरिति कल्पनायां मानमस्ति।
>
> —भर्तृहरि महाभाष्यप्रदीपोद्योतन प्रथम भाग पृष्ठ ४७

(८) संस्कृत शब्दों के विकृत या विकसित रूप वाले अपभ्रंश शब्द भी मूल संस्कृत शब्द की अपेक्षा कुछ विशिष्ट अर्थ रखते थे (तमपभ्रंशं निमित्तं विशिष्टार्थ निबन्धनम्—वाक्यपदीय १।१४८)। इसके अनुसार गो शब्द के लिए लोक में जितने गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि शब्द प्रचलित थे वे केवल गो अर्थ को नहीं व्यक्त करते थे अपितु विशेष प्रकार या जाति के गो अर्थ को प्रकट करते थे। इनमें से प्रत्येक के अर्थ में कुछ विशेषता थी। भाषा विज्ञान के अनुसार गोपोतलिका को गो शब्द का अपभ्रंश नहीं माना जा सकता। अवश्य ही लोक में गोपोतलिका शब्द गाय के किसी विशेष नस्ल के लिए प्रयुक्त होता होगा। पर शिष्ट समुदाय में वह प्रचलित नहीं था। इसलिए पतंजलि ने लोक में प्रचलित मानते हुए इन शब्दों को अपभ्रंश शब्द माना।

भर्तृहरि ने अपभ्रंश शब्द के विषय में उन प्रवादों का भी उल्लेख किया है जो आज भी किसी न किसी रूप में सजीव है। भर्तृहरि के समय में अपभ्रंश शब्द का व्यवहार इतना बढ़ गया था कि उन्हीं की प्रधानता हो गई थी। (तदेव प्रसिद्धतरो व्यवहारः) और जहाँ कहीं शुद्ध (साधु) शब्द के प्रयोग में संशय होता था उसका निर्णय उसके अपभ्रंश शब्द के आधार पर किया जाता था। (मति च साधुप्रयोगेऽप्यसंशये यस्तस्यापभ्रंशस्तेन सम्प्रति निर्णयः क्रियते।—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४४) अतः एक ऐसा पक्ष खड़ा हो गया था जो अपभ्रंश शब्दों को ही संस्कृत का मूल (प्रकृति) मानता था और संस्कृत को अपभ्रंश की विकृति मानता था। उनके मत में प्राकृत शब्द का अर्थ था साधु शब्दों का समुदाय जो प्रकृति से उत्पन्न है। विकार बाद में पैदा हुआ और स्वर संस्कार आदि विकृत भाषा में ही किए जाते हैं। प्राकृत (मूल) भाषा में नहीं।

> अनित्यवादिनस्तु ये साधुनां धर्महेतुत्वं न प्रतिपद्यन्ते मन्दमन्यादिसदृशौ साधुव्यवस्थां मन्यन्ते ते प्रकृतौ भवं प्राकृतं साधूनां शब्दानां समूहमाचक्षते। विकारस्तु पश्चाद् व्यवस्थापितः यः सम्भिन्नबुद्धिभिः पुरुषैः स्वरसंस्कारा—दिभिर्निर्णीयत इति।
>
> —वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४५।

कुछ लोगों के मन में संस्कृत भाषा कभी भी अप्रवीण (अपभ्रंश शून्य) नहीं थी। संस्कृत और अपभ्रंश का सदा से साथ-साथ व्यवहार होता आया है। दोनों अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। व्यवहार में एक शब्द को साधु और दूसरे को अपभ्रंश उसी रूप में कहते थे जैसे एक स्त्री को गम्या और किसी दूसरी को अगम्या मानते थे। यद्यपि दोनों की विशेषताएँ स्त्रीरूप में समान एक ही रही हैं। और दोनों का गम्यत्व और अगम्यत्व केवल परम्परा से परिचालित है न कि स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक है (येषामपि च नव पुराकल्पो न च दवी वागसकीर्णा कदाचिदासीत्तेषामपि गम्यागम्यादिव्यवस्थावदियं साध्वसाधुव्यवस्था नित्यमविच्छेदेन शिष्टैः स्मर्यते—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१५६)।

अपभ्रंश की अर्थबोधकता शक्ति के बारे में भी वाक्यपदीय में मुख्यरूप में तीन तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं।

(१) अपभ्रंश शब्द साक्षात् वाचक नहीं है। उनके सुनने पर श्रोता को शुद्ध शब्द का स्मरण होता है और तब अर्थ बोध होता है। अतः अपभ्रंश शब्द साधु शब्द के व्यवधान से अर्थ प्रत्यायक होते हैं।

(२) अपभ्रंश शब्द प्रसिद्धिवशात् रूढ होकर बिना साधु शब्दों की याद दिलाये ही अर्थ बोधक होते हैं।

(३) जिस रूप में साधु शब्द साक्षात् अर्थ बोधक होते हैं उसी रूप में अपभ्रंश शब्द भी समान अर्थबोधक होते हैं। वाचकत्व की दृष्टि से साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द में कुछ भी अन्तर नहीं है।

सिद्धान्त रूप में तृतीय मत ही वैयाकरणों को मान्य है। भाष्यकार ने भी माना है कि शब्द और अपशब्द दोनों से समान रूप से अर्थ का बोध होता है। केवल अन्तर यह है कि साधु शब्द का प्रयोग अभ्युदय करने वाला है जब कि अपशब्द अथवा अपभ्रंश का प्रयोग प्रत्यवायकारक है।

समानायामर्थावगतौ शब्देनचापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—महाभाष्य पस्पशाह्निक।

भर्तृहरि ने कहा है —वाचकत्वाविशेषे वा नियमः पुण्यपापयोः—वाक्यपदीय ३ सबन्धसमुद्देश ३०।

भर्तृहरि ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि साधुता असाधुता का सम्बन्ध शब्द की आकृति अथवा रूप में नहीं है। एक ही शब्द अर्थभेद से साधु भी हो सकता है और असाधु भी। जैसे गोणी शब्द आवपन के अर्थ में तो साधु है और गाय के अर्थ में असाधु माना जाता है (वाक्यपदीय १।१४९)

हरदत्त ने पदमंजरी (प्रथम भाग पृष्ठ ८) में और भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में साधुता के चार रूप दिए हैं

अनपभ्रष्टतानादिवृद्धाभ्युदययोग्यता।

व्याक्रिया व्यञ्जनीया वा जातिः कापीह साधुता।—शब्दकौस्तुभ पृ० २०

शक्ति वैकल्य के कारण किसी शब्द का अन्यथा उच्चारण अपशब्द या अपभ्रंश है।

उससे रहित अनपभ्रष्टता है। वही साधुता है। महाभाष्य में अपशब्द के लिए ते सुराहेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः—इस ब्राह्मण-वाक्य का उद्धरण है। हेलय हेलय में क्या अपशब्दता है इसमें टीकाकारों में विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि प्लुत और प्रकृतिभाव इस वाक्य में होना चाहिए। (हे ३ अलय इ ३ अलय) पर नहीं हुआ है। जो लोग प्लुत को वैकल्पिक मानते हैं उनके मत में यहाँ अपशब्दता पद का द्वित्व करने की अपेक्षा वाक्य का द्वित्व कर देना है। कुछ लोग हेलय (हे अरय) में र के स्थान में ल श्रुति होना ही अपशब्दता मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण ३।२।१।२४ में 'हे लवो हे लव' ऐसा पाठ है। इधर हाल ही में डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने हेलय शब्द पर नवीन प्रकाश डाला है। उनके मत में इल्लु बेबीलोनियनों का एक प्रतिष्ठित देवता था। बेबीलोन शब्द बबा और इल्लु से बना है जिसका अर्थ स्वर्ग द्वार था। इल्लु शब्द सभी समेटिक भाषाओं में है। हिब्रू में एल और कल्दाइट में इलु फोनीशी में एल केडियन में इलु और अरबी में इलाह है और सब में इसका अर्थ ईश्वर है। बेबीलोन वाले युद्ध में अपने देवता को पुकारते हुए इसी शब्द का उच्चारण करते होंगे जिसे पतञ्जलि आदि ने हेलय के रूप में ग्रहण किया है। हेलय हे अरय का अपभ्रंश नहीं है। (द जरनल आफ द यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी वाल्यूम २३ पार्ट १।२, १९५०)।

अपशब्द को साधु शब्द के समानार्थक माना गया है। (अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानार्थश्च—कैयट महाभाष्य ३।१।८) किन्तु वैयाकरण अपशब्द का अन्वाख्यान नहीं करते और न उसे साधु शब्द का पर्याय ही मानते हैं। नागेश के मत में व्याकरण की दृष्टि से शब्द का जरा सा अंश न अपशब्दता है (अपशब्दत्व व्याकरणाननुगत—शब्दस्यैवदृ भ्रंशन एव प्रसिद्धम्)—नागेश पस्पशाह्निक पृष्ठ २३ गुरुप्रसाद) अथवा अनादिता साधुता है। जिस शब्द के आदि का पता नहीं है जो अनन्तकाल से जिस रूप में आ रहा है वही उसका साधुरूप है। जो शब्द पौरुषेय संकेत का रूप रखते हैं वे अनादिसाधुता के रूप में गृहीत नहीं हो सकते।

अथवा अभ्युदय योग्यता साधुता है। जिन शब्दों के उच्चारण से अभ्युदय होता है वही साधु शब्द हैं।

अथवा साधुता एक तरह की जाति विशेष है। जिस तरह रत्नों को बार बार पहचानने से उनकी शुद्धता पहचानने की योग्यता आ जाती है उसी तरह शास्त्र के बार बार परिशीलन से विद्वानों को साधु शब्दों की पहचान हो जाती है। साधुता एक तरह से जाति विशेष है।

यह चारों प्रकार की साधुता निर्दोष मानी जाती है और व्याकरणगम्य है। इसी तरह असाधुता भी चार प्रकार की है। अपभ्रष्टता सादिता प्रत्यवायप्रयोग्यता और तदवच्छेदक जातिविशेष।

टि घु आदि संज्ञा शब्द न तो साधु माने जाते हैं और न असाधु। किसी किसी के मत में अनपभ्रष्टत्वसाधुता उनमें भी है। अस्य च्वौ दीर्घ निर्देश और कुत्व कस्मान्न भवति आदि भाष्य के वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

सज्ञा शब्द

वाक्यपदीय म सज्ञा शब्द के विषय म कई तरह के विचार हैं। लोक म देवदत्त आदि सज्ञा शब्द प्रचलित है। देखा जाता है कि केवल दत्त कहन से देवदत्त का, केवल भामा कहने स सत्यभामा का बोध हो जाता है—ऐसा क्स होता है? क्योंकि सज्ञा के एक देश का जसे दवदत्त म दव का लोप किसी शास्त्र मे विहित नही है और केवल दत्त सज्ञा भी नही की गई है। पुन दत्त आदि सज्ञा किसी दूसर की भी हो सकती है। अत दत्त शब्द देवदत्त का बोधक कैसे होना है? यह प्रश्न कई रूप म सुलझाया जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि शब्दस्वरूपो का अपन सभी अवयवो के साथ सभी प्रकार के सज्ञो के साथ समकाल सबध होता है। जिस तरह समुदाय अर्थात पूरा शब्द सज्ञी का बोधक है उसी तरह उसका अवयव भी सज्ञी का बाधक है। अत शब्द का एक देश भी सम्पूर्ण का अर्थ प्रत्यायक है और इसलिए दत्त शब्द भी दवदत्त का वाचक है। (वाक्यपदीय २।३५६) इस पक्ष म दो दोष माने जाते हैं। यदि एक देश (अवयव) को भी प्रत्यायक माना जाएगा तो वर्णों का अर्थ वान मानना पड़ेगा। देवदत्त शब्द का एक वर्ण भी देवदत्त अर्थ को कहने लगेगा। फिर समुदाय से अलग होकर उसम वाचकता भी नही आ सकेगी। अत एक देश से अथवा एक देश के तुल्य से सज्ञी का प्रत्यायन सम्भव नही है।

इसलिए दूसरे आचार्य मानते हैं कि देवदत्त, देवदत्त शब्द बार बार सुनते रहन पर कभी केवल एकदेश दत्त आदि के भी सुनने पर पूरे शब्द (दवदत्त) की स्मृति आ जाती है। अत सज्ञा शब्द के एकदेश, स्मृति के सहारे समुदाय के अर्थ का अभिव्यक्त करते हैं। इस पक्ष म यह दोष माना जाता है कि सघात के अवयवो म बँट जाने पर अवयवो से स्मृति सभव नही है क्योंकि स्मृति सदृशदर्शन से होती है। सघात या समुदाय से ही सादृश्य सभव है, छिन्न भिन्न सघात से सभव नही है। दूसरी बात यह कि स्मृति प्रतीयमान वस्तु (देवदत्त) का अभिधायक नही हो सकती। जो कर्णेन्द्रिय गोचर होता है वही अभिधायक होना है जो प्रतीयमान है वह नही।

अत तीसरा मत, जो सिद्धान्त के रूप म माना जाता है यह है कि सज्ञा शब्द के जो अवयव हैं वे एकदेश के तुल्य (एकदेशस्वरूप) हैं। वे अनुनिष्पादी (नान्तरीयक) हैं। और समुदाय के सभी लिंग (गुणो) से युक्त हैं। इसलिए देवदत्त शब्द जिस सज्ञा को बतलाता है, दत्त शब्द या देव शब्द भी उसी सज्ञा को बतला सकता है। यह ठीक है कि देव शब्द दवता अर्थ को भी कहता है और किसी (देवदत्त) से अन्य व्यक्ति का भी वाचक हो सकता है इसी तरह दत्त शब्द क्रिया शब्द भी हो सकता है, सज्ञा शब्द भी हो सकता है फिर भी शब्द सामर्थ्य से ये नियत अर्थ वाले मान लिए जाते है। अतएव शास्त्र मे लोप आदि कार्य उनके किये जाते हैं। देवदत्त शब्द स स्वतन्त्र देव (देवता बोधक) और दत्त (क्रियाधक) अनुनिष्पादी नहीं होने के कारण देवदत्त शब्द के अवयव के रूप मे गृहीत नही हो सकते। श्रेष्ठा के लिए

तरह शास्त्रीय वृद्धि आदि सज्ञायें भी उसी तरह के अर्थ प्रकाशन म समर्थ है परन्तु दूसरी सज्ञाओ स भेद दिखाने के लिए और व्यवहार म सुविधा के लिए नियम कर दिया जाता है कि आदच की ही वृद्धि सज्ञा मानी जाए। जिस तरह से विशेषण विशेष्य म नील उत्पल म नीलादि योग कोई पुरुष नही करता स्वाभाविक है उसी तरह वृद्धि आदि सज्ञाशब्दो का भी सबध स्वाभाविक है कृत्रिम नही।

> व्यवहाराय नियम सज्ञाना सज्ञिनि क्वचित।
> नित्य एव तु सम्बधो डित्यादिषु गवादिवत ॥
> वद्ध यादीना तु शास्त्रेऽस्मि छ्वत्यवच्छेद लक्षण ।
> अकृत्रिमोऽभिसम्बधो विशेषणविशेष्यवत ॥
>
> —वाक्यपदीय २।३६९, ३७०।

सज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का विचार

सज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय मे भाष्यकार ने यह माना है कि प्राथ- मिक कल्प के सज्ञी के गुण और क्रिया सज्ञा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त होग। (कश्चित् प्राथमकल्पिको डित्थो डाम्भिट्टश्चेति। तेन कृता क्रिया गुण वा य कश्चित् करोति स उच्यते डित्थत्व त एतडडाम्भिट्टत्व त एतत—महाभाष्य ५।१।११९) प्राथमकल्पिक म वत्ति कैसे होगी इस पर भाष्यकार ने विशेष प्रकाश नही डाला है केवल यह कहा है कि जस उसका (सज्ञा शब्द का) प्रयोग होता है वैस किसी तरह उसम वत्ति भी हो जाएगी (यथय तस्य कार्थविक प्रयोग एव वत्तिरपि भविष्यति। —महाभाष्य ५।१।११९)

भर्तृहरि के अनुसार सज्ञा शब्दो क प्रवत्ति निमित्त उनके स्वरूप है। सभी सज्ञा शब्दो के प्रवत्तिनिमित्त उनक स्वरूप ही होते हैं। कही तो उसम अर्थ का सान्निध्य भी निमित्त रूप म रहता है और कभी-कभी अवयव भी स्वरूप निमित्त होता है। एकाक्षर सज्ञा हो या बहु सज्ञा हो इस विषय म उनम भेद नही है। शास्त्र मे महती सज्ञा करने क कारण यह अनुमान होता है कि उनका शब्दस्वरूप ही प्रवत्ति निमित्त है और उनके अवयवो का प्रत्यायक है। अनुमान का रूप तीन रूप म देखा जाता है। आवत्ति क रूप म, शब्दभेद के रूप मे और शक्तिभेद के रूप म। एक ही सज्ञा शब्द की दो बार आवत्ति की जाती है। एक के द्वारा स्वरूप निरूपित सज्ञी का ज्ञान होता है और दूसरे के द्वारा अवयवार्थनिबधन ज्ञान होता है। सारूप्य के कारण आवत्ति का अनुमान होता है। अथवा दो बार शब्द का उच्चारण हुआ है इसी का अनुमान करते है। उनम एक से स्वरूप से आच्छादित सज्ञी का ज्ञान होता है। दूसर से अवयवार्थनिबधन प्रतिपत्ति होती है। अथवा वही एक शब्द दो शक्तियो म उच्चरित हुआ है ऐसा अनुमान कर लेते हैं। इनम एक से सज्ञी की प्रतिपत्ति और दूसर से अवयवार्थ की सगति होती है।

कैयट ने प्रवत्तिनिमित्त के प्रश्न को दो तरह से सुलझाया है। उनके मत मे शब्द क स्वरूप म अर्थ का अध्यास कर यह डित्थ है ऐसा सज्ञा सज्ञि सम्बध करते

है। शब्द स्वरूप के ग्रहण से नित्य शब्द का जिस तरह डित्थ अर्थ में व्यवहार होता है उसी तरह शब्दस्वरूप अर्थ में भावप्रत्यय होता है। कुछ लोग मानते हैं कि डित्थ आदि संज्ञा में भी जाति रहती है। उत्पत्ति से लेकर अन्त तक कुमार यौवन आदि अवस्थाभेद से भिन्न द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति डित्थ में है ही जिसके कारण बालक डित्थ को युवा अवस्था में देखने पर यह वही डित्थ है ऐसी प्रतीति होती है। यही जाति संज्ञाशब्द की प्रवृत्तिनिमित्त है उसी में प्रत्यय होता है। यदृच्छा शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त शब्द स्वरूप भी माना जाता है (कैयट महाभाष्य ५।१।११९)।

गुणत्व आदि के विषय में कैयट ने लिखा है कि शब्द और अर्थ में अभेद मान कर संज्ञा के संज्ञास्वरूप में प्रत्यय का अध्यास होता है। किसी किसी के मत में संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में प्रत्यय होता है (गुणत्वमित्यादौ संज्ञा स्वरूप संज्ञिन्यध्यस्तं प्रत्ययः अन्येतु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धे इत्याहुः —कैयट महाभाष्य ५।१।११९) नानात्व सहत्व यौगपद्यत्व जैसे शब्दों में उनका अर्थ प्रवृत्तिनिमित्त होता है और उसी में प्रत्यय होता है (नागेश ५।१।११९)।

संज्ञा शब्द के चार प्रकार

व्याकरण शास्त्र में संज्ञा शब्द चार रूप में गृहीत होते हैं—(१) कृत्रिम रूप में (२) अकृत्रिम रूप में (३) कृत्रिम और अकृत्रिम उभयरूप में और (४) अकृत्रिम का कृत्रिम रूप में।

शास्त्रीय परिभाषा जिन संज्ञाओं की दी गई है वे कृत्रिम हैं और कृत्रिमरूप में शास्त्र में व्यवहृत हैं। जैसे कर्मण्यण् ३।२।१ में कर्म पारिभाषिक है परन्तु कर्तरि कर्म व्यतिहारे १।३।१४ में अकृत्रिम का ग्रहण है। व्यतिहार की यहाँ कृत्रिम संज्ञा उपयुक्त नहीं है। अतः कर्म भी लौकिक कर्म है पारिभाषिक नहीं। कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ में करण शब्द कृत्रिम संज्ञा है जबकि शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ३।१।१७ में करण शब्द अकृत्रिम है। संख्या विषयक सूत्रों में लौकिक और शास्त्रीय अकृत्रिम और कृत्रिम दोनों तरह के संज्ञा शब्दों का निर्वाह हो जाता है जैसे बहुगण वतुडति संख्या १।१।२३ में संख्या शब्द कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों रूप से समानरूप में गृहीत है। कभी कभी लौकिक अकृत्रिम संज्ञाशब्द शास्त्रीय कृत्रिम संज्ञाशब्द का प्रत्यायक होता है जैसे एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ १।२।३३ में सम्बुद्धि पद लौकिक अकृत्रिम होता हुआ भी कृत्रिम शास्त्रीय कृत्रिम सम्बुद्धि पद का भी प्रत्यायक होता है (वाक्यपदीय २।२५६ २५७)।

संज्ञा-संज्ञी शक्ति के अवच्छेदक

जिस तरह एक ही वस्तु निमित्त भेद से भिन्न भिन्न हो जाती है उसी तरह संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध भी निमित्त भेद से भिन्न भिन्न भासित होता है। लोक में बुद्धि प्रकल्पित भेद को मान कर सोने की अंगूठी (सुवर्णस्य अंगुलीयकम्) कहते हैं भेदनिबन्धन षष्ठी

विभक्ति का प्रयोग करते हैं। इकोयणचि ६।१।७७ में भी इकारादि चार की इक् संज्ञा है। यकारादि चार की यण संज्ञा है। यहाँ भी संज्ञी से संज्ञा भिन्न रूप है। इनमें इक् या यण उच्चारण के कारण क्रमशः स्थानी या आदेश नहीं है अपितु उनसे प्रत्यायित संज्ञी कार्य के पात्र होते हैं। भाव यह है कि वृद्धि शब्द संज्ञा नहीं है अपितु वृद्धि शब्द से प्रत्यायित जो वृद्धि शब्द वह संज्ञा है इसी तरह आदैच् शब्द से प्रत्यायित जो आदैच् वे संज्ञी हैं।

वृद्धयादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः ।
आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः ॥ —वाक्यपदीय १।६०

संज्ञी के सम्बन्ध से पहले संज्ञा अपने स्वरूप की द्योतिका होती है और इसलिए षष्ठी और प्रथमा विभक्ति का निमित्त होती है। संज्ञा शब्द में प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया जाता है क्योंकि स्वरूप से अविच्छिन्न होने के कारण अव्यक्त है। सोऽयम् इस रूप में संज्ञी के द्वारा शक्त्यवच्छेदलक्षण सम्बन्ध नियमित होता है। जैसे गौर्वाहीकः सिंहो माणवकः जैसे वाक्यों में शक्ति का अवच्छेद किया गया है। वाहीक शब्द के द्वारा विशिष्ट गो का और पुरुष शब्द के द्वारा संज्ञा शब्दों का अवच्छेद किया गया है। (वाक्यपदीय १।६७-६८)

संज्ञा शब्द और अनुकरण शब्द में भेद

संज्ञा शब्द और अनुकरण शब्दों में कुछ दूर तक साम्य है। अनुकरण शब्द भी संज्ञा शब्द की तरह स्वरूप का प्रत्यायक होता है। संज्ञा शब्द और अनुकरण शब्द में भेद यह है कि अभिधेय के उच्चारण किये जाने पर अनुकरण होता है। संज्ञा के लिए अभिधेय प्रत्यायक होना है उच्चार्यमाण नहीं। (अतएव अनुकरणशब्दात् संज्ञाशब्दस्य विशेषः स्पष्टो भवति। उच्चार्यमाणे भिधेयेऽनुकरणम्। संज्ञायास्तु प्रत्याय्यमेवाभिधेयम् नोच्चार्यमाणमिति—वृषभ—वाक्यपदीय टीका १।६६ पृष्ठ ६८)

इस भाव को संग्रहकार ने भी व्यक्त किया है

न हि स्वरूपशब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे संनिविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते।

संग्रह वाक्यपदीयवृत्ति में भर्तृहरि द्वारा उद्धृत १।६५ पृ० ६९-७०

'गौरित्ययमाह' इत्यादि अनुकरणात्मक वाक्यों में केवल स्वरूप बोध का निर्देश रहता है। उनमें अवयवों के निर्देश की भावना नहीं रहती। क्योंकि अवयवों में कार्य (प्रत्यय आदि) नहीं होते। जैसे अग्निढक् में अग्नि शब्द से प्रत्यय होता है न कि अग्नि शब्द के अवयवों से। ठीक यही बात अनुकरण शब्दों के लिए भी है। यदि अनुकरण शब्दों में भी अवयवनिर्देश माना जाएगा तो वे अलग अलग अर्थहीन जान पड़ेंगे। गौः इस अनुकरण शब्द में स्थित औकार से औपगव के औकार की प्रतीति होने लगेगी।

अनुकरणध्वनि यथावयवा उपादित्सिता ते पृथगनियतक्रमा प्रतीयेरन्निति। गौरित्ययमाहेत्यत औपगवमित्यत्र स्थिता औकारादय प्रतीयेरन्।

—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।४४ पृष्ठ ५६

अनुकरण शब्द प्रत्यायक होने के कारण सत्ता है और अनुकार्य प्रत्याय्य होने के कारण सत्ती है। सत्ता कभी सत्ती को नहीं छोड़ती (न सत्ता सत्तिनं व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।५९) जिस तरह गो आदि शब्द सास्ना, लांगूल वाले अर्थ (व्यक्ति) को जताते हुए उस अर्थ वाले के अर्थ में मतुप् प्रत्यय लाते हैं जैसे गोमान् उसी तरह अनुकरण शब्द भी अपने अर्थ अनुकार्य को बताते हुए उसके द्वारा अनुकार्य वाले के अर्थ में छ प्रत्यय लाते हैं। अनुकरण शब्द जाति समवेत अर्थ को व्यक्त करता है। यह जाति शब्द है। यह बात लकार वार्तिक में (भाष्य में) कही गई है। (कैयट—महाभाष्य ५।२।८९)

भट्टोजि दीक्षित ने भी अनुकरण शब्द को जाति शब्द माना है। अनुकरण शब्दाश्च जाति शब्दा एव तत्रानुकार्यनिष्ठजाते प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्।

—शब्दकौस्तुभ, १।१।१

अनुकरण शब्द और आम्नाय शब्द में भेद

अनुकरण शब्द का आम्नाय शब्द से भेद स्वर, वर्णानुपूर्वी, देश और काल की दृष्टि से किया जाता है।

आम्नायशब्दानामान्यभाव्य स्वरवर्णानुपूर्वीदेशकालनियतत्वात्।

वार्तिक ५।२।५९

अनुकार्य और अनुकरण में अर्थभेद से भेद होता है। इस दृष्टि से आम्नाय शब्द और अनुकरण शब्द में भेद है ही। स्वर आदि की दृष्टि से भी भेद है। आम्नाय शब्दों के स्वर नियत हैं जबकि अनुकरण शब्द एक श्रुति रूप में भी देखे जाते हैं। अस्यवाम शब्द आम्नाय में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। अस्य भी अन्तोदात्त है। वाम भी अन्तोदात्त है। अनुकरण अस्यवाम शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है। इसमें दो उदात्त न होकर एक ही उदात्त है। क्योंकि यहां अनुकरण के रूप में अस्यवाम शब्द एक पद है। आम्नाय शब्द में वर्णों का क्रम नियत रहता है। अनुकरण शब्द में उनका उच्चारण व्युत्क्रम रूप में करने पर भी अनुकार्य की प्रतीति हो जाती है। आम्नाय शब्दों के उच्चारण के लिए देश काल नियत हैं। श्मशान में आम्नाय नहीं पढ़ना चाहिए अमावस्या को अध्ययन नहीं करना चाहिए आदि। जब कि अनुकरण शब्द के लिए देश काल का बंधन नहीं है। आम्नाय शब्दों में पद के एक देश का तथा विभक्ति का लोप भी देखा जाता है अनुकरण शब्द में विभक्ति के अभाव में उनका लोप सम्भव नहीं है। नागेश मानते हैं कि आम्नाय शब्दों के श्रवण से शूद्र को प्रायश्चित्त होता है। जब कि अनुकरण शब्द सुनने से उन्हें प्रायश्चित्त नहीं होता (अनुकरणश्रवणेन शूद्रस्य प्रायश्चित्ताभाव इत्यपि बोध्यम्।—नागेश, महाभाष्य ५।२।५९)।

अनुकरण शब्द और अपशब्द में भेद

अनुकरण शब्द मे और अपशब्द मे भेद यह है कि शिष्ट अनुकरण साधु माना जाता है। अशिष्ट अनुकरण न तो दोषजनक माना जाता है और न अभ्युदयजनक। जबकि अपशब्द का प्रयोग अर्थबोधक होते हुए भी प्रत्यवायजनक माना जाता है। 'अविरविकन्याय (महाभाष्य ४।१।८८) शब्द म अवि शब्द, कैयट के अनुसार, विभक्त्यन्त रूप म अनुकरण है। अनुकरण होने के कारण समास होने हुए भी विभक्ति का लोप नही हुआ है।

> अविरविकन्यायेनेति। अथवा विरित्यस्य विभक्त्यन्तस्यानुकरणमवि रिति। ततो नुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वाद या विभक्तिरुत्पद्यते तस्या द्वन्द्वान्तर्भा वाल्लोप, न तु पूर्वस्या अनुकरणत्वात्सुपत्वाभावात। यथाऽस्यवामीयमिति षष्ठ्या लुगभाव। अथवा भाष्यकारवचनप्रामाण्यादस्य साधुत्वम।
>
> —कैयट महाभाष्य ४।१।८८

व्याकरण

शिष्ट प्रयुक्त साधु शब्दो का अन्वाख्यान व्याकरण करता है। (शिष्टप्रयोगानुविधायि इद शास्त्रम—महाभाष्य दीपिका पृ० १२६) अपभ्रंश के भी व्याकरण बाद म बने किन्तु संस्कृत के वैयाकरण व्याकरण का लक्ष्य परिनिष्ठित शब्दो का ही मानते थ। भर्तृहरि न व्याकरण शास्त्र को आगम माना है और इसके प्रति अत्यन्त मनोरम भाव व्यक्त किया है। विद्या का अधिष्ठान वेद है। वह एक है। पर उसमे परिकल्पित भेद किए गए हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने साधारण ज्ञान वाले प्राणी के लिए वेद का कई रूप म अन्वाख्यान किया है। वेद लोक का प्रकृति (मूल) है। वही लोक का उपदेष्टा है। लोक की सभी व्यवस्थाओ का विधाता है। वह प्रणवमय है। वह सब शब्द मय की प्रकृति है। सभी तरह के विद्याभेद उसी से उद्बुद्ध हुए है। विद्याभेद ज्ञान के हेतु है। इनसे पुरुष का संस्कार होता है। उनकी बुद्धि का उनके ज्ञान का संस्कार होता है। ये विद्याभेद वेद के अंग के रूप म प्रसिद्ध ह और उन अंगो के भी उपाग हैं जिनसे स्वप्न पाक, योनि आदि का ज्ञान होता है। उपाङ्गेष्वपि च स्वप्नविज्ञानपाकयोनिज्ञानादयो विद्याभेदा प्रसिद्धा लोके—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१०

इन अंगो उपागो मे सर्वप्रथम स्थान व्याकरण का है (प्रथम छन्दसामगमा हुर्व्याकरण बुधा —वाक्यपदीय १।११)

वेद शब्दमय हैं। व्याकरण शब्द का ही संस्कार करता है। इसलिए शब्द के साक्षात उपकारी होने के कारण वेद का समीपी है। इसीलिए अक्षर समाम्नाय के ज्ञान मात्र से सब वेद की पुण्यफल प्राप्ति कहा जाता है। इसलिए अंगो म व्याकरण को प्रधान माना है।

शब्द समूह को भर्तृहरि न वाणी का परमरस कहा है (यो वाच परमोरस) वह पुण्यतम ज्योति है। व्याकरण इस परम ज्योति का ऋजु मार्ग है। स्वरूप और पररूप के द्योतक तीन तरह के प्रकाश होते है। एक अग्नि का प्रकाश। दूसरा पुरुष

शब्दवती के रूप में शब्दानुशासन कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का नामतः उल्लेख कर प्रकृति प्रत्यय आदि के रूप में उनका संस्कार किया जाता है। पाणिनि आदि सूत्रकारों के लक्षण इसी कोटि में आते हैं जैसे 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्र के द्वारा जो अनुशासन कहा जा रहा है उसे हम शब्दवती अनुशासन पद्धति कह सकते हैं।

परन्तु बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके बारे में अनुशासन उपलब्ध नहीं है। ऐसे भी सैकड़ों शब्द हैं जिनमें लक्षण ठीक नहीं बैठते फिर भी वे साधु माने जाते हैं। ऐसे शब्दों का अनुशासन शिष्टों के व्यवहार के आधार पर मान लिया गया है। यद्यपि शब्दतः उनका उल्लेख विधि के रूप में नहीं है फिर भी वे शब्द अपने प्रकृत रूप में शास्त्रकार को इष्ट हैं। इसीलिए ऐसे वाक्य मिलते हैं। इष्टमेवैतद्गोनर्दीयस्येति—महाभाष्य १।१।६२। इस तरह के अनुशासन को भर्तृहरि ने अशब्दा स्मृति कहा है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आचार्यों अथवा शिष्टों द्वारा दो प्रकार से व्याकरण अथवा शब्दानुशासन आरम्भ किया गया। पहला उपायनिर्देश के द्वारा और दूसरा उपाधिनिर्देश के द्वारा। उपायनिर्देश का भाव निपातन जैसी प्रक्रिया से है। बहुत से शब्द हैं जिन्हें पाणिनि आदि ने निपातन से सिद्ध किया है अर्थात् वे शब्द जैसे सुने जाते थे जैसे लोक में प्रचलित थे उनका उसी रूप में उल्लेख कर दिया गया। प्रकृति प्रत्यय का विचार उनके बारे में ठीक से नहीं किया गया। निपातन के बारे में निम्न लिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्॥

—कैयट ४।१।११४ में उद्धृत

उपायनिर्देश में तात्पर्य विधि से है प्रातिपदिक आदि से प्रत्यय आदि का विधान कर शब्द के साधुत्व प्रदर्शन में है। शास्त्रकारों ने प्रकृति और प्रत्ययों में अनुबन्ध की कल्पना विशेष दृष्टि से की है। प्रकृति के नकार आदि अनुबन्ध उपग्रह आदि के संकेत की दृष्टि से किए गए हैं। घञ् अण् आदि प्रत्ययों में अनुबन्ध वृद्धि उदात्तादि स्वर आदि के संकेत के लिए किए गए हैं। वस्तुतः शिष्ट जनों को निश्चित शब्द समुदाय को प्रकृति प्रत्यय आदि की आवश्यकता नहीं होती। शब्दों की ठीक पहचान उन्हें लोक व्यवहार से परम्परया मिल जाती है। हेलाराज के अनुसार शिष्टों की प्रतिभा निर्मल रहती है। उनकी बुद्धि सब को यथास्वरूप में ग्रहण करने में स्वभावतः समर्थ होती है। इसलिए उन्हें प्रकृति प्रत्यय के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए उपायनिर्देश (निपातन से शब्द सिद्धि) भी असत्य ही है।

जब ऐसी बात है कि शिष्टों के व्यवहार से ही काम चल जाएगा, शब्दानुशासन की अष्टाध्यायी आदि व्याकरण ग्रन्थों की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि शिष्ट प्रयोगों का कोई उल्लंघन न करे इसलिए उन शिष्टों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का ही व्याकरण लक्षण द्वारा समझना है। वैयाकरण स्वयं शब्द नहीं गढ़ता। लोक में प्रयुक्त शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है। किसी नियम के न रहने पर शिष्टेतर लोग मनमाना व्यवहार कर सकते हैं और भाषा के परिनिष्ठित रूप में विच्छृंखलता ला सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि शिष्टों को भी विशेष शब्द के बारे में भ्रम हो सकता है। भ्रम के निराकरण के लिए भी व्याकरण ग्रन्थों की आवश्यकता है। इसलिए भर्तृहरि ने कहा है कि जो शिष्ट प्रयोग के साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, अज्ञ हैं, उनके लिए शास्त्र ही दृष्टि है (शास्त्रं चक्षुरपश्यताम्-वाक्यपदीय ३ वृत्ति समुद्देश ७६)। जो लक्षण जानते हैं परन्तु लक्षणनिरपेक्ष रूप में ही साधु शब्दों का व्यवहार करते

हैं। उन्हें भी पतंजलि ने शिष्ट कहा है। उनके ऐसे व्यवहार से उनके शिष्ट होने का अनुमान कर लिया जाता है। अतः व्याकरण सम्प्रदाय में 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' और 'शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी' ये दोनों ही उक्तियाँ प्रचलित और मान्य हैं। (हेलाराज वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश, ७८ ७९)।

व्याकरण द्वारा शब्दों का अन्वाख्यान किया जाता है। इस सम्बन्ध में दो तरह के मत हैं। एक मत है कि व्याकरण द्वारा शब्द का अन्वाख्यान पद-अवधिक है। दूसरा मत यह है कि अन्वाख्यान वाक्य-अवधिक है। भर्तृहरि ने दोनों पक्षों का उल्लेख किया है

केषांचित् पदावधिकम् अन्वाख्यानम्, वाक्यावधिकमेकेषाम्।

—वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति पृष्ठ ३८।

पाणिनि आदि के अनेक वक्तव्य पद के अन्वाख्यान और वाक्य के भी अन्वाख्यान में प्रमाण हैं। पदसंस्कार पक्ष में एक शब्द दूसरे शब्द से निरपेक्ष होता है। उसका संस्कार भी निरपेक्ष रूप में ही होता है। जैसे 'शुक्ल' शब्द गुणवाचक शब्द है। मतुप् प्रत्यय के लोप के होने पर शुक्ल शब्द शुक्ल गुण वाले वस्तु का भी बोधक है। ऐसी परिस्थिति में वह विशेषण हो जाता है। किसी दूसरे पद के सम्पर्क में भी वह विशेषण हो सकता है जैसे 'शुक्लः पटः' में। अब पदसंस्कारपक्ष में शुक्ल शब्द को विशेषण के रूप में भी नपुंसक लिंग और एकवचनान्त होना चाहिए क्योंकि निरपेक्ष रूप में एकवचन और नपुंसक लिंग ही स्वाभाविक है और अन्तरंग होने के कारण तथा श्रुति अभेद के कारण विशेष्य अर्थ में वर्तमान शुक्ल शब्द में भी वे ही उपस्थित हो जाएँगे। इस दोष को हटाने के लिए 'विशेषणानां चाजातेः' १।२।५२ यह नियम बनाया गया। अर्थात् गुणवचन शब्दों का आश्रय के अनुसार लिंग वचन होते हैं। आश्रय का बहिरंग और भावी होना इसमें बाधक नहीं है। अतः 'विशेषणानां चाजातेः' १।२।५२ यह सूत्र पदसंस्कारपक्ष का समर्थक है। वाक्यसंस्कारपक्ष में गुण का आश्रय में अत्यन्त संसृष्ट होने के कारण उनका अलग विवेक न होने के कारण गुण का कोई सामान्य रूप ही सम्भव नहीं है। आश्रय के भान होने के साथ ही साथ गुण का भी भान होगा क्योंकि गुण तन्निष्ठ है और इसलिए द्रव्यगत लिंग और वचन भी स्वभावतः सिद्ध हो जाएँगे। इस पक्ष में सूत्र केवल अनुवाद मात्र है।

पदसंस्कारपक्षे प्रावनिकमेतत्। पदे हि पदान्तरनिरपेक्षे संस्क्रियमाणे नपुंसकलिंगसंख्यानामप्राप्तमेकत्वं च वस्त्वन्तरनिरपेक्षत्वात् सन्निहितमिति 'शुक्ल' पदा इति प्राप्ते भाविनो बहिरंगस्याश्रयस्य लिंगसंख्येऽनेन प्रतिपाद्येते। यदा तु वाक्यसंस्कारः तदायमनुवाद एव।

—कैयट महाभाष्य १।२।५२

द्रष्टव्य—वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति पृष्ठ ३८।

पाणिनि ने तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३ सूत्र से भी उपर्युक्त सूत्र की निरर्थकता द्योतित की है।

कात्यायन ने पदसंस्कारपक्ष को मान कर द्वन्द्व समास में प्रत्येक अवयव के संस्कार की दृष्टि से 'द्वन्द्वबहुषु लुग्वचनम्' कहा और वाक्यसंस्कारपक्ष के आधार पर 'न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्' यह कहा (वार्तिक महाभाष्य २।४।६२)।

'उपमानानि सामान्यवचनैः' २।१।५५ जैसे सूत्र और 'भवति' के लिए 'भू' 'भूति' 'श्रुति' आदि की कल्पना पदावधिक अन्वाख्यान पक्ष में ही ठीक है।

भर्तृहरि ने संग्रहकार का निम्नलिखित वक्तव्य वाक्यावधिक अन्वाख्यान पक्ष के समर्थन में उद्धृत किया है

न हि किञ्चित पद नाम रूपेण नियत क्वचित ।
पदाना रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥

न्यासकार ने भी कौस्त यौस्त इन श श की सिद्धि पदसंस्कारपक्ष म दुरूह बताते हुए वाक्यसंस्कारपक्ष पाणिनि को अभिप्रेत है ऐसा माना है

> किं पुनरिद राजन्यासन पदसंस्कारायव शब्दानुशासन कर्तव्यमिति । अथ शास्त्रकारस्यवाक्यमभिप्राय इति चेत । न । शास्त्रकारेण हि युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम (१।४।१०८) इति युष्मदाद्युपपदे मध्यमादिपुरुषविधानात वाक्यसंस्कारप्रयुक्तमपि शास्त्रमेतदिति सूचितम ।
>
> —न्यास १।१।४८ पष्ठ १११ ।

पुरुषोत्तमदेव न भी पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारप क्ष दोनो को आचायसम्मत माना है ।

> इह प्रातिपदिकाथ मात्रे प्रथमा विवदता आचार्येण नाप्यते पदसंस्कारकमिव व्याकरणमिति । तथा वाक्यसंस्कारक चेद व्याकरणमाचार्यस्याभिमतमिति धातु सम्बन्धे प्रत्यया (३।४।१) इति सूत्रकरणात ।
>
> —पुरुषोत्तमदेव भाषक समुच्चय पष्ठ ६७ ६८ ।

पदावधिक अन्वाख्यान और वाक्यावधिक अन्वाख्यान म हलाराज के मत में, भेद यह है कि सम्बन्ध सामान्य की अपेक्षा म पदावधिक अन्वाख्यान और सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा से वाक्यावधिक अन्वाख्यान किया जाता है ।

> सम्बन्ध (सम्बन्ध) सामान्यापेक्षाया पदावधिक तद्वाक्योपात्तसम्बन्ध विशेषापेक्षाया तु वाक्यावधिकमन्वाख्यानमिति इयाननयो पक्षयो विशेष ।
>
> —हलाराज वाक्यपदीय ३ साधनसमुद्देश ३, पष्ठ १७६ ।

यद्यपि पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनो ही गृहीत है । फिर भी व्याकरणशास्त्र प्रकृति प्रत्यय आदि के द्वारा पदसंस्कार ही करता है । इस विभाग पद म ही सम्भव है । वाक्य म अनेक पदो के होने के कारण वाक्य का साक्षात अन्वाख्यान उतना उपयुक्त नही है । दशन भेद से दोनो पक्षो मे भेद होन पर भी पदसंस्कार को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि पद का स्वरूप व्यवस्थित है ।

> दर्शनभेदात भेदेऽपि व्यवस्थित रूपत्वात पदमेवान्वाख्येयम इति ।
>
> —वृषभ वाक्यपदीय १।२६ पष्ठ ८३ ।

व्याकरण लोकपक्ष को महत्व देता है

शब्दानुशासन की प्रक्रिया म सब तरह के न्यायसिद्ध सिद्धान्त काम म लाए जाते हैं । फिर भी व्याकरण दशन 'लोकविज्ञान' को भी महत्त्व देता है । पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि लौकिक पक्ष के समथक हैं । जहा कही शास्त्रीय सिद्धान्त और लोकप्रसिद्ध व्यवहारो म विरोध होता है व्याकरणदर्शन लोक प्रसिद्ध पक्ष का ही आश्रय देता है । उदाहरण के लिए सभी दशन मानते हैं कि अवयव म अवयवी रहता है । इस सिद्धान्त के अनुसार शाखा मे वृक्ष है वृक्ष म शाखा नही । किन्तु लोक म सदा वृक्ष म शाखा यही कहते हैं । अत वयाकरणो न शास्त्रीय आधाराधेय भाव को ठुकराकर लोकपक्ष को ही अपनाया है और उसके अनुसार वृक्ष मे शाखा यही कहते है ।

> एतच्च लौकिक व्यवहारानुगुण्येन शास्त्रेऽस्मिन व्युत्पाद्यते । शास्त्रान्तर प्रसिद्धा व्यवस्था लोकविरुद्धा । लोके हि यथा वृक्षे शाखा इति व्यवहार । तथैव व्याकरणेऽप्याधार सप्तमी । शास्त्रान्तरे तु अवयवेष्ववयवीति शृग गौ

शाखाया वस इति स्यात ।

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ जाति समुद्देश ११।

परन्तु विचार के लिए व्याकरणदर्शन विचार अवश्य करता है। भट्टोजि दीक्षित ने लिखा है कि जैसे कोई वराटिका (कौड़ी) ढूंढने चले और उसे चिन्तामणि मिल जाए उसी तरह शब्द विचार में प्रवृत्त भर्तृहरि ने प्रसंग में विवर्तवाद आदि का भी व्याख्यान किया है जिसमें वैयाकरणों का भी अद्वैतब्रह्म के विषय में परिज्ञान हो।

तदेव वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवानिति वसिष्ठरामायणोक्तन्यायेन शब्दविचाराय प्रवृत्तः सन् प्रसङ्गाद्वैते ब्रह्मण्यपि व्युत्पद्यतामित्यभिप्रायेण भगवान् भर्तृहरिर्विवर्तवादादिकमपि प्रसङ्गाद्व्युत्पादयत्।

—शब्दकौस्तुभ पाठ १२।

परन्तु भट्टोजि दीक्षित की उक्ति उतनी सही नहीं है। वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्द विचार एक दार्शनिक की भांति प्रारम्भ किया है और वाक्यपदीय के प्रारम्भ में ही उसकी प्रतिष्ठा कर दी है। विवेचन की सूक्ष्मता और व्यापकता के आधार पर सभी तरह के मौलिक विचार दर्शन के क्षेत्र में आ जाते हैं। शब्दानुशासन की प्रक्रिया के मूल में छिपे हुए गहन विचारों का विश्लेषण अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है। वाक्यपदीय का दर्शन एक प्रासंगिक दर्शन नहीं है। अपितु भाष्यादि धीयूषपञ्चाङ्कुरित व्याकरण दर्शन का रस है।

ध्वनि

ध्वनि की परिभाषा

भर्तृहरि के अनुसार जो स्फोट का अभिव्यञ्जक है उसे ध्वनि शब्द से व्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में शब्द के व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं। महाभाष्यकार ने प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द माना है (प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते—महाभाष्य पस्पशाह्निक)। अर्थात् लोक में जो ध्वनि समूह पदार्थ बोधक के रूप में प्रसिद्ध है जो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है और वर्णरूप है वह शब्द है। इस दृष्टि से ध्वनि और शब्द में कोई भेद नहीं है। किन्तु सूत्र १।१।७० में भाष्यकार ने ध्वनि शब्द को शब्द का गुण कहा है (स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः)। ध्वनि को शब्द के गुण मानने का भाव है कि ध्वनि शब्द का उपकारक अथवा व्यञ्जक है। भाष्यकार ने उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति इस वाक्य में स्फोट शब्द का व्यवहार किया है। आकृतिनित्यत्ववादियों के मत में इस वाक्य में स्फोट शब्द से अभिप्राय शब्दाकृति अभिप्रेत है। शब्दत्व और शब्दाकृति में भेद यह है कि शब्दत्व सभी शब्दों में रहने वाला धर्म है सब शब्द साधारण है। आकृति विशेष शब्द से सम्बद्ध है। वक्ता क्रमशक्ति से उद्बुद्ध रुक रुक कर सुनाई देने वाला और उसी क्रम से गृहीत वर्णों से गठित होती है। ये (उपलब्धि निमित्त संस्कार) उसमें कल्पित होते हैं वास्तविक नहीं। शब्द जनित उत्पन्न होते हैं। उनमें स्वयं अर्थ का अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं होती परन्तु वे स्फोट का द्योतित करते हैं। स्फोट को द्योतित करने वाले शब्द व्यक्ति का नाम ध्वनि है (वाक्यपदीय १।८४ हरिवृत्ति)। सङ्ग्रहकार के अनुसार स्फोट शब्द है और ध्वनि उसका व्यायाम (विस्तार) है।

स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते ।

—वाक्यपदीय १।२२ की हरिवृत्ति में उद्धृत ।

कुछ लोगों के अनुसार जातिस्फोट के व्यंजक को ध्वनि कहते हैं।

अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ॥

—वाक्यपदीय १।९४

शब्द के अनित्यत्व और नित्यत्व के विचार से भी ध्वनि के रूप में कुछ भेद दृष्टिगत होता है। भर्तृहरि ने इसे निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥—वाक्यपदीय १।१०३

अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुकः प्रथमाभिनिर्वृत्तो यः शब्दः स स्फोट इत्युच्यते। तज्जातास्तु सर्वदिक्कास्तद्रूपप्रतिबिम्बोपग्राहिणः सर्वद्रव्याणां स्वनात्मनां निरवयवत्वात् आकाशस्यापि मध्यसमवायिदेशवत् संयोगिद्रव्यान्तरदेशप्रविभागोपचारे सति देशान्तरेषु प्रयासरयाद्यकारणसंतानाविच्छेदेन यथोत्तरमपचीयमानपूर्वप्रतिबिम्बोपग्रहणशक्तयो मन्दप्रदीपप्रकाशितरूपकल्पाः क्रमेण प्रध्वंसमाना ये वर्णश्रुतिं विभजन्ति ते ध्वनय इत्युच्यन्ते। नित्यपक्षे तु संयोगजविभागजध्वनिव्यंग्यः स्फोटः। तस्या संयोगविभागजध्वनिसभूतनादाभिव्यंग्यः। स्फोटरूपानुग्राहिणस्तु यथोत्तरमपचीयमानाभिव्यक्तिसामर्थ्या द्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्थाहेतवोऽपचयात्मका ध्वनयः।

—वाक्यपदीय १।१०३ पर हरिवृत्ति

अनित्य पक्ष में स्थान और करण के संयोग विभाग के हेतु से निवृत्त को शब्द कहते हैं। उसकी प्रथम अभिव्यक्ति होती है। उस शब्द को स्फोट कहते हैं। अपने समवायी आकाश की तरह वह भी निरवयव है परन्तु जैसे आकाश में घट आदि संयोगी द्रव्य में देश भेद होने के कारण पूर्वापर व्यवहार होता है उसी तरह शब्द में भी पूर्वापर व्यवहार आरोपित रहता है। शब्द के बाद जो पैदा होती हैं वे ध्वनियां हैं। वे वर्णश्रुति का विभजन करती हैं। अर्थात अविभक्त स्फुट अक्षर वाली होती हैं। वे शब्द के प्रतिबिम्ब से युक्त रहती हैं और सब दिशाओं में फैलती हैं। इनके फैलने की दो पद्धतियां मानी गई हैं। वीचितरंगवत और कदम्बकोरकवत। जैसे एक लहर दूसरी लहर को पैदा करती हुई विस्तार पाती है वैसे ध्वनि भी एक ध्वनि लहर से दूसरी ध्वनि लहर उठाती हुई सतत रूप में फैलती है। कदम्बकोरक का मत मानने वालों का अभिप्राय यह है कि जिस तरह कदम्ब के कोरक एक साथ चारों तरफ समान रूप से खिलते हैं वैसे ही ध्वनियां चारों तरफ समान रूप से फैलती हैं। वीचितरंगन्याय और कदम्बकोरकन्याय में भेद यह माना जाता है कि पहले मत के अनुसार चारों दिशाओं में फैलने वाली ध्वनि की एक लहर सी होती है जबकि दूसरे मत के अनुसार चारों ओर फैलने वाली ध्वनि अलग अलग सी होती है। ध्वनि का स्वभाव यह है कि वह क्रमशः क्षीण होती जाती है और अन्त में क्रम से नष्ट होती जाती है। भर्तृहरि ने इनकी उपमा मन्द प्रदीप के प्रकाश से दी है। यद्यपि ध्वनि दीपक के तुल्य है व्यंजक होने के कारण न कि प्रकाश के। फिर भी जैसे मन्द प्रकाश दूर पड़ने पर क्रमशः क्षीण और विलीन होते जाते हैं वैसे ही ध्वनि की भी बात है। यही दोनों में साम्य है।

शब्द के नित्यत्वपक्ष में ध्वनि यथोत्तर अपचय प्राप्त होने वाली अभिव्यक्ति में समय द्रुतादिवृत्तिभेद व्यवस्था का कारण और अन्त में विनाशशील है। अनित्य पक्ष और नित्यपक्ष में ध्वनि के स्वरूप में भेद न होकर शब्द अर्थात स्फोट के स्वरूप में भेद है। अनित्य पक्ष में शब्द पैदा होता है तब ध्वनि फैलती है। नित्य पक्ष में शब्द ध्वनि से व्यंग्य है। शब्द ध्वनि को ही स्फोट मानने वाले संयोगविभागज ध्वनि

ध्वनि को और कुछ बहुत ध्वनियां को जन्म देकर विलीन होती है। इसलिए शब्दकाल ध्वनिकाल से भिन्न है। इसी आधार पर द्रुता मध्यमा आदि वृत्तियों में ध्वनिभेद ही माना जाता है। शब्द भेद नहीं (स्याद्वाद रत्नाकर ४।१० पृष्ठ ६।६ ६।।)।

द्रुता मध्यमा और विलम्बिता ये तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं। प्राचीनकाल में समय नापने की एक प्रकार की नाडिका थी। एक कटोरे में पानी भरा रहता था। उसमें से पानी चूने का प्रबन्ध था। चूने वाले जल बिन्दुओं को पानीय पल कहते थे। द्रुतावृत्ति पढ़ने में उस ढंग का बढ़त थे जिसमें एक ऋचा के पढ़ने के काल में नव पानीय पल चू जाते थे। मध्यमावृत्ति में द्रुतावृत्ति के तीन भाग अधिक समय लगता था। अर्थात यदि द्रुतावृत्ति में ६ पानीय पल का समय लगता था तो मध्यमा में १२ पानीय पल का समय लगता था। विलम्बिता वृत्ति से पढ़ने पर १६ पानीय पल का समय लगता था। (नागेश ने नाडिका का अर्थ सुषुम्ना किया है। और पानीय पल को ब्रह्माण्ड से प्रमृत बिन्दु का चूना माना है। पीछे के व्याकरणों ने व्याकरण दर्शन को किस तरह रहस्यात्मक बना दिया है उसका यह भी एक दृष्टान्त है। नाडिकायां सुषुम्नायां इत्यर्थः। पलानि बिन्दव। ब्रह्माण्ड सम्बद्धा साऽमनवि दुग्धविणीति प्रतिद्धियोगिनाम—नागेश महाभाष्य ८।१।७० ।)

वृत्तियों में ध्वनिकृत भेद होते हुए भी वर्ण का काल एक ही रहता है। एक ही वर्ण को कोई शीघ्रता से उच्चारण करता है और कोई देर से उच्चारण करता है। जिस तरह से गति भेद से मार्ग में भेद नहीं माना जाता उसी तरह से वृत्ता के उच्चारण भेद से वर्णों में उपचय या अपचय नहीं माना जाता। हाथी या हाथी के साथ और मनक का मनक के साथ सन्निकर्ष एक सा है। उनमें भेद उनके शरीर की मात्रा पर निर्भर करता है। घट बार बार देखे जाने पर भी वही रहता है। उसमें भेद नहीं हो जाता। उसी तरह द्रुतविलम्बित आदि वृत्तियों में प्रकार प्रकार के रूप में प्रकार ही रहता है। उसमें कोई भेद सम्भव नहीं है। इसलिए वृत्तिभेद होते हुए भी वर्णभेद नहीं होता यह सिद्धान्त है। इसीलिए सभी वृत्तियों में तत्काल (एक ही वर्णकाल) माना जाता है जबकि ह्रस्व दीर्घ और प्लुत में काल भेद माना जाता है जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है।

वयम के अनुसार द्रुता मध्यमादि वृत्तियों में भेद बुद्धि कृत है। उनके मत में स्फोटग्राहिका बुद्धि उपाधि रूप में कालभेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होती है और इसलिए द्रुतादि वृत्तियों में भेद हो जाता है (अभि नेऽपि स्फोटे ता एव बुद्धय उपाधि भूता कालभेदेनावतमाना भिद्यते। ततस्तास्व द्रुतादि वृत्तिभेद —वाक्यपदीय टीका १।७६ पृष्ठ ७८ लाहौर संस्करण)

उपर्युक्त विवरण वर्ण को नित्य मान कर उल्लिखित है। वर्ण के उत्पत्तिवाद के पक्ष में भी वर्ण की अभिव्यक्ति के बाद दूर से भी ग्राह्य किसी ध्वनि की सत्ता माननी ही पड़ेगी। उस ध्वनि के कालभेद से वृत्तिभेद माना जाना चाहिए। (वर्णोत्पत्तिपक्षेतु तदनन्तरभावी दूरादपिग्राह्य कश्चिदध्वनिरवश्याभ्युपेय। तस्यैव कालभेदाद वृत्ति भेदविधानं शब्दकौस्तुभ १।१।७०)

वृत्तियों का उद्देश्य निम्नलिखित श्लोक में किसी ने लिखा है

अभ्यासार्थे द्रुतावृत्ति प्रयोगार्थे तु मध्यमा।
शिष्याणा मुपदेशाय वृत्तिरिष्टा विलम्बिता।—शब्दकौस्तुभ १।१।७० में उद्धृत

शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय में कई मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि उत्पन्न होकर कर्णेन्द्रिय में एक अपूर्व शक्ति का संचार करती है।

कान का संस्कार करती है। उसमें सुनने की शक्ति पैदा करती है अथवा उसमें स्थित शक्ति को जगा देती है। दो तरह का संस्कार देखा जाता है।—लौकिक (प्राकृत) और अलौकिक। ये दोनों ही संस्कार ज्ञानेन्द्रिय में होते देखे जाते हैं। उनके विषय में नहीं। आंख में अंजन लगाने से आंख की शक्ति बढ़ती है। यह आंख का लौकिक संस्कार हुआ। कभी-कभी कोई व्यक्ति अपनी आंखों से बहुत सूक्ष्म ढकी हुई अथवा अत्यन्त दूर की भी वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेता है। यह आंखों का कोई अलौकिक संस्कार है। ये दोनों ही संस्कार ज्ञानेन्द्रिय में होते हैं न कि विषय में। यदि विषय में संस्कार होते तो बिना अंजन आदि के द्वारा और बिना दिव्य दृष्टि आदि अलौकिक शक्ति के द्वारा भी सबको उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता। ऐसा होता नहीं है। इसलिए ज्ञानेन्द्रिय में ही संस्कार होने के कारण कर्णेन्द्रिय का ही संस्कार होता है और तब शब्द का श्रवण हो पाता है।

इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि संस्कार विषय में ही होता है ज्ञानेन्द्रिय में नहीं। पृथ्वी पर जब जल छिड़कते हैं उसमें से गंध निकलती है और उसका ग्रहण घ्राणेन्द्रिय करती है। तेल को जब किसी सुगंधित द्रव्य से वासित करते हैं तब वह सुगंधित जान पड़ता है। इसीलिए विषय में ही संस्कार मानना ठीक है। यथा घ्राणेन्द्रिय में संस्कार मानने से संस्कृत असंस्कृत सभी प्रकार के विषयों में कोई भेद ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए इस मत के अनुसार ध्वनि के समय में शब्द का ही संस्कार होता है और तब वह कर्णगोचर होता है।

कुछ लोगों के मत से विषय और इन्द्रिय दोनों का संस्कार होता है। जो लोग चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत में अंधकार में स्थित पुस्तक का प्रत्यक्ष प्रकाश में होता है। प्रकाश मानो विषय का संस्कार करता है। जिनके मत में चक्षु प्राप्यकारी है उनके मत में तुल्यजातीय तेज (प्रकाश) से नयन रश्मियों का अनुग्रह होता है। सूक्ष्म रश्मियाँ आंख के प्रवाहरूप में निकलकर बीच के तेज परमाणुओं से जो व्यापक होने के कारण सर्वत्र हैं मिल कर एक तरह की सूक्ष्मतर और भिन्न कोटि की रश्मि पैदा करती हुई वहाँ तक जाती है जहाँ तक आलोक है। फिर उस आलोक से उन रश्मियों का संस्कार होता है ऐसा वैशेषिक मानते हैं।

ध्वनि के अभिव्यंजक के बारे में भी तीन तरह के विचार हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि सदा स्फोट संसक्त ही गृहीत होती है। स्फोट से अलग वह कभी भी ग्राह्य नहीं होती। न तो स्फोट और न ध्वनि ही परस्पर विभक्त रूप में जाने जा सकते हैं। जिस तरह से विषय और आलोक एक दूसरे से संसृष्ट गृहीत होते हैं पर व्यवहार में आलोक सूर्य किरण से जन्य है और विषय स्तम्भ आदि काष्ठज ये हैं ऐसा उनमें भेद करते हैं उसी तरह तालु आदि स्थान से ध्वनि पैदा होती है और स्फोट नित्य होने के कारण अकार्य है ऐसा उनमें भेद करते हैं परन्तु उनका ग्रहण अलग-अलग न होकर सदा संसृष्ट ही रहता है।

कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि अगृहीत रूप में ही शब्द का अभिव्यंजक है। ध्वनि का रूप कभी गृहीत नहीं होता। वह अगृहीतरूप में ही शब्द के ग्रहण में निमित्त होता है। इस दर्शन के मत में इन्द्रिय और इन्द्रियों के गुण अनुमेय होते हैं। उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। विषय का प्रत्यक्ष होता है। उसका कोई साधन अवश्य है। इससे इन्द्रियों का अनुमान कर लिया जाता है। उनके मत में इन्द्रियाँ भौतिक हैं और उनके आश्रित रूप आदि अपनी अधिकता से समान जातीय रूप आदि के ग्रहण में हेतु होते हैं। पृथ्वी गंधत्व ज्ञान में गंधमयी होने के कारण हेतु और गंध की अधिकता होने के कारण

हुए हैं। घ्राणेन्द्रिय की गन्ध उपलब्धि में निमित्त पृथ्वी का समवेत गन्ध है जो अपने समवायि कारण इन्द्रिय को व्यक्त करता हुआ (अनुगृह्णन्) गन्ध की उपलब्धि में निमित्त होता है परन्तु स्वयं समवेत गन्ध का संवेदन नहीं होता। उसी तरह ध्वनि भी असंवेदितरूप में ही किसी दूसरे उपाय से स्फोट की उपलब्धि का कारण होती है। (तद् यथा घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवीभूयिष्ठत्वात् समवेतो गन्धस्तत्समवायिकारणमिन्द्रियमनुगृह्णन् गन्धोपलब्धेर्निमित्तम्। न च समवेतो गन्ध: संवेद्यते। तथा ध्वनिरसंवेदित एवाऽन्योपायेन स्फोटोपलब्धेर्निमित्तम् भवतीति—वाक्यपदीय १।८२ पृ० ८३)

कुछ लोग मानते हैं कि केवल ध्वनि का भी स्वतन्त्ररूप में ग्रहण होता है। इस मत में दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि स्फोट (शब्द) के अवधारण या परिज्ञान के बिना भी दूर से केवल ध्वनि का ग्रहण देखा ही जाता है। दूसरा यह कि ध्वनि स्वयं शब्द की उपलब्धि की तरह है (शब्दोपलब्धि कल्प एवासावित्यपरे—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।८२)। देखा जाता है कि रेगिस्तान जैसे स्थानों में छोटा भी टिल्ला पर्वत की तरह दिखाई देता है। या ड्रमण्ड्र वस्तु बड़ा है पर दर्पण में अत्यन्त लघु जान पड़ता है। देशविशेष और सम्बन्धविशेष के कारण भिन्न आकार और अवस्था वाली वस्तु उससे भिन्न आकार अवस्था वाली मालूम पड़ती है। स्फोट और ध्वनि अलग अलग है। जब वर्ण-बोध रहित केवल अनुरणन रूप ध्वनि रहती है उस समय इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट है। अकार आदि स्पष्ट वर्णबोध के समय वह स्फोट से अस्पष्ट जान पड़ती है।

प्रयत्नविशेष से उद्बुद्ध ध्वनि वर्णसम्बन्धी भी होती है, पदसम्बन्धी भी होती है और वाक्यसम्बन्धी भी होती है। दूसरे शब्दों में, वर्णस्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट को बुद्धि में आरोपित करती है। बुद्धि के सहारे ही वर्णों के पौर्वापर्य का ज्ञान होता है। अन्यथा वर्णों के विनाशशील होने के कारण उनमें क्रम सम्भव नहीं है। अतः उनका परिज्ञान भी सम्भव नहीं है। क्रम से उत्पन्न वर्ण भी यदि अवस्थित रहते तो उनमें भी उसी तरह वर्ण का व्यपदेश सम्भव था जिस तरह ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ में होता है। किन्तु उच्चारण के बाद प्रध्वस्त हो जाने के कारण वर्ण अनवस्थित हैं और इसलिए तत्त्वतः उनमें पूर्वापर भाव नहीं है। शब्द के पूर्वापर का व्यवहार बौद्धिक है। वर्णों के विषय में सावयव और निरवयव सम्बन्धी विचार इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है। वाक्यपदीय के अनुसार भर्तृहरि वर्णों को भागशः रूप में बुद्धिग्राह्य स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। वर्ण की अभिव्यक्तिपक्ष में और वर्ण की उत्पत्तिपक्ष में भी भागशः अभिव्यक्ति मानने पर भी उनके समुदाय का ग्रहण नहीं हो सकता। उत्पत्तिवादियों के मत में वर्ण के विभाग परमाणुकल्प है इसलिए क्रम से उत्पन्न होने पर भी वे अतीन्द्रिय ही रहेंगे। फलतः उनका समुदित रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

वर्ण के निरवयवपक्ष में भी और उसके भागों को इन्द्रियग्राह्य मानते हुए भी उनके समुदायभाव की स्थिति नहीं हो सकती। वे क्रम से उत्पन्न होते जायेंगे और नष्ट होते जायेंगे इस कारण उनका समुदाय ही नहीं हो सकता। एक एक के अनुभव होने पर भी

समुदाय का अनुभव सम्भव नही है। अनुभव न होने से उनकी स्मृति भी नहीं हो सकता। पुन वर्ण के भागों में स्मृति जगाने की शक्ति भी नही है क्योंकि उसके बारे में किसी प्रकार का अभ्यास नही देखा जाता।

निरवयव वर्ण के अभिव्यक्ति-वाद के पक्ष में भी सकल शब्द का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि अभिव्यंजक से अभिव्यंग्य का ग्रहण होता है किन्तु अन्त में उन समुदित व्यंजनों की सत्ता न रह सकेगी। इसलिए सम्पूर्ण शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता। जो लोग स्फोट की भी भागश अभिव्यक्ति मानते हैं और उसे भाग वाला मानते हैं उनके मत में भी यह दोष है।

यदि यह कहा जाए कि पूर्व उच्चरित वर्ण आगे आने वाले वर्ण में अपना संस्कार डालते चलते हैं और जब अंतिम वर्ण उच्चरित हो जाता है तब उन सबका समूहालंबनात्मक संस्कार बुद्धि में पैदा हो जाता है और शब्द का ग्रहण होता है—तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि अभिव्यक्त वस्तु संस्कार ग्रहण करती है, जबकि आगे वाला वर्ण अनभिव्यक्त है। वहां संस्कार का आधान कैसे सम्भव है और जब आगे वाला वर्ण अभिव्यक्त होता है उस समय पूर्व का वर्ण अनभिव्यक्त हो जाता है। इसलिए भी संस्कार नहीं हो सकता। क्योंकि अपनी अभिव्यक्ति में संस्कार का आधान होता है, अनभिव्यक्ति में नहीं। अन्यथा नित्य होने के कारण सबका सर्वत्र आधान होने लगे (वृषभ, वाक्यपदीयटीका १।८४)।

ध्वनि और नाद

वाक्यपदीय में ध्वनि और नाद शब्द का समान अर्थ में प्रयोग हुआ है। भर्तृहरि ने इनमें अन्तर केवल यह किया है कि नाद ध्वनि का विवर्त है।

तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करण व्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेऽभ्रस घातवदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन ।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय १।४८, पृष्ठ ५८

दूसरे शब्दों में प्राकृत ध्वनि का ध्वनि और वैकृत ध्वनि को नाद शब्द से प्रकट करते हैं। इन दोनों ध्वनियों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। ध्वनि ह्रस्व दीर्घ आदि की व्यवस्था हेतु है और नाद द्रुता मध्यमा आदि वृत्तिभेदों में व्यवस्था स्थापित करता है। भर्तृहरि ने प्राकृतनाद और वैकृतनाद शब्द का भी व्यवहार किया है।

नादाः प्राकृत शब्दात्मनि प्रत्यस्यमानस्थितिरूपो भेदस्याग्रहणाय ह्रस्व दीर्घप्लुतकालभेद व्यवहार व्यवस्थाहेतु । वैकृतस्तु नादो वाह्यद्रुतादि वृत्तिकाल व्यवस्था प्रकल्पयति । —वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१०२ पृष्ठ ९७,९८

द्रव्याभिघात से, ताल्वादिस्थान में जिह्वादि के अभिघात से कम्प पैदा होता है। कम्प के बाद नाद पैदा होता है। अभिघात कृत वायु के स्पन्दन को कम्प कहते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि जिस तरह ज्वाला से ज्वाला पैदा होती है उसी तरह स्फोट से ध्वनियाँ पैदा होती हैं। कम्प से उत्पन्न नाद के समानजातिक ध्वनियां स्फोट का संस्कार

करती है। उनके बाद प्रकाशित होने वाली उनके अनुपम में भासित होने वाली ध्वनियों को नाद कहते हैं

> द्रव्याभिधानात्प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि ।
> कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः ॥
> अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे ।
> स्फोटादेवापजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ॥

—वाक्यपदीय १।१०६-१०७

वृषभ के अनुसार नाद सूक्ष्म है क्योंकि नाद के भाग परमाणु कल्प हैं (परमाणु कल्पत्वान्नादभागानाम्—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।८८)। नाद के भाग सकल व्योम व्यापी हैं। नाद क्रमवान् है। स्थान और करण (जिह्वादि) के अभिघात क्रमवाले हैं। उनके सहारे अभिव्यक्त नाद भी क्रमवाला माना जाता है। नाद उपसंहृत क्रम के रूप में प्रचयरूप में अनिबन्ध और अभ्यनुज्ञा वृत्तियों के द्वारा स्फोट को द्योतित करता है।

भर्तृहरि के मत में नाद और ध्वनि दोनों से बुद्धि में शब्द का अवधारण होता है। नाद से बुद्धि में जिस उत्कर्ष का आधान होता है उसे भर्तृहरि ने 'अनुगुण संस्कार भावनाबीज' कहा है और अन्त्य ध्वनि से जो उत्कर्ष का आधान होता है उसे 'परिच्छेद संस्कारभावनाबीज वृत्तिलाभप्राप्तयोग्यता' कहा है। संस्कार से तात्पर्य यहाँ शक्ति विशेष से है। शक्ति ही चित्त का संस्कार करती है (शक्तयश्चेतः संस्कुर्वन्ति विशिष्ट जनयन्ति इति संस्कार शब्दोक्ताः।—वृषभ वाक्यपदीय १।८५) विषय बुद्धि के जनक होने के कारण बीज और तद्रूप की भावना होने से उन्हें भावना भी कहते हैं। अन्त्य ध्वनि के बाद शब्द के विशिष्ट स्वरूप का गौ आदि शब्द का अवधारण होता है। इसलिए बुद्धि-संस्कार को स्फोट का परिच्छेदक या परिच्छेदोपाय भी कहते हैं। बुद्धि में स्फोट के स्वरूप के अवधारण की योग्यता आ जाना बुद्धि का परिपाक कहा जाता है। अन्त्य ध्वनि से ऐसी योग्यता-संपन्न बुद्धि में शब्द का आकार (स्वरूप) उद्बुद्ध होता है। इसे ही बुद्धि में शब्द का अवधारण होना कहते हैं।

नाद (ध्वनि) और स्फोट

शब्दनित्यवादियों के मत में नाद और स्फोट में अन्तर यह है कि नाद व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य है। अनित्यवादी प्रथम अभिघातज ध्वनि को शब्द अथवा स्फोट कहते हैं और उससे उत्पन्न होने पर उससे भिन्न ध्वनियों को ध्वनि या नाद कहते हैं।

> प्रथमोऽभिघातजस्तावत्तरः शब्दः तदन्यो नाद इति स्पष्ट एव भेदः

—वृषभ वाक्यपदीय १।१०८

वर्ण

स्थान-करण के अभिघात से ध्वनि पैदा होती है। ध्वनि पृथक्-पृथक् प्रयत्न से पृथक्-पृथक् रूप में अभिव्यक्त होती है। पृथक् प्रयत्न जन्य ध्वनि को वर्ण कहते हैं।

पथक प्रयत्ननिवत्य हि वणमिच्छन्ति आचार्या ।

—काशिका-एप्रौच ।

वण नाम क्या पडा यह स्पष्ट नही है। हरदत्त के अनुसार वणन किये जाने के कारण इसकी सना वण है (वण्यते उपलभ्यते इति वण —पदमजरी ७।४।५३)

कुछ लोगो के अनुसार वण वज से बना है (वर्णो वणात)। न्यासकार के अनुसार वचन शब्द भी वण के अथ म प्रयुक्त होता था। उनके अनुसार भुवनामिका-वचनाऽननासिक १।१।८ म वचन शब्द वणपरक है (उच्यत इति वचना वर्णो वतत)।[२५]

वर्ण की निष्पत्ति के प्रकार

वण की अभिव्यक्ति के विषय म भत हरि ने अनक वादो का उल्लेख किया है। शिक्षासूत्रकारो म कुछ मानत हैं कि आभ्यन्तर प्रयत्न स ऊपर उठाया हुआ प्राणवायु आन्तरिक उष्मा स युक्त होता है। फिर शरीर के भीतर की नाडियो के छिद्रो म स्थित सूक्ष्म शब्दावयवो को प्रेरित करता है। जिस तरह वायु से प्रेरित धूम के अवयव एकत्र होत हैं वसे ही प्राण वायु से प्रेरित शब्दावयव घनीभूत हो जात हैं। फिर किसी विशेष प्रकाश मात्रा के सहारे अन्त स्थित शब्द के बिम्ब को ग्रहण कर वणरूप म अभिव्यक्त होत हैं। अन्यन्त सारूप्य के कारण वण के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप म भेद नही है।

> अन्तर्वर्तिना प्रयत्नेनोध्वमुदीरित प्राणो वायुस्तेजसानुगृहीत शब्दवहास्य शुषिरेषु सूक्ष्मान्धूमसन्तानवत्सहर्ति। स स्थानेषु शब्दघन राहन्यमान प्रकाशमात्रया कयाचिदन्त सनिवेशिन शब्दस्याविभक्त बिम्बमुपगृह्णाति।
>
> —वाक्यपदीय १।११६ की हरिवत्ति म उद्धत

आपिशलीय शिक्षा के अनुसार नाभि प्रदेश से प्रयत्न प्रेरित वायु ऊपर उठती हुई उरस्य कण्ठ आदि स्थानो म किसी स्थान पर टकराती है उसम शब्द की निष्पत्ति होती है

> नाभिप्रदेशात प्रयत्नप्रेरितो वायुरूध्वमाक्रामन उरस्यादीना स्थानानामन्यतम स्थानमभिहन्ति। तत शब्दनिष्पत्ति ।
>
> —वाक्यपदीय १।११६ की हरिवत्ति म उद्धत

किसी दूसरे प्रातिशाख्यकार का मत है कि वायु कोष्ठस्थानगत ध्वनि विशेष (अनुप्रदान) को प्राप्त होती है। वही कठ म पहुँचकर श्वास नाद आदि क रूप म परिणत हो जाती है

> वायु कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते। स कण्ठगत श्वासता नादता वा इत्यादि।
>
> —वाक्यपदीय १।११६ की हरिवत्ति म उद्धत

इस मत के अनुसार कठ क विवत होन पर श्वास और सवत होन पर नाद

---

२५ अभिनवगुप्त ने वाक् तत्व क अन्तरग विवत को नाद और बहिरग विवत को वण माना है — अभिनवभारती, चतुर्थ भाग पृ०४१०

की सृष्टि होती है। इस दृष्टि से श्वास और अनुप्रदान भेद से ... तरह के वर्ण होते हैं। वृषभ के अनुसार यह मत वह्वृचप्रातिशाख्य में शौनक ने व्यक्त किया है

यथा वह्वृचप्रातिशाख्ये शौनकः—वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य विवृते सवृते चापद्यते श्वासतां नादतां च वक्त्रीहायामुभयं चान्तरे तदपीति।

वह्वृचप्रातिशाख्य—वृषभ द्वारा वाक्यपदीय १।११६ की टीका में उद्धृत।

अनुप्रदान शब्द के विभिन्न अर्थों का न्यासकार ने उल्लेख किया है

उपरिवर्तिनो लोऽश्वासनादौ अनुप्रदानमितिकेचिदाचक्षते। वर्णनिष्पत्तेरनु पश्चात् प्रतीयत इत्यनुप्रदानम्। अन्ये तु ब्रुवते अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्रादवत्।

—न्यास १।१।९ पृष्ठ ५७

किसी अन्य प्रातिशाख्य के अनुसार मन से अभिहत कायाग्नि प्राण को प्रेरित करती है। वह प्राणवायु नाभि से उठती है। मूर्धा से जाकर टकराती है। पुनः एक दूसरी उठती हुई वायु में टकराकर क ख आदि ध्वनियों का रूप ग्रहण करती है

मनोभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। स नाभेरूर्ध्वमूर्धनि अभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सपद्यते क इति वा ख इति वा।

—वही उद्धृत

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार जब किसी वस्तु को शब्द द्वारा कहने की इच्छा होती है पहले बुद्धि मन का सयोग होता है। मन कायाग्नि पर आघात करता है। कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु उरःप्रदेश में मन्द्रस्वर करती है और आगे बढ़ती है। कठ स्थान में पहुँचकर मध्यम स्वर करती है और शीर्ष स्थान में पहुँचकर तारस्वर करती है। फिर मूर्धा से टकराकर वह लौट आती है और मुख में विशेष स्थानों में टकराकर विशेष वर्णों को पैदा करती है।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥

—पाणिनीय शिक्षा ६-९

वाक्यपदीयकार ने शिक्षाकारों के विभिन्न मतों की समीक्षा न कर उन्हें किसी न किसी प्रकार मान्य ही माना है —अनिवार्य शिक्षासु भिन्न आगमदर्शन दृश्यमानं सर्व प्रपचेन समर्थयितव्यम्।

—वाक्यपदीय १।११६ हरिवृत्ति पृष्ठ १०८

वायुशब्दत्वापत्तिवाद

किसी दर्शन के अनुसार वायु की शब्दत्वापत्ति होती है। वायु प्रकृतिमात्राया (कृतज्ञ पृष्ठ १) वायु वक्ता के इच्छाजन्य प्रयत्न से क्रियाशील होकर ताल्वादि स्थानों में टकराकर शब्द रूप में परिणत हो जाती है। वायु के वेग से ध्वनि का उद्भूत होना कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वायु शक्तिशाली है। उसके वेग से सारवान वस्तुएँ पर्वत आदि तक विभक्त हो जाते हैं फिर उसके प्रक्षेप से तालु आदि से ध्वनि के प्रकट होने में कोई बाधा नहीं —(वाक्यपदीय १।१०८ ११०)।

अणु शब्दत्वापत्तिवाद

भर्तृहरि ने एक ऐसे दर्शन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार अणु ही शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं। शब्द परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सर्वशक्तिशाली हैं। संयोग और विभाग उनकी क्रियायें हैं। जब किसी निमित्त से उनका संयोग हो जाता है वे परिणत होने लगते हैं। जब अलग होते हैं परमाणु की छाया में अवस्थित रहते हैं। यद्यपि अणु शब्दत्वापत्ति शक्ति-युक्त हैं फिर भी प्रयत्न से संह्रियमाण होकर ही वे शब्दरूप को प्राप्त करते हैं। शब्दरूप में परिणत होने के कारण उन अणुओं को शब्द कहते हैं।

अणु के वाक् तत्त्व में बदलने का सिद्धान्त जैनदर्शन का है

आहतास्त्वाहु सूक्ष्म शब्दपुद्गल आरब्धशरीर शब्द स्वप्रभवभूमे निष्क्रम्य प्रतिपुरुष कर्णमूलमुपसर्पतीति—न्यायमंजरी, चौखम्बा संस्करण १९३६, पृष्ठ १९८

शब्द परमाणु श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होकर शब्दरूप में परिणत हो जाते हैं। इस सिद्धान्त को बौद्धदर्शन भी मानता है।

शब्दपरमाणव एव सहता श्रोत्रेन्द्रियग्राह्या शब्दाकारा।

—जिनेन्द्रबुद्धि प्रमाणसमुच्चय टीका पृष्ठ ७७

ज्ञान शब्दत्वापत्तिवाद

कुछ विचारकों के अनुसार ज्ञान ही शब्द रूप में परिणत हो जाता है। ज्ञान सूक्ष्म है। उसमें और सूक्ष्म शब्दतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञानात्मा और वागात्मा एक ही चीज है। सूक्ष्मता के कारण अतीन्द्रिय है। ज्ञान जब अपने को स्थूल रूप में व्यक्त करना चाहता है शब्द रूप में उसका विवर्त होने लगता है और वह श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने लगता है। वह पहले मनोभाव को प्राप्त होता है। पुनः आन्तरिक ऊष्मा से उसका पाक होता है जिससे उसमें विषय के ग्रहण की शक्ति आ जाती है। फिर वह प्राण वायु में प्रवेश करता है। प्राण वायु अन्तःकरण के तत्त्व से युक्त होती है। अर्थात् मनोमयरूप धारण करती है और जिस तरह इंधन अग्नि के संयोग से इंधनरूप को छोड़ कर अग्निमय बन जाता है उसी तरह प्राण-वायु भी अपना स्वरूप छोड़ कर मनोमय हो जाता है। पुनः भिन्न भिन्न श्रुतियों (विशेष ध्वनियों) में अपने स्वरूप को विभक्त

करती हुई प्राणवायु वर्णों का व्यक्त कर वर्णों में ही नाद हो जाता है। प्रधान प्राण वायु वर्ण के रूप में अभिव्यक्त हो उठती है। इसलिए नाद की विवृत्ति में शब्द प्रकाशक माना जाता है। (वाक्यपदीय १।११२-११६)

कैयट के अनुसार 'आद्यन्तावेकवत्' १।४।२६ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने भी नानाशब्दापत्तिवाद का खण्डन किया है। महाभाष्यकार ने अध्यापक ज्ञान के उपाध्याय के ज्ञान को सन्ततरूप से और उसे ज्योति की तरह माना है। जिस तरह ज्योति लगातार अविच्छिन्न रूप में निकलती हुई भिन्न भिन्न होती हुई भी सादृश्य के कारण एक ही सी सन्तान में जान पड़ती है उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भी भिन्न भिन्न हैं और भिन्न भिन्न शब्द स्वरूप को ग्रहण करते हैं और इसलिए उसे सतत कहते हैं

यथा ज्वालारूप ज्योति अविच्छेदेन उत्पद्यमान सादृश्यात् तत्त्वेन अध्यवसीयमानं सन्ततं तथैव उपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्नशब्दरूपताम् आपद्यमानानि सन्ततत्वेन उच्यन्ते। ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य।

—कैयट महाभाष्य १।४।२६

एक दूसरे प्रवाद के अनुसार शब्द नित्य (अजध्वनि) है सूक्ष्म होने के कारण उसकी स्वतन्त्र उपलब्धि नहीं होती। जिस तरह वायुपरमाणु व्यञ्जक या निमित्त के अभिघात से महत्ता को प्राप्त होते हैं वैसे ही सूक्ष्म शब्दपरमाणु करण (आभ्यन्तर प्रयत्न) के अभिघात से संह्रियमाण होकर शब्दरूप में व्यक्त होते हैं।

—(वाक्यपदीय १।११७)

ध्वनि या शब्द की निष्पत्ति के बारे में भर्तृहरि ने एक और मत का निर्देश किया जो उनका अपना जान पड़ता है। निष्पत्ति की दृष्टि से शब्द दो तरह का है। प्राणाधिष्ठान और बुद्धि अधिष्ठान। प्राणमात्राशक्ति और बुद्धिमात्राशक्ति दोनों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और तब अर्थ का आभास होता है। बुद्धि शक्ति से प्राण शक्ति का अनुग्रह (सहभाव) होता है। वह प्राण में विशेष शब्दाकार का ढाल देती है जिससे प्राण विशिष्ट स्थान पर टकराकर विशिष्ट ध्वनि या वर्ण को पैदा करता है। यदि बुद्धिशक्ति से प्राण का अनुग्रह न हो—उसमें किसी विशेष शब्द की भावना न हो तो प्राणशक्ति के आघात से केवल अव्यक्ताक्षर ध्वनि पैदा होती है। प्राणशक्ति के द्वारा भी बुद्धिशक्ति का अनुग्रह होता है। क्योंकि बुद्धि शब्दाकारात्मक प्राणशक्ति के बिना शब्दरूप में परिणत नहीं हो सकती। प्राणशक्ति ऊपर उठते हुए जिस वर्ण विषयक प्रयत्न से प्रेरित रहती है उस स्थान पर जाकर चोट करती है। इस तरह से वर्ण की निष्पत्ति होती है। वह विवर्त के रूप में पृथ्वी, कनक, न्यग्रोध, धान्य आदि भेद को ग्रहण करता है और शब्द तत्त्वरूप प्रतिभा में तो वास्तव में इन भेदों की छाया ही (अनुराग) रहती है

शब्दः खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्च स [illegible] द्वाभ्यां प्राणबुद्धिमात्राशक्तिभ्यां प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरर्थं प्रत्याययति। तत्र प्राणो बुद्धिं तत्त्वेनान्तराविष्टः। स घोषमभिप्रवृत्तो ज्वालावद्वर्णस्थानेषु आक्षेपकप्रयत्नानुविधायी प्रतिविघातविवर्तेन नित्यमन्दोपग्राहिणा विवर्तते। स च संसृष्टप्राप्तशक्ति

विवत पृथिवीक्लल यग्रोधधानादिवदभेदमुपगह्णाति। भेदानुरागमात्र च परस्मि नभेदे शब्दात्मनि सनिवेशयति ॥११८॥

—वाक्यपदीय, हरिवत्ति १।११८ पष्ठ १०४

वर्ण सावयव और निरवयव

प्राचीन वैयाकरणा न वण के सावयव और निरवयव पक्ष पर भी विचार किया है। यद्यपि सावयव और निरवयव दोना रूप म वण पर विचार किया गया है परन्तु सिद्धान्तरूप म निरवयव पक्ष को अधिक मान्यता दी गई है। भत हरि ने वण के लिए विभाग शब्द का भी प्रयोग किया है। विभक्त किए जाने के कारण वर्णों का विभाग कहते है। (**विभज्यन्ते इति विभक्ता वर्णा**) और कही कही वण के अवयवों के लिए मात्रा शब्द का भी व्यवहार किया है। निरवयववणपक्ष म मात्रा विभाग कल्पित होते ह **ततश्चाय निरवयवेषु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसाय** —वाक्यपदीय हरिवत्ति १।८६)।

भत हरि न वणतुरीयाश (वाक्यपदीय १।६३ हरिवत्ति) और तुरीयतुरीयक (वाक्यपदीय १।७३ हरिवत्ति) शब्दो का व्यवहार किया है जो वण के सावयव पक्ष म ही सार्थक हो सकते है। वपभ क अनुसार तुरीयतुरीयक का अथ वण की षोडशीकला है (**तुरीयतुरीयमिति चतुथस्य चतुर्थो भाग षोडशी कला** पष्ठ ३६)। व्याकरण सम्प्रदाय म वण की चतुथ या षोडशी कला प्रसिद्ध नही है। परन्तु भत हरि के समय म तन्त्रो म इस तरह के विचार प्रारभ हो गय थ जिसका प्रभाव भत हरि पर पडा है। वण की षोडश कलाओ का उल्लेख शवागम म मिलता है

> **असौ चाकाराद्या स्थितिमन्त प्राणे तुटिषोडशकविस्थित्या एका तुटि सन्धी कश्यार्धार्धभागेन प्रलयोदययोर्बहिरपि पचदशदिनात्मककलारूपता सन्धत इति तिथय कलाश्चोक्ता षोडश्येव च कला विसर्गात्मा।**
>
> —परात्रिंशिका पष्ठ २००, २०१

कश्मीर शवागम म विसग हकार का आधा माना जाता है और विसग उसका भी आधा। वण जब निरवयव है उपयुक्त मत कस ठीक है? इसके उत्तर म अभिनव गुप्त का कहना है कि सब कुछ अनवयव है क्योकि सब एक चिन्मय से अवभासित है। तथापि स्वातन्त्र्य के कारण ही अवयव क अवभास होने पर भी अनवयवता ही अविनश्वरी (अनपायिनी) है। एस ही वण के विषय म भी समझना चाहिए। वण की उत्पत्ति हो रमा है। अन्यथा दन्त्य ओष्ठ्य कण्ठ्य, तालव्य आदि वर्णो म क्रम स प्रसारित होन वाली वायु कस कठ का हनन कर तालु पर आघात करती है। यदि दोनो स्थान पर युगपत आघात मान तो दोना ध्वनियां समकालिक हो जाएँगी और कण्ठ-स्थान म उद्बुद्ध ध्वनि तालव्य जान पडन लगेगी। पश्चात प्रतीयमान होन क कारण श्वास और नाद को अनुप्रदान कहत हैं। जिस तरह द्विमात्रिक त्रिमात्रिक के गभ म एक मात्रिक द्विमात्रिक पड ही रहत है उसी तरह मात्रिक म भी अधमात्रा आदि का योग मानना चाहिए। इस तरह वण म षोडश कलाएँ सभव हैं। य ही कलाएँ ह्लादनामात्र चित्तवृत्ति के अनुभावक होकर स्वर कही जाती है

वर्ण सार्थक और निरर्थक

वयाकरण वण को साथक ग्रौर निरथक दाना मानत हैं। जहाँ ग्र वय व्यतिरेक के ग्राधार पर वण साथक जान पडता है वहाँ वह ग्रथवान् है। ग्र यत्र ग्रथहीन माना जाता है। वण के ग्रथयुक्त हान का मुख्य ग्राधार तक है। पद जा वण समुदाय है साथक देखा जाता है। यदि वर्णो का सघात साथक है तो उसका एक ग्रवयव, वण भी साथक है। भाष्यकार न इसक समथन म कहा है कि यदि एक तिल म तेल निकल सकता है तो एक पसेरी तिल म भी तेल निकल सकता है। यदि एक सिकता-कण म तेल ग्रसभव है तो बालू की ढेर मे भी तल ग्रसभव है। ग्रत यदि वण-समुदाय साथक है ता प्रत्यक वण भी ग्रथयुक्त होगा। इसक ग्रतिरिक्त एक एक ग्रक्षर वाले धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय ग्रौर निपात साथक देखे जा सकत है। वण व्यत्यय (एक वण के स्थान पर दूसरा वण ग्रा जाना) स दूसरा ग्रथ देखा जाता है ग्रौर एक पद स एक वण क हटा दने म ग्रथ बदल जाता है। इन कारणो से वण की साथकता सिद्ध होती है।

वण का निरथक मानन वाला का कहना है कि प्रत्यक वण का ग्रथ ग्रनुभव म नही ग्राता इसलिए वण का साथक नही मानना चाहिए। वण क व्यत्यय (एक पद म वण का स्थान परिवतन) ग्रपाय (लाप) उपजन (ग्रागम) ग्रौर विकार (ग्रादश) हाने पर भी कभी-कभी वही ग्रथ देखा जाता है। इसस भी वण की ग्रथहीनता द्योतित हाती है। यदि प्रत्यक वण साथक हा ग्रौर उदाहरण के लिए कूप सूप यूप म विशेष ग्रथ क स ग्रौर य का मान लिया जाय तो उप शब्द व्यथ हो जाता है। इसलिए प्रत्यक वण म ग्रथवत्ता न मान कर वर्णो क सघात म ही विशिष्ट ग्रथ की बोधकता शक्ति माननी चाहिए।

> न कूपसूपयूपानामन्वयोऽस्य विद्यते।
> ग्रतोऽर्थान्तरवाचित्व सघातस्यैव गम्यते॥
>
> —वाक्यपदीय २।१७० (लाहौर सस्करण)

ग्रभिनवगुप्त न वण की वाचकता का समथन करत हुए कहा है कि सकार परमानन्द ग्रमृत स्वभाव वाला है। वह ग्रपने ग्राविभाव क साथ सम्पूण वण समुदाय का ग्राक्षेप कर उल्लसित हाता है। देखा जाता है कि दूसरे के ग्रभिप्राय ग्रौर इगित का शीघ्र ही समझ जान वाले व्यक्ति गगन गवय गो ग्रादि शब्दो के ग्रादि म ग्रथवा बीच म स्थित ग ग्रादि वण या मात्रा म ही ग्रभीष्ट समझ जात है—ग्रथात ग सुनत ही वक्ता का ग्रभिप्राय गगन से है एसा समझ जात हैं—उतन मात्र स सत्य का सकेत हो जाता है। वस्तुत प्रत्यक वण म वाचकता हाती है। इसीलिए कहा है—

> शब्दाथप्रत्ययाना इतरेतराध्यासात सकर। तत प्रविभागसयमात सवभूत रुतज्ञानम।
>
> —यागसूत्र ३।१७

ग्र च ग्रादि एक वण वाल निपात विभक्ति ग्रादि वाचक देखे जात हैं। व मायापद म रहत हुए भी पारमार्थिक प्रमातपद म लीन रहत है। ग्रौर इच्छा स परा-

मुख्य अन्तर्भूत कभी निषेध के रूप में और कभी समुच्चय के रूप में नियम या समुच्चय के अर्थ को व्यक्त करते हैं। भर्तृहरि का भी ऐसा अभिप्राय है जब वे वाक्य-विचार के प्रसंग में कहते हैं—

पदमात्र पृथक्सर्व पदं साकाङ्क्षमित्यपि (वाक्यपदीय २।२)। इसलिए वेद-व्याकरण में शैवागमों में मन्त्र दीक्षा आदि के सन्दर्भ में अक्षरवर्ण के साम्य पर निर्वचन किया जाता है। **तथा च वेदव्याकरणे पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु मन्त्रदीक्षादिविषयेषु अक्षरवर्णसाम्यात् निर्वचनमुपपन्नम्।**

—परात्रिंशिका २३९ २६१

शब्द

शब्द शब्द का प्रयोग नदी घोष आदि के रूप में भी देखा जाता है। किन्तु व्याकरण दर्शन में विचार के क्षेत्र में शब्द शब्द सदा उस ध्वनि के लिए आता है जिसके उच्चारण से किसी विशेष अर्थ का ज्ञान होता है। भर्तृहरि ने ऐसे शब्दों के लिए उपादान शब्द का प्रयोग किया है। वाचक शब्द को उपादान कहते हैं। क्योंकि इससे अर्थ का ग्रहण होता है अथवा उसमें अर्थ अपने स्वरूप में अध्यारोपित होता है अथवा वाचक शब्द स्वतः मानो अर्थाकार हो जाता है क्योंकि वक्ता अर्थ के आकार से पहले समाविष्ट होकर शब्द का उच्चारण करता है इसलिए मानो शब्द स्वयं अर्थमय हो जाता है।

संग्रह में उपादान का विश्लेषण दो-तीन तरह से किया गया है। अव्युत्पत्तिपक्ष में शब्द अपने स्वरूप को ही निमित्त मान कर अर्थ को जताता है। इसलिए वह उपादान है वाचक है। व्युत्पत्तिपक्ष में वह अर्थ को ध्यान में रखकर निमित्त होता है शब्द की व्युत्पत्ति का प्रयोजक होता है। गो शब्द व्युत्पत्तिपक्ष में गमनशील अर्थ रखता है। इसलिए गमनशील गोजातिरूप अर्थ का वह निमित्त होता है। इस दृष्टि से वह स्वरूप से भिन्न है और उपादान अर्थात् मूल कारण है। कुछ लोगों के मत में उपादान द्योतक होता है क्योंकि यह वह है ऐसा व्यपदेश के द्वारा सम्बन्ध निर्णय में समर्थ माना है।

एवं हि संग्रहे पठ्यते—वाचकम् उपादानं स्वरूपवान् अव्युत्पत्तिपक्षे। व्युत्पत्तिपक्षे स्वर्थाविहितं समाश्रितं निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम्। उपादानं द्योतकम् इत्येके। सोऽयमिति व्यपदेशेन सम्बन्धोपयोगस्य शक्यत्वात् इति।

संग्रह वाक्यपदीय १।८८ हरिवृत्ति में उद्धृत

वृषभ के अनुसार प्रयोजक उपादानं—ऐसा पाठ होना चाहिए।

भर्तृहरि के मत में शब्द को उपादान इसलिए कहते हैं कि उसमें समुदाय वर्णसमूह की उपादेयता होती है। स्वरूप पक्ष में अवयवों से कार्य नहीं होता इसलिए वर्णों का अलग अलग ज्ञान भी अपेक्षित नहीं होता।

उपादेयो वा समुदाय उपादानम्। तथाहि स्वरूपपदार्थकेषु अवयवानामनुपादेयत्वाद् विभागानामप्रतिपत्तिः।

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।८८

उपादान शब्द दो तरह का होता है। यह भेद कल्पित है वास्तविक नहीं। शब्द के उच्चारण के बाद शब्द के स्वरूप और उसके अर्थ के अवधारण में दो तरह की क्रिया देखी जाती है। इस आधार पर दो तरह के उपादान शब्दों का अनुमान किया जाता है। एक प्रत्यायन का निमित्त होता है और दूसरा अर्थ का प्रत्यायक, प्रतिपादक होता है। पहला प्रत्यायन का निमित्त इसलिए माना जाता है कि ये प्रत्यायन के आश्रय होते हैं और श्रुति द्वारा शब्दार्थ की प्राप्ति प्रत्यायन द्वारा ही होती है। दूसरे उपादान को प्रतिपादक या प्रत्यायक इसलिए कहते हैं कि वह केवल प्रत्याय्य परतन्त्र होता है। स्थान-करण के अभिघात से शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर शब्द में अर्थ के आकार का प्रतिबिम्बिक संक्रमण हो गया रहता है शब्द अर्थाकार सा हो गया रहता है और उसमें अर्थप्रकाशन की शक्ति की पूर्णता आ गई रहती है। निमित्त और प्रतिपादक में थोड़ा भेद है। कुछ लोग लघ्वानुसंहार का निमित्त और उपजनितक्रम को प्रतिपादक या प्रत्यायक मानते हैं। क्योंकि एक पद में स्थित वर्ण अलग अलग रूप में केवल निमित्त होते हैं। परन्तु अन्तिम वर्ण के उच्चारण होते होते समुदित रूप में एकाकार बुद्धि में जब भासित हो उठते हैं वाचक कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में अक्रम को निमित्त और क्रमवान को प्रतिपादक कहते हैं। वक्ता की दृष्टि से अक्रम क्रमवान का निमित्त होता है। परन्तु श्रोता की दृष्टि से यह क्रम उलट जाता है। अर्थात क्रम अक्रम का निमित्त होता है। क्योंकि उच्चरित शब्द क्रमवान के रूप में श्रोता तक पहुँचता है परन्तु उस क्षण श्रोता की प्रत्याय्य प्रत्यायक शक्ति अक्रमरूप में ही रहती है। कुछ प्राचीन आचार्य निमित्त और प्रतिपादक में स्वभावतः भेद मानते हैं। जो लोग कार्य-कारण में भेद वाले सिद्धान्त के अनुगामी हैं उनके अनुसार निमित्त और प्रतिपादक में भेद कार्य-कारण में भेद के अनुसार है। कुछ लोगों के मत में निमित्त और प्रतिपादक एक ही शब्दात्मा के दो पहलू हैं। दो तरह की शक्तियों में दो तरह की बुद्धि भावना के हो जाने के कारण एक ही दो रूप में दिखाई देता है। कुछ आचार्य शब्दाकृति को निमित्त और शब्द-व्यक्ति को प्रतिपादक मानते हैं। इसके विपरीत कुछ चिन्तक शब्द-व्यक्ति को निमित्त और शब्दाकृति को वाचक मानते हैं। पुनः कुछ आचार्य शब्दाकृति और शब्द-व्यक्ति में भेद और कुछ आचार्य उनमें अभेद मानते हैं।

उपादान शब्द निमित्तरूप में भी स्वरूप और पररूप का प्रकाशक [illegible]। जैसे अरणि में बीजरूप से स्थित प्रकाश दूसरे प्रकाश का कारण होता है [illegible] में व्यक्त होता है उसी तरह बुद्धि में बीजरूप में स्थित शब्द [illegible] करण के अभिघात से ध्वनिरूप में व्यक्त होकर स्वरूप और पररूप [illegible] है। भर्तृहरि के मत में बुद्धि में विभिन्न शब्दों की भावना रहती है [illegible] स्पष्टता और मुख्यता उसका परिपाक है। विवक्षा होने पर वह [illegible] प्रकट होता है। ध्वनिभेद से उसके आकार में भेद और [illegible] है। वक्ता की दृष्टि से पहले शब्द का बौद्धिक ग्रहण होता है [illegible] पहले उस शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध स्थापित कर [illegible] है। [illegible]

तरह अभ्र कणों के संघात से उनकी स्थूल अभिव्यक्ति होती है वैसे ही नाद परमाणुओं के संघात से शब्द की स्थूल अभिव्यक्ति होती है। शब्द श्रोत्रग्राह्य होता है। शब्द अपने आप में अविकृत है जबकि नाद या ध्वनि विक्रियाधर्मा है। नाद के रूप में विभक्त होने से उसमें नादगत गुणों का क्रम आदि का आभास होता है और वह विकार को प्राप्त होता हुआ जान पड़ता है। जैसे जलगत चन्द्र प्रतिबिम्ब जल की चंचलता से चंचल जान पड़ता है परन्तु वस्तुतः उसमें चंचलता नहीं है। उसी तरह अभिन्नात्मा शब्द भी भेदमयी नादवृत्ति के कारण विचित्र अवस्था को प्राप्त हुआ जान पड़ता है।

ज्ञान में ज्ञान का स्वरूप और ज्ञेय का स्वरूप दोनों दिखाई देते हैं। ज्ञान ज्ञेय परतन्त्र होता है। और ज्ञान के स्वरूप का स्मरण होता है। इससे ज्ञान के स्वरूप का अनुभव अवश्य होता है। इसी तरह शब्द में शब्द के स्वरूप और अर्थ स्वरूप दोनों शामिल होते हैं। जैसे ज्ञान ज्ञेय परतन्त्र है वैसे शब्द भी अभिधेय परतन्त्र है। अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये शब्द अर्थ और अपने स्वरूप दोनों को व्यक्त करता है। व्याकरण की दृष्टि में अर्थ में प्रत्यय आदि न हो सकने के कारण स्वरूप को प्रधानता दी जाती है। (वाक्यपदीय १।५०।५१)।

भर्तृहरि ने शब्द की अभिव्यक्ति में काम करने वाली क्रमशक्ति का बार बार उल्लेख किया है। शब्द पहले क्रमवान होता है। शब्द स्वतन्त्र रूप में अपने अवयवों से परिपूर्ण है। किन्तु जब वक्ता की बुद्धि में लीन रहता है उसके सभी भाग एक में मिल गए रहते हैं। सभी अवयवों का उपसंहार रहता है वह अक्रम हो गया रहता है। किन्तु विवक्षा जगने पर प्रथम रूप में वर्तमान शब्द पद वाक्य आदि के धर्म को ग्रहण करता हुआ अपने प्रत्येक अवयव को व्यक्त करता हुआ क्रमशः क्रमवान का रूप लेता है। यह व्यापार जिस शक्ति के द्वारा होता है उसे क्रमशक्ति कहते हैं। जिस तरह वक्ता के शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में शब्द क्रमशः क्रमवान अक्रम और पुनः क्रमवान होता है उसी तरह श्रोता की दृष्टि से भी अभिव्यक्ति के उपयुक्त तीन रूप बन जाते हैं। श्रोता जब शब्द सुनता है शब्द क्रम रूप में जान पड़ता है, पूरा सुन लेने पर शब्दों के अवयव एक में मिल जाते हैं और विभाग मिट सा जाता है क्रम का ज्ञान मन्द पड़ जाता है। पुनः दूसरों को बतलाते समय शब्द क्रमवान हो उठता है। ध्वनि के सहारे अभिव्यक्ति होने के कारण शब्द का क्रमरूप में जान पड़ना स्वाभाविक है। वक्तृबुद्धिनिविष्टत्व के रूप में शब्द का अविभक्तक्रम के रूप में होना भी अस्वाभाविक नहीं है किन्तु व्यक्त पूर्व की अवस्था में भी शब्द का क्रमवान होना विलक्षण है।

तेज स्वयं ग्राह्य भी होता है और ग्राहक भी होता है। दीप में घट का ग्रहण होता है और स्वयं प्रकाश का भी। शब्द भी एक तरह का मन प्रकाश है। इसलिए उसमें भी दो तरह की शक्तियाँ हैं। वह प्रकाशक है। वह प्रकाश्य है। वह कारण भी और कार्य भी है

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥ — वाक्यपदीय १।३२

भौतिक तेज म शब्द तेज में अन्तर यह है कि भौतिक प्रकाश
वस्तु उस प्रकाश से सर्वथा भिन्न हो सकती है जैसे दीप के प्रकाश से
शब्द प्रकाश से प्रकाशित वस्तु मन हरि के मत में उस प्रकाश से भि   न
पडती है पर वस्तुत भिन्न नहीं है।

प्रथमन्तर्मात्रा शब्दोऽनपायिन्यपायिनोभ्या द्वाभ्या शब्दशक्तिभ्यामनुगत । तस्यन-
सिन्नात्मन्यविभक्तमपि प्रकाशकत्वे प्रकाश्यत्वे विभक्तमिव प्रत्ययमासते ।।

—वाक्यपदीय २।३२ पर हरिवृत्ति, लाहौर सस्करण

जब भर्तृहरि शब्द और अर्थ (प्रकाशक और प्रकाश्य) की अभिन्नता की
चर्चा करते हैं उस समय वे उस दर्शन को मानते जान पडते हैं जो अर्थ (वस्तु) को
बुद्धि-सत्तात मानता है। बिना बौद्धिक अर्थभावना के बाह्य अर्थ-व्यवहार सम्भव
नहीं है। बुद्धि सत्तात अर्थ बुद्धिसत्तान्त शब्द का एक पहलू है दोनों एक ही तत्व के
दो रूप हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थाव पृथक्स्थितौ ।

न हि प्रतिलब्धाय रूपविपर्यासा बुद्धिमात्रेण बाह्य वस्तु व्यावहारिकोऽव्यय
क्रियासु समर्थ भवति। तस्माद् तनिविष्ट रूपेणार्थ न सर्वो व्यवहार क्रियते।

—वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति ला० स० पृष्ठ २८

वाक्यपदीयकार के मत में ध्वनि के उच्चारण और शब्द स्वरूप के परिमाण क
बीच में कुछ शब्द ज्ञान के सहायक साधन है। वे कई हैं पर उनका स्वरूप समझना
कठिन है। सवन्न और प्रत्यक्ष के बीच में जैसे कुछ मानसिक क्रिया होती है वैसे
ध्वनि सवन्न और शब्द प्रत्यक्ष के बीच भी अवश्य होती होगी।

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।।

शब्द के आकार-ग्रहण का प्रकार

करण को मानते हैं। इस तरह के बौद्धिक अवधारण को वार्तिककार ने (धर्मकीर्ति और उनके व्याख्याता प्रज्ञाकर गुप्त) 'चित्र बुद्धि' कहा है

अवधारणापरपर्याय ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यात करणाधिकरणमिति साख्या मन्यते। एतच्चावधारण चित्रबुद्धिरिति वार्तिककारीया मन्यन्ते।

—स्फोटसिद्धि टीका पृ० १३२

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण को समस्त वर्ण विषयक स्मरण माना है। उसके मत में श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिज्ञान ही अवधारण है

अवधारण समस्तवर्ण विषय स्मरणमित्याचक्षते। परमार्थतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवतत्। ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्वात्। न अन्यथा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति।

—चारुदेव शास्त्री द्वारा वा० प० १।८५ की टिप्पणी में उद्धृत पृ० १३३

भर्तृहरि के अनुसार शब्द का आकार क्रमशक्ति के द्वारा पाँच भागों में निम्न रूप में वक्ता और श्रोता दोनों में मूर्तमान होता है। शान्त रूप में, उच्च रूप में, उपांशु रूप में, परमोपांशु रूप में और सन्निहितक्रम रूप में। इनमें शान्त और उच्च अभिव्यंजक ध्वनियों के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात आदि की शक्ति पर निर्भर करता है। बलाघात के तार या मन्द से ध्वनि भी उच्च या शान्त रूप में भासित होगी। उच्च ध्वनि के विषय में महाभाष्य (१।२।२९) में **आयामो दारुण्यम् अणुता खस्येति उच्चैः कराणि शब्दस्य** लिखा है। गात्रों का निग्रह (स्तब्धता) आयाम है। स्वर की रूक्षता (अस्निग्धता) दारुण्य है। कण्ठ की संवृतता अणुता है। ये सब शब्द के उच्च करण हैं। नीच ध्वनि के विषय में वहीं लिखा है—**अन्ववसर्गो मार्दवम् उरुता खस्येति नीचैः कराणि शब्दस्य।** गात्रों की शिथिलता का नाम अन्ववसर्ग है। स्वर की स्निग्धता मार्दव है। कण्ठ की महत्ता उरुता है (कण्ठविवर के महत् होने के कारण वायु शीघ्र ही निकल जाती है। फलतः गलावयव शुष्क न हो पाते हैं और स्निग्ध बने रहते हैं—न्यास १।२।३०)। महाभाष्यकार के अनुसार उर, कण्ठ और शिर के समान प्रत्येक पर भी उच्च नीच भाव अवस्थित है। कैयट के मत में प्रत्येक का अर्थ स्थान है। शब्द (वक्ता) के तालु आदि स्थानों में जो ऊर्ध्व और अधरभाग में युक्त है, ऊर्ध्व भाग में निष्पन्न ध्वनि उच्च (उदात्त) है और अधर भाग से निष्पन्न नीच (अनुदात्त) है। उच्च और नीच शब्द ऊर्ध्व और अधरभाग में उत्पन्न होते हैं। षड्ज आदि स्वर विशेष की तरह उच्च-नीच का अनुभव भी अभ्यासगम्य है। (कैयट महाभाष्य १।२।२९ ३०)। उपांशु शब्द की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें प्राणशक्ति का सर्वथा सद्भाव तो रहता है किन्तु दूसरा व्यक्ति उस अवगणज्य ध्वनि का ग्रहण नहीं कर सकता है। वह सूक्ष्म होती है और दूसरे से असंवेद्य होती है

तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्यपि यत्र शब्दरूप परस्मैवेद्य भवति तदुपांशु।

—वाक्यपदीय १।१४२ हरिवृत्ति, लाहौर संस्करण पृ० ९३

जब शब्द प्राणशक्ति के सहारे से रहित होकर केवल बुद्धि में स्थान ग्रहण करता है और

बुद्धि शक्ति में ही संचालित रहता है उस अवस्था को परमाणु शब्द से द्योतित करते हैं—

> अन्तरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादान एव शब्दात्मा तत परमोपांशु।
>
> —वाक्यपदीय १।१६ हरिवृत्ति पृ० १७।

अव्यक्त शब्द में आरोपित क्रम तो बुद्धि द्वारा साकार तो होता है परन्तु अभिव्यञ्जक किसी भी निमित्त से उसका सम्पर्क नहीं होता वह निष्पन्द पर बुद्धिग्राह्य क्रममय रहता है। उस अवस्था को प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं

> यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्दे ध्यारोपित हि शब्दाना क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम्।
>
> —वही पृ० १८।

इससे परे भी एक अवस्था होती है। बुद्धि में शब्द जब क्रमरहितरूप में अवस्थित रहते हैं, सर्वथा उसमें लीन हो गए रहते हैं वे अनिर्वचनीय से होते हैं और व्याख्यान शक्ति से परे हैं

> शब्दाना क्रमरूपोपसंहार विषयाया बुद्धावसंप्रख्यात तत्त्वमिव प्रतिपद्यमाना यामारभ्यते शब्दातीतो व्यवहार।
>
> —वही पृष्ठ १७

विवक्षा होने पर प्रवक्ता का शब्द बुद्धि में प्रयत्न से प्राण में, जिह्वेन्द्रिय में क्रमशः व्यापारित होता हुआ व्यक्त होता है और श्रोता को भी क्रमरूप में भासित होता है।

अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीर्घता परिमाण है। इसलिए गुण है। द्रव्य के समवायी है। शब्द तो एक दृष्टि से स्वयं गुण है इसलिए उसमें अल्पता या महत्ता (दीर्घता) कैसे सम्भव है? दूसरे शब्दों में अल्पत्व और दीर्घत्व मूर्त पदार्थ के धर्म है। शब्द तो अमूर्त है। अतः शब्द अल्प या महत् कैसे कहा जा सकता है? भर्तृहरि ने इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया है। पहला तो यह कि शब्द अल्प या महत् उपचार (लक्षणा) के कारण कहा जाता है। एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है। एक पर्वत बड़ा कहा जाता है क्योंकि वह अधिक स्थान घेरता है। इस सादृश्य के सहारे जो शब्द कम स्थान में फैलता है वह अल्प और जो दूर तक फैलता है उसे महान या दीर्घ कहते है। शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है। दूसरा यह कि व्याकरणदर्शन लोकगत व्यवहार को आधार मानकर चलता है। सर्वत्र अर्थव्यवस्था का कारण लोक प्रसिद्धि है। लोक को छोड़ देने पर पदार्थ व्यवस्था के निर्णय में कठिनाई पड़ता है। क्योंकि तर्क अनवस्थित है उसका निश्चय डावाडोल है और शास्त्रों में सिद्धान्त विषयक परस्पर मतभेद पाया जाता है। इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है। लोक में शब्द को अल्प और महत् शब्द से व्यक्त करते हैं। अतः शब्द को अल्प या महान् कहा जाता है (वाक्यपदीय १।१०४, हरिवृत्ति और वृषभ टीका)।

करण को मानते हैं। इस तरह के बौद्धिक अवधारण को वार्तिककार ने (धर्मकीर्ति और उनके व्याख्याता प्रज्ञाकर गुप्त) चित्र बुद्धि कहा है

> अवधारणापरपर्यायं ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यात् करणाधिकरणमिति सांख्या मन्यन्ते। एतच्चावधारणं चित्रबुद्धिरिति वार्तिककारीया मन्यन्ते।
>
> —स्फोटसिद्धि, टीका पृ० १३३

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण को समस्त वर्ण विषयक स्मरण माना है। उसके मत में श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिमाण ही अवधारण है

> अवधारणं समस्तवर्ण विषयं स्मरणमित्याचक्षते। परमार्थतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवतत्। ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्वात्। न अन्यथा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति।
>
> —वासुदेव शास्त्री द्वारा वा० प० १।८५ की टिप्पणी में उद्धृत पृ० १३३

भर्तृहरि के अनुसार शब्द का आकार स्पन्दविवर्त द्वारा पाँच भागों में निम्न रूप में वक्ता और श्रोता दोनों में मूर्तमान होता है। नीच रूप में उच्च रूप में उपांशु रूप में परमोपांशु रूप में और सन्निहितक्रम रूप में। इनमें नीच और उच्च अभिव्यंजक ध्वनियों के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात आदि की शक्ति पर निर्भर करता है। बलाघात के तार या मन्द से ध्वनि भी उच्च या नीच रूप में भासित होगी। उच्च ध्वनि के विषय में महाभाष्य (१।२।२९) में **आयामो दारुण्यम् अणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य** लिखा है। गात्रों का निग्रह (स्तब्धता) आयाम है। स्वर की रूक्षता (अस्निग्धता) दारुण्य है। कण्ठ की संवृतता अणुता है। ये सब शब्द के उच्च करण हैं। नीच ध्वनि के विषय में वहीं लिखा है—**अन्ववसर्गो मार्दवम् उरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य**। गात्रों की शिथिलता का नाम अन्ववसर्ग है। स्वर की स्निग्धता मार्दव है। कण्ठ की महत्ता उरुता है (कण्ठविवर के महत् होने के कारण वायु शीघ्र ही निकल जाती है। फलतः गलावयव रूक्ष न हो पाते हैं और स्निग्ध बने रहते हैं—न्यास १।२।३०)। महाभाष्यकार के अनुसार उरः कण्ठ और शिर के समान प्रयत्न पर भी उच्च नीच भाव अवस्थित है। कैयट के मत में प्रयत्न का अर्थ स्थान है। जब (वक्ता) के तालु आदि स्थानों में जो ऊर्ध्व और अधरभाग में युक्त हैं ऊर्ध्व भाग से निष्पन्न ध्वनि उच्च (उदात्त) है और अधर भाग से निष्पन्न नीच (अनुदात्त) है। उच्च और नीच शब्द ऊर्ध्व और अधरभाग के उपजीवी हैं। षड्ज आदि स्वर विशेष की तरह उच्च-नीच का अनुभव भी प्रत्यक्षगम्य है। (कैयट महाभाष्य १।२।२९ ३०)। उपांशु शब्द की उस अवस्था का कहते हैं जिसमें प्राणशक्ति का संसर्ग तो रहता है किन्तु दूसरा व्यक्ति उसे सर्वाङ्गपूर्ण ध्वनि का ग्रहण नहीं कर सकता है। वह सूक्ष्म होती है और दूसरे से असंवेद्य होता है

> तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र यत्र शब्दरूपं परेरसंवेद्यं भवति तदुपांशु।
>
> —वाक्यपदीय १।२८ हरिवृत्ति लाहौर संस्करण पृ० ९३

जब शब्द प्राणशक्ति के संसर्ग से रहित केवल बुद्धि में संस्थान रहता है और

बुद्धि शक्ति से ही सचालित रहता है उस अवस्था को परमोपांशु शब्द से द्योतित करते हैं—

अन्तरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादान एव शब्दात्मा तत परमोपांशु।

—वाक्यपदीय १।१६ हरिवृत्ति पृ० १७।

अव्यक्त शब्द में आरोपित क्रम का बुद्धि द्वारा साक्षात्कार तो होता है परन्तु अभिव्यञ्जक किसी भी निमित्त से उसका सम्पर्क नहीं होता वह निस्पन्द पर बुद्धिग्राह्य क्रमसय रहता है। उस अवस्था को प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं

यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्दे व्यारोपित हि शब्दानां क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम्।

—वही पृ० १८।

इससे पर भी एक अवस्था होती है। बुद्धि में शब्द जब क्रमरहितरूप में अवस्थित रहते हैं सर्वथा उसमें लीन हो गए रहते हैं वे अनिर्वचनीय से होते हैं और व्याख्यान शक्ति से परे हैं

शब्दानां क्रमरूपोपसंहार विषयायां बुद्धावसम्प्रख्यात तत्त्वमिव प्रतिपद्यमानायामारभ्यते शब्दातीतो व्यवहार।

—वही पृष्ठ १७

विवक्षा होने पर प्रवक्ता का शब्द बुद्धि में, प्रयत्न में प्राण में निर्दिष्ट्रिय में क्रमश व्यापारित होता हुआ व्यक्त होता है और श्रोता को भी क्रमरूप में भासित होता है।

अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीर्घता परिमाण हैं। इसलिए गुण हैं। द्रव्य में समवायी हैं। शब्द भी एक दृष्टि से स्वयं गुण है इसलिए उसमें अल्पता या महत्ता (दीर्घता) कैसे सम्भव है? दूसरे शब्दों में, अल्पत्व और दीर्घत्व मूर्त पदार्थ के धर्म हैं। शब्द तो अमूर्त है। अत शब्द अल्प या महत कैसे कहा जा सकता है? भर्तृहरि ने इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया है। पहला तो यह कि शब्द अल्प या महत उपचार (लक्षणा) के कारण कहा जाता है। एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है। एक पर्वत बड़ा कहा जाता है क्योंकि वह अधिक स्थान घेरता है। इस सादृश्य के सहारे जो शब्द कम स्थान में फैलता है वह अल्प और जो दूर तक फैलता है उसे महान या दीर्घ कहते हैं। शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है। दूसरा यह कि व्याकरणदर्शन लोकगत व्यवहार को आधार मानकर चलता है। सर्वत्र अर्थव्यवस्था का कारण लोक प्रसिद्धि है। लोक को छोड़ने पर पदार्थ व्यवस्था के निर्णय में कठिनाई पड़ती है। क्योंकि तर्क अनवस्थित है उसका निश्चय डाँवाडोल है और शास्त्रों में सिद्धान्त विषयक परस्पर मतभेद पाया जाता है। इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है। लोक में शब्द को अल्प और महत शब्द में व्यक्त करते हैं। अत शब्द को अल्प या महत कहा जाता है (वाक्यपदीय १।१०४ हरिवृत्ति और वृषभ टीका)।

शब्द का स्वरूप

ऊपर ध्वनि के आधार पर शब्द के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अर्थ के आधार पर भी इसके स्वरूप पर विचार किया जाता है। शब्द का उच्चारण अर्थपरिज्ञान के लिए ही किया जाता है। अतः अर्थ के आधार पर शब्दस्वरूप का अवधारण स्वाभाविक है। पतंजलि ने भी ऐसा ही किया है। शब्द के स्वरूप के विषय में उनके दो प्रसिद्ध वाक्य हैं।

"येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूल ककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।

अथवा

प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।"

—महाभाष्य पृ० १ कीलहान संस्करण

इन दोनों वाक्यों के अर्थ में प्राचीन काल से ही विवाद चला आ रहा है। पहले वाक्य का सरल अर्थ यह है—जिसके उच्चारण से सास्ना, लाङ्गूल, ककुद, खुर और सींग वाले का बोध होता हो, वह शब्द है। इसमें सास्ना, लाङ्गूल आदि का उल्लेख गो शब्द के प्रसंग में पतंजलि ने किया है। उसे हटा देने पर उनके मत में शब्द की परिभाषा का रूप यों होगा

येनोच्चारितेन (कस्यचित्) सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।

इसमें उच्चारण और सम्प्रत्यय ये दोनों शब्द शब्द के लक्षण पर प्रकाश डालते हैं। शब्द वह है जो उच्चरित होता हो और किसी अर्थ का प्रत्यायक हो। उच्चारण शब्द शब्द के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है। सम्प्रत्यय शब्द शब्द के सांकेतिक रूप को व्यक्त करता है।

पतंजलि के दूसरे वक्तव्य का अर्थ है कि प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द कहा जाता है। प्रतीतपदार्थक का अर्थ है लोक प्रचलित अर्थ। लोक प्रचलित अर्थवाले ध्वनि का नाम शब्द है। पतंजलि ने महाभाष्य में अन्य दो स्थानों पर प्रतीतपदार्थक शब्द का प्रयोग किया है।

द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थकयोः लोके विशेषणविशेष्यभावो भवति। न चादेच् शब्दः प्रतीतपदार्थकः।

—महाभाष्य १।१।१। पृ० ३९

इहहि व्याकरणे ये वा ते लोके प्रतीतिपदार्थकाः शब्दाः तैः निर्देशाः क्रियन्ते पशुः अपत्यं देवतेति। या वा ता कृत्रिमा टिघुभसंज्ञाः ताभिः।

—महाभाष्य १।४।२३ पृ० ३२३ कीलहान)

इन उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि आदेच् टि घु भ आदि प्रतीतपदार्थक शब्द नहीं हैं। दूसरी यह कि पशु अपत्य देवता आदि प्रतीतपदार्थक शब्द हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीतपदार्थक शब्द का अभिप्राय ऐसे शब्दों से है जो सर्वसाधारण के लिए समान अर्थ रखते हैं और निरपेक्ष रूप से व्यवहार में आते हैं। प्रतीतपदार्थक शब्द के लिए यहाँ पतंजलि ने प्रतीतपदार्थक ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है। वस्तुतः प्रतीतपदार्थक शब्द स्पष्टता के लिए प्राचीन समय में व्यवहृत होता था जैसा कि कौण्डभट्ट के निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है

'प्रतीतशब्दप्रयोग स्पष्टत्वम्'

—कौटल्य अर्थशास्त्र अधिकरण २ अध्याय १०, पृ० १७०
भाग १ त्रिवेंद्रम संस्करण।

इसलिए स्पष्टार्थक ध्वनि को शब्द कहा जाता है। यह अभिप्राय महाभाष्यकार का जान पड़ता है।

पहले वाले वक्तव्य में दूसरे वक्तव्य में थोड़ा भेद है। यदि सप्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना जाएगा टि, घ, भ आदि कृत्रिम संज्ञाएँ भी शब्द मानी जाएँगी। क्योंकि टि आदि से भी सप्रत्यय किसी-न-किसी का होता ही है। किन्तु टि आदि सबके लिए शब्द नहीं है। इसलिए सप्रत्यय के स्थान पर प्रतीतपदार्थक रखना पतंजलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा होगा। दूसरा भेद लोक शब्द से ध्वनित है। शब्द की दूसरी परिभाषा में पतंजलि ने लोक शब्द भी रखा है। अर्थात दूसरी परिभाषा लोक व्यवहार को सामने रखकर की गई है। पहली परिभाषा के अनुसार कृत्रिम संज्ञाएँ भी शब्द हैं। दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य रूप में वे शब्द नहीं हैं। पहली परिभाषा में सप्रत्यय प्रधान है। दूसरी परिभाषा में ध्वनि रूप प्रधान है।

इस विषय पर महाभाष्य के कतिपय व्याख्याताओं के मत का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

येनोच्चारितेन सम्प्रत्ययः भवति—

—इस वाक्य के तीन अभिप्राय भर्तृहरि ने भिन्न भिन्न मत के रूप में दिखाए हैं।

केचित मन्यन्ते योऽयमुच्चार्यते क्रमवान् प्रवर्तते क्वचिदन्य अक्रम शब्दात्मा बुद्धिस्थो विगाहते। तस्मादयप्रतीति कृत अयथार्थान्तरनिबन्धनो भार्थान्तर प्रत्यायति एव स्वरूपनिबन्धनो नोत्सहते प्रत्याययितुम्।

—महाभाष्यत्रिपादी पृ० ३, पूना संस्करण

इसका अभिप्राय है कि कुछ लोगों के मत में जिसका उच्चारण किया जाता है वह क्रमवान है। इससे भिन्न एक संहृतक्रम अथवा क्रमरहित रूप है जिसमें वर्णों के क्रम अक्रम रूप में रहते हैं वही शब्द है। वह बुद्धि में रहता है। उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे एक अर्थ में निश्चित शब्द किसी दूसरे अर्थ का प्रत्यायन नहीं करा सकता वैसे ही उच्चरित शब्द अपने स्वरूप का ही प्रत्यायन करा सकता है उसमें अन्य किसी वस्तु का प्रत्यायक वह नहीं हो सकता।

दूसरे आचार्य मानते हैं कि वर्ण में भी भाग होते हैं वर्ण का तुरीयभाग वर्ण जाति का व्यंजक होता है। इसी तरह पद में कई वर्ण होते हैं तुरीयवर्ण शब्द जाति का व्यंजक होता है। वर्ण क्रमजन्मा होते हैं। एक समय में नहीं होते। अंतिम वर्ण पदस्थ जाति के व्यंजक हैं। वृक्ष शब्द के उच्चारण से वृक्षत्व व्यंजित होता है। अर्थात जाति से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। यह अर्थ का स्वरूप स्फोट कहलाता है। यह शब्दात्मा है। यह नित्य है।

कुछ अन्य आचार्यों की मान्यता है कि शब्द में दो प्रकार की शक्ति है—आत्मप्रकाशन शक्ति और अर्थप्रकाशन शक्ति। जैसे दीप अपने को व्यक्त करता हुआ अन्य

अर्थों का भी प्रकाशक है। इन्द्रिय में बाह्य अर्थ के प्रकाशन की शक्ति तो होती है किन्तु आत्मप्रकाशन शक्ति नहीं होती। इनके मत में उच्चारित शब्द के दो अर्थ हैं—उच्चारण और प्रकाशन।

इन तीनों मतों को संक्षेप में यों कहा जा सकता है। पहले मत के अनुसार शब्द ध्वनि समूह के पीछे छिपी हुई बुद्धिस्थ शक्ति विशेष है। दूसरे मत में शब्द जाति है। शब्द जाति का ही नाम स्फोट है। तीसरे मत के अनुसार शब्द वह ध्वनि है जो अपने स्वरूप का साथ ही अन्य वस्तु का प्रत्यायक होता है।

कैयट शेषनारायण अन्नंभट्ट, नागेश आदि ने यहाँ स्फोट अर्थ माना है। उनके मत में पदस्फोट अथवा वाक्यस्फोट वाचक है।

महाभाष्यकार के प्रतीतपदार्थक शब्द भर्तृहरि के अनुसार प्रतीतपदार्थकता के लिए प्रसिद्धि के लिए हैं। जो शब्द प्रसिद्ध है वही 'शब्द' शब्द से यहाँ अभिप्रेत है। उन्होंने प्रतीत पदार्थ को प्रतीत पदार्थ (कर्मधारय) रूप में लिया है और ध्वनि को इसका अभिधेय माना है। शब्द ध्वनि में ही अपना स्वरूप पाता है। इसके लिए उसे अर्थ प्रकरण शब्दान्तर की अपेक्षा नहीं होती।

शेषनारायण ने प्रतीतपदार्थ शब्द में बहुव्रीहि समास माना है

प्रतीत पदार्थो यस्येति विग्रह। युक्त प्रतीतस्य पदार्थस्यायमिति वा विग्रह इति तत्त्व। —सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख।

अन्नंभट्ट के अनुसार प्रतीतपदार्थक शब्द के आगे शब्द-शब्द छिपा हुआ है। अर्थात् प्रतीतपदार्थकशब्द शब्द शब्द का विशेषण है।

नागेश ने प्रतीतपदार्थ को पदार्थबोधक रूप में लिया है। उनके अनुसार पदार्थ बोधक रूप में प्रसिद्ध श्रोत्रग्राह्य ध्वनिसमूह का नाम शब्द है। किसी के मत में प्रतीतपदार्थक वाला वक्तव्य उन लोगों के लिए है जो स्फोट को नहीं मानते हैं किन्तु श्रोत्रग्राह्य ध्वनि को शब्द मानते हैं। उनके मत में समुदित वर्णसमूह का किसी वस्तु विशेष बुद्धि द्वारा उपपादित संस्कार शब्द है। (सूक्ति रत्नाकर हस्तलेख)

शब्द नित्य है। संस्कृतव्याकरणदर्शन में शब्द को कार्य मानकर भी विचार किया गया है और शब्द को नित्य मानकर भी विचार किया गया है। किन्तु सिद्धान्त रूप से शब्द नित्य ही माना जाता है। जहाँ शब्द द्रव्य के रूप में माना जाता है वहाँ भी प्रवाहनित्यता रूप में नित्यत्व अपेक्षित रहता है।

पाणिनि ने तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३ वचन के रूप में शब्द की नित्यता का संकेत किया है। व्याडि ने नित्य और अनित्य विषय पर पर्याप्त विचार कर शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। कात्यायन ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस प्रथम वार्तिक द्वारा शब्दनित्यत्व का उद्घोष किया है। स्फोटवार्तिककार ने भी 'स्फोट शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते" के रूप में शब्द को नित्य माना है। भर्तृहरि ने (नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः—वाक्यपदीय १।२३ आदि वाक्यों द्वारा शब्द के नित्यपक्ष की चर्चा की है।

शब्द के नित्यत्व के विषय में कुछ तर्क भी दिए जाते हैं। सबसे पहले सम्भवत

वेदवादियों ने शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। मीमांसकों और वैयाकरणों द्वारा शब्द के नित्यत्व के विषय में जो तर्क दिए जाते हैं, नैयायिकों और बौद्धों ने उनका बड़ी निर्दयता से खण्डन किया है। जैमिनि के लचर तर्कों पर तरस खाते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है

> तस्य तावदीदृशी प्रज्ञास्खलित कथं वर्त्तमिति सविस्मयानुकम्प्य न चेत। तम परेप्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तभुवनं धिग् व्यापकं तमः।
>
> —प्रमाणवार्तिक पृ० ८० वाराणसी संस्करण

अर्थात् जैमिनि जैसे विचारक ने इतने हलके स्तर के तर्क उपस्थित किए यह देखकर हमारा मन विस्मय और अनुकम्पा से भर जाता है। उसे दूसरे भी दुहराते चले आ रहे हैं। ओह समाज में कितना गहरा अज्ञान का अन्धकार है।

भर्तृहरि ने नित्यत्व के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए हैं।

उन दिनों भी कुछ ऐसे आचार्य थे जो प्राकृत को मूल भाषा मानते थे और संस्कृत को उसका विकृत रूप मानते थे। उनके मत में प्राकृत प्रकृतिरूप भाषा है और इसलिए नित्य है।

> 'केचिदेव मन्यन्ते, ये एवैते प्राकृता शब्दा त एवैते नित्या। प्रकृतौ भवा प्राकृता।
>
> —महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) पृ० २० पूना संस्करण

शब्द की नित्यता पर विचार आकृति और द्रव्य पदार्थ की दृष्टि में भी है। यदि शब्द से आकृति की अभिव्यक्ति होती है शब्द नित्य है क्योंकि घटत्व आदि आकृति नित्य है। द्रव्यपक्ष में भी घट नाश में अभिव्यक्त के रूप में नित्य माना जाता है। आश्रय भेद से भेद की प्रतीति होती है। स्वरूप में भेद नहीं होता। नित्यता अनित्यता के विपर्यय के रूप में भी स्वीकार की जाती है। भर्तृहरि ने तीन प्रकार की अनित्यता का उल्लेख किया है—संसर्गानित्यता विपरिणामानित्यता और वस्तुविनाशानित्यता।

स्फटिक का दूसरे द्रव्य के संयोग से अपने शुद्ध स्वरूप की अनुपलब्धि संसर्गानित्यता है। बदरी फल के अपने श्याम रंग को छोड़कर रक्तरंग का आश्रय विपरिणामानित्यता है। वस्तुविनाशानित्यता सर्वात्मना विनाश का नाम है। कैयट ने इसके लिए प्रध्वंसानित्यता शब्द रखा है। इन तीनों प्रकार की अनित्यता के विपरीत जो हो वह नित्यता है। अथवा जो ध्रुव है कूटस्थ है[२७] अविचालि है, जिसमें अपाय उपजन, विकार उत्पत्ति वृद्धि और व्यय नहीं होते वह नित्य है। शब्द में इन सब बातों के मिलने से वह भी नित्य है। अथवा वह भी नित्य है जिसमें तत्त्व का विघटन नहीं होता। यह वही है यह ज्ञान ही तत्त्व है। इसी को प्रवाहनित्यता भी कहा जाता है। शब्द भी देश और काल भेद से उच्चरित होने पर भी यह वही है इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का

---

२७ कूटे राशिरूपे तिष्ठति न किंचिदपि चलति कूट वचनम् अनुल्लङ्घनीय तिष्ठति, न तत्र चिदपि यथा कूटशालमयं कूटं विश्वतो दार्ढ्यं विनाशकारणोपनिपातेऽपि तिष्ठति कूटं व्याजेऽपि अपह्नवात्मनि नियमाणं नितान्तमन्यथा भवतीति अचलरूपतया भवन् कूटस्थ इत्युच्यते।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग १ पृष्ठ १२९

विषय बना रहता है। अतः प्रवाहनित्यता के सहारे शब्द नित्य माना जाता है। अर्थ भी जातिरूप में नित्य है। सम्बन्ध भी व्यवहारपरम्परा में अनादि के कारण नित्य माना जाता है।

किसी के मत में शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का कर्ता कोई नहीं होता। जिस शब्द के उच्चरित होने पर जिस किसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वही उस शब्द का अर्थ है

"अन्ये मन्यन्ते नेह कश्चित् शब्दार्थसम्बन्धस्य कर्ता।

—वाक्यपदीय २।३२६ हरिवृत्ति, हस्तलेख

शब्द में चाहे असत्य का ज्ञान हो अथवा मिथ्या का प्रतिपादन होता हो शब्द अपने अर्थ से नित्य सम्बद्ध है

असत्या प्रतिपत्तौ च मिथ्या वा प्रतिपादने।
स्वरर्थैर्नित्यसम्बद्धास्ते ते शब्दा व्यवस्थिताः॥

—वाक्यपदीय २।३३७

कोई आचार्य शब्दजाति का सम्बन्ध अर्थ से मानते हैं, कोई शब्द-व्यक्ति का सम्बन्ध अर्थ से बताते हैं। किसी के मत से जाति अथवा व्यक्तिसाधना क्रिया अभिप्रेत होती है। वाच्यवाचक सम्बन्ध के आधार पर बुद्धिस्थ शब्द का बुद्धिस्थ अर्थ में विनियोग होता है अर्थात् अनेक अर्थों में से किसी एक के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध शब्दगत उक्ति के सहारे अभिव्यक्त होता है

इह कश्चिदाचार्याः शब्दजातिमर्थसम्बन्धिनं मन्यन्ते। केचित् शब्दव्यक्तिम्। अन्येषां तु जातिसाधना व्यक्तिसाधना वा क्रिया सम्प्रत्ययफला। तत्रानेनार्थ वक्तव्य इत्युभयोः परिग्रहं कृत्वा बुद्धिस्थशब्दो बुद्धिस्थेऽर्थे विनियुज्यते प्रवर्णीक्रियते सत्यप्यनेकार्थत्वे तत्रास्य सामर्थ्यमवच्छिद्यते।

—वाक्यपदीय २।४०६ हरिवृत्ति हस्तलेख

शब्द और अर्थ का भेद मानकर भी उनमें नित्यत्व दिखाया जाता है। भर्तृहरि ने इस विषय में अनेक प्रवादों का अनेक स्थानों में प्रसंगवश उल्लेख किया है। कुछ दर्शन सब कुछ वास्तविक मानते हैं। उस पक्ष में शब्द विशिष्टार्थ भाग का स्पर्श करता है और उसका अन्य से निर्धारण (विभाग) करता है। कुछ अन्य दर्शन किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानते। इस पक्ष में शब्द उन उन अर्थों की प्रकल्पना करता है

अत्र कश्चित् वास्तवं सर्वं इति प्रपन्नम्। तस्य तु विशिष्टाममागोपनिपातिनः शब्दा तां तां शक्तिमवच्छिन्दन्ति इति प्रतिपत्तिः। अपरे पुनः नैव वस्तु किंचिदस्ति। शब्दा एव तु प्रयत्न मानास्तं तमर्थं प्रकल्पयन्ति।

—महाभाष्यदीपिका १।१।६४

कुछ अन्य विचारक मानते हैं कि केवल शब्द सुनने मात्र से बुद्धि में व्यवस्थित अर्थ का बोध नहीं होता। अर्थबोध अनुमान की प्रक्रिया से होता है। शब्द से जिस बुद्धि का उदय होता है, उससे सन्निहित अप्रयुक्त पर्याय का दूसरी बुद्धि होती है उस बुद्धि के सहारे अर्थ का प्रतिभास होता है

अपरे तु मन्यन्ते नावश्यं श्रुत एव शब्दो बुद्धौ सन्निविष्टमर्थं प्रत्याययति। सर्वथा बुद्धौ सन्निविष्टः स ... स्मिन्नेव शब्दविशिष्टे रूपे या बुद्धिरुत्पद्यते तया व्यवहित बुद्ध्यन्तर बुद्धौ प्राप्तसन्निधानं तदर्थ प्रतिपत्तिनिमित्तं भवति। अपरे तु पद
—वाक्यपदीय २।३२८ हरिवृत्ति हस्तलेख[२८]

कुछ अन्य विचारकों के मत में एक ही अर्थात्मा होती है। अर्थ एक है। वह सर्वसाधारण है। जैसे संयोगसंज्ञा दो में भी होती है, समुदाय में भी होती है वैसे ही अर्थ एक में, दो में सबमें अवस्थित रहता है। केवल सन्निधान से अभिव्यक्त होता है

केचित्तु मन्यन्ते यथा संयोग संज्ञा द्वयो द्वयोः समुदाये चावतिष्ठते। तथा प्रत्येकं द्वयोः समुदितेषु च स एवकार्यात्मा व्यवस्थित एव। स तु सन्निधानेन व्यज्यते।
—वाक्यपदीय २।४०१ हरिवृत्ति हस्तलेख

जैसे प्रकाश में सब कुछ देखने की शक्ति है किन्तु जिसे जिसको रचना ईप्सित होता है उस उसके माध्यम से देखा जाता है उसी तरह शब्द में सब अर्थ व्यक्त करने की क्षमता है। जो अर्थ अभीप्सित होता है उसे वह प्रकाशित करता है अपने आप में अभिव्यक्त करता है (वाक्यपदीय २।४०७)।

अथवा शब्द अभिधान (करण) है। अर्थ अभिधेय (कर्म) है। शब्द में अभिधा नियम है।[२९]

अथवा शब्द और अर्थ का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अर्थ के स्वरूप का परिज्ञान शब्द से सम्भव नहीं है। अर्थ का अवधारण अशाब्द होता है। दाह शब्द से जो कुछ अर्थभासित होता है उसमें और यथार्थ रूप से आग में जलने होने पर जो कुछ अनुभव में आता है उसमें आकाश पाताल का भेद है। हिम शब्द के उच्चारण में और बर्फ से ठिठुरने में बहुत भेद है। शब्द केवल अर्थ का आभास मात्र कराते हैं अथवा किसी सादृश्य के आधार पर अर्थ की स्मृति मात्र जगाते हैं (वाक्यपदीय २।४२४)।

अथवा शब्द वस्तु का उपलक्षण मात्र है। जैसे हम काक से देवदत्त के गृह का बतलाते हैं वैसे विशेष शब्द से विशेष वस्तु को बतलाया जाता है। शब्द में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह पदार्थ की समग्रता को छू सके। अथवा शब्द से वस्तुमात्र निर्विशेष रूप में विशेष धर्मरहित रूप में बताया जाता है। शब्द पदार्थ का (वस्तु का) किसी रूप में उपकारक नहीं है। शब्द में पदार्थ के किसी भी धर्म के स्पर्श करने की क्षमता नहीं है —

वस्तुमात्रमनाश्रितशक्तिविशेषमपरिग्रहो तत्त्वधर्मकं येन सविनानपदेनोपलक्ष्यते। न तद्वस्तुकृतानां शक्तिनां यदुपकारिरूपं ततः सव्यापारं स्वकार्येण शक्नोति वस्तुम्। न हि स वस्तुमात्रं सस्पर्शितवान् भेदका पुपकारीणि शक्तिरूपाणि सस्पर्शति।
—वाक्यपदीय २।४४२ हरिवृत्ति हस्तलेख

---

२८ पुण्य राज के अनुसार भर्तृहरि का अभिप्राय यहां श्रुतार्थापत्ति से है।

२९ अभिधानियमः तस्मात् स्थानाभिधेययोः। वाक्यपदीय २।४०८
अभिधानियम शब्द को अभिधावृत्ति का मूलरूप समझना चाहिये।

शब्द का अर्थ

उपर्युक्त विभिन्न मतों में शब्द के स्वरूप और व्याकरण पर प्रकाश डाला गया है। शब्द का अर्थ क्या है — इस प्रश्न पर भी भर्तृहरि ने विचार किया है। और पुण्यराज ने उसे १२ प्रकारों में बाँटा है। ये प्रकार भी शब्द की शक्ति के [illegible] हैं और [illegible] हैं न कि [illegible]।

शब्द का अर्थ क्या है? इसका उत्तर मैं किसी आधार पर [illegible] है कि शब्द का अर्थ क्या — नहीं कहा जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि शब्द से अर्थ होता है। शब्द निरपेक्ष नहीं है। शब्द का जो अर्थ, उस शब्द [illegible] शब्दों में नहीं बतलाया जा सकता। [illegible] शब्द कहने से जिस अर्थ का आभास होता है उसे कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह [illegible] है। [illegible] मधुर शब्द [illegible] में [illegible] विषय में अर्थ व्यवहृत होता है किन्तु उसे बतलाया नहीं जा सकता। [illegible] शब्द का अर्थ [illegible] जाना जा सकता है वह क्या, कैसा, [illegible] नहीं जाना जा सकता। यही बात है शब्द पर शब्द शक्ति की भी। [illegible] शब्द केवल अर्थ की सत्ता मात्र का प्रत्यायक है। गो शब्द के सुनने से आकार आदि का भान सामान्य रूप से होता है। वह शब्द का अर्थ नहीं है। क्योंकि अर्थ तो [illegible] ही [illegible] से [illegible] है अर्थात् शब्द से जो प्रत्याय्य है उसका केवल अस्तित्व मात्र शब्द से स्पष्ट होता है। [illegible] शब्द से आकार के ग्रहण का भाव प्रयास [illegible] आदि से सहज होता है। वे सत्तान्तर साध्य हैं। शब्द का व्यापार उन पर नहीं है।

> अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
> अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥

— वाक्यपदीय २।१२०

इसकी समीक्षा में कुमारिल का कहना है कि शब्द की शक्ति नियत होती है। अर्थापत्ति के आधार पर शब्द की वाचक शक्ति नियत अर्थ विषयक होती है। किन्तु कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त मत का भाव अन्यथा रूप में लिया है। उपर्युक्त मत में सभी शब्दों का अर्थ सत्ता मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि शब्दों का अन्य कोई अर्थ नहीं है, उसका अभिप्राय केवल इतना है कि शब्द का अर्थ होता है, क्या होता है इसे ठीक नहीं कहा जा सकता। किसी अन्य आचार्य का मत है कि शब्द से जो कुछ अर्थ भासित होता है उस अर्थ के साथ अनुनिष्पादि रूप में जो कुछ भासित होता है वह भी शब्द का अर्थ है। जैसे शब्द का अर्थ जाति है तो उस जाति के प्रयोजक व्यक्ति भी शब्द का अर्थ होगा। कुछ लोग व्यक्ति को अनुषंग रूप में लेते हैं। जाति शब्द में व्यक्तिगत धर्म बोध कराने की क्षमता नहीं होती। शब्द सम्पूर्ण विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध नहीं करा पाता है।

> न हि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दः प्रत्याययितुमलम्।

—पुण्यराज २।१२४

किसी अन्य विचारक के मत में शब्द का अर्थ वह सब कुछ है जिसके बिना अर्थ

म ग्रथवत्ता ही नही ग्राती ह । इस मत म कुछ ग्रश का प्रत्यायक और कुछ ग्रश का नान्तरीयक नही माना जाता । ग्रपितु शब्द का ग्रभिधेय सब ग्राकार सहित ग्रथ ह । केवल कही किसी पक्ष का प्राधान्य और कही किसी स्वरूप का गौणभाव ग्रभिप्रेत रहता ह ।

इसी तरह किसी के मत में शब्द का ग्रभिधेय समुदाय ह किन्तु उसमे विकल्प या समुच्चय का स्थान नही है । वन शब्द से धव, खादिर ग्रादि का समुदाय ग्रभिधेय है । ब्राह्मण शब्द स तप, विद्या जाति ग्रादि स युक्त समुदाय ग्रभिधेय है । वन शब्द से धव है कि खदिर है इस रूप म विकल्प रूप म प्रतीति नही होती । वन धव भी है खदिर भी है इस रूप म समुच्चय रूप म भी प्रतीति नही होती । ग्रपितु साकल्य रूप म एक प्रतीति होती है । इसलिए विकल्प समुच्चय रहित समुदाय शब्द का ग्रथ है ।

कोई कोई शब्द का ग्रथ ससग मानते है । ससग जाति गुण और क्रियात्मक ग्रथ का ग्रसत्यभूत रूप है । द्रव्य का द्रव्यत्व ग्रादि के साथ जो सम्बन्ध होता है वह शब्द का ग्रथ है । वह सम्बन्ध सम्बन्धियो के ग्रधीन होने के कारण ग्रसत्य माना जाता है । ग्रथवा तप श्रुत ग्रादि का एक म ससृष्ट रूप से भान होने से उनका परस्पर ससग, ब्राह्मण शब्द म ग्रसत्य है । ग्रथवा घट ग्रादि शब्दो से घट ग्रादि की जाति ग्रादि ससग कही जाती है । ग्रलग रूप मे वह ग्रसत्यभूत मानी जाती है । ससृष्ट पदाथ ही सत्यभूत है । किसी ग्रन्य मत म ग्रसत्य उपाधि स ग्रवच्छिन्न सत्य ही शब्द का ग्रथ है —

ग्रसत्योपाधि यत सत्य तद्वा शब्दनिबन्धनम ।

—वाक्यपदीय ३।१२८

इस वक्तव्य पर पुण्यराज ने प्रकाश नही डाला है किन्तु जिस ग्राचाय की यह मान्यता है उसने बहुत गूढ तत्त्व ग्रल्प म व्यक्त कर दिया है । उसने शब्ददशन और सत्यदशन को एक कर दिया है । शब्द ग्रपने ग्रन्तिम विश्लेषण म सत्य है । इसलिए निरपेक्ष रूप म शब्द का ग्रभिधेय यदि सम्भव है तो वह सत्य है ।

कमलशील ने सुवण को सत्य और वलय, ग्रँगूठी ग्रादि को ग्रसत्य माना है । शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त स्वण की तरह सामान्य रूप सत्य है । वही उसका ग्रभिधेय है । ग्रथवा शब्द का ग्रभिजल्प स्वरूप शब्द का ग्रथ है । म ग्रयम यह वह है इस रूप म शब्द म स्वरूप का ग्रथ म ग्रध्यास किया जाता है । ग्रध्यासवश शब्द और ग्रथ एकाकार हो गये रहते हैं । शब्द के इस स्वरूप का नाम ग्रभिजल्प है । ग्रभिजल्प शब्दाथ है । वह शब्द ही है । शब्दाथ के एकाकार रूप म होने के कारण उनका कोई रूप कही प्रधान रूप म ग्रवगत होता है और कही उनका कोई ग्रन्य रूप ग्रवगत होता है । लोक म उनका ग्रथरूप ग्रधिक गृहीत होता है शास्त्र म शब्द और ग्रथ नाना रूप विवक्षा के ग्राधार पर गृहीत होते हैं । लोक म ग्रग्निम ग्रानय वाक्य म ग्रग्नि रूप ग्रथ ग्रभिप्रेत रहता है । शास्त्र म स्त्रीभ्यो ढक (४।१।१२०) कहने म स्त्री वाचक साथक शब्दो का बोध होता है ।

दशन म और उत्प्रेक्षा म ग्रथ का ग्रभिधेय के रूप म ग्रहण कर शब्दाथों

अपनी शक्ति का निक्षेपण कर इस शब्द में यह कहा गया है इस रूप में बुद्धि में भासता हुआ बाह्य ध्वन्यात्मक श्रुत्यन्तर की प्रवृत्ति में हेतु होता है। अभिजल्प शब्द विज्ञान लक्षण है। आन्तर शब्द है। मल्लवादि के अनुसार यह मत भर्तृहरि का है

> दर्शनोत्प्रेक्षाभ्यामर्थमभिधेयत्वेनोपगृह्य तत्र न्यग्भूतस्वशक्ति बुद्धौ परिप्लवमान अर्थाभिस्थितिमनेन शब्देनोच्यत इत्यान्तरो विज्ञानलक्षण शब्दात्मा श्रुत्यन्तरस्य बाह्यस्य ध्वन्यात्मकस्य प्रवृत्तौ हेतुः। स अभिजल्पाभिधेयाकारपरिग्राही बाह्यात् शब्दादन्य इति भर्तृहर्यादिमतम्।
>
> —द्वादशारनयचक्र पृ० ७७९

अथवा अर्थ असमवेतशक्ति है। अर्थ में शक्ति नहीं है। शब्द के द्वारा अर्थ में नियत शक्ति का आधान होता है। जिस रूप में शब्द अर्थ की शक्ति की अभिव्यक्ति चाहता है उसी रूप में अभिव्यक्ति होती है। इसलिए शब्द का अर्थ स्वशक्ति से उत्थापित अर्थ है। एक ही अर्थवस्तु एक ही क्षण में अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक रूप में व्यवहृत की जाती है। जैसे ओदन पकाने की क्रिया को भिन्न भिन्न व्यक्ति यों कह सकते हैं —ओदनं पचति। पाकः ओदनस्य। पाकं निर्वर्तयति। करोति निर्वृत्तिं पाकस्य। अतः यदि शब्द से अर्थवस्तु की अभिव्यक्ति होती तो एक ही ओदन की एकमात्र अर्थ के रूप में सम्बन्ध के रूप में भिन्न भिन्न विरोधी रूप में अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए मान लेना चाहिए कि अर्थ में शक्ति नहीं है। शक्ति शब्द में है। शब्द अपनी शक्ति को बुद्धि के द्वारा अर्थ में आरोपित कर देता है। अतः शब्द द्वारा नियत शक्ति ही शब्द का अर्थ है। अथवा अर्थ अशक्त नहीं है। वह सर्वशक्तिसम्पन्न है। शब्द से केवल उसकी नियत शक्ति का अभिधान होता है। शक्ति के द्वारा अर्थ कभी क्रिया के रूप में प्रकाशित होता है कभी कारक के रूप में प्रकट होता है। नाना सर्वथा शब्द द्वारा ही अर्थशक्ति नियत होती है। मल्लवादि के अनुसार यह मत वसुरात का है

> वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतम् तु स च स्वरूपानुगतमसरूपमन्तर विभागेन सन्निवेशयति—अशक्ते सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता। एकस्यार्थस्य नियता क्रियादि परिकल्पना।
>
> —वाक्यपदीय २।१३३ द्वादशार नयचक्र पृ० ७८०

अथवा शब्द का कोई बाह्य अर्थ नहीं होता। शब्द का केवल बुद्धि उपारूढ बौद्ध अर्थ होता है। यह बौद्ध अर्थ बाह्य वस्तु के लिए आता है उसका रूप बुद्धि उपारूढ ही होता है किन्तु भ्रमवश बुद्धिगत अर्थ को बाह्य अर्थ समझ लिया जाता है। अथवा शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते हैं जो वस्तु मूर्त है आकारवान है उसका अर्थ आकार विशेष के रूप में ज्ञात होता है। जो वस्तु अमूर्त है निराकार है उसका अर्थ केवल संवित् है। अर्थात् शब्द का अर्थ आकारसहित अर्थ भी है। संवित् (ज्ञानमात्र) भी है।

अथवा शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता। अपनी अपनी वासना संस्कार के वश में श्रोता भिन्न भिन्न अर्थ एक ही शब्द का ग्रहण करते हैं। इसलिए शब्दार्थ अलग अलग भाव के अनुरूप विभक्त विभक्त भासित होता है। एक ही वस्तु को एक ही समय में भिन्न भिन्न प्रकार भिन्न रूप में देख सकते हैं। एक ही पदार्थ एक भी व्यक्ति को

कालान्तर म भिन्न जान पड सकता ह। इसलिए शब्द का काई नियत अर्थ नहीं होता। शब्द के अर्थ के साधन भी अव्यवस्थित हैं। व भी नियत नहीं है। इसलिए एक ही शब्द के अनेक अर्थ हात हैं। यही कारण ह कि एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न दर्शनशास्त्रों म विभिन्न रूप स व्याख्यात है।

यह मत भाषाविज्ञान के इस सिद्धान्त के अनुकूल है कि अर्थ एक समझौता मात्र है। विभिन्न भाषाओं म एक ही प्रकार की ध्वनियाँ विभिन्न अर्थ द्योतित करती हैं। शब्द का अर्थ सामाजिक रूप म आरोपित तत्त्व ह।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

गौ शब्द कहन म गौ शब्द का गौरूप अर्थ का और गौरूप ज्ञान का एक साथ एक म मिला हुआ सा आभास होता ह (गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम् —योगसूत्रभाष्य ।१७) यह आभास सम्बन्धमापन्न ह। जब शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार किया जाता ह तब अर्थ से अभिप्राय वस्तु से न होकर अर्थ के शब्दमय रूप स हाता ह। प्रतीति के कारण एसा होता है। रूढ़ि के कारण भ्रम नहीं होता।

शब्द का अपने स्वरूप और अर्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध माना जाता ह। वक्ता की दृष्टि स (बाह्य अर्थ न मानकर बुद्धि उपारूढ अर्थ) शब्द और अर्थ म कार्य-कारणभाव सम्बन्ध माना जाता है। एक योग्यता सम्बन्ध की भी चर्चा की जाती है जो वास्तव म योग्यता और कार्यकारणभाव सम्बन्ध का निरूपण ह उनम भिन्न नहीं है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थ के प्रवृत्तितत्त्व का शब्द निबन्धन ह। अर्थ की प्रवृत्तित्व के कई अभिप्राय हैं। अर्थ क प्रवृत्तितत्त्व विवक्षा है। सत्त्व के रूप मे अथवा असत्त्व के रूप म वस्तु का स्वरूप अर्थ का प्रवृत्ति तत्त्व नहीं है। विवक्षा योग्य शब्द पर निर्भर करती है। कुछ कहने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति जिस वस्तु को अभिधेय मानकर कुछ कहने की अभिलाषा रखता ह वह उस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए योग्य शब्द का आश्रय लेता ह। अर्थ व्यक्त करने की क्षमता योग्यता ह।

अथवा अर्थ के व्यवहार म जो निमित्त होता ह उसे अर्थप्रवृत्तितत्त्व कहा जाता ह। निमित्त क आधार पर निमित्त वाले अर्थों का निमित्तस्वरूपमय ज्ञान जब उत्पन्न होता है अर्थ द्वारा व्यवहार सम्भव होता ह। गोत्व निमित्त है। गोपिण्ड निमित्तवान है। जातिस्वरूपानुकारी निमित्तस्वरूप है। जब तक पृथक्-पृथक् गोपिण्ड गोत्व स अनुरंजित नहीं होते तब तक द्रव्यरूप म उनम व्यवहार की सम्भावना नहीं आती। जातिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्य कैवल्य की तरह अव्यवहार्य होगा। दूसरे शब्दों म जाति के आधार पर अर्थ व्यवहार के विषय बनते हैं।

अथवा अर्थ के व्यवहार का तत्त्व सम्बन्ध है। सम्बन्ध स रहित अर्थ का व्यवहार सम्भव नहीं है। सम्बन्ध क्रिया और कारकों के परस्पर सम्बन्ध का नाम है। अर्थ साधन रूप भी होता है और साध्यरूप भी होता है। नाम पद क्रिया सम्पृक्त साधन का प्रतिपादन करते हैं। क्रियापद साधनसम्पृक्त क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे पक्षों के

प्रमाण कारक और क्रियापद के आश्रयविशेष के उपसंहार के लिए होते हैं। इस तरह समग्र सभी पदों को संश्लिष्ट किए रहता है।

अथवा अर्थ से तात्पर्य केवल वस्तु से है। उसके प्रवृत्तितत्त्व को समग्र कहा जाता है। अथवा ज्ञान अर्थ के आकार के रूप में बाह्य वस्तु में आरोपित होता है। यही अर्थप्रवृत्ति का तत्त्व है।

हेलाराज ने सम्बन्ध के प्रसंग में सम्बन्ध को पश्यन्ती आदि वाक् के भेदों के साथ निरूपण का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार चितिशक्ति का वाक्तत्त्व का व्यापार होता है। इसका दूसरा नाम शब्दना है। शब्दना व्यापार ध्वनि रूप में न होता हुआ भी व्युत्पत्ति प्रधान में शब्द कहा जाता है। वही वाचक माना जाता है। शब्द जब अपने अविभागापन्न दशा में रहता है जब वह शब्दार्थमय रहता है जब उद्भेद आरम्भ नहीं हुआ होता तब वह अपने स्वरूप में पश्यन्ती (परवाक्) के रूप में स्थित रहता है। बाद में वह प्राणवृत्ति से अनुप्राणित और मन की भावना से अवलम्बित होकर अपने आप को वाच्य और वाचक इन दो शाखाओं में विभक्त करता हुआ स्थित रहता है। यह मध्यमा की अवस्था है। इसमें परामर्शन व्यापार होता है। परामर्शन वाचक शब्द है। परामर्शात्मा वाचक शब्द चैतन्य प्रभा पश्यन्ती से सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं किए होता है। उसका सम्बन्ध चैतन्य में विकल्पित किन्तु अविभक्त पश्यन्ता में भी प्रभा बना रहता है किन्तु वह अपने स्वरूप को ही वाच्य के रूप में परामर्श करने लगता है। यह परामर्श सामानाधिकरण्य रूप में होता है जो अर्थ है। इसलिए उस वाच्य अर्थ को वाचक का अध्यास माना कहा जाता है। इसके पश्चात् वही परामर्शक शब्द पूर्व अवस्था को पकड़े हुए ही स्थान करण आदि के स्पर्श की प्राप्ति से श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य स्वरूप के रूप में अपने आपको ढालकर वाच्य और वाचक रूप में विभक्त होता हुआ व्यक्त होता है। शब्द पश्यन्ती (परवाक्) का निष्पन्द है। पश्यन्ती के प्रभाव से उसमें शब्दनात्मक व्यापार होता है। इस व्यापार के बल से वह अपने विशेष स्वरूप में विशिष्ट अर्थाभिधान की दशा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सामानाधिकरण्य से अर्थ का सम्पर्क और अभेद रूप से एक ही व्यापार हो जाता है। अर्थ शुक्ल पट इस बोध में शुक्लगुण से अवभासित विशेष्य पट का परामर्श एक साथ हो जाता है। शुक्लगुण का अलग से परामर्श नहीं होता। इसी प्रकार घट शब्द में घट के स्वरूप का परामर्श प्रधानभूतविशेष्य में स्पृष्ट रहता है। इसलिए शब्द और अर्थ की एकता की शब्दात्मिका प्रतीति होती है। कभी-कभी शब्द को अपने स्वरूप में ही निर्दिष्ट रहता है। उस अवस्था [illegible] में। यहाँ शब्द का स्वरूप ही अनुयोग है। वही प्रधान है। बाह्य अर्थ के प्रतिपादन की दशा में स्वरूप और अर्थ का भेद के रूप में अवभास होता है। शब्द अपने को व्यक्त करता है और अर्थ को भी प्रकाशित करता है। अर्थ का प्रकाशन अभिधीयमान रूप में करता है। अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति शब्द अभिव्यंजक रूप में करता है। अध्यारोपित विषयभाव प्राप्त कर लेता अभिधायक का रूप लेता है। जो शब्द के अभिधान का विषय होता है उसे अभिधेय कहा जाता है किन्तु अर्थ के साथ स्वरूप का सामानाधिकरण्य स्वरूप का

अर्थ के रूप में परामर्श आवश्यक है। वाचकता में अभिधीयमानता नहीं होती। पश्यन्ती (परवाक्) के वक्तभूमि उपारूढ परामर्शमय प्रकाशस्वभाव वाचक होता है। उसमें परामृश्यमानात्मक वाच्यता का अविरोध होता है। जो वक्तृ शक्ति से युक्त होता है वही कर्मशक्ति का आधार उसी समय नहीं होता। क्योंकि स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य एक साथ एक समय में नहीं रह सकते। जो प्रतिपादक है वह प्रतिपाद्य नहीं।

इस तरह शब्द और अर्थ के सामानाधिकरण्य से अभेद अध्यास नाम का संबंध व्यक्त होता है। योग्यता और कार्यकारण में भी फल की दृष्टि से अध्यास सम्बन्ध ही प्रमुख है।

जैसे इन्द्रियों की अपने विषय में योग्यता अनादि सिद्ध है उसी तरह शब्दों का अर्थ के साथ योग्यता-सम्बन्ध अनादि सिद्ध है। यद्यपि इन्द्रियाँ कारक होने के कारण अज्ञात ज्ञान को ही उत्पन्न करती हैं, शब्द ज्ञापक हैं वह अपने ज्ञान द्वारा अर्थ बुद्धि का हेतु होता है फिर भी पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा न होना दोनों में समान है।

शब्द और अर्थ में कार्यकारण भाव भी है। क्योंकि शब्द अर्थ का कारण है, शब्दपूर्वक अर्थ की प्रतीति होती है। श्रोता के मन में जो अर्थ शब्द सुनने के बाद झलकता है उस अर्थ का जनक शब्द है। अर्थ भी शब्द का कारण है। क्योंकि वक्ता पहले मन में अर्थ को रखकर ही उसके लिए शब्द का प्रयोग करता है। इसलिए दोनों ओर से कार्यकारण भाव होने के कारण शब्द और अर्थ का अध्यास लक्षण अभेद सम्बन्ध माना जाता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि उपारूढ है। ओदन भुक्त जैसे वाक्य में भी शब्द और अर्थ का परिज्ञान बुद्धि अधीन है। इसी दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के नष्ट होने पर भी अभिधेयता के रूप में नित्यत्व बना रहता है। घट आदि शब्दों के उच्चारण से अर्थाकार ज्ञान सदा उद्बुद्ध होता है। इसलिए प्रवाहनित्यता के रूप में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

अतीत अनागत आदि शब्दों के भी अर्थ होते हैं और इस आधार पर यहाँ भी सम्बन्ध नित्यता है। शशविषाण आदि असत् पदार्थ में भी बुद्धि परिकल्पित सत्ता रहती है और इस आधार सम्बन्ध वहाँ भी है। उपचारसत्ता के आधार पर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की उपपत्ति की जाती है।

> सर्वत्रोपचारसत्तारूढ एव शब्दार्थ इत्युक्तं भवति।
> क्रियाकारकभावेनापि चार्थानां निरूपणं बौद्धमेव ॥
>
> —हेलाराज वाक्यपदीय ३ सम्बन्ध समुद्देश ५१

शब्द चाहे भाव-बोधक हो अथवा अभाव बोधक हो अर्थ का अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष दशा में होती है। अस्तु प्रवाहनित्यता के आधार पर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

शब्द और अर्थ के अनित्य सम्बन्ध के मानने पर अथवा शब्द को नित्य न

कर काय मानने पर शब्द और अर्थ की व्यवस्था लक्षण के अनुसार होती है ।

कार्यो शब्द इति दर्शने लक्षणादेव शब्दानामर्थव्यवस्था ।

—कयट महाभाष्यप्रदीप ?।१।६

संस्कृतव्याकरणदर्शन लोकविज्ञान लोकमत को प्रमाण मानता है इसलिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में भी लोक ही प्रमाण माना जाता है

शब्दार्थसम्बन्धे लोकव्यवहार एव प्रमाणं, नान्यत ।

—कयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।९३

लोक में अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसलिए व्याकरणदर्शन में भी उसको सामने रखकर ही विचार किया जाता है। शब्द से अर्थ नहीं बनाए जाते। अर्थ के लिए शब्द का आश्रय लिया जाता है

न हि शब्दैरर्था उत्पाद्यन्ते । यथोक्त न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्

—कयट महाभाष्यप्रदीप २।२।२९

अवश्य ही दार्शनिक धरातल पर अर्थ शब्द से वस्तु अर्थ न लेकर शब्दार्थ रूप अर्थ लिया जाता है

इह हि व्याकरणे न वस्त्वर्थोऽर्थ, अपितु शब्दार्थोऽर्थ ।

—हेलाराज वाक्यपदीय क्रियासमुद्देश १

कभी कभी शब्दरूप को सामने रखकर अर्थ व्यवहार लोक में किया जाता है और व्याकरण में भी उसे उसी रूप में अपनाया जाता है। जैसे भ्रमर के लिए द्विरेफ शब्द का व्यवहार किया जाता है। भ्रमर शब्द में दो रेफ हैं। इस दो रेफमय शब्द लक्षण के आधार भ्रमर को द्विरेफ कहा जाता है

यद्यप्यर्थे शब्दस्य गुणभावादर्थत एव साम्य न्याय्य तथापि शब्दधर्मेणाप्यर्थस्य व्यपदेशो दृश्यते यथा भ्रमर शब्दस्य द्विरेफत्वात द्विरेफो भ्रमर । तथा द्व्यक्षर मास द्व्यक्षरमस्थि ।

—कयट महाभाष्यप्रदीप १।।१०

शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को अधिक महत्त्व देने के कारण अर्थपरिवर्तन जैसे विचार संस्कृत व्याकरणदर्शन में सम्भव नहीं थे। शब्द कभी भी अपना अर्थ छोड़ कर दूसरे अर्थ को नहीं बताता

न तु शब्द स्वार्थ परित्यज्यार्थान्तर वक्तु समर्थ शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यता प्रसङ्गात ।

कयट महाभाष्यप्रदीप २।१।६ ?।?।११५

जहाँ अर्थ में परिवर्तन दिखाई देता है उसकी व्याख्या के लिए प्राचीन वैयाकरण कई उपाय काम में लाते हैं। भर्तृहरि इसकी व्याख्या पर शब्द के मूल अर्थ से एक दूसरे अर्थ का आरोप करते हैं। उनके अनुसार शब्द के अर्थ में परिवर्तन सम्भव नहीं है अर्थ का अर्थान्तर में अध्यारोप सम्भव है।

अथवा जिन शब्दों के अर्थ में अन्तर दिखाई देता था उन शब्दों को अयुक्त अथवा दूर मान लिया जाता था। प्रवीण कुशल अभिराम अनुलोम आदि शब्द भी

रूढ़ शब्द है

> तुलया संमितं तुल्यम् । व्युत्पत्त्यर्थमेव तुलोपादीयते । रूढिशब्दस्त्वयं सदृशपर्याय । यथा प्रवीण कुशल प्रतिलोम अनुलोम इत्यवयवार्थाभाव एव तुल्यशब्देऽपि ।
>
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप १।१।६

अपनी मान्यता के कारण वे कभी-कभी कठिनाई में पड़े जान पड़ते हैं। तिल शब्द से तैल शब्द तिल के तेल के अर्थ में निष्पन्न होता है। किन्तु सर्षपतैल, इंगुदीतैल का भी लोक में व्यवहार होता था। कात्यायन ने इस समस्या को तैलच् प्रत्यय की सृष्टि कर सुलझाया था। पतंजलि ने तैल को सम्बन्ध तिल से न मानकर उसे स्वतन्त्र अव्युत्पन्न शब्द माना था

> तैल शब्दाच्च प्रत्ययो न वक्तव्य इति। प्रकृत्यन्तरं तैलशब्दो विकारे वर्तते। एवं च कृत्वा तिलतैलमपि सिद्धं भवति।
>
> —महाभाष्य ५।२।२६

कैयट ने उल्लेख किया है कि कुछ लोग तिल के विकार को ही मुख्य रूप में तैल मानते हैं। दूसरे तेल भी तिल-तैल के सादृश्य से तेल कहे जाते हैं किन्तु भेद दिखाने के लिए इंगुदी आदि उस शब्द से व्यवहृत किए जाते हैं। किन्तु कैयट इससे सहमत नहीं है। पतंजलि के अनुकरण पर वे तैल शब्द को रूढ़ शब्द ही मानते हैं

> उपमानाश्रयेणापीङ्गुदतैलमित्यादि सिध्यति। तिलविकारे मुख्यं तैलं, तत्सादृश्याद् यद्यपि तैलमिङ्गुदादिभिर्विशिष्यते। गौणसम्भवे च मुख्यतैलप्रतिपादनाय तिल विशेषणात् तिलतैलमित्यपि भवतीति केचिदाहु ।
>
> व्युत्पत्त्युपाय एव तिलतैल विकार तैलमिति। रूढिशब्दस्त्वयं स्नेहद्रव्य वाचि ।
>
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६
>
> प्रवीण शब्द की भी यही कहानी है। प्रकृष्टो वीणायां प्रवीण इति व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते। कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्।
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६

अथवा सब शब्द सभी प्रकार के अर्थ व्यक्त करने में समर्थ हैं सर्वे सर्वपदादेशा —(महाभाष्य १।१।२०) तथा व्यवहार के आधार पर किसी शब्द को किसी विशेष अर्थ में नियम कर दिया जाता है

> सर्वार्थाभिधान शक्तियुक्त शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे सद्व्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति।
>
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप—१।१।२०

अथवा शब्दशक्ति को नियत विषय में भी वे कभी कभी स्वीकार कर लेते हैं—

> नियतविषया शब्दानां शक्तयो दृश्यन्ते यथा द्विरदा इत्यादौ हस्त्यर्थाभिधानमिति।
>
> — कैयट महाभाष्यप्रदीप ५।२।२८
>
> जहाँ सामासिक या प्रतीयमान अर्थ होता है उस शब्द के स्वाभाविक शक्ति से हो समझाने की चेष्टा करते हैं

> **भवति हि पदान्तरसम्बन्धेन शब्दस्यार्थान्तरे वृत्ति यथा सिंहो माणवक ।**
>
> —न्यास ८।१।२४
>
> **अश्रुतवाक्यार्थे च पदाना वृत्ति दृश्यते ।** —कैयट महाभाष्यप्रदीप २।२।२८

अस्तु शब्द और अर्थ के नित्य संबंध की रक्षा संस्कृत के वैयाकरण किसी न किसी प्रकार करते आए है। ऊपर कहा जा चुका है कि न्यायदर्शन भी उक्त विचार क्षेत्र से बाहर का नही है। इसे कैयट ने स्पष्ट कर दिया है

> **यद्यपि नित्या शब्दा तथापि शास्त्रप्रक्रियायां क्वचिदुत्पन्नस्य लोपादिद्वारेण निवृत्ति क्रियते। क्वचिदपवादविधानेनोत्सर्गस्यानुत्पत्ति आख्यते। ततो निवृत्तिपक्षो नानुपपन्न ।** कैयट, प्रदीप ३।१।३१

शब्द के प्रकार

महाभाष्य व्याख्याप्रपञ्च के लेखक के अनुसार भर्तृहरि ने बारह प्रकार के शब्द भेदों का निरूपण किया था। **भर्तृहरिणा द्वादशप्रकारा शब्दा निरूपिता यौगिका योगरूढाश्च रूढा ।** —परिभाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव) पृ० १३५

इनमे यौगिक योगरूढ आदि भेद थे। इस तरह के कोई भेद वाक्यपदीय मे उपलब्ध नही है। व्याकरणदर्शन मे चार भेदों की चर्चा अवश्य है। वे चार भेद यौगिक रूढ योगरूढ और यौगिकरूढ है।

यौगिक शब्द वह है जो अवयवशक्ति से ही अर्थ का प्रत्यायक होता है। यौगिक शब्द के लिए अभिधेय की तरह होते है। जैसे लवण शाकम। लवणा यवागू। लवण सूप। यहा लवण शब्द लवण से संसृष्ट अर्थ में है। इसलिए यौगिक शब्द है **लवणेन संसृष्टमिति संसृष्ट इति ठक् (४।४।२२), तस्य लवणा ल्लुगिति (४।४।२४) लुक्। अतएव तद्धितार्थयोगे भूतत्वात यौगिकोत्र लवणशब्द**

—न्यास २।४।३१

रूढ शब्द—केवल समुदाय शक्ति से अर्थप्रत्यायक रूढ हैं। रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु व्युत्पत्ति से उनके अर्थ का कोई सम्बन्ध नही होता। जिन शब्दों के विग्रहवाक्य मे अन्य अर्थ होते है और वृत्ति मे अन्य वे रूढिशब्द है **रूढाना हि धर्मनियमार्थं यथाकथचित व्युत्पत्ति क्रियते। न तु व्युत्पत्तिवशेन रूढयोवतिष्ठन्त।**

—शृंगार प्रकाश पृ० ६७

कैयट के अनुसार रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति असदर्थ के आधार पर नहीं की जानी चाहिए। जहा सदर्थ संभव हो वहा असदर्थ का आश्रय रूढि मे भी नही लेना चाहिए। जहा किसी भी प्रकार से अर्थ का सम्बन्ध नहा बैठ पा रहा है वहा असत अर्थ के आश्रय से व्युत्पत्ति की जा सकती है। जैसे तैलपायिका आदि शब्दों मे।

—कैयट, प्रदीप १।२।८

योगरूढ अवयवशक्ति और समुदायशक्ति दोनों के द्वारा एक अर्थ के प्रत्यायक शब्द माने जाते है जैसे पंकज शब्द।

यौगिक रूढ शब्द वे कहे जाते हैं जो कभी रूढयथ की उपस्थापना करते हैं कभी यौगिक अर्थ की। जैसे मण्डप शब्द गृहविशेष का भी वाचक है और यौगिक अर्थ के रूप में मण्ड पान करने वाले पुरुष के अर्थ में भी आता है। कुछ लोग इस भेद को नहीं स्वीकार करते।

शब्द-वृषभ

पतञ्जलि ने शब्द स्वरूप के प्रसग में वृषभ का प्रतीक रखा है जिसमें शब्द के सभी अवयवों का परिज्ञान हो जाता है। वेद में आता है —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तास अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आविवेश ॥

—ऋग्वेद ४।५८।३

इस मंत्र में चार शृंग तीन पद दो सिर सात हाथ तीन स्थान पर बद्ध शब्द करते किसी वृषभ का उल्लेख है। व्याकरण के क्षेत्र में, यहां वृषभ, शब्दस्वरूप का प्रतीक माना जाता है और उसके अनुरूप इस मंत्र की व्याख्या पतञ्जलि आदि ने प्रस्तुत की है।

चार सिंग से अभिप्राय चार पदजातों से है—नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। कुछ लोग कर्मप्रवचनीय को भी पदजात मानते हैं। चार पक्ष में कर्मप्रवचनीय का निपात में अन्तर्भाव समझना चाहिए। कुछ लोग केवल दो ही पदजात मानते हैं— नाम और आख्यात

कर्मप्रवचनीया निपातेष्वेवान्तर्भूता इति चत्वार्युच्यन्ते। अन्येषां द्वे पदजाते नाम आख्यातं च।

—महाभाष्य दीपिका पृ० १३

उपसर्गशब्देन कर्मप्रवचनीया इह गृह्यन्ते। क्रियायोगमन्तरेणापि प्रयोग दर्शनात।

—सूक्तिरत्नाकर हस्तलिख

कुछ लोग चार सिंग का अभिप्राय चार प्रकार के वाक्यों मानते हैं। आचार्यों का एक ऐसा भी वर्ग था जो नाम आदि की व्याख्या वाक् भेद के आधार पर करता था इसका उल्लेख मल्लवादि ने किया है

न हि काचिदपि चेतना अशब्दास्ति। अनादिकालप्रवृत्तशब्दव्यापाराभ्यास वासितत्वाद् विज्ञानस्य। चैतन्यमेव पश्यन्त्यवस्था मध्यमा वैखर्योरवस्थयो रुत्थाने कारणं नामेत्युच्यते। कारणात्मकत्वात् कार्यस्य।

—द्वादशारनयचक्र पृ० ७७८

इसका अभिप्राय यह है कि चेतना शब्दमयी ही होती है। कोई चेतना अशब्द नहीं है। विज्ञान (चैतन्य) अनादिकाल से शब्दव्यापार के अभ्यास से, पुनः पुनः प्रवृत्ति से वासित होता है। चैतन्य ही पश्यन्ती अवस्था है। वह मध्यमा और वैखरी के

उत्थान में कारण होता है। फलतः उसे नाम कहा जाता है। दूसरे शब्दों में शब्द का बाह्य रूप कार्य है। शब्द का भीतरी रूप चैतन्य है, नित्य है। तीन पैर से अभिप्राय तीन काल से है। ये काल शब्द से अभिधेय हैं। अथवा अभिधान करने वाले के ही तीन काल होते हैं।

दो सिर का अभिप्राय दो तरह के शब्द से है—नित्य और कार्य। कुछ लोगों के मत में शब्द अनित्य है और कुछ लोगों के अनुसार वह नित्य है। अथवा दो से तात्पर्य जाति और व्यक्ति से है। अथवा स्फोट और ध्वनि से है। ये तीनों अर्थ भर्तृहरि के अनुसार हैं। बाद के वैयाकरण यहाँ व्यंग्य और व्यंजक भाव मानते हैं

तेन द्वौ शब्दौ। व्यंग्यव्यञ्जकौ स्फोटनादौ।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख

सात हाथ से तात्पर्य सात विभक्तियों से है। सु औ जस आदि प्रतीकवाली सात विभक्तियाँ हैं। अथवा शेष (सम्बन्ध) के साथ छः कारक ही सात विभक्ति रूप में उल्लिखित हैं। तीन स्थान पर बद्ध से अभिप्राय ध्वनि अभिव्यक्ति के तीन स्थानों—उर, कण्ठ, सिर (मूर्धा) से है। रोरव शब्द रव का प्रतीक है। वृषभ (महादेव) शब्द रूप में मानव में अवस्थित है।

इस प्रतीक में शब्द के आन्तर स्वरूप (उरस्थ रूप), बाह्य स्वरूप (रव ध्वनि) शब्द के व्याकरणपरक यथार्थ रूप [illegible] साथ निर्देश है। साथ ही उस युग में इस तथ्य का साक्षात्कार हो चुका था कि शब्द मानव की अनुपम उपलब्धियाँ हैं। वृषभ शक्ति का प्रतीक है। शब्द शक्ति है। वृषभ गर्जन का प्रतीक है। शब्द से निनाद होता है। शब्द के दो रूप हैं। शब्द कार्य है, वह कृत्रिम है, बनता है, नष्ट होता है। शब्द नित्य है, यह सनातन है, अविच्छिन्न है। उसके मूल (भौतिक) रूप के पीछे उसका सूक्ष्म (चैतन्यमय) स्वरूप छिपा है। शब्द व्याडि के मत में सिद्ध है।[1]

शब्द एकत्ववाद और शब्द नानात्ववाद

शब्द एकत्ववादी का मत है जिसके अनुसार अर्थभेद होने पर भी शब्द एक ही रहता है। गौ शब्द का अर्थ गाय, इन्द्रिय, किरण आदि है पर अर्थभेद के कारण शब्दभेद नहीं होता। शब्द गौ एक ही है।

नानात्ववादी [illegible] के अनुसार एक ही शब्द भिन्न भिन्न अर्थ में भिन्न भिन्न

१. [illegible]

शब्द के रूप म गृहीत हाना चाहिए । गाय का बाधक गो शब्द और इन्द्रिय का बोधक गो शब्द भिन्न भिन्न ह । उनम एकता का भान सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा के बल पर होता है ।

शब्द के कार्यत्व पक्ष म और नित्यत्व पक्ष म एकत्ववादी और नानात्ववादी अपने अपने सिद्धान्त अपनाए रहत ह ।

एकत्ववादी दर्शन क अनुसार जाति-व्यक्ति व्यवहार की सम्भावना नही है । क्योकि जाति के बिना भी एक बुद्धि या एक प्रत्यय की प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाया करेगी । इसलिए उनके मत म जाति भेद निबन्धन सत्तामनि-सम्बन्ध भी नही है ।

एकत्ववादी के अनुसार शब्द क नित्यत्वपक्ष म एकत्व मुख्य होता है, अथात उपचार से एकता नही होती बल्कि स्वाभाविक रूप म हाती है । कभी कभी कारण-भेद स प्राप्त भेद म उपचरित एकत्व मानना पडता है किन्तु भेद म भी अभेद ज्ञान के सदा हान से प्रकल्पित एकत्व मुख्यसदृश ही है । शब्द के कार्यत्व पक्ष म भी एक वण या एक पद क एक बार उच्चारण के बाद पुन उच्चारण करने पर यह वही वण है वही पद है ऐसी बुद्धि सदा देखी जाती है । इस अभेद बुद्धि से शब्द के एकत्व की कल्पना की जाती है ।

एकत्व दशन का ही मान कर कात्यायन न एकत्वादकारस्यसिद्धम (वार्तिक अइउण) कहा है । उपलब्धि क व्यवधान स वण या शब्द की एकता नष्ट नही हाती । वस्तुत व्यवधान उपलब्धि म होता है, वण मे नही । वण की अभिव्यक्ति के साधन की क्रियाशीलता स वण की उपलब्धि होती है, अन्यथा नही होती । जैसे भिन्न देशा मे स्थित द्रव्या म एक साथ ही गृहीत सत्ता सत्ता के रूप म एक ही रहती है अपना एकत्व नही छोडती वस ही वण भी भिन्न काल मे उच्चरित होकर भी अभेद प्रत्यय के कारण एकत्व नही छोड पात हैं ।

नानात्ववादी दशन क अनुसार शब्द क नित्यत्व या कार्यत्व पक्ष म, नानात्व मुख्य रहता है और एकत्व औपचारिक होता है । नानात्ववादी को भी औपचारिक एकत्व मानना पडता है । क्योकि शब्द व्यवहार एकत्व के बिना सिद्ध नही हाता । एक शब्द का उच्चारण किया गया पुन उसी शब्द का द्वितीय बार उच्चारण किया गया । अब यदि उस शब्द क प्रथम उच्चरित स्वरूप से द्वितीय उच्चरित स्वरूप का भेद माना जाए ता अथ म गडबडी सभव है । एक व्यक्ति जब गो शब्द कहेगा और उस गो शब्द के अथ को पहले से जानने वाला व्यक्ति उसका अथ समझ जाएगा, परन्तु किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का वही व्यक्ति नही समझ पाएगा क्योकि उस उस अन्य व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का सकेत ज्ञान नही ह । अत नानात्ववादी भी गौण-रूप म एकत्व की सत्ता स्वीकार करत है । गो शब्द के लगभग नव अथ होते है । इन नवो अर्थो म नव तरह के गो शब्द ह । किन्तु गो द्रव्य का बाधक गो शब्द एक ही ह । इसी तरह किरण द्रव्य का बोधक गो शब्द एक ह । इसी तरह विभिन्न अर्थो के साथ उनका एकत्व लगा हुआ ह । भिन्नार्थक एक पद म और भिन्न पदो म स्थित एक ही वण म, नित्यत्व और कार्यत्व दोनो पक्षो म नानात्व मुख्य है और एकत्व औपचारिक ह ।

स्फोट के प्रकाशक विभिन्न वर्णों में विभक्त होने पर भी स्फोट की हानि नहीं होती। एक ही अर्थ शब्द में विभक्त प्रतीत होता है। यद्यपि [illegible] अनेक बार में व्यक्त हो सकती है। भिन्न भिन्न समय में वह सुना जा सकता है अनेक स्थानों में व्यक्त हो सकता है। ध्वनि आदि बाह्य निमित्त के प्रभाव से वह भिन्न रूप में भी सुना जा सकता है और प्रयोक्ता की भिन्नता या उच्चारण वैशिष्ट्य के कारण भी वह भेद रूप में भासित हो सकता है। परन्तु है वह एक ही। जिस तरह एक ही पुरुष की शीशे या जल आदि में छाया निमित्तभेद से भिन्न भिन्न रूप में दिखाई देती है परन्तु पुरुष एक ही है उसी तरह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न रूप में उच्चरित शब्द भी वस्तुतः एक ही है। उसमें भेदकल्पना भ्रम है।

इसी तरह भिन्न वाक्यों में स्थित एक पद भी अपना एकत्व नहीं छोड़ता। अक्ष शब्द जुए के अर्थ में गाड़ी के धुरे के अर्थ में और विभीतक के अर्थ में व्यवहृत होता है। विभिन्न वाक्यों और विभिन्न अर्थों में व्यवहार किया जाता हुआ भी वह अक्ष शब्द अपने मूलरूप में एक है। कभी-कभी नाम और आख्यात पदों में भी परस्पर एकता दिखाई देती है। जैसे अक्षि अश्व आदि। अक्षि का नाम के रूप में आँख अर्थ है। क्रिया के रूप में इसका अर्थ [illegible] आदि है (अर्थात् [illegible] से और अस् से इन तीनों धातुओं से यह पद बन सकता है)। घोड़े के अर्थ में और फूलने के अर्थ में भी प्रयुक्त अश्व शब्द अपना एकत्व कायम रखता है। अश्व शब्द नाम के रूप में घोड़ा अर्थ का वाचक है और क्रिया के रूप में अश्व का अर्थ है तुम फूलो या तुम बढ़ो। (गति और वृद्धि अर्थ वाले टुओश्वि धातु के मध्यम पुरुष एकवचन का रूप अश्व है)। इसी तरह तत शब्द सर्वनाम भी है और विस्तार अर्थ वाले तनु धातु से लिट लकार मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप में क्रिया शब्द भी है। भिन्नार्थक नाम पदों में तो कुछ मात्रा में अर्थसादृश्य संभव भी है किन्तु सदृश आकार वाले नाम और आख्यात पदों में अर्थ एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण होगा। इन पदों की एकता का कारण सुनने में सादृश्य अर्थात् श्रुति अभेद है।

एकत्ववादी एक कदम और आगे जाते हैं। उनके अनुसार वस्तुतः पद और वाक्य की सत्ता नहीं है। सब वर्ण ही वर्ण हैं। पद भी वर्ण ही है। वर्ण के अतिरिक्त पद बन नहीं सकता। क्योंकि उनके अनुसार वर्ण सावयव हैं और क्रम वाले हैं। उच्चारण के बाद उनका प्रध्वंस होता जाता है। एक साथ उनका स्वतः उच्चारण भी संभव नहीं है। ऐसे स्वभाव वाले वर्णों से कोई शब्दान्तर गठित नहीं किया जा सकता। पद नाम की कोई वस्तु नहीं बनाई जा सकती। इसलिए वर्ण मात्र पद हैं। इस दर्शन के अनुसार वर्ण की भी वर्ण रूप में सत्ता नहीं है। क्योंकि वर्ण सावयव हैं। उनके अवयव उनके अवयव क्रम से प्रवृत्त होते हैं। कुछ दूर तक इनके अवयवों का बुद्धि द्वारा अलगाव किया जा सकता है। पर उसकी भी सीमा है। इनकी १६वीं कला (अवयव) व्यवहार से परे है एक तरह से अनिर्वचनीय है अव्यपदेश्य है। इसलिए जब वर्ण की ही सत्ता को ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता तो पद और वाक्य की सत्ता की चर्चा तो और दूर है

वर्णमात्रमेव पदम । तेषामपि सावयवत्वात् क्रमप्रव सावयवानामा व्यव हारविच्छेदात् तुरीयतुरीयक किमप्यव्यपदेश्य रूप व्यवहारातीत अस्ति इति न वर्णपदे विद्यते ।

—वाक्यपदीय १।७३, हरिवृत्ति, पृष्ठ ७५

अत वर्ण का समुदाय उपयुक्त दृष्टि म सभव नहीं है, परिच्छिन्न रूप वाली और सीमित अर्थ वाली नाद नाम की कोई वस्तु भी नहीं है ।

नानात्ववादी मानते है कि पद म वर्ण नहीं होते और न वर्ण म अवयव होते है । वाक्य स पदों का कोई अत्यन्त अलगाव नहीं होता । वे इस बात को तो मानते है कि वर्ण की विवक्षाजन्य ध्वनि से अभिव्यक्त वर्ण की प्रतिपत्ति (ज्ञान) पद की विवक्षाजन्य अभिव्यक्ति की प्रतिपत्ति से विलक्षण है । क्योंकि पद म समुदाय विषयक प्रयत्न की जरूरत पड़ती है वर्ण के उच्चारण म उतनी नहीं । फिर भी तुल्य स्थान करण आदि के कारण वर्णों की ध्वनियों म एक सादृश्य आ जाता है । फलत वर्ण-विभाग का ज्ञान पद का प्रतिपत्ति म आभासित होता है । अर्थात पद जिसम कोई विभाग नहीं है विभाग वाला जान पड़ने लगता है । वस्तुत पद एक है । अविच्छिन्न है । नित्य है । अभेद्य है । वह अन्तिम वर्ण (तुरीय वर्ण) से मानो अभिव्यक्त होता है । वर्णों के तुरीय (वह अन्तिम अवयव जिनसे उनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है) कल्पित हैं क्योंकि वे व्यवहारातीत और अव्यपदेश्य ह । इसलिए शास्त्र-व्यवहार म उनका एकत्व प्रसिद्ध है । परन्तु लौकिक व्यवहार मे वाक्य का प्रयोग होता है । वाक्य प्रतिपत्ति म उपायस्वरूप पद प्रतिपत्ति है । वाक्य अविच्छिन्न है । निर्भाग है । वाक्य के उच्चारण करने पर वर्ण पद आभास वाली क्रमवती जो बुद्धि पैदा होती ह वह असात्त्विक ह । वाक्य मे अभिधेयनिबन्धन भेद के अभाव के कारण उसम पद वर्ण का विवेक अवास्तविक ह । संग्रहकार ने कहा ह

न हि किञ्चित्पद नामरूपेण नियत क्वचित ।
पदानामथ रूप च वाक्यार्थादेव जायते ॥

—सग्रह वाक्यपदीय २।३१९ म पुण्यराज द्वारा उद्धृत और वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति म भर्तृहरि द्वारा उद्धृत ।

नाद के भेदाभेद दर्शन को वार्तिककार और महाभाष्यकार दोनों ने अइउण सूत्र के विवेचन म स्पष्ट किया ह । कात्यायन ने एकत्वदर्शन को अपनाते हुए एकत्वादकारस्य सिद्धम यह वार्तिक लिखा है और नानात्वदर्शन को मानते हुए 'आश्रयभाग तु कालशब्दव्यवायात' यह दूसरा वार्तिक लिखा ह ।

भाष्यकार के अनुसार अक्षरसमाम्नाय म पठित अकार अनुवृत्ति (शास्त्र का लक्ष्य म प्रवृत्ति) म उपलब्ध अकार और धात्वादि स्थित अकार एक है । अ मूल वाले प्रत्यय जस अण क आदि म अनुबन्ध कार्य सारत नहीं हो सकेगा क्योंकि उनम विशेष स्थलो के लिए विशेष अनुबन्ध इसी दृष्टि से किये गये हैं कि कित आदि के स्थान म गित आदि कार्य न होने पावें और उदात्तादि की पहचान स्पष्ट रह । यह आक्षेप कि जस एक घट से अनेक व्यक्ति एक साथ ही काम नहीं ले सकते उसी तरह वर्ण एकत्व

मानने पर एक वर्ण का उच्चारण कई व्यक्ति एक साथ नहीं कर सकते ठीक नहीं है। जिस तरह एक ही घट के दर्शन और स्पर्श जैसे कार्य अनेक व्यक्ति भी एक साथ कर सकते हैं वैसे ही अकार आदि वर्ण का उच्चारण भी अनेक व्यक्ति युगपत कर सकते हैं।

भाष्यकार ने नानात्व पक्ष का भी समर्थन किया है। कालव्यवधान और शब्दव्यवधान से (शब्द के व्यवधान में भी कालव्यवधान रहता है) और उदात्तादि गुणों के भिन्न भिन्न होने से अकार को भी भिन्न भिन्न मानना चाहिए। भिन्न होते हुए भी उसका प्रत्यभिज्ञान अत्व आदि सामान्यनिबन्धन है। अकार अश्व अर्क, अर्थ जैसे विभिन्न पदस्थलों में एक साथ ही उपलब्ध हो जाता है। एकत्वदर्शन के अनुसार ऐसा संभव नहीं है। एक ही देवदत्त एक साथ ही स्रुघ्न और मथुरा में अवस्थित नहीं देखा जा सकता। अकार विभिन्न स्थलों में एक साथ देखा जाता है। अतः अनेक है एक नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे एक ही सूर्य अनेक स्थानों में युगपत देखा जाता है वैसे एक ही अकार विभिन्न पदों में युगपत देखा जा सकता है क्योंकि एक द्रष्टा अनेक स्थानगत सूर्य को एकसाथ ही नहीं देख सकता। शब्द प्रयोगमय ध्वनि से अभिव्यक्त होता है, श्रोत्र द्वारा उसकी उपलब्धि होती है, बुद्धिद्वारा उसका ग्रहण होता है और उसका देश आकाश है। जिस तरह एक ही पृथ्वी के विभिन्न नगरों के आधार पर विभिन्न देश का व्यवहार होता है उसी तरह एक ही आकाश में विभिन्न संयोगी द्रव्यों की सीमा के कारण अनेक आकाशदेश का व्यवहार होता है। अनेक अधिकरणस्थ सूर्य की तरह अनेक अधिकरणस्थ अकार की भी युगपत उपलब्धि नहीं हो सकती।

शब्दभेद पक्ष को मान कर भाष्यकार ने लिखा — ग्राम शब्द के बहुत अर्थ हैं—शाला समुदाय वाटपरिक्षेप *(गाँव की रक्षा के लिए उसके चारों ओर का घेरा)* मनुष्य और अरण्यवाला सीमावाला और जमीन वाला। पुनः अभेद पक्ष को मानते हुए यह कहा — जब कहा जाता है कि ये नाना ग्राम एक में मिले हैं तो वहाँ ग्राम शब्द से तो पय सारण्यक ससीमक सस्थण्डिल में है। —महाभाष्य १।१।७

व्याकरणदर्शन दोनों पक्षों को ग्राह्य मानता है। श्रुति के अभेद में अनर्थान्तर में भी एक शब्द और अर्थभेद से एक श्रुति होने पर भी अनेक शब्द मानते हैं। एक के मत में भेद औपचारिक और एकत्व मुख्य है। दूसरे के मत में एकत्व व्यावहारिक और पदार्थतः (भेद) मुख्य है। ऐसी तरह अनेक शक्तियोग और एक शक्तियोग के विषय में भी विरोध है।

भर्तृहरि ने एकत्ववाद और नानात्ववाद का वर्णन वाक्यपदीय में भी किया है। विकृति याग में त्र्याम्नाय *(किसी के मत में द्व्याम्नाय)* सामधेनी ऋचाएँ गाई जाती हैं। समिन्धनार्थ होने के कारण ऋचाओं का भी नाम यही रखा गया है। इनमें प्रथम और अन्तिम ऋचाओं की तीन-तीन बार आवृत्ति की जाती है जिससे इनकी संख्या सत्रह (सप्तदश) हो जाती है। आवृत्ति में यद्यपि ऋचाओं की संख्या में अन्तर नहीं किन्तु आवृत्त ऋचाओं को विभिन्न (स्वतन्त्र) माना गया है। इसमें शब्दभेदवाद का ही अनेकता स्पष्ट जान पड़ता है। ऐसी तरह एक ही मन्त्र विनियोग के भेद से भिन्न भिन्न

माना जाता है जैसा कि ऊहमंत्रों में भी देखा जाता है

सान्निध्ये तर चवमाव तावनुपज्यते।
मन्त्राश्च विनियोगेन लभन्ते भेदमूहवत् ॥

—वाक्यपदीय २।२६०

इसी तरह सावित्री मंत्र संस्कार में दूसरा यज्ञ में दूसरा और जप में भी भिन्न माना जाता है यद्यपि उसका स्वरूप एक ही मालूम पड़ता है

अन्या संस्कारसावित्री कर्मण्य या प्रयुज्यते।
अन्या जपप्रबन्धेषु सा त्वेकेव प्रतीयते ॥

—वाक्यपदीय २।२६३

इसके विपरीत कुछ लोग वेद मंत्रों में अर्थ ही नहीं मानते। इसलिए उनके लिए अर्थ भेद में शब्द भेद की चर्चा का मूल्य नहीं है। कुछ लोग शब्द-स्वरूप को ही अर्थ मानते हैं

अनर्थकानां पाठो वा शेषस्यार्थ प्रतीयते।
शब्दस्वरूपमर्थस्तु पाठोऽन्यरूपवर्ण्यते ॥

—वाक्यपदीय २।२६१

वाक्यपदीय में एक शब्ददर्शन में शब्दोपचार प्रसिद्धि अप्रसिद्धि निमित्तक माना गया है और अर्थोपचार स्वरूपार्थत्व और बाह्यार्थ के भेद से दो तरह का माना गया है। इस प्रसंग में भर्तृहरि ने शब्द के गौण मुख्य पहलू पर भी विचार किया है क्योंकि गौण मुख्य का स्वरूप शब्द के भेदाभेददर्शन से प्रभावित है।

गौण-मुख्य विचार

शब्द एकत्ववादी के मत में गौण मुख्य भाव प्रसिद्ध अप्रसिद्ध भेद पर आश्रित है। गौर्वाहीक शब्द में गो शब्द का ही अर्थ वाहीक भी है। अन्तर इतना ही है कि गौ के अर्थ में गो शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है और वाहीक के अर्थ में कम प्रसिद्ध है (वाक्यपदीय २।२५८)।

यदि केवल शब्दोपचार माना जाए तो शब्द और अर्थ के संबंध में अनित्यता दोष आ जाएगा इसलिए भर्तृहरि ने अर्थोपचार भी माना है। शब्द का अर्थ दो तरह का होता है—स्वरूप और बाह्य। गौर्वाहीक में गो शब्द का अर्थ गो व है। जाड्य आदि के आधार पर गोत्व वाहीक से भी जुट जाता है यही बाह्यार्थोपचार है। अन्तर केवल इतना ही है कि गौ में गोत्व मुख्य है और वाहीक में उपचरित है।

—वाक्यपदीय २।२५७

इसी तरह शब्द का स्वरूप भी सभी अर्थों से अनुषक्त होता है। सर्वत्र शब्द का उसका अपना स्वरूप ही है। गो शब्द का अर्थ अपना गो शब्दरूप स्वरूप है। वह स्वरूप कभी गो जाति से जुटता है और कभी वाहीक जाति से। इसमें किसी की मुख्यता और किसी की गौणता प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है।

शब्दभेदवादी (नानात्ववादी) के अनुसार गौण अर्थ व्यक्त करने वाला गो शब्द

अन्य है और मुख्य अर्थ व्यक्त करने वाला शब्द अन्य है। शब्दभेदवाद व्याकरण दर्शन के एक मान्य सिद्धान्त पर अवलम्बित है। व्याकरणदर्शन में शब्द और अर्थ में अध्यासलक्षण संबंध माना गया है। यदि एक शब्दवाद माना जाएगा तो एक शब्द को किसी एक अर्थ में अध्यास माना जाएगा और वह उस अर्थ से अभेद प्राप्त कर लेगा फिर एक अर्थ के साथ अभेद होकर वह किसी अन्य के साथ कैसे अध्यास प्राप्त करेगा? अतः शब्दभेद पक्ष मानना चाहिए। महाभाष्यकार ने भेद पक्ष और अभेद पक्ष दोनों को स्वीकार किया है (एतच्च भेदाभेदस्वाभाव्य [illegible] भाष्यकारेण वार्तिकव्याख्यानावसरे वर्णितम्। (पुण्यराज वाक्यपदीय २।२४६)। भेदाभेद दर्शन पर भाष्यकार के मन्तव्य का ऊपर विचार किया जा चुका है।

अनेक शब्दवाद के पक्ष में अर्थभेद से शब्दभेद मानने के कारण गौण अर्थ अन्य है और मुख्य अर्थ अन्य है ऐसा माना जाता है।

गौण—मुख्यभाव के संबंध में एकशब्दवाद और अनेक शब्दवाद में एक मौलिक भेद यह भी है कि अनेक शब्दवाद के अनुसार शब्दोपचार ही उपयुक्त माना जाता है क्योंकि उसके मत में सादृश्य के कारण अभेद प्रतीत होता है मुख्य अर्थ के अधिक प्रसिद्ध होने के कारण उसके वाचक शब्द में उपचार मानना उचित है। जबकि एकत्व वाद के अनुसार अर्थोपचार का आश्रय लिया जाता है। एकत्ववादी अर्थोपचार का आश्रय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में अति प्रसंगदोष के निवारण के लिए लेते हैं। भर्तृहरि ने शब्दोपचार और अर्थोपचार दोनों का यथा अवसर आश्रय लिया है (पुण्यराज वाक्यपदीय २।२६२)।

गौण मुख्य भाव का निमित्त क्या है—गौण मुख्य का [illegible] स्वरूप क्या है इस पर भर्तृहरि ने अनेक मतों का उल्लेख किया है। कुछ प्रसिद्ध मत निम्नलिखित हैं

अर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधानपक्ष

इस मत के अनुसार सभी शब्दों के अर्थ व्यवहार में समस्त शब्द का गौण मुख्य विभाग निमित्तक होता है। निमित्त के आधार पर कभी शब्द कभी मुख्य और कभी गौण कहा जाता है। वे निमित्त अर्थ प्रकरण और शब्दान्तर के योग हैं। [illegible] [illegible] साहचर्य और [illegible] का [illegible] करता है [illegible] का भी [illegible] करता है। इनमें मुख्य और गौण व्यवहार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है।

[illegible] के अनुसार मुख्य शब्द और अर्थ वह है जिसके [illegible] [illegible] का अभिव्यक्ति हो [illegible] अभिव्यक्ति के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है वह गौण है

शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते।
स मुख्य इति विज्ञेयो [illegible]निबन्धनः॥
[illegible] प्रयोगेण [illegible] निपुणैः।
[illegible] [illegible] गौणार्थ [illegible]॥

—[illegible]

इसको कुछ लोग इस रूप में भी कहते हैं कि निमित्त तो मुख्य अर्थ होता है और निमित्ती गौण होता है। गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ सास्ना आदि वाले अर्थ को व्यक्त करने वाले गो शब्द के सम्बन्धी अर्थ को निमित्त के रूप में ग्रहण करता है इसलिए उस विषय में मुख्य अर्थ निमित्त है और निमित्ती गौण है। दूसरे शब्दों में जहाँ शब्द की गति स्खलित नहीं होती वहाँ मुख्य अर्थ और जहाँ शब्द की स्खलद्गति होती है वहाँ गौण अर्थ होता है। यह मत अर्थोपचार पक्ष में एक शब्दवाद के अनुसार है। यहाँ शब्दभेद कल्पित समझना चाहिए क्योंकि एकशब्ददर्शन पक्ष में शब्द भेद संभव नहीं है।

परन्तु भर्तृहरि ने अर्थप्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विभाग को प्रश्रय नहीं दिया है। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ का निर्णय अर्थ प्रकरण आदि के आधार पर किया जाता है जैसे पुरा, आरात आदि। पुरा और आरात शब्द का क्रमशः भूत और भविष्य और कभी दूर और समीप अर्थ होता है। प्रकरण के अनुसार उसका निश्चय हो जाता है। यदि प्रकरण सहाय अर्थ को गौण माना जाए तो पुरा आरात में भी गौण मुख्य भाव होने लगेगा पर होता नहीं है। इसलिए अर्थ प्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विवेचन उतना युक्ति युक्त नहीं है।

एकशब्दवाद और अनेकशब्दवाद दोनों पद और पदार्थ को सत्य मानकर चलते हैं। परन्तु अखण्डवाक्यवादियों के मत में पद और पदार्थ असत्य हैं। फलतः पद और पदार्थ पर आश्रित गौण मुख्य भाव भी संभव नहीं है। गौर्वाहीकः यह अखण्ड वाक्य है और इसमें गोत्वधर्म से अवच्छिन्न वाहीक लक्षण अर्थ अखण्ड रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है। जहाँ एक ही पद है वहाँ भी क्रिया चरित (छिपी) रहती है। इसीलिए कोऽयम् के प्रश्न में गौः (अस्ति), अश्वः (अस्ति) आदि के रूप में क्रिया छिपी रहती है। इसलिए एक अखण्ड वाक्य ही वाचक है। फिर भी अपोद्धार पद्धति का आश्रय लेकर पद पदार्थ की कल्पना की जाती है और प्रसिद्धि अप्रसिद्धि के आधार पर गौण मुख्य विभाग किया जाता है।

न्यूनाधिकभाव

कुछ लोग गौण मुख्य विभाग का आधार न्यून और अधिक भाव मानते हैं। धर्मों का न्यून भाव गौणता का प्रतीक है और अधिक भाव मुख्यता का द्योतक है परन्तु भर्तृहरि के मत में यह मत अव्यवस्थित है। क्योंकि न्यून और अधिकभाव अनवस्थित है। किसी धर्म का आधिक्य या प्रसिद्धि भी कभी किसी दृष्टि से न्यून हो सकती है इसलिए न्यूनाधिक भाव को गौण मुख्य विभाग का निमित्त नहीं माना जा सकता।

सादृश्य निमित्त के रूप में

कुछ आचार्यों के मत में गौण मुख्यभाव में निमित्त सादृश्य है। वाहीक में गोत्व जाति नहीं है। फिर भी गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता है क्योंकि गो व्यक्ति के

जाड्य मान्द्य आदि गुणों का वाहीक गत जाड्य मान्द्य आदि गुणों से सादृश्य है। इसी सादृश्य के आधार पर गो शब्द गोत्व रहित वाहीक के लिए भी प्रयुक्त होता है।

पुण्यराज के अनुसार यह मत भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि काश्यपप्रतिकृति काश्यप जैसे स्थलों में सादृश्य निमित्त तो है परन्तु गौणता नहीं है। इसलिए सर्वत्र सादृश्य को गौण मुख्यभाव का निमित्त नहीं माना जा सकता।

विपर्यास

गौण और मुख्य भाव के विवेचन में एक मत विपर्यास पर भी अवलम्बित है। वाहीक रूप अर्थ विपर्यास से मानो गो रूप हो जाता है। वाहीक का गो रूप होना अर्थान्तर होना है। इसलिए उसका वाचक गो शब्द गौण है। विपर्यास दो तरह से होता है— अध्यारोप रूप में और अध्यवसाय रूप में। गौर्वाहीकः इस शब्द में गो गत गुणों का वाहीक में अध्यास होता है। अतः यहाँ विपर्यास अध्यारोपित है। रजतमिदम् इसमें विपर्यास अध्यवसाय रूप में है। अध्यारोप और अध्यवसाय में अन्तर यह है कि अध्यारोप में आरोप्यमाण और आरोपविषय दोनों का भेद अपह्नुत नहीं होता जबकि अध्यवसाय में आरोप्यमाण के द्वारा आरोपविषय निगीर्ण (अपह्नुत) होता है। अध्यारोप में दो वस्तुओं में भेद होते हुए भी तादात्म्य की प्रतीति मुख्य प्रयोजन है जबकि अध्यवसाय में सर्वथा अभेद का परिज्ञान प्रयोजन होता है। वस्तुतः जहाँ अध्यारोप है वहाँ गौण मुख्यभाव हो सकता है परन्तु जहाँ अध्यवसाय है वहाँ गौण मुख्यभाव स्पष्ट नहीं होता। इसलिए केवल अध्यारोपलक्षण विपर्यास को गौणमुख्यभाव का निमित्त माना जा सकता है।

रूप-शक्ति

शब्द रूप और शक्ति से स्वभावतः सम्पन्न रहता है। औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (मीमांसा सूत्र १।१।५) इस न्याय से भी शब्द में स्वाभाविक शक्ति निहित है। शब्द रूप और शक्ति दोनों से उत्पत्तिकाल से ही युक्त रहता है। शब्द में अनेक शक्तियाँ हैं। इसलिए शब्द अपनी शक्ति के बल से अनेक अर्थ कर सकता है। अतएव कुछ विचारकों के मत में गौण मुख्य-व्यवहार रूपशक्ति निमित्तक है। मौर (हल) मुसल खग आदि अपने रूप और अपनी शक्ति से समन्वित होकर नियत अर्थ रखते हुए भी कभी कभी अन्य अर्थ को प्रकट करते हैं। जैसे किसी के खग लाओ इस वाक्य से लड़ाई की बात आ गई है इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति रूप शक्ति की महिमा है। रूप शक्ति के बल से गौण मुख्य विभाग की प्रक्रिया यह है कि शब्द श्रवणमात्र से अपने जिस स्वाभाविक अर्थ को व्यक्त करता है वह मुख्य अर्थ है और जहाँ अभिधान शक्ति के होते हुए भी अप्रसिद्धि के कारण प्रकरण आदि के सहारे यत्नपूर्वक उससे अन्य अर्थ लिया जाता है वह अर्थ गौण है

श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।
मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ॥

—वाक्यपदीय २।२९०

अन्नंभट्ट के अनुसार मुख्यता और गौणता क्रमशः शब्दान्तर निरपेक्ष और शब्दान्तर सापेक्ष अर्थ प्रतीति के आधार पर माननी चाहिए

यथा अङ्गेषु मुखस्य प्राधान्यं तथा शब्दान्तरनिरपेक्षतया प्रतीयमानस्य अर्थस्य प्राधान्यम्। शब्दस्यापि स्वशक्तिविषय-सादृश्य प्रतिपादकत्वेन मुख्यत्वम्।

—अन्नंभट्ट महाभाष्यप्रदीपोद्योतन द्वितीयभाग पृ० ३३

व्याकरण सम्प्रदाय के अनेक आचार्य शब्दार्थ को बौद्ध मानते हैं। उनके अनुसार शब्दों में गौण मुख्य विभाग सम्भव नहीं है। वक्ता जिस अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करता है प्रतिपत्ता को उस शब्द से उसी अर्थ का ज्ञान होगा अतः सर्वत्र शब्द मुख्य रूप में ही रहेगा कभी गौण न हो सकेगा। फलतः गौण मुख्य विभाग भी उपयुक्त न होगा। परन्तु भर्तृहरि इस मत को प्रश्रय नहीं देते। जिस तरह के स्वप्न का ज्ञान होने पर भी ज्ञान में सत्य और असत्य का भेद देखा जाता है। दर्शन में मृगमरीचिका में जल दिखाई पड़ता है परन्तु मृगमरीचिका जल नहीं है। चित्र में नदी, पर्वत आदि के स्वरूप निम्न और उन्नत दिखाई देते हैं परन्तु चित्रगत उच्चता या निम्नता में प्रतिघात आदि कार्यभेद नहीं होता। देश काल इन्द्रियगत भेद से वस्तु अन्यथा रूप में (अपने शुद्धरूप के विपरीत) दिखाई पड़ती है परन्तु लोक में क्रियाभेद के आधार पर और प्रसिद्धि के आधार पर उस वस्तु का अविपरीत (यथार्थ) रूप में ही ग्रहण होता है। वस्तुतः जो सत्य के विपरीत उपघातज ज्ञान है और जो अलौकिक ज्ञान है उन दोनों से व्यवहार नहीं होता। शब्द मात्र व्यवहार के निमित्तभूत होते हैं। इसलिए प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अथवा स्वतन्त्रगति या अस्वतन्त्रगति के आधार पर शब्दार्थ के बौद्ध होने पर भी शब्द के गौण मुख्य विभाग सम्भव हैं।

गौण मुख्यभाव मानकर ही गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः (परिभाषा वृत्ति सीरदेव १०३) यह परिभाषा प्रतिष्ठित है। अग्नेर्ढक् (४।२।३३) इस सूत्र से मुख्य अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है अग्निर्माणवक जैसे उपचरित (गौण) अग्नि शब्द से नहीं होता। अगौ गौः सम्पद्यते गोऽभवत् जैसे स्थानों में गौणार्थ होने के कारण ओदन्त के निपातन होने पर भी ओत् (पा० १।१।१५) से प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती।

वार्तिककार ने गोऽभवत् जैसे स्थलों में प्रकृतिभाव के निषेध के लिए ओतश्च प्रतिषेधः इस तरह का प्रयत्न किया है। इससे यह ज्ञात पड़ता है कि वार्तिककार के मत में गोऽभवत् में च्व्यर्थ लक्षण गो शब्द का मुख्य अर्थ ही है। सभी अर्थ मुख्य ही होते हैं। इसलिए गौण मुख्य भाव विभाग सम्भव नहीं है परन्तु महाभाष्यकार ने गौण मुख्य न्याय के आधार पर यहाँ प्रगृह्य संज्ञा का निर्देश किया है। इसी तरह अग्निषोम शब्द में स का षत्व होता है परन्तु अग्निसोमौ माणवकौ में नहीं होता क्योंकि दूसरा गौण हो गया है। महाभाष्यकार ने इसकी पुष्टि के लिए कहा है कि इस गौरनु-

> स्थाने तत्र । प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रियया सह यत्र गुणेषु स्थान
> विशेषे परिवृत्तेऽपि न दोषस्तत्र विद्यते ।

—वाक्यपदीय ३।१३० टिप्पणि

अभिधान और शासन । कहने का तात्पर्य है कि अभिधान में वास्तविक अभिधेयार्थ का व्याख्यान होता है उसका कोई उल्लंघन नहीं होता जबकि शासन में वह दूसरे का उल्लंघन होता है। (देखिए वाक्यपदीय ३।१३० पृष्ठ १९९)

गुण और सान्निध्य के प्रसंग में चार प्रकार के विभाग वाक्यपदीय में स्पष्ट हैं (१) गुण प्रधानता विपर्यय (२) पदार्थ सान्निध्य (३) पदार्थ वस्तु अविवक्षा और (४) उपसर्जनत्व के अविवक्षा में अन्य अर्थ का उपादान।

गुणप्रधानता विपर्यय वहाँ माना जाता है जहाँ गुण प्रधानभाव की अविवक्षा रहती है। जैसे लिंग वचन आदि का विधान आवश्यकतानुसार कर लिया जाता है। तद्धितवृत्ति 'तिङ्' (४।४।२) में स्त्रीत्व का लिंग एकवचन में एकवचन और बहुवचन काल में किया गया है। इस प्रकार आधार पर द्विवचन और बहुवचन में तथा भूत भविष्य काल में प्रयोग नहीं होना चाहिए। साथ ही स्त्रीत्व में प्रथमपुरुष के द्वारा अर्थ निर्दिष्ट है अतः उत्तम पुरुष आदि में आदि उत्तम तथा मध्यम पुरुष के साथ तद्धित प्रत्यय नहीं होना चाहिए। आख्यात में क्रिया प्रधान होने के कारण स्त्रीत्व में क्रिया प्रधान है और कर्ता गुणीभूत है। आदि तद्धित में कर्ता प्रधान है और क्रिया गुणीभूत है। परन्तु स्त्रीत्व के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण तद्धित में भी क्रिया ही प्रधान होनी चाहिए। इन सब आपत्तियों को दूर करने के लिए मान लिया जाता है कि स्त्रीत्व के प्रत्ययार्थ में संख्या काल आदि की अविवक्षा है।[१] क्रियान्त किसी संख्या द्वारा तथा किसी न किसी काल द्वारा निर्दिष्ट अनिवार्य है। अतः संख्या, काल आदि नान्तरीयक हैं। नान्तरीयक रूप में ये यहाँ अविवक्षित हैं। अतः द्विवचन बहुवचन तथा भूत भविष्य अर्थ में भी प्रयोग होता है। आख्यात के क्रियाप्रधान होते हुए भी तद्धित साधनप्रधान स्वभावतः होता है अर्थात् स्वभावतः गुण प्रधानभाव का विपर्यय हो जाता है। आख्यात में क्रिया प्रधान थी साधन (कर्ता) गौण था। तद्धित में कर्ता प्रधान है क्रिया गौण है। यही गुण प्रधानता विपर्यय है।

> आख्यातं तद्धितार्थस्य यत् किञ्चिदुपदर्शकम् ।
> गुणप्रधानभावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः ।

—वाक्यपदीय ३।३०८

जहाँ लिंग संख्या आदि का सान्निध्य अविवक्षित रहता है लिंग और संख्या प्रयोजक नहीं होते वहाँ पदार्थवदन्त अविवक्षा मानी जाती है। तस्यापत्यम्

---

१ वृत्तिकार ने यहाँ काल की विवक्षा मानी है तत्र स्त्रीत्ववान् अभूत् इति काल व विवक्षा' (वाक्यपदीय ३।१३०)
परन्तु न्यासकार पदमञ्जरीकार सभी अविवक्षा मानते हैं।

(४।१।६२), भाव (३।३।१८) जैसे स्थलों में पुल्लिंग द्वारा निर्देश किया गया है। अतः नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग से प्रत्यय नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ लिंग और संख्या नान्तरीयक हैं, अतः अविवक्षित हैं। जिस तरह अन्न की कामना से कोई व्यक्ति 'तुष और पलाल सहित शालि लाता है पुनः उसमें से अन्नादि जो कुछ लेने योग्य होता है उसे लेता है। शेष को छोड़ देता है। अथवा जिस तरह मांसार्थी शकल और कण्टक सहित मत्स्य लाता है क्योंकि शकल और कण्टक नान्तरीयक हैं पुनः लेने योग्य अन्न को लेकर शकल कण्टक आदि को फेंक देता है उसी तरह शब्द शास्त्र में भी तद्धितार्थ निर्देश आदि में तद्धितार्थ का तो ग्रहण किया जाता है और नान्तरीयक रूप में व्यक्त लिंग और संख्या को छोड़ दिया जाता है। वे विवक्षित नहीं होते। इसी को पुण्यराज ने 'पदार्थैकदेशाविवक्षा' कहा है। कैयट के अनुसार कहीं-कहीं संख्या विवक्षित होती है जैसे सुपसुपा में —

सर्वत्र हि शास्त्रेऽस्मिन् नान्तरीयकत्वादुपात्तं लिंगसंख्यं न विवक्ष्यते। क्वचित् संख्या विवक्ष्यते यथा सुपसुपेति।

—कैयट महाभाष्य ४।१।६२

स्वरूपत्याग अविवक्षा वहाँ होती है जहाँ शब्द के द्वारा उपात्त पदार्थ का त्याग कर दिया जाता है और अनुपात्त अर्थ गृहीत होता है। जैसे तस्यादित उदात्तमर्द्धहस्वम् (१।२।३२) में अर्द्धहस्व शब्द। अर्द्ध हस्व का अर्थ तो होना चाहिए ह्रस्व का आधा। पर इस अर्थ के लेने पर दीर्घ और स्वरित के अर्द्धमात्रा का ग्रहण नहीं होगा परन्तु होना चाहिए। इसलिए अर्द्ध ह्रस्व शब्द का अर्थ अर्धमात्रा कर दिया जाता है। यहाँ ह्रस्व शब्द उपलक्षण है दीर्घ और स्वरित का भी अर्द्ध ह्रस्वमित्यनेन अर्द्धमात्रा लक्ष्यते, ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्।

—काशिका १।२।३२

कुछ लोग ऊकालो ज्झस्वदीर्घप्लुत (१।२।२७) में ह्रस्व दीर्घ और प्लुत के एक साथ निर्देश होने के कारण ह्रस्व शब्द से दीर्घ और प्लुत भी लक्षित हैं ऐसा मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार अर्द्ध ह्रस्व प्रमाण के अर्थ में रूढ़ि शब्द है। निरवयव है अर्द्धह्रस्व शब्द प्रमाणवाची रूढ़िशब्द। व्युत्पत्त्यर्थं च ह्रस्वस्योपादानम्। अर्द्धमात्रार्थेनाभिधीयते।

—कैयट महाभाष्य १।२।३२

उपात्त पदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्य अर्थ का उपलक्षण भी मुख्य और नान्तरीयक का एक प्रकार है। जब कोई कहता है अभी बहुत चलना है सूर्य को देखो तो उसका उद्देश्य दिन के अवशेष भाग को दिखाना रहता है। इस स्थल में प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का उपलक्षण हो जाता है। इसी तरह काक से दधि की रक्षा करो इस वाक्य का काक शब्द अन्य जीवों जैसे कुत्ते आदि का भी उपलक्षण है। शास्त्र में भी विध्यत्यधनुषा इस वाक्य में अधनुषा पद से करणसामान्य मात्र का निर्देश माना जाता है। भाजनमस्योपाचताम इस वाक्य के कहने पर नान्तरीयक के रूप में आसनदान पात्र प्रक्षालन, अग्नि भाजन के अंग के रूप में आनिन

हान ही है।

पुण्यराज के अनुसार सन्दर्भ अविवक्षा और उपात्तपदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्यअर्थ का उपलक्षणत्व या मुख्य-नान्तरीयक के विभाग अविवक्षित वाच्यलक्षणा (ध्वनि) और विवक्षितान्यपरवाच्य लक्षणा (ध्वनि) के सूचक हैं—

—वाक्यपदीय २।२९४

मुख्य और गौण संबंधी उपर्युक्त मतों में पुण्यराज ने निम्नलिखित चार को अधिक महत्त्व दिया था

१ प्रसिद्ध अप्रसिद्धि सहित प्रकरणादि।
२ प्रकरणादि रहित प्रसिद्धि अप्रसिद्धि।
३ अध्यारोपलक्षण विपर्यास।
४ स्वरूपादि।

भर्तृहरि के मत में शब्द अनवस्था है सर्वशक्तिमान है। एक ही गो शब्द कभी जाति विशेष का अभिधायी होता है जैसे 'गौरनुबन्ध्य' में और कभी जातिविशिष्ट द्रव्य का अभिधायक होता है जैसे गौ आनीयताम् में। कुछ लोग इसे केवल जातिमात्र का वाचक मानते हैं। कभी गो शब्द परिच्छिन्न द्रव्य विशेष के लिए प्रयुक्त होता है जैसे अस्त्यत्र काचित् गां पश्यसि में। कहीं रूढ सम्बन्धों में क्रिया गुणों में गो शब्द का प्रयोग देखा जाता है जैसे जाड्य के कारण अथवा उच्छिष्ट (भाजन के कारण) अथवा सब कुछ सह लेने के कारण अथवा बहुत अधिक भोजन करने के कारण वाहीक को गौ कहा जाता है। इस तरह गो शब्द सर्वशक्तिमान है। उसका सामर्थ्य दूसरे निमित्तों के कारण नियमित होता है। इसलिए गौणभाव प्रसिद्धि अप्रसिद्धि पर निर्भर करता है। शब्द सुनने मात्र से ही जिस अर्थ में वह अवरुद्ध हो जाता है किसी दूसरे शब्द से वाच्य प्रसिद्ध अर्थान्तर को नहीं समेटता, वह मुख्य माना जाता है।

जहां शब्दान्तर से अभिधेय अर्थान्तर का अवलम्बन कर लोक में अर्थ गृहीत होता है वहां गौण माना जाता है।[33]

---

३४ एक एवायं गोशब्दो वाक्ये क्वचिज्जातिविशेषाभिधायी
तद् यथा 'गौरनुबन्ध्य' इति। क्वचित्जातियुक्ते
द्रव्यमात्रे वर्तते। तद् यथा 'गौरानीयताम्' 'गौः दुग्धानामिति'।
कश्चिदस्य जातिमात्राभिधायित्वं मन्यते। तद् यथा क्वचित्
गोशब्दः परिच्छिन्न एव द्रव्यविशेषे वर्तते। तद् यथा
अस्त्यत्र काचित् गां पश्यसीति महति गोमण्डले आसीनं यदा
गोपालकं पृच्छति (तो) ति। क्वचित् रूढि सम्बन्धेषु क्रियागुणेषु
गोशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद् यथा जाड्यात् औच्छिष्ट्यात् (?)
सर्वसहत्वात् महाशनत्वाद् वा गौर्वाहीक इति।
तस्य सर्वशक्तेः गोशब्दस्य निमित्तान्तरावच्छिद्यमान
सामर्थ्यस्य प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां गौणत्वं विज्ञायते।
वाक्यपदीय २।२४५ हरिवृत्ति, इसलिए शृंगार प्रकाश पृ० २४८ में भी उपलब्ध।

किसी आचार्य के मत में शब्द की वृत्ति स्व विषय में मुख्य में होती है। मुख्य से अन्यत्र नहीं होती। केवल रूपान्तर का अध्यारोप अर्थान्तर में किया जाता है। और इसका आधार बुद्धि का विपर्यास है। जैसे समोह अथवा भ्रम से रज्जु में सर्प के विपर्यास हो जाने पर सर्प शब्द स्वविषय में (मुख्य विषय में) प्रयुक्त होता है। इसी तरह से भूतकाल में देखे गये किसी धर्म के सादृश्यता से, अथवा भविष्य में होने वाले भूत सम्बन्धी किसी धर्म से बुद्धि में विपर्यास हो जाने से वाहीक में गोत्व लाकर सास्नावाले गो पिण्ड में ही गो शब्द का प्रयोग करना है। यहाँ केवल अर्थ रूप मात्र विपर्यास है। शब्द का अपने मुख्य विषय में व्यभिचार नहीं है।[२४]

महाभाष्यकार ने भी ताद्रूप्य का समर्थन किया है। जैसे तस्य इदं में सम्बन्ध होता है वैसे ही में प्रयम के रूप में भी सम्बन्ध होता है। यह वह है सम्बन्ध चार प्रकार से होता है—तात्स्थ्य से ताद्धर्म्य से, तत् सामीप्य से और तत् साहचर्य से। महाभाष्य में इन चारों का उदाहरण दिया है

तात्स्थ्यात मञ्चा हसन्ति। गिरि दह्यते।
ताद्धर्म्यात जटिन यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह।
तत्सामीप्यात गंगायां घोष। कूपेगर्गकुलम।
तत साहचर्यात कुन्तान प्रवेशय। यष्टी प्रवेशय।[२५]

महाभाष्यकार की यह उक्ति लक्षणा शक्ति का बीज है। यहीं से लक्षणा का विकास हुआ है। भट मित्र ने महाभाष्यकार की इस उक्ति के आधार पर पाँच प्रकार की लक्षणा का उल्लेख किया था

अभिधेयेन सामीप्यात सारूप्यात समवायत।
वपरीत्यात क्रिया योगात लक्षणा पचधा मता।

—ध्वन्यालोक लोचन में उद्धृत पृ०, २८

उपचार के रूप में भी लक्षणा के सकेत महाभाष्य में मिल जाते है
ध्रुवत्व लोके ईप्सित पूजेरुपचर्यते[२६]
लोके हि सह्या पर्वत मालामुपचरन्ति[२७]

---

२४ एकेषामाचार्याणा मुख्यान स्वविषयादन्यत्र शब्दस्य वृत्ति नास्ति। रूपान्तराध्यारोपस्तु अर्थान्तरे क्रियते। यथैवैक समोहात रज्ज्वध्ये भ्रान्तविपर्यास सर्पशब्द स्व विषये प्रयुक्ते। विपर्यान्तरे तु विषयान्तर—रूपमध्यारोपयति। तथा कस्यचिदेव सदृश धर्मस्य भूतस्य दर्शनात भाविनो वा भूतपदार्थगात् गोत्वमासाद्य (आसञ्ज्य) वाहीके प्र त रूपविपर्यासा बुद्धौ गोशब्द सास्नादिमत्येव पिण्डे प्रयुक्ते। तत्रार्थरूपमात्रविपर्यास। शब्दस्य तु विषये व्यभिचारो न दृश्यते वाक्यपदीय ३।७५६ हरिवृत्ति हस्तलेख। शृगार प्रकाश ६०७५६ में भी उपलब्ध है।
२५ महाभाष्य ४।१।४८
२६ महाभाष्य ४।१।६३
२७ महाभाष्य ४।१।६३

इस पर नागेश की टिप्पणी है

उपचरितोऽयमनेन लक्षणाबीजसम्बन्ध प्रदर्शनम् ।[३८]

लक्षणा शब्द का मूल भी महाभाष्य में मिल जाता है और वह है महाभाष्य कार का 'लक्ष्यते' शब्द का प्रयोग — **अवाच्य इत्यपि लोके लक्ष्यते महाभाष्य २।१।६६**

मुख्य और गौण के आधार पर मुख्य वृत्ति और गौणी वृत्ति का शब्द शक्ति के रूप में विचार प्रारम्भ हुआ । मुख्य के आधार पर मुख्य और जघन के आधार पर जघन्या वृत्ति की कल्पना बहुत पहले की जा चुकी थी । जघन्या शब्द का प्रचलन कम पडता गया और उपचार शब्द का ही प्रचार दर्शन के क्षेत्र में अधिक रहा । धीरे धीरे गुण शब्द उपचार का स्थान लेता गया । प्रारम्भ में गुण-कल्पना और उपचार-कल्पना समानार्थक थे । काशिका वृत्ति में गुण-कल्पना का प्रयोग उपचार-कल्पना के रूप में हुआ है

द्विगु निमित्तको तर्हि गुणकल्पनया

—काशिका वृत्ति ४।१।८८

न्यासकार ने यहाँ गुण कल्पना को उपचार कल्पना माना है

गुणनिमित्ता कल्पना गुणनिमित्तकल्पना । सा पुनरुपचारात्मिकेव वेदितव्या

—न्यास ४।१।८८

किंतु बाद में गुण-कल्पना और उपचार कल्पना में थोडा भेद माना जाने लगा । गुण कल्पना का संबंध विशेष्य से और उपचार कल्पना का संबंध विशेषण से होता है । गुणवृत्ति का अंतर्भाव उपचारवृत्ति में नहीं होता किंतु उपचारवृत्ति का अंतर्भाव गुण वृत्ति में हो जाता है ।[३९] इसी तरह लक्षणा और उपचार शब्द के भी प्रयोग प्रारम्भ में समानार्थक रूप में देखे जाते हैं ।

जयादित्य और वामन ने लक्षणा और उपचार के समानार्थक प्रयोग किए हैं

यदा तु लक्षणया वर्तते तदा पुम्येण समानाधिकरण्य भवति

काशिका ५।२।२२

न्यासकार के अनुसार यहा लक्षणा का अर्थ उपचार है—लक्षणा उपचार — न्यास ५।२।२२ । न्यासकार ने अन्यत्र भी लक्षणा को उपचार के रूप में लिया है ।

लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा । सा पुनरिहोपचार एव ।

—न्यास ४।१।८८ पृ० ८८४

कुमारिल भट्ट ने लक्षणावृत्ति और गौणीवृत्ति में भेद माना है । अभिधेय से संबंध में प्रवृत्ति को लक्षणा कहा जाता है अभिधेय से लक्ष्य गुण के योग से गौणी वृत्ति होती है ।

---

३८ महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।६३

३९ तत्र हि विशेष्येषु गुणकल्पना विशेषणेषूपचार इत्यनेन प्रदर्शित पुरस्तात् । न च गुणवृत्तिरुपचारवृत्तावन्तर्भवति अपितूपचारवृत्ति गुणवृत्तौ श्रृंगार प्रकाश, पृ० ३२८ मैसूर संस्करण ।

अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिलक्षणेष्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥[४०]
अभिधेयसम्बन्धित्वरूपापरित्यागप्रदर्शनार्थोऽविनाभूतशब्दः

—न्यायसुधा, पृ० ४६८

अभिनवगुप्त ने भी लक्षणा और गौणीवृत्ति में भेदसूचक वक्तव्य उद्धृत किया है

यदाह गौणे शब्दप्रयोगे, न लक्षणायामिति ।[४१] कैयट ने भी गौणीवृत्ति का आश्रय लिया है (गौणीवृत्तिरिच्छन्ना शब्दप्राश्रययणीया—प्रदीप ४।४।६२) किन्तु अधिकतर इनका एक मानकर विशेष विचार हुआ है। न्यायसूत्रकार ने लक्षणा को भी उपचार रूप में लिया है।[४२]

व्याकरणदर्शन में अखण्ड वाक्यार्थ की महत्ता होने के कारण लक्षणा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की गई है किन्तु कल्पित पद पदार्थ विचार के अवसर पर उसके स्वरूप के संकेत अवश्य मिलते हैं जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। नागेश ने लक्षणा पर विस्तृत रूप में विचार किया है। किंतु वह साहित्यशास्त्र की छाया से संस्पृष्ट है। भर्तृहरि ने मुख्यावृत्ति और गौणीवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है।[४३]

भर्तृहरि ने नानात्ववाद के प्रसंग में प्रतीयमान शब्द और प्रतीयमान अर्थ का संकेत किया है। प्रतीयमान अर्थ ही आनन्दवर्धन का 'ध्वनि सिद्धान्त' है जिसके सहारे व्यंजनावृत्ति पल्लवित हुई है। कुछ आचार्यों का मत था कि श्रूयमाण शब्द ही सदा प्रत्यायक नहीं होता अनुमीयमान शब्द भी प्रत्यायक होता है।

केचित् मन्यन्ते नावश्यं श्रूयमाण एव शब्दः प्रत्यायकः। किं तर्हि। नियमेनानुमीयमानोऽपि श्रूयमाणवदेव प्रत्ययमुत्पादयति ।[४४]

अनुमीयमान शब्द का भाई प्रतीयमान शब्द है। किसी ने विप्रतिपत्ति उठाई थी कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नहीं हो सकता।[४५] इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त का बीज व्याकरणदर्शन में मिल जाता है। केवल प्रतीयमान अर्थ का ही नहीं आनन्दवर्धन के अविवक्षित वाच्य आदि वादों का भी मूल भर्तृहरि के वचन हैं। भर्तृहरि ने प्रश्न उठाया है कि शब्द के प्रयोग होते हुए भी अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है? स्वयं उसका उत्तर घटप्रदीप न्याय के आधार पर दिया है। दीपक का उपयोग घट आदि द्रष्टव्य वस्तु के लिए किया जाता है। दीपक घट के साथ साथ

---

४० तत्त्ववार्तिक, पृ० ३१८ काव्यप्रकाश में 'अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्ति।' पाठ मिलता है जो अशुद्ध है।

४१ ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १५३, चौखम्बा संस्करण

४२ न्यायसूत्र २।२।६३

४३ वाह्यपरिक्लेपेऽन्य मुख्यावृत्ति। पुस्पादिषु तु गौणी।

—महाभाष्यत्रिपादी पृ० १२८ पूना संस्करण।

४४ वाक्यपदीय २।३६१ हरिवृत्ति हस्तलेख

४५ कथं प्रतीयमानः स्याच्छब्दोऽर्थस्याभिधायकः।

—वाक्यपदीय २।३६३

सन्निहित तृण कीट आदि को भी व्यक्त कर देता है। प्रकाशन शक्ति केवल ईप्सित का ही अभिव्यंजक नहीं है। किंतु सभी अभिव्यक्त इष्ट नहीं भी हो सकते हैं। अविवक्षित पक्ष का यही आधार है

> तत्रेदं विचार्यते । कथमभिधीयमानोऽयं शब्दवान् अविवक्षित इति। तस्मादिदं प्रश्नस्यते। प्रदीपो हि प्रकाशनशक्त्या युक्तः तमसि यस्य प्रकाशयि तव्यस्य घटादेरुपलिप्सितस्य अर्थस्य दर्शनायमुपादीयते। ततो सौ अर्थान्तरस्यापि संयोगिनः समानदेशस्य तृणपांसुकीटसरीसृपादेः घटादिवदेव प्रकाशनं करोति। न ह्यत्र प्रकाशनशक्तिरिष्टविषयमेव परिगृह्णाति।[४६]

यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्धन ने भी वाच्य और प्रतीयमान के प्रसंग में दीपशिखा का उदाहरण दिया है।[४७]

---

४६ वाक्यपदीय २।३०० हरिवृत्ति हस्तलेख

४७ आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।

— ध्वन्यालोक १।९

3

पदार्थ-विचार

अपने देश के विचारकों विशेषकर वैयाकरणों की यह मान्यता रही है कि पदार्थ सत्ता के निर्देशक हैं (न पदार्थः सत्तां व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।९४)। शब्द-प्रयोग सत्तापेक्ष ही होता है। भर्तृहरि भी इस बात को मानते हैं कि सभी शब्दों की प्रवृत्ति में मूल कारण सत्ता है।[1] अतः शब्द के आधार पर भी अभिधेय का विवेचन किया जा सकता है। अभिधेय के रूप में सम्पूर्ण विश्व ही है। इसके विवेचन के लिये पदार्थों का वर्गीकरण किया जाता है। वैयाकरणों ने शब्द की प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थों का उल्लेख किया है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। और इसी के अनुसार शब्द प्रवृत्ति भी चार तरह की मान ली गई है जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द और द्रव्य शब्द (यदृच्छा शब्द)। ये चार भेद प्रायः स्वीकृत हैं। वस्तुतः शब्द प्रवृत्ति के वर्गीकरण के विषय में विवाद है और वह प्राचीनकाल से ही है। जिनप्रबुद्धि के अनुसार, निरुक्तकार और शाकटायन त्रयी शब्द प्रवृत्ति को मानने वाले हैं। उनके मत में जाति शब्द, गुण शब्द और क्रिया शब्द हैं। यदृच्छा शब्द नहीं हैं। कुछ लोग केवल क्रिया शब्द मानते हैं। जाति शब्द और गुण शब्द भी क्रिया शब्द से ही विकसित हुए हैं। अतः शब्दों की प्रवृत्ति एक ही है और वह है क्रिया शब्द।

> तत्रैव निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दाश्च। न सन्ति यदृच्छाशब्दा इति। अथवा जातिगुणशब्दानामपि क्रियाशब्दत्वमेव। धातुजत्वात्। तदेवमेकैव शब्दानां प्रवृत्तिः क्रियाशब्दा इति। —न्यास ३।३।१, पृष्ठ ६७८

कुछ आचार्य केवल जाति शब्द ही मानते हैं। उनके मत में तथाकथित गुण शब्द, क्रिया शब्द और यदृच्छा शब्द भी जाति शब्द ही हैं। क्योंकि पय, शङ्ख, बलाका आदि में परमार्थतः भिन्न रूप में स्थित शुक्ल गुण का शुक्ल रूप में ज्ञान शुक्लत्व के आधार पर होता है। गुड तण्डुल आदि की पाक क्रिया में भी पाकत्व सामान्य है। यदृच्छा शब्द डित्थ आदि में भी डित्थत्व है। शब्द की दृष्टि से बाल वृद्ध, शुक

---

[1] प्रवृत्तिहेतुं सर्वेषां शब्दानामौपचारिकीम्।
सत्तां सत्ता पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते॥

—वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ५०

आदि के द्वारा विभिन्न रूप में उच्चरित किए जाने में अनुगताकार प्रत्यय डित्थत्व के सहारे ही सम्भव है। अर्थ की दृष्टि से भी उसमें डित्थत्व बाल वृद्ध आदि अवस्था भेद से भेद होते हुए भी यह वही डित्थ है इस प्रकार के ज्ञान होने के कारण सर्वथा सम्भव है। इसलिए सभी प्रकार के शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति को ही मानना चाहिए। इस दृष्टि से महाभाष्य का चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति वाला मत ठीक नहीं बैठता। अतः महाभाष्यकार के समर्थक केवल जाति शब्दवादियों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि गुण शब्द क्रियाशब्द आदि का ग्रहण जातिशब्द के रूप में नहीं किया जा सकता। क्योंकि पय, शंख, बलाका आदि का शुक्ल गुण परमार्थतः भिन्न भिन्न नहीं है। उनमें भिन्नता आश्रयभेद से जान पड़ती है जैसे एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग मुकुर आदि आश्रय भेद से भिन्न भिन्न जान पड़ता है। वस्तुतः शुक्ल गुण एक ही है। शुक्ल व्यक्ति के एक ही होने के कारण अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दों में घट ही नहीं सकता। इसी तरह क्रिया भी आश्रयभेद से भिन्न भिन्न जान पड़ती है। वस्तुतः वह भी एक ही है। इसलिए केवल जाति शब्द न मान कर भाष्योक्त मत स्वीकार करना चाहिए।

> गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दप्रवृत्तिर्नोपपद्यते। अत्राभिधीयते—गुणक्रियाशब्दसञ्ज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदयुक्तानामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वं न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्याभिमतम्।
>
> —मुकुलभट्ट अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ५

पाणिनि चारों भेद मानते जान पड़ते हैं। जाति गुण और क्रियापरक तो उनके अनेक सूत्र हैं। यदृच्छा शब्दों की मान्यता का आधार कैयट के मत में उनका अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५) सूत्र है। पतञ्जलि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। परन्तु इस सूत्र की रचना से जान पड़ता है पाणिनि अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्दों की सत्ता स्वीकार करते हैं—

> अर्थवत् सूत्रारम्भाच्च अव्युत्पन्ना यदृच्छा शब्दाः सन्तीत्यवगम्यते।
>
> —कैयट प्रदीप महाभाष्य प्रत्याहारसूत्र ऋलृक्

यदृच्छा शब्दों का ग्रहण शब्दाकृति के आधार पर होता है। शब्द की आकृति का अर्थ मैं यह यह है (सोऽयम्) के रूप में आरोप करते हैं। शब्दाकृति का ग्रहण कैसे होता है इस पर दो तरह के मत हैं। पहले मत के अनुसार एक शब्द में कई वर्ण होते हैं। क्रम से उनका उच्चारण वक्ता करता है। अन्त्यवर्ण के उच्चारण के बाद एक विशिष्ट संस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को अन्त्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहते हैं। यों तो पूर्व के वर्णों से भी कुछ न कुछ संस्कार होता ही है परन्तु वह संस्कार धुंधला होता है या अस्पष्ट होता है। अंतिमवर्णजन्यज्ञान पूर्ववर्णजन्यज्ञान की सहायता से जाति का ग्राहक होता है। दूसरा मत अन्त्यवर्ण ज्ञान को मुख्यता नहीं देता। उसके अनुसार सभी वर्णज्ञानों से जिसमें अन्त्यवर्ण ज्ञान भी गृहीत है बुद्धि विशेष संस्कार वाली हो जाती है। अन्त्यवर्ण के ज्ञान के बाद एक विशेष प्रकार का ज्ञान पैदा होता है जो जाति का ग्राहक होता है (अत्रानेकं दर्शनम्। केचित् मन्यते अन्त्यवर्णाव

सम्बन्धं पदज्ञानं ततः पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहायं जातेर्ग्राहकम्। अपरे मन्यन्ते अन्त्यवर्णज्ञानसहितं सर्वैरेवपूर्ववर्णज्ञानैः संस्कारारम्भः। अन्त्यवर्णज्ञानानन्तरं तु जातिग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।२३, पृष्ठ ३३) शब्दाकृति की सत्ता में प्रमाण यह है कि शुक सारिका, मनुष्य आदि द्वारा उच्चरित वृक्ष आदि विशेष शब्द 'यह वही वृक्ष आदि शब्द हैं' इस ज्ञान को जगाते हैं। इसी अनुगताकार प्रतीति या अभेद ज्ञान के आधार पर शब्दाकृति की सत्ता का अनुमान किया जाता है। (तस्यास्तु शब्दाकृतेरस्तित्वं शुकसारिकामनुष्यादिप्रयुक्तेषु वृक्षादिशब्दव्यक्तिविशेषेषु स एवायमिति प्रत्ययाभेदादनुमीयते—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१५ पृष्ठ ३३)। जो लोग शब्दाकृति अथवा शब्द के संहृतक्रमस्वरूप की सत्ता नहीं मानते उनके मत में भी वक्तृयदृच्छानिर्मित काल्पनिक समुदाय रूप डित्थ आदि शब्द संज्ञा के अभिधान में समर्थ होते ही हैं (येषामपि च डकारादिवर्णव्यतिरिक्तसंहृतक्रमस्वरूपाभावात् न डित्थादिशब्दस्वरूपं संहृतक्रमं संनिविशते इति दर्शनं तेषामपि वक्तृयदृच्छाभिव्यज्यमानशक्तिभेदानुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य डित्थादेः शब्दस्य तत्तत्संज्ञाभिधानाय प्रवृत्तमानत्वात् यदृच्छाशब्दत्वं डित्थादीनामुपपद्यत एव—अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ४)।

महाभाष्यकार ने त्रयी शब्दप्रवृत्तिवाले पक्ष का भी उल्लेख किया है और यदृच्छा शब्दों की सत्ता नहीं भी स्वीकार की जा सकती है इसका उल्लेख भी किया है। कैयट ने भाष्यकार का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रशस्यरूपा क्रिया और गुण के अध्यारोप से त्रयीपक्ष मानने पर भी काम चल सकता है।

सम्बन्ध पदार्थ

कुछ लोग सम्बन्ध को भी पदार्थ के रूप में मानते हैं। कुछ बौद्ध आचार्य द्रव्य शब्द के स्थान पर सम्बन्ध को मानते हैं

> यापि जाति गुण क्रिया सम्बन्धभेदेन चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः साप्यनेनैव वस्तुधर्मभेदेन संगृहीता —कर्णकगोमिन प्रमाणवार्तिक टीका पृष्ठ १४१)।

कैयट ने स्वार्थ के रूप में सम्बन्ध को स्वीकार किया है।

> स्वोऽर्थः स्वार्थः। स चानेकप्रकारो जातिगुणक्रियासम्बन्धस्वरूपलक्षणः
>
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप ५।३।७४

सादृश्य पदार्थ

मीमांसकों में प्रभाकर के अनुयायी सादृश्य को एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में मानते हैं। वैयाकरणों में नागेश ने सादृश्य पदार्थ की सत्ता व्याकरण की दृष्टि से भी मानी है। गम्भीरायाम् देवदत्ता के भाष्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है

> "सादृश्यमतिरिक्तं पदार्थ इति मतेनेदम्।"
>
> —महाभाष्य प्रदीपोद्योत, २।१।५५

मंजूषा में भी नागेश ने लिखा है

"सादृश्यं तु साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोज्य सदृशाविषयप्रत्ययतावच्छेदकतया सिद्धम्, सदृशपदार्थे सत्कारोद्बोधकस्य सत्समतत्वेन तत्वेन तत्कारणतावच्छेदकतया च सिद्धमखण्डमतिरिक्त पदार्थ ।"—मंजूषा पृष्ठ ६३४ ६३५

नागेश के मत में सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने में गौतम कणाद-आदि गृहीत पदार्थों की सख्या के साथ विरोध नहीं होगा क्योंकि गौणमोक्ष प्रमय पदार्थ में उसका अन्तर्भाव हो जायगा।

काव्यप्रकाश में उपमा पर विचार करते हुए भी नागेश ने सादृश्य पदार्थ की आवश्यकता स्वीकार की है

सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा, सादृश्य चातिरिक्त पदार्थ इति।

इसी तरह पण्डितराज जगन्नाथ की—

अतएवालकारिकाणामपि सादृश्य पदार्थान्तर न तु साधारणधर्म रूपमिति विज्ञायते —रसगगाधर, पृ० ४२३

इस उक्ति पर टीका करते हुए नागेश ने कहा है कि आलकारिकों के साथ साथ वैयाकरणों के मत में भी सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है

अपिना वैयाकरणादिसमुच्चय । निरूपित चैतत् कुवलयानन्दव्याख्यायामञ्जूषायाञ्च । —रसगगाधर की ममप्रकाशिनी टीका पृ० ४२३

"नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति"—इस परिभाषा की व्याख्या में नागेश के शिष्य वैद्यनाथ ने भी सादृश्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार की है।

अभाव आदि पदार्थों का गुण में अन्तर्भाव

वैयाकरण अभाव को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते। वे उसे गुण के अन्तर्गत मानते हैं। द्रव्य, जाति और क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ गुण के भीतर मान लिये गये हैं।

एवमप्यभावस्य कथं गुणबहिर्भाव ? जातिक्रियाद्रव्यातिरिक्तस्यैव चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति वदद्भिः वैयाकरणैः तदनुसारिभिश्च आलकारिकैः गुणत्वाङ्गीकारात —वैद्यनाथ कुवलयानन्द की चन्द्रिका टीका पृ० ४८

तत्त्वबोधिनीकार ने भी द्रव्य, जाति और क्रियापदार्थ से अतिरिक्त पदार्थों को गुण माना है।

संज्ञा जाति क्रिया शब्दान् हित्वान्ये गुणवाचिन । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्याकरग्रन्थनिष्कर्षादेव निर्णय इति ।

—सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १६३६ पृ० १४८

चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थ ही प्रमुख रूप में मान्य रहे हैं। कालिदास ने इसे यों व्यक्त किया है

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।

प्रवृत्तिरासीच्छब्दाना चरितार्था चतुष्टयी[१] ।

—कुमारसम्भव २।१७

भर्तृहरि के अनुसार अष्ट पदार्थ

भर्तृहरि के स्वतन्त्र दर्शन में पदार्थ एक ही है और वह है शक्ति । शक्ति के ही रूपान्तर साधन, क्रिया दिक् काल आदि हैं

शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिता ।
दिक् साधनं क्रिया काल इतिवस्त्वभिधायिनः ॥

—वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १

परन्तु व्याकरण का लौकिक दर्शन से सम्बन्ध होने के कारण उसके विवेचन के लिए भर्तृहरि ने अपनी स्वतन्त्र विचार परम्परा के अनुकूल आठ पदार्थों की कल्पना की है और इन आठ पदार्थों में व्याकरण का सर्वस्व आ जाता है। वाक्यपदीय में आठ पदार्थों का विवेचन है । आठ पदार्थ इसके शरीर हैं

इह पदार्थाष्टकविचारपरत्वात् वाक्यपदीयस्य

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१

ये आठ पदार्थ निम्नलिखित हैं—

(१) अपोद्धार पदार्थ
(२) स्थित लक्षण पदार्थ
(३) अन्वाख्येय पदार्थ
(४) प्रतिपादक पदार्थ
(५) कार्यकारण भाव
(६) योग्यभाव सम्बन्ध पदार्थ
(७) धर्म
(८) साधु असाधु ज्ञान (अर्थप्रतिपादन) प्रयोजन पदार्थ

इन पदार्थों का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वयं किया है ।[३]

वृषभ ने भी इन आठ पदार्थों को शास्त्र का शरीर माना है

तदेव शब्दार्थसम्बन्धफलानां प्रत्येक द्वैविध्याद् अष्टौ पदार्था भवन्ति' ।[४]

---

२ भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार ने ब्रह्मा के चार मुख के आधार पर चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति को मान्यता नहीं दी है क्योंकि सम्बन्ध आदि भी शब्द प्रवृत्ति के भीतर आ जाते हैं। उसके मत से दिव्य मानुष का 'समय' (व्यवहार) ही शब्दप्रवृत्ति है—

तथा चोक्तं ब्रह्मणश्चतुर्मुखेन चतुष्टया शब्द प्रवृत्ति चरितार्थेति न नियमः । अन्ये हि सम्बन्धादय शब्दानां तत्त्वाद्धक्तिरपि । अतः समये दिव्यमानुषे शब्दप्रवृत्तिरिति ।
—पुरुषोत्तम परिभाषा वृत्ति एपेटिक्स ३, पृ० १२७

३ वाक्यपदीय १।२४-२६

४ वाक्यपदीय १।२४, वृषभ टीका पृष्ठ ३६

अपोद्धारपदार्थ

अपोद्धार विभाग को कहते हैं (अपोद्धारो विभागः)[५]। एक में अविभक्त रूप में ग्रथित वस्तु के अवयव को लेकर विचार करने की अथवा एक अखण्ड वाक्य के अलग अलग शब्दों पर विचार करने की पद्धति अपोद्धार नाम से प्रसिद्ध थी। परन्तु अपोद्धारपदार्थ के ठीक ठीक अभिप्राय के विषय में टीकाकारों में भी मतभेद है। प्रसिद्ध टीकाकार वृषभ को भी कुछ संशय था क्योंकि उसने इसके अर्थ कई प्रकार से किये हैं

> अपोद्ध्रियन्ते इत्यपोद्धाराः पदार्थाश्चेति। अपोद्धृतानां वा पदार्थानामर्थाः। अपोद्धारेण परिकल्पिता वा अर्था इति शाकपार्थिवादिः। अपोद्धारसम्बन्धिनो वेति षष्ठीसमासः।[६]

वृषभ के अनुसार यहां पदार्थ शब्द में पद पारिभाषिक नहीं है। अपितु जिससे अर्थ जाना जाए उसके अर्थ में है। पद्यते नेनार्थ इति पदं न पारिभाषिकम्। तस्यार्थः पदार्थः।[७]

भर्तृहरि के मत में अपोद्धार पदार्थ उस अनुमानित अथवा कल्पित प्रक्रिया का नाम है जिससे किसी अत्यन्त संसृष्ट वस्तु के उसके सम्बन्धों के आधार पर विभाग किये जाते हैं। अत्यन्त अविभक्त वस्तु व्यवहारातीत होती है। परन्तु अपनी परम्परा अथवा अपने आगम के आधार पर लोग उत्प्रेक्षा से काम लेते हैं और भावना अभ्यास से व्यवहारातीत के भी व्यावहारिक रूप काल्पनिक ही नहीं देते हैं। इसी तरह शब्द भी जो अपने यथार्थरूप में अविभक्त है काम चलाने के लिये कल्पना द्वारा विभक्त मान लिया जाता है। अन्वयव्यतिरेक के आधार पर समुदाय के भीतर से अलग अलग उसके रूपों की कल्पना की जाती है।[८]

> तत्रापोद्धारपदार्थो नामात्यन्तसंसृष्टः संसर्गादनुमेयेन परिकल्पितेन रूपेण प्रकृतप्रविवेक इवापोद्ध्रियते। प्रविविक्तस्य हि तस्य वस्तुनो व्यवहारातीतं रूपम्। तत्तु स्वप्रत्ययानुकारेण यथागमं भावनाभ्यासवशादुत्प्रेक्षया प्रायेण व्यवस्थाप्यते। तथैव वाक्यविभागे शब्दात्मनि कार्यार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां रूपसमनुगमकल्पनया समुदायादपोद्धृतानां शब्दानामभिधेयत्वेनाश्रीयते।[९]

हेलाराज ने अपोद्धार पदार्थ के विषय में वाक्यवादी और पदवादी दोनों के मतों का विवेचन किया है। वाक्यवादियों के मत में वाक्य अखण्ड है। उसकी व्युत्पत्ति

---

५ वाक्यपदीय, १।२४ वृषभ टीका, पृष्ठ ३५

६ वही, पृष्ठ ३५

७ वही, पृ० ३६

८ वृषभ ने प्रविविक्त के स्थान पर प्रविभक्त पाठ रखा है। उसके अनुसार यहां तात्पर्य यह है कि प्रविभक्त पदार्थों में प्रवृत्ति नेत्र लिए व्यवहार संभव नहीं है (अप्रविभक्ते पदार्थे न कश्चिन्निवृत्तिः। लक्षणा व्यवहार)। परन्तु यह अर्थ भर्तृहरि के मूल अभिप्राय से मेल नहीं खाता।

९ वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।२४ पृष्ठ ३६

के उपाय के रूप में उपोद्धार का आश्रय लिया जाता है और अपोद्धार अखण्ड वाक्य से शब्द की कल्पना-बुद्धि में अलग कर उसे पदनाम देने का नाम है। इस मत में पदव्युत्पत्ति काल्पनिक है।

पदवादियों के मत में पद अखण्ड है। कल्पना द्वारा पद में प्रकृति, प्रत्यय, आगम, आदेश आदि की व्यवस्था की जाती है। पदवादियों के मत में वाक्य को अखण्ड मान कर पद व्युत्पत्ति करना इसलिए उपयुक्त नहीं है कि वाक्य अनन्त है और इसलिये उन्हें आधार मान कर पद व्युत्पत्ति करना सहज नहीं है। परन्तु सम्पन्न पद के द्वारा पद व्युत्पत्ति समझना अपेक्षाकृत सहज है।

परन्तु पदवादी और वाक्यवादी दोनों ही अपोद्धार को प्रमाण्य मानते हैं। यही इनमें समानता है। दोनों पक्ष में अपोद्धार के लिए अन्वयव्यतिरेक का आश्रय भी समान है। अपोद्धार के लिए अन्वयव्यतिरेक का उल्लेख वार्तिककार ने भी 'सिद्ध त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्' के रूप में किया है।[10]

अपोद्धार का पदार्थ और वाक्यार्थ की दृष्टि से विवेचन स्वयं भर्तृहरि ने भी किया है। उनके मत में वक्ष एक शब्द कहने में उसके अर्थ की सत्ता या असत्ता का परिज्ञान ठीक से नहीं होता। केवल वृक्ष शब्द कहने से वृक्ष है कि नहीं है यह संदेह बना रह सकता है। ऐसे स्थलों में हम अस्ति (है) या नास्ति (नहीं है) जैसे क्रिया पदों का आक्षेप करते हैं और तब वहीं अर्थ स्पष्ट होता है (वृषभ के अनुसार वस्तुतः क्रियापद का आक्षेप नहीं होता अपितु क्रिया लक्षणरूप अर्थ का ही न्याय के रूप में आक्षेप होता है। केवल इस पद के अभिधेय होने के कारण उस पद से क्रियापद का आक्षेप कहा जाता है अथवा आक्षेप फल होने के कारण वैसा कहा जाता है)। वाक्य से ही ऐसे स्थलों में भी बोध होता है इसलिए वाक्यार्थरूप अपोद्धार उपयुक्त है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने पूर्वपदार्थ उत्तरपदार्थ प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ प्रत्ययार्थ जैसे शब्दों का व्यवहार किया है और एक ही शब्द की व्युत्पत्ति के लिये विभिन्न तरह की कल्पनाएं की हैं इससे पदार्थ के रूप में भी अपोद्धार लक्षित होता है।[11]

अपोद्धारपदार्थ शब्द अपोद्धार और अर्थ अपोद्धार दोनों रूप में गृहीत है। हेलाराज के अनुसार अर्थ अपोद्धार ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि वाक्य से उद्धृत पद का वाक्यार्थान्तर के रूप में कल्पना की जाती है। अर्थ अपोद्धार ही पद अपोद्धार का निमित्त है। यदि अर्थ अपोद्धार को पद अपोद्धार का निमित्त न माना जाय वर्ण अपोद्धार भी होने लगेगा और उसकी व्युत्पत्ति की चिन्ता करनी पड़ेगी

> अर्थापोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम्। अनिमित्ते हि तस्मिन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसङ्गात्तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्[12]

---

१० हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १
११ वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।२४ पृ० ३७
१२ हेलाराज, वाक्यपदीय ३ जातिसमुद्देश १

स्थितलक्षण पदार्थ

स्थित लक्षण पदार्थ उसको कहते हैं जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है जो अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। वृषभ के अनुसार मतभेद से स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है और वाक्यार्थ भी। प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ पदार्थ में तिरोहित हो जाते हैं पर पदार्थ तिरोहित नहीं होता। इसलिये पदार्थ स्थित लक्षण है। इसी तरह वाक्य वादियों की दृष्टि में पदार्थ वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में उपाय मात्र हैं, वाक्यार्थ के ज्ञान हो जाने पर वे विभक्त रूप में पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़ते उनका वाक्यार्थ में तिरोभाव हो जाता है जब कि वाक्यार्थ ज्यों-का-त्यों रहता है। इस दृष्टि से वाक्यार्थ स्थित लक्षण है। हेलाराज ने वाक्यार्थ को स्थित लक्षण के रूप में ग्रहण किया है उसे निरंश माना है साथ ही उसे क्रियास्वभाव से संपृक्त कारकशरीरवाला भी माना है।

वाक्यार्थश्च स्थितलक्षणः निरंशः कारकोल्ललित शरीरक्रिया स्वभावतः।[13]

भर्तृहरि ने व्याकरणदर्शन में स्थित लक्षण को पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों रूप में मानने का आधार संग्रहकार और महाभाष्यकार को माना है। संग्रहकार ने कहा है कि पदनाम की कोई निश्चित वस्तु नहीं है। पद का रूप और उसका अर्थ वाक्यार्थ से उत्पन्न होते हैं।

न हि किंचित्पदं नामरूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥[14]

महाभाष्यकार ने भी न वा पदस्यार्थे प्रयोगात् (१।२।६४) और यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः स (महाभाष्य २।३।४६) कहा है जिससे पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों के स्थितलक्षण होने की पुष्टि होती है।

परन्तु भर्तृहरि का झुकाव स्थितलक्षण को वाक्यार्थ रूप में लेने की ओर है। स्थितलक्षण का विवरण देते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि वह वाक्य रूप का उपग्रह अथवा उपग्राह्य (बाधक) है। उसके उद्देश्य विभाग (पद प्राप्ति) कल्पित होते हैं। वह विशिष्ट (नियताश्रय) है। एक है। क्रिया उसकी आत्मा है। वह अविच्छिन्न निरन्तर उच्चरित शब्द के अर्थग्रहण का उपाय है। अथवा विच्छिन्न (अपोद्धार पद्धति से उद्धृत) पदों के अर्थ के ग्रहण का उपाय है। विच्छेद प्रतिपत्ति जैसे नमस्यति में नमः तथा करोति के रूप में अलग अलग प्रतिपत्ति यद्यपि अर्थ कहने के लिए क्रिया और साधन भेद से जान पड़ती है परन्तु वस्तुतः वहाँ इस तरह का क्रिया साधन भेद नहीं है। विशेषकर प्रतिभा के उपसंहार काल में अर्थात् अर्थ के ज्ञान काल में अभिन्न एकाकार प्रतिभा के परिबोध में वाक्यार्थ स्थितलक्षण सिद्ध होता है। हेलाराज के अनुसार स्थितलक्षण और अपोद्धारपदार्थ में भेद यह है कि स्थितलक्षण में प्रक्रिया

---

१३ हेलाराज वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १

१४ वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।२४, पृष्ठ ४० पर उद्धृत।

भेद से भेद नहीं होता अपोद्धार में होता है।

—वृत्ति समुद्देश २४८

अन्वाख्येय पदार्थ

अन्वाख्येय पदार्थ भी दो रूप में स्वीकृत हैं। पद अवधिक अन्वाख्यान और वाक्य अवधिक अन्वाख्यान के रूप में। इस पर अन्यत्र विचार किया जा चुका है। पद के अन्वाख्येय पक्ष में ही प्रातिपदिक शब्द की व्यवस्था की जाती है। उसी पक्ष में विशेषणविशेष्यभाव ठीक से बैठता है। नीलोत्पल शब्द में नील में विशेषणता और उत्पल शब्द में विशेष्यता है। यदि पद अन्वाख्यान पक्ष नहीं मानेंगे तो इन स्थलों में विभाग की पहचान सम्भव न होगी फलतः विशेषण विशेष्यभाव भी न हो सकेगा। वाक्यसंस्कार पक्ष को मान कर वार्तिककार ने न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात् (महाभाष्य २।४।६२) कहा है। युगपदधिकरण विवक्षा में द्वन्द्व होता है।

चाहे पद अन्वाख्यान पक्ष हो अथवा वाक्य अन्वाख्यान पक्ष हो दोनों में अनियम देखा जाता है। पद में प्रकृति प्रत्यय के विभाग में अनियम देखा जाता है जैसे मरुत्त इन्द्र एकागारिक, गिरिश आदि शब्दों में। मरुत्त शब्द में कुछ लोग मरुताऽस्य सन्ति इस अर्थ में तप्पर्वमरुद्भ्याम् (महाभाष्य ५।२।१२३) से तप् प्रत्यय मानते हैं। कुछ लोग मरुद्भिः दत्त इस अर्थ में प्रत्यय मानते हैं। इसी तरह गिरिश शब्द गिरौ शेते इस अर्थ में ड प्रत्यय से बनाया जाता है, गिरिंश्यति इस अर्थ में क प्रत्यय से बनाया जाता है। भर्तृहरि ने गिरौ गिरा एक ऐसा भी विग्रह गिरिश शब्द के लिये किया है (वाक्यपदीय २।१७२ हरिवृत्ति)। वाक्य अन्वाख्यान पक्ष में भी कल्पितपदों द्वारा अर्थ निर्णीत होता है

> अर्थात् पदं साभिधेयं पदात् वाक्यार्थनिर्णयः।
> पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम् ॥[15]

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ शब्द के निमित्त रूप और उसके योग्यरूप पर आश्रित हैं। पक्षभेद से सम्बन्ध के द्योतक हैं। कार्यकारणभाव सम्बन्ध और योग्यभावसम्बन्ध दोनों ही व्याकरणदर्शन में मान्य हैं। अर्थाकार बुद्धि का वस्तु के साथ अध्यवसाय होने पर उस अर्थ के उद्बोधन में शब्द निमित्त होता है। इसी तरह अर्थ (वस्तु) के दर्शन में भी शब्द स्वरूप का उसके अर्थ में यह वही है (सोऽयम्) इस रूप में अध्यवसाय करते हैं। यहां नाद से अभिव्यक्त पर वस्तुतः अन्तःकरण सन्निवेशी शब्द की प्रवृत्ति में अर्थ दर्शन ही कारण है। दूसरे शब्दों में, गो आदि कार्य हैं और शब्द कारण है तथा शब्द कार्य है और गो आदि कारण हैं। भर्तृहरि इस मत के पोषक हैं कि वाक् ही गो आदि में परिणत हो जाती है अथवा गो आदि वस्तु ही

---

[15] वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति में उद्धृत। वृषभ के अनुसार यह संग्रहकार का श्लोक है। परन्तु शौनक के बृहद्देवता २।११७ में भी है।

की साधु असाधु व्यवस्था मुनित्रय के मत पर बहुत दूर तक अवलम्बित है।

> **नियतकालाश्च स्मतयो व्यवस्था हेतव इति मुनित्रयमतेन अद्यत्वे साध्वसाधु प्रविभाग** —कैयट, महाभाष्य प्रदीप ५।१।२१

भेद अभेदपूर्वक होता है इस न्याय के आधार पर हेलाराज ने असाधु (अपभ्रंश) की प्रकृति साधु शब्द को माना है। उनके मत में शब्द विद्या की भांति है और अपभ्रंश अविद्या की भांति। जैसे विद्यावस्था अभिन्नब्रह्मात्मिका होती है उसी तरह साधुशब्दमयी विद्या भी। जैसे विद्या के भेद मिथ्या अथवा काल्पनिक है उसी तरह शब्दविद्या के भेद भी अवास्तविक हैं। महाभाष्यकार ने जो अपभ्रंश और साधु शब्द दोनों में अर्थ बताने की शक्ति एकसी (समान) मानी है वह अविद्यादशा को सामने रख कर है।[१९] पुण्यराज ने शब्द के छ प्रकार माने हैं और असाधु शब्द को भी उनके भीतर ग्रहण किया है। उनके अनुसार शब्द दो तरह के होते है। साधु और असाधु। साधु शब्द शास्त्रीय और प्रायोगिक रूप में दो तरह के होते हैं। शास्त्रीय शब्द तीन तरह के होते हैं—प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभयरूप। दाधर्ति आदि निपातन सिद्ध शब्द प्रतिपाद्य माने जाते हैं। प्रकृति प्रत्यय आदि प्रतिपादक माने जाते है। इतव्य जैसे शब्द उभयरूप माने जाते हैं। इस तरह असाधु शब्द को लेकर शब्द छ प्रकार के होते है।[१९अ]

उपर्युक्त आठ पदार्थों में व्याकरण की दृष्टि से अपोद्धारपदार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पद अपोद्धारपदार्थ दो तरह का है। सिद्ध और साध्य रूप। इसी को नाम और आख्यात भी कहते हैं। सिद्ध रूप कारक से व्यक्त है और साध्यरूप क्रिया से। ये दो रूप अंश और अंशी की कल्पना पर आश्रित है।

> **तत्र चांशांशिकल्पनयाऽपोद्धारे कारकात्मा क्रियात्मा च प्रविभागाद् इति सिद्धसाध्यलक्षणात्द्वयविषय पदापोद्धारो द्विविधो नामाख्यातरूप ।**[२०]

हेलाराज के अनुसार यद्यपि नामपदों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता शब्द की दृष्टि से रहती है फिर भी अर्थ की दृष्टि से प्रातिपदिकार्थ रूप द्रव्य की प्रधानता मानी जाती है। सिद्ध रूप ही प्रधान है।

उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय का नाम और आख्यात में अन्तर्भाव हो सकता है। क्योंकि नाम सिद्ध अर्थ का व्यंजन करते है और उन सिद्ध अर्थों की विशेषता द्योतित करने वाला निपात सहज ही नाम के भीतर गहीत हो सकता है। निपात चाहे सिद्ध अर्थ का साक्षात व्यक्त करता हो अथवा सिद्ध अर्थ की किसी विशेषता को बतलाता हो उसके नाम के भीतर लेने में कोई विशेष अड़चन नहीं है। अव्ययों में स्व आदि जैसे कुछ सत्वप्रधान (द्रव्य प्रधान) है इसलिये वे भी नामपद ही हैं और जो क्रिया प्रधान अव्यय हैं जैसे हिरुक आदि उनका आख्यात में अन्तर्भाव हो जायगा क्योंकि केवल तिङन्त ही आख्यात नहीं है। आख्यात के भीतर वह सब कुछ गहीत है जो

१९ हेलाराज वाक्यपदीय ३ सम्बन्ध समुद्देश ३०
१९अ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८३
२० हेलाराज वाक्यपदीय ३ जाति समुद्देश १, पृष्ठ २

क्रिया प्रधान है। इसी दृष्टि से उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय को भी आख्यातपद माना जा सकता है। यद्यपि उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय साध्य अर्थ के द्योतक होते हैं।

कुछ लोग पदपदार्थ को चार भागों में विभक्त करते हैं। नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। ये ही सबसे प्राचीन विभाग हैं। यास्क ने ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'[२१] की व्याख्या वैयाकरणों की दृष्टि से नाम आख्यात उपसर्ग और निपात के रूप में की है। महाभाष्यकार ने इसका समर्थन 'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'[२२] कह कर किया है। नाम आख्यात से उपसर्ग निपात इस दृष्टि से अलग माने जाते हैं कि नाम और आख्यात साक्षात् वाचक हैं जब कि उपसर्ग और निपात साक्षात् अर्थवान् नहीं हैं वे विशेष अर्थ के द्योतन मात्र हैं।

उपसर्ग और निपात में परस्पर भेद यह है कि निपात सिद्ध (कारक) और साध्य (क्रिया) दोनों के अर्थ विशेष के द्योतक होते हैं जबकि उपसर्ग केवल साध्य के अर्थ विशेष के द्योतक होते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से निपात को वाचक इसलिये नहीं माना जाता है कि च आदि निपातों का वाक्य के आरम्भ में प्रयोग नहीं होता उनका स्वतन्त्र प्रयोग भी नहीं होता जैसे इव आदि का उनके साथ षष्ठी आदि विभक्तियाँ नहीं लगतीं लिंग और संख्या का योग भी उनके साथ नहीं होता।

वैयाकरणमते हि प्राक्प्रयोगस्वातन्त्र्यप्रयोगाभावात् षष्ठ्याद्यश्रवणात् लिंगसंख्याविरहाच्च वाचकत्वलक्षणेन द्योतक निपाता इत्युद्घोष्यत एवेति।''[२३]

निपात का प्रयोग पाद पूरण के लिये भी होता रहा है।

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत।
सत्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरण ॥[२४]

शाकटायन के अनुसार उपसर्ग स्वतन्त्र रूप में भी वाचक थे। उत्तर (उत्+तर) उत्तम (उत्+तम) निवत् (नि+वत्) उद्वत (उत्+वत्) आदि शब्द इस बात के द्योतक हैं कि कभी उपसर्ग भी स्वतन्त्र अर्थ रखते थे अन्यथा उनसे तर तम आदि प्रत्यय संभव नहीं थे। परन्तु शाकटायन यास्क के अनुसार उपसर्गों का नाम और आख्यात से अलग रूप में वाचक नहीं मानते थे। वैयाकरण-सम्प्रदाय में उपसर्ग द्योतक रूप में ही गृहीत है।

कर्मप्रवचनीय भी क्रियाजनित सम्बन्ध विशेष के द्योतन के द्वारा क्रिया विशेष के प्रकाशक होते हैं इसलिए कुछ लोगों के अनुसार कर्मप्रवचनीय का उपसर्ग में अन्तर्भाव संभव है। फलतः पद चार प्रकार के माने जाने चाहिये।

कुछ आचार्य कर्मप्रवचनीय को चार प्रकार के अतिरिक्त पाँचवाँ पद मानते

---

२१ ऋग्वेद १।१६४।४५ यास्क निरुक्त १३।८ परिशिष्ट
२२ महाभाष्य भाग प्रथम, पृ० ३ कीलहार्न संस्करण
२३ ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ३५४ (चौखम्बा संस्करण)
२४ दुर्गाचार्य वृत्ति निरुक्त ११६

हैं। उनके मत मे उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय मे मौलिक भेद है। कर्मप्रवचनीय प्रतिनान्त क्रियागत सबध को द्योतित करते हैं जबकि उपसर्ग वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं। यहा वर्तमान पद का तात्पर्य क्रियाविशेष के सम्बन्ध के द्योतन से है। क्रियागतविशेषद्योतनपूर्वक हि सम्बन्धावच्छेदनमत्र वर्तमानम—हेलाराज वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १) महाभाष्यकार ने इसके लिए सर्पति शब्द का प्रयोग किया है। अतिक्रान्त क्रिया का तात्पर्य अप्रयुज्यमान से है। भाव यह है कि सभी प्रकार के सम्बन्ध क्रिया-कारकपूर्वक होते है। कभी तो क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न कर विगत हो जाती है जैसे, राजपुरुष म। यह राजा का पुरुष है क्योंकि राजा इसका पालन-पोषण करता है इसलिए पालन रूप क्रिया आश्रयमाश्रयीभावलक्षण सम्बन्ध का उत्पन्न कर अलग हो जाती है। कभी क्रियापद स्वय श्रूयमाण होते हुए सम्बन्ध व्यक्त करता है जैसे मातु स्मरति म माता सम्बन्धी स्मरण के रूप म स्मृति क्रिया श्रूयमाण रूप म ही निमित्तनिमित्तिभावलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न करती है।[२५]

क्रिया-पद जब सम्बन्ध को उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है उस दशा म सदेह हो सकता है कि वह सम्बन्ध क्रियाजनित है कि नही। ऐसी अवस्था मे कर्मप्रवचनीय काम देता है। वह उस अश्रूयमाण क्रिया के विशेष सम्बन्ध को द्योतित करता है

"तदयमश्रुतक्रियाविषयसम्बन्धे कर्मप्रवचनीयाना महिमा

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ साधन शेष ३

क्रिया कृत विशेष सम्बन्ध के द्योतक होने के ही कारण इन्हे कर्मप्रवचनीय कहते है

> अतएव कर्मप्रोक्तवन्त, क्रियाकृतविशेषसम्बन्ध द्योतयन्तीति कर्मप्रवचनीया उच्यन्ते।[२६]

अश्रूयमाण क्रिया का आक्षेपक कर्मप्रवचनीय नही माना जाता। जिस शब्द से क्रिया का आक्षेप होता है वह कारक विभक्ति से जुडता है। जैसे प्रादेश विपरिलिखति' इस वाक्य म वि शब्द मान क्रिया का आक्षेप करता है क्योंकि इस वाक्य से प्रादेश विमाय परिलिखति यह अर्थ भासित होता है। विमान क्रिया से प्रादेश रूप कर्म का आक्षेप हुआ है इसलिये उसके साथ द्वितीया का योग होता है। यदि कर्मप्रवचनीय के द्वारा अश्रूयमाण क्रियापद का आक्षेप होगा, उसके योग म भी कारक विभक्ति ही होगी फलत कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया २।३।८ इस सूत्र की कोई आवश्यकता नही रह जाती, वह व्यर्थ होगा। पुन 'शाकल्यस्य सहितामनु प्रावर्षत जैसे स्थलो म आक्षेप सभव भी नही है। क्रिया कारक म ही परस्पर आक्षेप सम्भव है। जैसे

---

२५ काशिकाकार और वाक्यपदीयकार में, पुण्यराज के अनुसार मातु गुणै स्मरणम् के विषय में विवाद था। काशिकाकार अधिगर्थदयेशा कर्मणि (२।३।५२) में कर्मणि शब्द का प्रयोजन यह मानते हैं कि करण में न हो। उनके मत में गुणै स्मरणम् यहा होता है न कि गुणाना स्मरणम्। भर्तृहरि के अनुसार करण को शेष विवक्षा में गुणाना स्मरणम् गुणै स्मरणम् भी होता है।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२००

२६ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२०१

अपेक्षित, जिसकी अभिव्यक्ति में । संहिता में तो षष्ठी विभक्ति है इसलिए यहाँ आक्षेप संभव नहीं है । इसलिए क्रियापद या क्रिया के अप्रयुज्यमान होने पर भी संहिता और प्रवर्षण में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध अनु से द्योतित होता है ।

इसके अतिरिक्त, अन्य शब्दों की जिसमें सम्बन्ध क्रियाकृत लक्षित नहीं है कर्मप्रवचनीय संज्ञा उपसर्ग और गति संज्ञा के निषेध के लिए की जाती है जिससे अभिष्टुतम् जैसे शब्दों में षत्व का निषेध हो जाता है । यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा न्यायनिरूपण रूप में है—

> क्वचित्तु प्रवृत्तिनिमित्ताभावेऽपि वचनसामर्थ्यादिव संज्ञा प्रवर्तते । यथा सु पूजायामिति षत्वादिनिवृत्तये गत्युपसर्गसंज्ञा बाधनार्था ।
>
> —कैयट महाभाष्य १।४।८३

परन्तु कर्मप्रवचनीय क्रिया का वाचक (द्योतक) नहीं होता । यदि क्रिया का द्योतक होता तो उससे कारकविभक्ति (द्वितीया) स्वभावतः हो जाती वह सम्बन्ध का भी वाचक नहीं होता षष्ठी के अपवादभूत द्वितीया से ही सम्बन्ध उक्त हो जाता है इसलिए सम्बन्ध का भी वाचक कर्मप्रवचनीय नहीं माना जाता । वह क्रियापद का आक्षेपक भी नहीं माना जाता । जैसाकि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है । वह क्रियाविशेष द्योतक भी पूर्ण रूप से नहीं माना जा सकता क्योंकि 'अनु हरिं सुराः' जैसे वाक्यों में क्रियापद का सान्निध्य नहीं देखा जाता । इसलिए कोई दूसरा उपाय न देखकर (पारिशेष्यात्) कर्मप्रवचनीय ही क्रियाजनित सम्बन्ध का भेदक (विशेषक) अर्थात् द्योतक मान लिया जाता है । भाव यह है कि कर्मप्रवचनीय के प्रयोग के साथ क्रियाजनित सम्बन्ध की प्रतीति होती है वह सम्बन्ध किसी अन्य पद द्वारा ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि उन पदों की शक्ति सीमित है और वे अपना स्वाभाविक अर्थ ही व्यक्त कर सकते हैं । अतः सम्बन्ध के द्योतक किसी अन्य के न होने के कारण अन्ततः कर्मप्रवचनीय ही क्रियाजनित उस सम्बन्ध का द्योतक मान लिया जाता है । जहाँ अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वहाँ उस अधिक अर्थ को वाक्यार्थ भी माना जाता है । परन्तु शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् में क्रियाजनित सम्बन्ध को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता । क्योंकि अधिक रूप में वाक्यार्थ सदा उपात्त साधन का उपात्त साध्य के संसर्ग के रूप में होता है अथवा उपात्त विशेषण का उपात्त विशेष्य के संसर्ग के रूप में होता है । यहाँ तो अनुपात्त पदार्थ का वाक्यार्थ से प्रतीति होती है । इसलिए अपदार्थ रूप वाक्यार्थ के रूप में सम्बन्ध का ग्रहण यहाँ सम्भव नहीं है । अनु की केवल पश्चाद्भाव मात्र अर्थ में शक्ति मान कर क्रियाजनित सम्बन्ध के अवच्छेदक के रूप में उसे स्वीकार करना उचित है । भर्तृहरि के अनुसार सम्बन्ध का निमित्तनियम शब्द से सदा गृहीत नहीं होता । निमित्त विशेष के ग्रहण के लिए ही माना कर्मप्रवचनीय है—

निमित्तनियमः शब्दात् सम्बन्धस्य न गृह्यते ।

कर्मप्रवचनीयस्तु स विशेषेऽनुरुध्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, शेष समुद्देश ३

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥

—वाक्यपदीय २।२०६

कर्मप्रवचनीय के सम्बन्ध के भेदक के विषय में भी दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि कर्मप्रवचनीय के द्वारा सम्बन्धान्तर विलक्षण सम्बन्ध स्वरूपतः अवच्छेद्य होता है। दूसरा यह कि क्रियाविशेषजनितत्व के रूप में सम्बन्ध कर्मप्रवचनीय द्वारा अवच्छेद्य होता है। सम्बन्ध के स्वरूपतः अवच्छेद के पक्ष में विशेषक्रियाजनितत्व की प्रतीति सम्बन्ध विशेष के पर्यालोचन से हो जाएगी। जैसे, अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः इस वाक्य में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित हैं। यहां ब्रह्मदत्त का स्वामी (ईश्वर) है। पञ्चाल जनपद (स्व) है। दोनों का सम्बन्ध परिपालन करदान आदि क्रिया द्वारा ही प्रभावित है। इसी तरह अभिमन्युरर्जुनं प्रति इस वाक्य में सादृश्य लक्षण सम्बन्ध प्रति द्वारा द्योतित है। फिर वह सम्बन्ध सम्प्रहरण आदि क्रिया कृत है यह पर्यालोचना से जान पड़ता है। शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् इस वाक्य में, स्वरूप पक्ष के अनुसार अनु से हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध द्योतित है। अधिक-से अधिक अनु का इतना ही व्यापार है। इसके आगे अनु की शक्ति नहीं है। संहिता के पाठ विशेष रूप में होने के कारण निर्गमन क्रिया की प्रतीति होती है। 'संहिता पाठ से वर्षा हुई' यह ज्ञान ही विशेष क्रिया से प्रभावित होना ध्वनित करता है।

जो क्रियाजनितत्व पक्ष के पक्षपाती हैं उनके अनुसार अनु का व्यापार निर्गमन क्रिया की अभिव्यक्ति तक है। संहिता और प्रवर्षण में जो हेतुहेतुमद्भाव संबंध है वह निर्गमयति क्रियाजनित है इतना अनु से द्योतित है। अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः में परिपालन क्रिया हेतुवाला स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। हेलाराज ने इसी मत का प्रश्रय दिया है। उनके अनुसार क्रियाफलरूप सम्बन्ध का द्योतन कर्मप्रवचनीय का कार्य है। उनके अनुसार भर्तृहरि का भी यही पक्ष जान पड़ता है—

'वस्तुतः क्रियाफलस्यैव सम्बन्धस्य प्रकाशनात्। यथा तु तत्रभवद्भर्तृहरे-स्तत्र तत्राभिप्रायो लक्ष्यते तथा निमित्तविशेषावच्छेद एव कर्मप्रवचनीयकृत इति राद्धान्तः।'

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१ पृष्ठ ५

कर्मप्रवचनीय पर संग्रहकार के मत का उल्लेख भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में किया है। कर्मप्रवचनीय सम्बन्ध निर्धारण में हेतु माने जाते हैं। संग्रहकार के अनुसार दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं

निरोभूत क्रियापद और संनिहित क्रियापद। तिरोभूत क्रियापद से अभिप्राय क्रियापद के अश्रूयमाण रूप से है। दो द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध में क्रिया स्वरूपतः तिरोहित हो जाने पर भी सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है। सम्बन्ध क्रिया के आधार

पर होता है। कारकशक्तियों की अनभिव्यक्त दशा में भी क्रिया उनके सम्बन्ध को अभिव्यक्त करा सकती है। जैसे राजपुरुष शब्द में राजा में कर्तृशक्ति है वह पुरुष को कुछ देता है। पुरुष में सम्प्रदान शक्ति है, वह राजा से कुछ लेता है। 'राजपुरुष' में दोनों शक्तियों के तिरोहित होने पर भी ददाति क्रिया स्वस्वामिभाव सम्बन्ध को प्रकट कर देती है। दान आदि क्रिया के अश्रुत होने के कारण यहाँ सम्बन्ध अश्रूयमाण क्रियाविषय माना जाता है। संनिहित क्रियापद सम्बन्ध वहाँ होता है जहाँ कारकपद और क्रियापद में सम्बन्ध दिखाया जाता है। इसका उदाहरण 'मातुः स्मरति' वाक्य है। यहाँ क्रियापद श्रूयमाण है और क्रिया और द्रव्य में सम्बन्ध दिखाया गया है। कर्मत्व की अविवक्षा में स्मरण के प्रति मातृ शब्द का विशेषण भाव प्रतिपादित होता है। क्रिया दो अर्थों को जोड़ने वाली मानी जाती है। इसलिए किसी के मत में, मातुः स्मरति में भी क्रिया और द्रव्य में उपश्लेष के लिए किसी क्रियान्तर का आधार होना चाहिए। दूसरे आचार्य मानते हैं कि क्रिया और अनिर्दिष्ट क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। क्रिया सम्बन्ध के लिए क्रियान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। दो काष्ठों के संश्लेष में जतु आदि द्रव्य तो आवश्यक हैं किन्तु जतु और काष्ठ के संयोग में अन्य की अपेक्षा नहीं होती। संग्रहकार का मूल उद्धरण निम्नलिखित है

> कर्मप्रवचनीयविषयविभागप्रदर्शनार्थं सम्बन्धोपन्यासः। द्विविधो हि सम्बन्धः संग्रहे पठ्यते। तिरोभूतक्रियापदः, संनिहितक्रियापदश्च। एवं ह्याह—'उपयुक्तार्थं द्रव्यं सम्बन्धेषु क्रियास्वासु नष्टरूपासु भिन्ना ममतो विगुणेष्वर्थ सम्बन्धात्मा प्रकाशते। श्रूयमाणक्रियावत् द्रव्ययोः सम्बन्धविषयभूतत्वात् क्रियायाः' इति। —वाक्यपदीय २।१९९ हरिवृत्ति हस्तलेख

भर्तृहरि ने एक दूसरा उदाहरण भी दिया है जो संग्रहकार का ज्ञान कराता है किन्तु स्पष्ट रूप में नाम का उल्लेख नहीं है

> तत्र केचित् पञ्चपञ्चाशतानि नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीया इति पठन्ति। तदामन्यथभेदेनोपसर्गनिपातेभ्यः उत्कर्ष क्रियते, अत आह—"क्रियास्पन्दनो न तिरोभवत्ती य सम्बन्धमुपजनयति तस्या निमित्तभूताया क्रियाया सहकारी वाक्यान्तरेषु विशेषदृष्टसामर्थ्य कर्मप्रवचनीय क्रियाविशेषोपादानं सम्बन्धमवच्छिनत्ति, निमित्तानुग्रहानुगमभाश्रया सम्बन्धरूप नियमयतीति।
> —वाक्यपदीय १२०१ हरिवृत्ति हस्तलेख

पाणिनि ने कर्मप्रवचनीय ग्यारह गिना दिए हैं—अनु, उप, अप, परि, आङ्, प्रति, अभि, अधि, सु, अति, अपि। और इनके अर्थ भी दिए हैं—लक्षण, मर्याद, हीनता, आधिक्य, वर्जन, मर्यादावचन, लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग, वीप्सा, प्रतिनिधि, प्रतिदान, अभिधेय, पूजा, अतिक्रमण, पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा, समुच्चय, स्वाम्य और अधिकार। इनमें पदार्थ, सम्भावना और अन्ववसर्ग अर्थ का प्रधान वाचक शब्द है जिनका उन दिनों विशेष प्रयोग होता था और पाणिनि ने १।४।९६ में उन्हीं अर्थों में इनका प्रयोग किया है।

औदुम्बरायण दर्शन

वार्ताक्ष और औदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप में पदविभाग को अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अखण्ड मानते थे। उसका भी सम्प्रत्यय (ज्ञान) बुद्धि में संसृष्ट रूप में रहता है। शब्द (वाक्य) बौद्ध है। अर्थ भी बौद्ध है। शब्द भी बुद्धि में संसृष्ट रूप में रहता है, अर्थ भी संसृष्ट रूप में रहता है। बुद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह सब संसृष्ट रूप में रहता है इसलिए बुद्धि भी संसृष्टार्थप्रत्ययावभासिनी है। संसृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अतः चार पदजातों की कल्पना भी अवास्तविक है।

संसृष्ट शब्द अथवा संसृष्ट अर्थ के परिज्ञान का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार पद्धति के आधार पर लोक में और शास्त्र में भी व्यवहार के लिए वाक्य को पद में विभक्त किया जाता है। सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट उपायान्तर से जिस किसी तरह से नहीं समझा जा सकता, उन सब अर्थों के जानने का साधन शब्द है। व्याप्ति और लाघव के आधार पर शब्द का आश्रय लिया जाता है। शब्द व्याप्तिमान है क्योंकि वह सूक्ष्म अमूर्त सबका स्पर्श करता है। शब्द लघु है क्योंकि वह एक से अनेक का अल्प में महान का अवबोधक है। एक एक शब्द अपने समानधर्मा अनन्त शब्दों के प्रतीक हैं। अत्यन्त संसृष्ट अर्थ का अथवा अत्यन्त अविभक्त शब्द के परिज्ञान के लिए अपोद्धार की कल्पना कर ली जाती है।[1] परम्परा से लोक में और शास्त्र में भी पद-व्यवहार प्रसिद्ध है। अपोद्धार रूप में पद की सत्ता मानकर नाम आख्यात निपात आदि के रूप में पद का विभाग उपपन्न होता है

> एतस्माद् एव औदुम्बरदर्शनात् तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यत इत्युच्यते। पदेन तु व्याप्तिमत्त्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु बहुभिरपि प्रकारैः प्रत्यायितुम् अशक्येषु लाघवात् शब्दव्यवहारो लोके प्रसिद्धिं गतः, एवमत्यन्तसंसृष्टे ष्वर्थेषु शब्देषु वा विभक्तेषु अपोद्धारः कल्पितः। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्त्वात् लघुत्वाच्च लोके शास्त्रे च रूढिं प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।
>
> —वाक्यपदीय २।१४८ हरिवृत्ति हस्तलेख

---

[1] औदुम्बरायण शब्दाखण्डवादी थे इसकी पुष्टि महाभाष्य की एक प्राचीन नामरहित व्याख्या से भी होती है—

> निपाताः केचिदिच्छन्ति नु भावः औदुम्बरायणमतानुसारिण एवमाहुः।
>
> महाभाष्य व्याख्या, हस्तलेख, पृ० २२ मद्रास ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी नं० आर ४४३।

भरतमिश्र ने भी इसकी पुष्टि की है—"इह केचित् वर्णातिरिक्तः पदात्मकः स्फोटप्रत्यय निर्भासमानमर्थप्रत्यायक हेतुतया च 'स्फोटाख्येति दृश्यते' इत्यनेन न्यायेन प्रसिद्धमपि भगवदौदुम्बरायणाचार्यादि...।

— स्फोटसिद्धि, पृ० १

औदुम्बरायण दर्शन

वार्त्ताक्ष और औदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात रूप में पदविभाग को अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अखण्ड मानते थे। उसका भी सम्प्रत्यय (ज्ञान) बुद्धि में समृष्ट रूप में रहता है। शब्द (वाक्य) बौद्ध है। अर्थ भी बौद्ध है। शब्द भी बुद्धि में समृष्ट रूप में रहता है, अर्थ भी समृष्ट रूप में रहता है। बुद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह सब समृष्ट रूप में रहता है इसलिए बुद्धि भी समृष्टार्थप्रत्ययावमर्शिनी है। समृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अतः चार पदजातों की कल्पना भी अवास्तविक है।

समृष्ट शब्द अथवा समृष्ट अर्थ के परिज्ञान का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार पद्धति के आधार पर लोक में और शास्त्र में भी व्यवहार के लिए वाक्य को पद में विभक्त किया जाता है। सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट उपायान्तर से जिन जिनको तरह से नहीं समझा जा सकता उन सब अर्थों के जानने का साधन शब्द है। व्याप्ति और लाघव के आधार पर शब्द का आश्रय लिया जाता है शब्द व्याप्तिमान है क्योंकि वह मूर्त अमूर्त सबका स्पर्श करता है। शब्द लघु है क्योंकि वह एक से अनेक का अल्प से महत् का अवबोधक है। एक एक शब्द अपने समानधर्मा अनन्त शब्दों का प्रतीक है। अत्यन्त समृष्ट अर्थ का अथवा अत्यन्त अविभक्त शब्द के परिज्ञान के लिए अपोद्धार की कल्पना कर ली जाती है।[1] परम्परा से लोक में और शास्त्र में भी पद-व्यवहार प्रसिद्ध है। अपोद्धार रूप में पद की सत्ता मानकर नाम आख्यात, निपात आदि के रूप में पदों का विभाग उपपन्न होता है

> एतस्मात् एव औदुम्बरदर्शनात् तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यत इत्युच्यते। यदर तु व्याप्तिमत्त्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु बहुभिरपि प्रकारैः दर्शयितुम् अशक्येषु लाघवात् शब्दव्यवहारो लोके प्रसिद्धिं गतः, एवमत्यन्तसंसृष्टे ष्वर्थात्मसु शब्देषु वा विभक्तेषु अपोद्धारः कल्पितः। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्त्वात् लघुत्वाच्च लोके शास्त्रे च रूढिं प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।
>
> —वाक्यपदीय २।३४८ हरिवृत्ति हस्तलेख

---

[1] औदुम्बरायण वाक्यस्फोटवादी थे इसकी पुष्टि महाभाष्य की एक व्याख्या नामानाम अप्रका शित या या से आ होती है—

निपात शब्दादिनि तु भगवदौदुम्बरायणमतानुसारिण एवमाहुः।

महाभाष्य व्याख्या, हस्तलेख, पृ० ११ मद्रास ओरियन्टल मनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी नं० आर ४४८।

भरतमिश्र ने भी इसकी पुष्टि की है—इह कश्चिद् वदति निरंशमेव पदं सकलवर्णव्यय निर्भासमानमनन्तरमर्थं द्योतयति इत्युक्तं च 'इन्द्रियाणां हि इत्यत्र' इत्यनेन न्यायेन प्रसिद्धमपि भगवदौदुम्बरायणाचार्यादि दृष्टान्तभावमपि।

— स्फोटसिद्धि, पृ० १

नैकार्थस्याक्षा पादा माषा इत्यादावभिधानदर्शनेऽप्येकशेषमन्तरेणादर्शनाद् यजेत इत्यादौ च कृतिकार्ययोर्युगपल्लिङ्गाभिधीयमानयोरपि विशेषणविशेष्यभावस्य प्राभाकरैरभ्युपगमात्स्वदेव विशिष्टाभिधानं मन्यन्ते। अस्माकमप्ययमेव पक्षः।

—पदमञ्जरी २।३।१ पृष्ठ ४१८

चतुष्क प्रातिपदिकार्थ पक्ष की व्याख्या दो तरह से की जाती है। स्वार्थ द्रव्य लिंग और कारक रूप में तथा स्वार्थ द्रव्य लिंग और संख्या रूप में। इनमें प्रथम चतुष्क संख्या के छोड़ने पर पक्ष में घटित होता है (कैयट महाभाष्यप्रदीप ४।१।१)।

वस्तुत व्याकरणशास्त्र में शास्त्रदर्शनानुसार कभी त्रिक पक्ष का और कभी चतुष्क और कभी पञ्च प्रातिपदिकार्थ पक्ष—ये सभी मान्य रहे हैं। नागेश के अनुसार भाष्यकार विभक्तियों को द्योतक रूप में मानते हैं अतः द्योतकपक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है।

अस्माद् भाष्यात् द्योतकत्वपक्ष एव सिद्धान्त इति मन्यते। नागेश—महाभाष्य ४।१।/०

कैयट के अनुसार प्रातिपदिकार्थ ही अनेक शक्तियोग के कारण कर्म आदि शब्द से वाच्य होता है। जिसे हम विभक्ति विपरिणाम कहते हैं वह भी वस्तुत प्रातिपदिक का ही विपरिणाम है। विभक्ति का विपरिणाम केवल औपचारिक रूप में होता है

> **प्रातिपदिकार्थ एव हि नानाशक्तियोगात् कर्मादिशब्दवाच्य इति स एव विशिष्टशक्तियुक्तो विभक्त्यर्थतयोच्यते। अथवा तात्त्विकेऽपि भेदे शब्दस्य साम्यात् तत्स्वाध्यवसायाश्रयेण विभक्तिप्रत्ययत्यागोपादानाभ्यां प्रातिपदिकस्य विपरिणामव्यवहारोऽवसीयते। विभक्तेस्तूपचरितो विपरिणामव्यवहारः। न हि प्रथमायाः सप्तम्यादेशेन विपरिणामः संभवः।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।३।६०

प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ अनेक प्रकार का है स्वार्थ शब्द में स्व शब्द आत्मीय का वाचक है और अर्थ शब्द अभिधेय का वाचक है। (स्वोऽर्थः स्वार्थः)। वह स्वरूप जाति द्रव्य गुण क्रिया सम्बन्ध रूप में कई तरह का होता है। जब गौ जैसा शब्दस्वरूप से विशिष्ट जाति कही जाती है शब्दस्वरूप विशेषण होने के कारण स्वार्थ है और जाति विशेष्य होने के कारण द्रव्य है (द्रव्य शब्द से यहां व्याकरणशास्त्र प्रसिद्ध इदं तत् इस रूप में परामर्श योग्य वस्तु से अभिप्राय है)। पटस्य शुक्लो गुणः जैसे स्थलों में जाति से विशिष्ट गुण का अभिधान होता है इसलिये विशेषण होने के कारण जाति यहां स्वार्थ है और गुण विशेष्य होने के कारण द्रव्य है। शुक्लः पटः जैसे शब्दों में गुण विशिष्ट द्रव्य का उल्लेख होने के कारण विशेषणभूत गुण स्वार्थ है और विशेष्यभूत पट द्रव्य है। कभी कभी द्रव्य भी द्रव्यान्तर का विशेषण होता है जैसे यष्टीः प्रवेशय कुन्तान् प्रवेशय जैसे वाक्यों में। ऐसे स्थलों में विशेषणभावापन्न यष्ट्यादि द्रव्य तो स्वार्थ है और विशेष्यभावापन्न द्रव्यान्तर (पुरुषादि) द्रव्य ही हैं। दण्डी विषाणी जैसे शब्दों में जहां सम्बन्ध निमित्तक प्रत्यय होते हैं सम्बन्ध ही स्वार्थ है। कभी क्रिया भी स्वार्थ मानी जाती है जैसे पाचक पाठक आदि में। इनमें क्रियानिमित्तक प्रत्यय हुआ है। पाचक जैसे स्थलों में कुछ लोग क्रिया-कारक सम्बन्ध को स्वार्थ मानते हैं। जब प्रवृत्तिनिमित्तलिङ्गसंख्याव्यतिरिक्त लिंग और संख्या का अभिधान होता है वहां लिंग और संख्या भी स्वार्थ हैं जैसे स नपुंसकाऽभवत् गावोविंशति आदि स्थलों में। इसी तरह कारक भी कर्म करण आदि के रूप में स्वार्थ होता है। परन्तु जहां प्रवृत्तिनिमित्तव्यतिरिक्त लिंग और संख्या असम्भव है—जैसे

स्त्री पुमान् एव, द्वौ बहव आदि में — वहाँ लिंग संख्या का अभिधान नहीं होता।

यद्यपि व्यवहार में पद के उच्चारण करते ही पाँचों प्रातिपदिकार्थ एक साथ ही (युगपत्) प्रतीत होते हैं क्योंकि शब्द-व्यापार विरम विरम कर नहीं होता और न अर्थ के साथ उसका कभी वियोग होता है फिर भी शास्त्र में व्यवहार की सुविधा के लिए यहाँ पर अन्वय व्यतिरेक के द्वारा क्रम का आश्रय लिया जाता है। प्रातिपदिकार्थ प्रयोग के योग्य नहीं होते। उनकी क्रमवत्ता भी कल्पित ही है फलतः कल्पित न्याय के बल पर उनमें क्रम माना जाता है। शास्त्र में क्रम अनेक प्रकार का माना जाता है जैसे श्रुतिक्रम अर्थक्रम पाठक्रम स्थानक्रम प्रवृत्तिक्रम प्रतिपत्तिक्रम प्रयोगक्रम बुद्धिक्रम आदि। पुण्यराज ने वाक्यपदीय [illegible]।८० की टीका में इनका व्याकरणशास्त्र के उदाहरणों द्वारा विवेचन किया है। जहाँ तक प्रातिपदिकार्थों का सम्बन्ध है इनमें प्रतिपत्तिक्रम होना चाहिए। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार प्रतिपत्तिक्रम श्रोता की दृष्टि में और वक्ता की दृष्टि से भी व्यवस्थित नहीं है (न हि शब्दस्य क्रमवता विरम्य विरम्य स्वार्थेषु वृत्तिः सम्भवति। सकृदुच्चारणात्। अर्थेन च नित्यमवियोगात्। प्रतिपत्तिक्रमोऽपि श्रोतुरभिधातुर्वा न व्यवस्थितः (वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृष्ठ ४१)। मध्यमा में जो क्रम है वह शब्द-व्यापार से नहीं होता अपितु वह एक तरह से कल्पित होता है। कभी-कभी श्रोता या अभिधाता को क्रम की प्रतिपत्ति होती है। नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः इस न्याय के अनुसार पहले स्वार्थ तदनन्तर विशिष्ट लिंग आदि की प्रतिपत्ति होनी चाहिए। भर्तृहरि के अनुसार क्रम ग्रहण के आधार निम्नलिखित पाँच हैं—

(१) प्रत्यासत्ति
(२) महाविषयता
(३) अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यञ्जनरूप
(४) उपलिप्सा
(५) बीजवल्लिकाभानुगुण्य

प्रत्यासत्ति के द्वारा प्रातिपदिकार्थों में प्रतिपत्ति क्रम का निर्धारण किया जाता है। प्रत्यासत्ति का अर्थ आसन्न अथवा समीपगत है। प्रत्यासत्ति उपकारकभाविता मानी जाती है। उच्चरित शब्द से सभी प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ द्रव्य लिंग आदि संसृष्ट रहते हैं। इनमें प्रतिपत्ता जिसको समीप समझता है उसको पहले अवगत करता है। प्रातिपदिकार्थों में आसन्न उपकारक जाति है। जातिस्वरूप के बिना द्रव्य का अवधारण दुष्कर है। अतः सर्वप्रथम प्रत्यासत्ति के आधार पर जाति का ज्ञान होता है। जाति द्रव्य के बिना अभिव्यक्त नहीं हो सकती और न व्यवहार के योग्य हो सकती है। लिंग आदि भी आश्रय के बिना नहीं टिक सकते। इसलिए जाति के बाद परन्तु लिंग संख्या आदि के पहले द्रव्य का भाव होता है। लिंग तथा संख्या और कारक में लिंग प्रत्यासन्न है। क्योंकि लिंग द्रव्यान्तर अनपेक्ष होता है जबकि संख्या और कारक दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा रखते हैं। दो-तीन आदि संख्याएँ एक वस्तु से अतिरिक्त वस्तु की अपेक्षा रखती ही हैं। एक संख्या भी द्वित्व आदि के व्यवच्छेद के रूप में द्रव्यान्तर

सापेक्षा ही मानी जायगी। फलत बहिरंग सख्या और कारक की अपेक्षा अतरंग लिंग की प्रतिपत्ति पहले मानी जाती है। सख्या और कारक मे सख्या सजातीय पदार्थ की अपेक्षा रखती है जबकि कारक विजातीय क्रिया की अपेक्षा रखते हैं। अत बहिरंग कारकों की अपेक्षा अतरंग सख्या का अववोध पहले होगा। अत प्रत्यासत्ति के आधार पर प्रातिपदिकार्थों म जाति, द्रव्य लिंग सख्या और कारक इस तरह का क्रम होगा।

महाविषयता के द्वारा भी क्रम की प्रतिपत्ति होती है। जाति और द्रव्य म जाति का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि जाति सब व्यक्ति म अनुगत है। स्फुटतर परिच्छेद होने के कारण पहले जाति का ही ग्रहण होगा। द्रव्य और लिंग म द्रव्य महाविषय है क्योंकि द्रव्य सभी लिंगों के साथ है जबकि एक लिंग दूसरे लिंग से व्यावर्तित है। अर्थात स्त्रीलिंग पुंलिंग आदि सबके साथ द्रव्य मिलेगा परन्तु जहा स्त्रीलिंग है वहा पुंलिंग नही है। लिंग और सख्या म लिंग महाविषय ह क्योंकि लिंग सभी सख्याओं म ह जबकि एक सख्या दूसरी सख्या स भिन्न है। सख्या और कारक म सख्या महाविषयवाली है। सख्या का सम्बन्ध प्रातिपदिक और आख्यात दोनों म है जबकि कारक का सम्बन्ध केवल प्रातिपदिक स है। अत महाविषयता की दृष्टि स भी जाति द्रव्य, लिंग आदि का क्रम सभव है।

अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यञ्जनप्रकर्ष भी प्रतिपत्ति क्रम म साधन है। अभिव्यक्ति के निमित्त म जितना ही अधिक उपव्यजन होगा उतना ही शीघ्र उसका ज्ञान होगा। जाति और द्रव्य म जाति के उपव्यजन अधिक हैं क्योंकि जाति सवसाधारण होने के कारण अनेक व्यक्ति स व्यग्य होती है। जबकि द्रव्य अपने अवयवों द्वारा व्यक्त किय जाने के कारण अल्पव्यजनवाला है। इसी तरह द्रव्य और लिंग म लिंग और सख्या आदि म उपव्यजन क्रमश अल्प होता गया है।

उपलिप्सा के द्वारा भी क्रम का बोध होता है। सवप्रथम जिसकी उपलब्धि इष्ट होती है प्रतिपत्ता को उसी का ज्ञान सवप्रथम होता है।

बीजवृत्तिलाभ अनुगुण्य क द्वारा भी क्रम का ज्ञान होता है। प्रत्यय (ज्ञान) उत्पत्ति म जो आन्तर कारण ह उस बीज कहते हैं। उसके वृत्तिलाभ का तात्पर्य प्रबोध स ह। आनुगुण्य का अभिप्राय काय के उत्पादन के अभिमुख होना है। जितने ज्ञान होते हैं व पूर्व पूर्व आहित सस्कार क प्रबोध के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। जाति ज्ञान द्रव्य ज्ञान का बीजवृत्तिलाभानुगुण्य ह। अर्थात जाति के ज्ञान होने पर द्रव्य का ज्ञान होता ह। इसलिय सवप्रथम जाति का ज्ञान होगा। इसी तरह व्यक्ति (द्रव्य) का ज्ञान आश्रय परतन्त्र लिंग आदि क ज्ञान का अनुगुण ह। इसी तरह जाति व्यक्ति, लिंग आदि का क्रम बीजवृत्तिलाभानुगुण्य के सहारे भी भासित होता है।

उपयु क्त क्रम का उल्लेख महाभाष्यकार न भी किया ह प्रातिपदिक चाव्युपदिष्ट सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते। सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते। व्यक्तस्य सतो लिंगसख्याभ्यामन्वितस्य बाह्येनार्थेन योगो भवति—महाभाष्य १।१।५७। भाष्यकार न उपयु क्त मन्तव्य लौकिक आधार पर व्यक्त किया ह। व्यक्ति प्रातःकाल उठ कर पहले शरीर-काय करता ह। तब मित्रों का तब सम्बन्धियों का काय करता है। यही न्याय-

प्राप्तक्रम प्रातिपदिकार्थों में भी काम देता है।

फिर भी वाक्यपदीयकार के मत में क्रम में अनियम देखा जाता है (प्राह्मासु मात्रासु अनियमेन बुद्धिक्रमो व्यवतिष्ठते—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।२६ पृ० ४२ जाति आदि की प्रत्यासत्ति में व्यभिचार देखा जाता है जैसे इयम् तस्य एतत् कम जैसे स्थलों में जाति के बिना भी लिंग आदि द्रव्य का व्यवहार मान्य बनाते हैं। भर्तृहरि ने अपने मत की पुष्टि के लिए निम्नलिखित कारिका उद्धृत की है

एको य शक्तिभेदेन भावात्मा प्रविभज्यते।
बुद्धिवृत्त्यनुकारेण बहुधा भावयादिमि ॥

वस्तुतः भर्तृहरि के दर्शन में शब्दात्मा और अर्थात्मा का रूप विभागातीत है (समीहित पौर्वापर्योऽयमात्मा स्वरूपादप्रच्युतोपि सर्वो विभागातीत तत्त्व एव—वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१३)। भर्तृहरि ने प्रतिपत्ति का लघुप्रक्रमा और गुरुप्रक्रमा इन दो रूपों में व्यक्त किया है। लघुप्रक्रमा तो वह है जिसके द्वारा सामान्यविशेष के विचार के साथ विभाग के द्वारा अविभक्त की प्रतिपत्ति की जाती है। गुरुप्रक्रमा उस प्रतिपत्ति का नाम है जिसके द्वारा संसृष्ट रूप का अविभक्त रूप में ही ज्ञान होता है। कुशल प्रतिपत्ता वही है जो भेद को अभेद के व्याघात के बिना ही देखता है (वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१३)।

प्रातिपदिकार्थ-जाति अथवा व्यक्ति

वाजप्यायन के मत में शब्द का वाच्य जाति है। व्याडि के मत में शब्द का वाच्य व्यक्ति है। पाणिनि के मत में आवश्यकतानुसार जाति और व्यक्ति दोनों हैं। भर्तृहरि के अनुसार यदि आकृतिवाद पक्ष को माना जायगा, शास्त्र में विप्रतिषेध बाध और शब्दान्तर प्राप्ति की उपपत्ति संभव नहीं है। यदि व्यक्तिवाद पक्ष माना जायगा उत्सर्ग और अपवाद बेकार सिद्ध होंगे

"पाणिने सर्वार्थाकृत्यभावात् सकृतग्न विप्रतिषेधबाधन शब्दान्तरप्राप्तिश्च नोपपद्यन। अथ द्रव्यमेव पदार्थ एवमपि सर्वासां व्यक्तीनां सर्वाभिश्चोदना भिरङ्गीकरणात् उत्सर्गापवादौ न प्रकल्पेत।"—महाभाष्य त्रिपादी पृष्ठ २३ ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का हस्तलेख पृ० १८ पूना संस्करण

इसलिए पाणिनि ने जाति और व्यक्ति दोनों की दृष्टि में रख कर सूत्र रचे हैं। लक्ष्यानुरोध से कहीं जाति का और कहीं व्यक्ति का आश्रय लिया जाता है। जाति पदार्थ पक्ष में जाति ही शब्द का अभिधेय है उसके आधारभूत व्यक्ति की प्रतीति नान्तरीयक रूप में मानी जाती है। इस पक्ष में जाति के स्थानित्व आदेशत्व पत्व, असर्वविहितत्व आदि धर्म व्यक्ति के द्वारा शब्दसंस्कार में उपयोगी होते हैं। इसलिए यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५ जैसे लक्षण जातिमती व्यक्ति में ही प्रवृत्त होते हैं। कैयट के अनुसार स्वरूप शब्दस्याशब्दसंज्ञा १।१।६८ में रूप शब्द का अर्थ सामान्य भी है और व्यक्ति भी है। दोनों प्रकार के अर्थ मानने पर भी फल में कोई भेद नहीं है। क्योंकि व्यक्ति सामान्य से युक्त रूप में ही सामान्य व्यक्ति के आश्रय से ही प्रतिपादित होता है (महाभाष्यप्रदीप १।१।६८)। भर्तृहरि भी इस बात को मानते हैं कि जाति

और व्यक्ति के विवाद में केवल प्रतिपादन भेद है न कि वस्तुभेद है। तात्पर्य के अनुसार जाति और व्यक्ति में कोई कहीं प्रधान और कहीं नान्तरीयक होता है (तातपर्येण तु विवक्षामिद्यते। किञ्चदत्र प्रधानम् किंचिनान्तरीयकमिति। तच्च प्रतिज्ञाभेदमात्रम्। जाति शास्त्रे कार्ययोगिनी सविकोविता, व्यक्ति शास्त्रे कार्ययोगिनी सविकोपितेति।

—वाक्यपदीय १।७० हरिवृत्ति पृ ७३

व्यक्ति में अर्थक्रियाकारिता होते हुए भी व्यक्तिपक्ष में आनन्त्य और व्यभिचार दोष माने जाते हैं और जैसा कि मम्मट ने कहा है गौ शुक्ल चल डित्थ आदि में विषयविभाग भी न हो सकेगा। परन्तु व्यक्तिपक्ष का समर्थन करते हुए कौण्डभट्ट ने इन आक्षेपों को निराधार माना है क्योंकि जिस रूप में शक्तिग्रह होगा उसी रूप में पदार्थोपस्थिति भी होगी

यद्यपि काव्यप्रकाशकारेणोक्त गौ शुक्ल चलो डित्थ इत्यादीनां जातिगुण क्रियासंज्ञानाश्रयत्वेन विषयविभाग शुद्धव्यक्तिवाच्यत्वे न स्यात् इति तच्चिन्त्यम्। येन रूपेणोपस्थिते शक्तिग्रहस्तेन रूपेण पदार्थोपस्थितिः। उक्तं च भट्टपादैः अरुणाधिकरणे आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम्। शब्द सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति॥

—श्लोक वार्तिक वैयाकरण भूषण, पृष्ठ ११६ बम्बई संस्कृत सीरीज।

इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने जाति और व्यक्ति में व्यतिरेक दिखाते हुए दृष्टाभिधानपक्ष और अदृष्टाभिधानपक्ष का उल्लेख किया है। कुछ आचार्य मानते हैं कि व्यक्ति के स्वरूप भेद निश्चित रूप में होते हैं। ऐसा नहीं होता कि व्यक्ति का स्वरूप असंबद्ध अव्यपदेश्य अथवा अविद्यमान हो। व्यक्ति ही गौ है आकृति नहीं। गुण ही नील है न कि गुण सामान्य नील है।

कुछ लोगों के मत में शब्द जाति के रूप में ही स्वरूपवान होते हैं और जाति के द्वारा ही अव्यपदेश्यस्वरूप व्यक्ति के बोधक होते हैं। क्योंकि देखा जाता है कि निमित्त और अनिमित्त वाले अर्थ में निमित्त वाले अर्थ का पहले ज्ञान होता है। निमित्त दृष्टाभिधानवाले और अदृष्टाभिधानवाले होते हैं।

जिसके निमित्तों का अभिधान दृष्ट है उसे दृष्टाभिधान कहते हैं जैसे गोत्व आदि। गो शब्द गोत्व की अभिधा है (गो शब्दादयो हि तेषां अभिधा—वृषभ वाक्यपदीय १।७०)

जिसके निमित्तों का अभिधान दृष्ट नहीं है उसे अदृष्टाभिधान कहते हैं। जैसे उत्पलगन्ध आदि। उत्पलगन्ध शब्द उसे व्यक्त नहीं करता। क्योंकि सम्बन्ध से अवच्छिन्न सम्बन्धी का अभिधान होता है (न हि उत्पलगन्ध शब्दस्तदाह। सम्बन्धावच्छिन्न सम्बन्ध्यभिधानात् (वही पृष्ठ ७२)

निमित्त कभी तो एक देश के सारूप्य में और कभी अत्यन्त सादृश्य से शब्द ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। एक देश के सादृश्य से जैसे ध्वनि अथवा कोई अंग अथवा चेष्टा देखकर प्राणी शब्द की प्रवृत्ति होती है। गौ शब्द की प्रवृत्ति और उसका ज्ञान अधिक अवयव संनिवेश के सादृश्य से होता है।

मुख्य बात यह है कि द्रव्याभिधान में जाति, शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) इन तीनों का अनुवर्तन होता है। अद्रव्याभिधान में केवल जाति और बुद्धि इन दो का ही अनुवर्तन होता है।

> तत्र द्रव्याभिधानेषु त्रयमनुवर्तते जातिः शब्दः प्रत्यय इति। अद्रव्याभिधानेषु द्वयं जातिर्बुद्धिश्चेति।
>
> —वृषभ, वाक्यपदीय टीका १। ०, पृष्ठ ७२

इस तरह जाति व्यक्ति में परस्पर अविनाभाव रूप में वर्तते हैं। इनमें यदि भेद है तो वह तात्पर्यवश से है। जाति की विवक्षा में जाति प्रधान है और व्यक्ति की विवक्षा में व्यक्ति प्रधान है, यह ज्ञातव्य है। अतः जाति और व्यक्ति एक दूसरे के सहकारक हैं। यही पक्ष व्याकरण सम्प्रदाय में गृहीत है और यही पक्ष भर्तृहरि का भी अभिमत है।

कात्यायन के मत में जाति और व्यक्ति

जाति और व्यक्ति पर विचार कात्यायन ने वाजप्यायन और व्याडि के आधार पर किया है। वाजप्यायन के अनुसार आकृति एक है। शब्द से उसी का अभिधान होता है। उसकी सत्ता और उसके एकत्व का ज्ञान बुद्धि की एकरूपता से होता है। प्रत्याऽविशेषात् १।२।६४ ६। श्वेत कृष्ण आदि रंग में भेद होने हुए भी प्रमाण आदि के भिन्न भिन्न होते हुए भी गौ व्यक्तियों में गौ गौ इस तरह का एकाकार प्रत्यय होता है। इस अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर सामान्य का सद्भाव और उसका एकत्व माना जाता है। शब्द से जाति का अभिधान होता है इसके प्रमाण में वार्तिककार ने वार्तिक लिखा है—अव्यपवर्गगतेश्च १।२।६४ ३७। अव्यपवर्ग का भाव है अभेद, अविच्छेद या अविशेष उसकी प्रतीति को अव्यपवर्गगति कहते हैं। गौ कहने से व्यपवर्ग शुक्ल नील पीत आदि भेद का भान नहीं होता। शब्द द्वारा जाति के अभिधान होने पर उसके आधार से व्यक्ति में वाहन दोहन आदि व्यापार उत्पन्न हो जाते हैं। जाति और तद्वान में अभेदोपचार से गौ शुक्ल जैसे सामानाधिकरण्य व्यवहार भी उत्पन्न हो जाता है। प्रत्याविशेष से वार्तिककार ने प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय के आधार पर जाति के एकत्व का प्रतिपादन किया है क्योंकि अनभिधीयमान भी जाति सन्निधि मात्र से प्रत्याविशेष में निमित्त हो जाती है। अव्यपवर्गगति से भी यहां बात सिद्ध होती है। प्रत्याविशेष से जाति में प्रत्यक्ष प्रमाण का संकेत किया है। चोदितं च तदुपदिष्टाम १।२।६४ ३८ वार्तिक द्वारा अनुमान भी सहायक के रूप में अभिप्रेत है। देशभेद कालभेद अवस्थाभेद पिण्डभेद के होते हुए भी अबाधित रूप में अनुगताकार प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय होता है। इसकी अन्यथानुपपत्ति से सामान्य की सत्ता अनुमेय है। धर्मशास्त्र में भी जातिवाद की पुष्टि होती है। ब्राह्मण न हन्तव्य से ब्राह्मण मात्र को नहीं मारते हैं। ऐसा नहीं कि एक को न मारकर शेष के विषय में कामचारिता है। धर्मशास्त्रं च तथा १।२।६४ ३९ वार्तिक से कैयट के अनुसार यह भी अभिप्रेत है कि आत्म प्रत्यभिज्ञा न ग्रहण की जाय। कभी कभी सादृश्य एकक्रियाकारित्व आदि के

निमित्त से भ्रान्त प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। ऐसा न होने पावे इसके लिए धर्मशास्त्र वाला वार्तिक है। स्मृतिकार भी जाति के आश्रय से व्यवहार का विधान करते है। एक या अनेक अधिकरण अथवा अनेक उपलब्धि के लिए वाजप्यायन और उनके अनुमार वात्स्यायन ने सूर्य आदित्य और विभिन्न भागों में एक इन्द्र का दृष्टान्त अपनाया है। यदि शब्द का अभिधेय द्रव्य माना जायगा आकृति का ज्ञान नहीं होगा एक शब्द अनेक अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकेगा। श्रुति स्मृति व्यवहित व्यवहार विच्छिन्न होने लगेंगे।

व्यक्ति के पक्ष में वात्स्यायन का वार्तिक है—द्रव्याभिधान व्याडि १।२।६४ ४६। आचार्य व्याडि के अनुसार शब्द का अभिधेय द्रव्य (व्यक्ति) है। इसी आधार पर लिंग और वचन की सिद्धि होती है। वेद की आज्ञा से भी द्रव्य ही अभिधेय जान पड़ता है। आकृति अभिधेय पक्ष में आलभन आदि कार्य असम्भव है। एक वस्तु अनेकाधिकरणस्थ नहीं हो सकती उसकी प्राप्ति युगपत नहीं हो सकती। अन्यथा सबका प्रादुर्भाव और सबका नाश एक साथ होता। एक अश्व के निधन के बाद अश्व का नाम लोक में मिट जाता। अभिव्यंजक के विनाश से जाति के विनष्ट हो जाने के कारण उसी धर्म के पिण्डान्तर का ज्ञान दुष्कर हो जाता। अथवा आश्रय के अपाय से आश्रित का अपाय (विनाश) अवयवों के अपाय से अवयवी के अपाय की भाँति हो जाता। गो पिण्ड से गो जाति को यदि अभिव्यक्ति मानी जाएगी तो एक गोपिण्ड का दर्शन कर सभी गोपिण्डों का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त वरुप्य भी है—अस्ति च वरुप्यम् १।२।६४। एक तरह के गो को किसी को दण्ड और किसी का मुण्डन कहते है। एक ही वस्तु के भेद और अभेद दोनों विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। गाश्च गोश्च जैसे विग्रह भी सामान्य के एकत्व पक्ष में युक्त नहीं हो सकते। क्योंकि समुच्चय भेदाश्रित होता है सामान्य के एकत्व और अभिधेयत्व पक्ष में यह सम्भव नहीं है। इसलिए द्रव्य की ही सत्ता माननी चाहिए सामान्य की नहीं।

वार्तिककार ने आकृति पक्ष पर लगाये गये दोषों के निराकरण के लिए भी वार्तिक लिखे हैं

लिंगवचनसिद्धिगुणस्यानित्यत्वात्—गुणवचनाद्वा १२।६४ ५३, ५४ अर्थात्—आकृति पक्ष में लिंग और वचन की अनुपपत्ति का समाधान गुण को अनित्य मानकर गुणवचन शब्दों के आश्रयगत लिंगसंख्या के आधार पर किया है।

अधिकरण गति साहचर्यात् १।२।६४ ५५ के द्वारा वेद आज्ञाजन्य आलभन आदि का समाधान किया है। आकृति पक्ष में आकृति में आलभन आदि की अचरितार्थता देखकर आकृति सहचरित द्रव्य में आलभन आदि क्रियाएँ होगी।

अविनाशोऽनाश्रितत्वात् १।२।६४ ५७ *वार्तिक* द्वारा विनाश और प्रादुर्भाव वाले आक्षेप का उत्तर दिया है। द्रव्य के विनाश होने पर भी आकृति का विनाश नहीं होता। क्योंकि भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार, आकृति और द्रव्य की आत्मा अनेक हैं।

वरुप्यविग्रहौ द्रव्यभेदात् १।२।६४ ५८ के द्वारा गो गौ आदि वरुप्य

कारण द्रव्य का भेद माना है। अतः उपाधि भेद के उपचार में एक ही आकृति में समुदाय विरुद्ध नहीं है।

क्यपेंद् च सामान्यात् सिद्धम् १।२।६४ ८६ वार्तिक द्वारा अनेकार्थक शब्द पर के आक्षेप का समाधान किया है। विभिन्नार्थी में भी सामान्य मानने से काम चल जाएगा। विभिन्न क्रियाओं में भेद होते हुए भी अभिन्न प्रत्यय हुआ करता है उसका निमित्त सामान्य है और वही सामान्य द्रव्य में भी निमित्त है। जैसे पाचक में आश्रय तरतम भी सामान्य समवेतसमवाय के कारण द्रव्य में उपचरित होता है। जैसे परिमाणगत लौहित्य संयुक्त समवाय रूप होने पर भी लौहित्य प्रत्यय का ज्ञान कराता है।

इस तरह वार्तिककार ने आकृति पक्ष के बाधा का परिहार कर उसके प्रति अपना झुकाव द्योतित किया है। आकृति की इस व्यापकता के कारण ही व्याकरण दर्शन सामान्य में भी सामान्य और अभाव में भी निष्पाल्य के सामान्य की कल्पना करता है। मुख्य उल्लेखनीय बात यह है कि कात्यायन ने केवल आकृति पक्ष और व्यक्ति पक्ष का विवेचन ही नहीं किया है सूत्रकार के अनेक सूत्रों को इस धरातल पर लाकर उनका व्याख्यान किया है।

महाभाष्यकार के मत में जाति

महाभाष्य में जाति की चार परिभाषाएँ मिलती हैं—

१ जननेन या प्राप्यते सा जाति — महाभाष्य ५।३।५५
२ आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥ — महाभाष्य ४।१।६३
३ प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥ — महाभाष्य ४।१।६३
४ यर्हि तद् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं
सामान्यभूतं स शब्दः। नेत्याह। आकृतिर्नाम सा।
— महाभाष्य पृ० १ कीलहार्न संस्करण

इसमें जाति का प्रथम लक्षण जाति शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर गठित है। यहाँ भाष्यकार ने जाति का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से जनन से जोड़ा है और उसमें अपकर्ष अथवा प्रकर्ष नहीं माना है। कैयट के अनुसार भाष्यकार का अभिप्राय प्रयत्नलभ्यता दिखाना मात्र है। अन्यथा परमाणु आदि नित्य पदार्थों में जनन के अभाव से जातित्व विरह होगा। प्रयत्नलभ्य अर्थ सत्ता है जिसमें प्रकर्ष अपकर्ष नहीं होता। यत्न से उत्पाद्य घट आदि पदार्थों में जाति नित्यता के आधार पर रहती है। गुण में आश्रय भेद से भेद देखा जाता है इसलिए उसमें प्रकर्ष अपकर्ष आश्रयभेद के आधार पर व्यक्त किया जाता है किन्तु जाति में आश्रयभेद से भेद नहीं होता। अतः जाति में प्रकर्ष अथवा अपकर्ष नहीं होता।

नागेश ने जनन से प्राप्त जातिलक्षण को अद्धान्तशान के अनुकूल माना है।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ जन्य है। ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है अतः उसमें जाति भी नहीं है। महाभाष्यप्रदीपोद्योत ५।३।५८ तथा मंजूषा पृ० ४६४। नागेश ने सामान्य और जाति में भेद माना है। उनके मत में 'पाचकत्व' में सामान्य है किन्तु जाति नहीं है (मंजूषा पृ० ४६४)।

जाति का दूसरा लक्षण आकृति से सम्बद्ध है। जाति वह है जिसका बोध आकृति के आधार पर होता है। अर्थात् जाति अवयवसंनिवेशविशेष से व्यक्त होती है। जैसे गोत्व। जाति उपदेश वाच्य लिङ्ग से भी व्यक्त होती है जैसे ब्राह्मणत्व। ब्राह्मणत्व जाति गोत्व की तरह अवयवसंस्थान पर निर्भर नहीं करती। किन्तु विशेष चिह्नों द्वारा किसी के बनाए लक्षणों को देखकर ब्राह्मणत्व का परिज्ञान होता है। ब्राह्मणत्व जाति आरोपित धर्म है। गोत्व की तरह स्वाभाविक नहीं। अथवा जो सब लिङ्गों का आश्रय न लेती है। यद्यपि तट शब्द सर्वलिङ्गी है फिर भी यहां जाति प्रतिपादन अप्राप्तप्रापण रूप में माना जाता है इसलिए जहां सब लिंग संभव है वहां भी जाति हो सकती है और जो असर्वलिङ्ग है वहां भी जाति नहीं हो सकती। जैसे क्रमशः तट शब्द और देवदत्त शब्द में। एक बार के कथन से ही पिण्डान्तर में भी जिसका बोध हो वह भी जाति का लक्षण है जैसे गो शब्द मात्र कहने से दूसरे गो व्यक्ति में स्थित गोत्व का भी बोध होता है। चरण के साथ गोत्र भी जाति व्यक्त करता है। नागेश के अनुसार कारिका में उल्लिखित सभी लक्षण शब्दपरक हैं

> आकृतिग्रहणाधायक शब्द, सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यासर्वलिङ्गाधायक शब्द, जातिशब्द इति शब्दलक्षणमेतत् —महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४।१।६३

जाति का तीसरा लक्षण आविर्भाव से सम्बन्ध रखता है। वस्तु के आविर्भाव और विनाश से जिसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है वह जाति है। जब तक द्रव्य है तब तक जाति है। निर्गुण द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। जातिरहित द्रव्य की भी उपलब्धि नहीं होती। जाति बहुत विषयों में व्याप्त रहती है और असर्वलिङ्गा है। दूसरे और तीसरे जातिलक्षण में भेद से व्याकरणप्रक्रिया में भेद उपस्थित होता है। आकृतिग्रहण वाले पक्ष में कुमारीभाय शब्द बनता है आविर्भाववाले पक्ष में कुमार-भाय रूप होगा। कैयट के अनुसार आकृतिग्रहण वाला लक्षण भाष्यकार को इष्ट है

> पूर्वोक्तमेव लक्षणं भाष्यकारस्याभिमतम्, अपरं आहेत्यभिधानादाह। —महाभाष्यप्रदीप ४।१।६३

चतुर्थ जातिलक्षण भिन्न में भी अभिन्न छिन्न में भी अछिन्न सामान्य रूप में जाति की प्रतिष्ठा करता है। यह लक्षण ब्राह्मणत्व घटत्व आदि में साधारण है। भिन्न में भी अभिन्न से एकत्व लक्षित है। छिन्न में भी अछिन्न कहने से जाति का नित्यत्व अभिप्रेत है। पतंजलि ने यहाँ सामान्यभूत शब्द का प्रयोग किया है। भर्तृहरि के अनुसार भूत शब्द उपमावाची है। (भूत शब्द उपमावाची-महाभाष्यदीपिका पृ०)। इसके आधार पर कैयट ने भी भूत शब्द को उपमा के अर्थ में लिया है। फलतः सामान्यभूत शब्द का अर्थ है सामान्य इव। सत्ताख्यमहासामान्य गोत्व आदि

उपमान है।[1] इस तरह भाष्यकार के इस वचन से जाति में एकत्व, नित्यत्व और अनेकानुगत्व उपपन्न हो जाता है। आकृति और जाति में कुछ भेद माना जाता है। आकृति का सम्बन्ध सदा अवयवसंस्थान से होता है। जाति अवयवसंस्थान निरपेक्ष भी हो सकती है। किन्तु भर्तृहरि के अनुसार भाष्यकार के उपयुक्त जाति लक्षण में आकृति शब्द जातिपरक है

आकृतिरिति न तत्र संस्थानम्। किं तर्हि। जातिरेव। यथा आकृत्यभिधानं वाजप्यायन इति। आस्त्रियतेऽनयेति आकृतिः। आक्रियत इति भिद्यते पदार्थान्तरेभ्य इत्याकृतिः। आस्त्रियेते बुद्धिशब्दावस्यामिति आकृतिः।

—महाभाष्यदीपिका पृ० ३

भर्तृहरि दर्शन में जाति

भर्तृहरि की दृष्टि में जाति का स्थान बहुत ऊंचा है और इस पर उन्होंने बड़ी दृष्टियों से विचार किया है। अन्य दर्शनों में जाति के सम्बन्ध में उस समय तक प्रचलित वादों का भी उन्होंने संकेत किया है। व्याकरण दर्शन में गृहीत जाति की कुछ चर्चा कात्यायन और पतंजलि के विचार में ऊपर की जा चुकी है। वाजप्यायन के जाति पदार्थदर्शन के पक्ष में नामजाति, आख्यातजाति, कारक, क्रियाजाति, संख्याजाति, गुणजाति आदि के रूप में सकल जाति-व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। इसका संकेत पहले किया जा चुका है और आगे भी उन उन प्रकरणों में प्रसंगवश किया गया है। जाति के विषय में व्याकरणदर्शन की दृष्टि से कुछ विशेष वाद हैं उनमें मुख्य हैं—शब्द जाति और सत्ता जाति। इन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

शब्द जाति

किसी आचार्य के मत में शब्द का वाच्य शब्द का स्वरूप है। स्वरूप को ही दर्शनभेद से स्वजाति कहा जाता है। उसी को शब्दजाति शब्द से भी कहा जाता है। गो शब्द से वाच्य गो शब्द में रहने वाली गो शब्दत्व जाति है गोत्व नहीं। पहले शब्द अपने रूप को कहता है अर्थ बाद में सामने आता है। शास्त्र में 'वृद्धि' शब्द-स्वरूप निबन्धन है वह अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। इसी तरह अग्नि शब्द भी अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। जब शब्द के स्वरूप की चर्चा की जाती है सत्ता और सत्ती का भेद के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसी दशा में दो शब्द मान जाते हैं। श्रूयमाण और प्रतिपाद्य। प्रतीयमान भी दो होते हैं सम्बन्ध प्राप्त करने वाले और कार्यी। इसलिए अग्नि शब्द उच्चरित होकर अग्निशब्दमय अर्थ सामने लाता है। अग्निशब्दमय अर्थ से अग्नि शब्द अर्थवान् होता है। दोनों में अभेद है। इसलिए अग्नि शब्द अग्निशब्दमय अर्थ को किसी दूसरे अग्नि शब्द का अभिधेय बनाकर तुल्यश्रुति के आधार पर अग्निशब्द

[1] सत्यनारायण ... न्यास में ... है—यत्तु भूत शब्द उपमार्थ इति सततस्य सत्तासामान्य ... सामान्यविशेषमात्र निर्दिष्ट सामान्यम्। सामान्यभूतमिति। ... । सामान्यभूत ... प्रकृत ... कारणामात्र—मुनिरत्नाकर, ...।

के सत्ताभाव का प्रतिपादन करता है। इस तरह सत्ता-संज्ञिसम्बन्ध शक्तिभेद के आधार पर कल्पित शब्द भेदाश्रित होता है। प्रत्यायक शब्द का उच्चारण परार्थ होता है। जिसके लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है वह उसे कार्य में नियुक्त करता है। उच्चार्यमाण (शब्द) का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह परतन्त्र होता है। इस आधार पर सभी प्रत्याय्य क्रिया के साधन माने जाते हैं। इसलिए जो शब्द शब्द के अभिधेय रूप में अवस्थित रहता है उसके उच्चारण में भी उससे भिन्न अन्य रूप की कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ दो तरह के विकल्प हैं। कुछ लोग मानते हैं कि अभिधान का आवर्तन होता है। वह अपने अभिधेय से न्यून नहीं होता है। वह प्रत्याय्य है। यदि पूछा जाय प्रत्याय्य कैसा है तो किसी दूसरे शब्द द्वारा इसे बताया जाता है। इसी तरह शब्द का भी प्रत्यायन होता है। शब्द का वाचक शब्द के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं होता इसलिए शब्द का ही आवर्तन होता है। इसी दृष्टि से अनुकरण शब्द में और सत्ता शब्द में भेद स्पष्ट होता है। उच्चार्यमाण दशा में अनुकरण अभिधेय होता है। सत्ता का अभिधेय प्रत्याय्य ही होता है उच्चार्यमाण नहीं। अभिधेय अभिधेयस्वरूप को छोड़कर अभिधायक नहीं होता। संग्रहकार का भी कुछ ऐसा ही मत है। उन्होंने कहा है —

> न हि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत् करणे सन्निविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसन्निवेशे सति तुल्यरूपत्वादसन्निविष्टमपि सदुच्चार्यमाणवद-
> वसीयते।
>
> —वाक्यपदीय १।६६ हरिवृत्ति में उद्धृत

अर्थात् शब्द का स्वरूप सदा अभिधेय ही रहता है। जो जिसका अभिधायक होता है वह उसके कारण में सन्निविष्ट माना जाता है। शब्द का स्वरूप असन्निविष्ट है। किन्तु तुल्यरूप के कारण सन्निविष्ट सा जान पड़ता है।

इस दुरूह स्थिति पर भर्तृहरि ने शब्द जाति की प्रतिष्ठा की है। शब्द के स्वरूप के विषय में भी वृत्तिकारों में मतभेद था। कुछ के अनुसार शब्द का स्वरूप ग्राहक होता है द्योतक होता है प्रत्यायक होता है। इसके विपरीत दूसरे वृत्तिकारों ने माना है कि शब्द का स्वरूप ग्राह्य होता है द्योत्य होता है प्रत्याय्य होता है —

> इह केचित् वृत्तिकाराः पठन्ति—स्वं रूपं शब्दस्य ग्राहकं भवति द्योतकं प्रत्यायकमिति। अपरे तु स्वं रूपं शब्दस्य ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यमिति।
>
> —वाक्यपदीय १।६९ हरिवृत्ति

जातिवादी आचार्यों के अनुसार शब्द जाति में ही अपने स्वरूप को पाता है और उसी रूप में वह अन्तरङ्ग व्यक्ति का प्रत्यायक होता है। इसलिए सभी शब्द सर्वप्रथम अपनी जाति स्वजाति का अभिधान करते हैं। अपनी स्वजाति ही शब्द का अपना असाधारण रूप है। वार्तिककार ने भी 'शब्दपूर्वकत्वे सम्प्रत्यय'[1] कह कर शब्दपूर्वक अर्थपरिज्ञान का समर्थन किया है।

---

[1] महाभाष्य १।१।६८ वार्तिक

अथवा प्राथम्य, हेलाराज के अनुसार, सम्बन्ध व्युत्पत्तिकाल की अपेक्षा से है। सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में अर्थ जाति से सम्बन्ध नहीं रहता शब्द जाति से रहता है। शब्द जाति का सर्वप्रथम ध्यान में रखकर विभक्ति आदि का विनियोग होता है। अतः शब्द सर्वप्रथम अपनी शब्दजाति का अभिधान करता है। यही शब्द जाति स्वरूप शब्द से और स्व जाति शब्द से शास्त्र में वर्णित है। शास्त्र में जिन शब्दों का स्वरूपपरक निर्देश है वे तो अपने स्वरूप के प्रत्यायक होते ही हैं जिनका अर्थपरक निर्देश है वे शब्द भी सर्वप्रथम अपने स्वरूप को ही सामने लाते हैं। हेलाराज के अनुसार जो शब्द अव्युत्पन्न हैं वे भी शब्द में सविनाभाव से अवस्थित शब्द जाति के ही प्रत्यायक हैं। जिन शब्दों के उच्चारण से अर्थ अत्यन्त शीघ्र उपस्थित हो जाते हैं शब्द के स्वरूप के साथ ही जहाँ अर्थपरिज्ञान होता है वहाँ भी क्रम रहता है और शब्दजाति का प्रथम उन्मीलन होता है अर्थजाति का बाद में होता है क्योंकि व्याकरणदर्शन में अर्थ शब्द के विवर्त हैं। इसलिए शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद न होते हुए भी और शब्द और अर्थ के साथ साथ अवभास होते हुए भी उनमें एक क्रम है। शब्द अवभास पहले अर्थ अवभास बाद में होता है यद्यपि सूक्ष्म काल के कारण क्रम का अवधारण नहीं होता।

अथवा सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में गौ शब्द के उच्चारण से गौ अर्थ इस रूप में शब्द और अर्थ में अभेद का अध्यारोप किया जाता है। जैसे गौ वाहीक में किया जाता है। अन्यथा सामानाधिकरण्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह अध्यारोप कौन करता है? इसके उत्तर में हेलाराज की मान्यता है कि जैसे वाच्यवाचक भाव अनादि हैं वैसे ही अध्यारोप भी अनादि है अपौरुषेय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे दार्शनिकों ने विशेषकर धर्मकीर्ति ने इसका खण्डन किया है। वैयाकरणों के कहने का अभिप्राय यह है कि अध्यारोप पुरुष की इच्छा पर नहीं होता। पुरुष की इच्छा से जिस किसी शब्द का जिस किसी अर्थ के साथ अध्यारोप मानने से लोक-व्यवहार अव्यवस्थित हो जायगा। इसलिए पुरुष की इच्छा न मानकर लोकानुगत इच्छा प्रत्येक दशा में माननी पड़ेगी। लोकानुगत इच्छा को ही, व्याकरणदर्शन में व्यवहारनित्यता माना जाता है। इसलिए व्यवहारनित्यता के आश्रय से गौ वाहीक आदि स्थलों में अध्यारोप पुरुष इच्छाकृत न होकर लोककृत है। दूसरे शब्दों में यह व्यवहारनित्यत्व के आधार पर अवस्थित है। इस अर्थ में वह अपौरुषेय है।

शब्द जाति की अभिव्यक्ति कैसे होती है? शब्द वर्णसमूह है। प्रत्येक वर्ण में जाति की अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। वर्ण भी असमयसमयभावी होते हैं उनकी अभिव्यक्ति में क्रम होता है इसलिए वर्णों द्वारा जाति अभिव्यंजन संभव नहीं है। इसका उत्तर भर्तृहरि हेलाराज आदि ने वैशेषिक दर्शन के कर्म के आधार पर दिया है। वैशेषिक दर्शन में उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि कर्म हैं। उत्क्षेपण क्षण का भ्रमण क्षण से सारूप्यवश भेद अवगत नहीं होता इसलिए उत्क्षेपण क्षण केवल नियत जाति के अभिधान से अपने आपको असमर्थ पाता है और दूसरे क्षण की अपेक्षा रखता है। उसमें भ्रमणक्षण से कोई विशेषता नहीं है क्योंकि आरम्भ में ही उत्क्षेपण क्रिया

क वक्ता की भावना प्रयत्न से जनित है। इसी तरह किसी के मन में 'गो' शब्द का उच्चारण रूप यह भावना जन्य प्रयत्न यद्यपि गान, गगन शब्द के प्रयत्न से भिन्न है हेतु भेद के कारण गो में भी भेद है फिर भी सादृश्य के कारण इस भेद का अवधारण कठिन है। इसलिए वर्णध्वनि व्यंजक है किन्तु उसका व्यंजन अस्फुट है, उसका अवधारण ठीक से नहीं हो पाता। आवर्तमान, दुहराए जाने पर भी सामान्य विशेष रूप से विस्तृततर अभिव्यक्ति नहीं कर पाती है। जब वह अवयवसन्तान क्रम से उपलब्ध होता है वह शब्द जाति कहलाती है और सब व्यवहार उससे परिचालित होते हैं। शब्द सकृत उच्चारण से अर्थ अवभास उतना नहीं करता जितना बार-बार दुहराने पर करता है। इसी आधार पर स्फोटवादी वर्णस्फोट पदस्फोट आदि की कल्पना करते हैं

वर्णपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान स्फोटान पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति

—वाक्यपदीय १।८३ हरिवृत्ति।

इसलिए प्रथम अक्षर में केवल जाति का अवभास मात्र होता है आगे वाले वर्णों में स्फुट स्फुटतर रूप में जाति का निर्धारण होता जाता है और इस तरह संस्कार विशेष बन जाता है जिसके आधार पर अभिव्यक्ति विशेष उसी तरह से शीघ्र ग्राह्य हो जाती है जैसे रत्नपरीक्षक शीघ्र ही रत्नतत्त्व को समझ लेते हैं। वैयाकरणों के लिए स्फोटतत्त्व रत्नतत्त्व है। शब्दतत्त्व अन्ततः निरवयव है और वह सर्वप्रथम स्वजाति का वाचक होता है। उसी को शब्दजाति कहा जाता है। जिस तरह रक्त गुण के सम्बन्ध से वस्त्र भी लाल कहा जाता है वैसे ही शब्दजाति अर्थ जाति के व्यपदेश के लिए होती है। रक्तगुण और वस्त्र की तरह से शब्दजाति और अर्थजाति में सम्बन्ध है। अवश्य ही यह सम्बन्ध यहाँ योग्यतालक्षण माना जाता है। सभी शब्द सभी अर्थों के साथ योग्यतालक्षण सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। जैसे गो शब्द सब भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है किन्तु प्रकरण आदि के सहारे उसके अर्थ का अवच्छेद (निर्धारण) किया जाता है उसी तरह शब्दजाति से शब्दव्यक्ति अभेद रूप में उपस्थित होती है अर्थजाति के द्वारा उसका निर्धारण किया जाता है। यह क्रम है। किन्तु प्रत्यायन में अक्रमता रहती है। शब्द से स्फुरित आकार होने पर भी अर्थ के स्वरूप की हानि नहीं होती। जैसे प्रकाश से आक्रान्त घट के स्वरूप का तिरोधान नहीं होता। शब्द स्वरूप से उपरक्त अर्थ के स्वरूप का लोप नहीं होता। शब्द और प्रकाश दोनों प्रकाशक मात्र हैं। शब्दजाति अर्थजाति से एक होकर जाति कार्य का सम्पादन करती है यह वाजप्यायन का दर्शन है। शब्द में रहने वाली शब्द जाति की तरह शब्दजाति शब्द में भी रहने वाली शब्दजाति है। एक ही शब्दजाति प्रयोक्तृभेद से भिन्न होकर अभेदप्रत्यय का निमित्त होता है। फलतः उस में भी शब्द जाति मानी जाती है। इस तरह अध्यास दर्शन के आधार पर शब्दजाति की व्याख्या हेलाराज ने की है।

भर्तृहरि ने अध्यास का आश्रय न लेकर भी जाति पदार्थ की व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द के द्वारा विशुद्ध अर्थ जाति का अभिधान होता है। इस पक्ष

सभी शब्द जाति के अभिधायक होते हैं। जाति शब्द भी जाति का ही वाचक होता है। न्यायदर्शन में सामान्य में भी सामान्य माना जाता है। बाल, कौमार आदि अवस्था भेद से भेद मानकर डित्थ आदि व्यक्ति में भी जाति की कल्पना की गई है। व्याकरण दर्शन में जाति प्रतिपादन न्यायवैशेषिक से भिन्न रूप में हुआ है। विभागवाद में अनुवृत्तिरूप प्रत्यय को जाति माना गया है। अनुगताकार या बुद्धि में प्रतिभासमान आकार शब्द के रूप में माना जाता है। द्रव्य और विशेष के सम्बन्ध के अध्यास से उसी को सामान्य कहा जाता है। शक्ति के रूप में भी जाति की कल्पना भर्तृहरि ने की है। एक ही शक्ति स्थानभेद के भेद से बहुत्वादि संख्याविषय के रूप में है। व्यवहार के लिए जाति आदि के रूप में उसी का अवच्छेद किया जाता है। सत्य और असत्य भाव सापेक्ष हैं। जो सत्य है वह जाति है। जो असत्य है वह व्यक्ति है (वाक्यपदीय ३ जातिसमुद्देश ३२)।

सत्ताजातिवाद

सत्ता जाति है। इस वाद का मूल महाभाष्य में मिल जाता है।

स तत्र बुद्ध्या नित्यां सत्तामध्यवस्यति

—महाभाष्य १। ।११३

न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति

—महाभाष्य ५। ।६४

आदि वाक्यों में इस वाद की झलक मिल जाती है। किन्तु इस पर अधिक प्रकाश भर्तृहरि ने डाला है और यह वाद प्राय उन्हीं के नाम से विख्यात है।

सत्ता भिन्न भिन्न पदार्थों में भिन्न होकर सम्बन्धिभेद के आधार पर जाति कही जाती है। अश्व की सत्ता अश्वत्व है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। गो की सत्ता गोत्व है। इस तरह डित्थ की भी सत्ता डित्थत्व है। सभी शब्द सत्ता मात्र के वाचक हैं। सत्ता जाति है। वही महासामान्य है। महासत्ता है। अभाव का भी बुद्धिकल्पित आकार से निरूपण होता है। सत्ता से उसका भी सम्बन्ध है। वही प्रातिपदिकार्थ है। प्रातिपदिकार्थ सत्ता उक्ति प्रसिद्ध है। वह नित्य है। महान आत्मा है। पाणिनि ने त्व और तल प्रत्यय से उसी का निर्देश किया है। ये प्रत्यय भाव में होते हैं। शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त को भाव कहा जाता है। शब्द का भाव सत्ता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। षड्भाव विकारों की योनि भी वही है। क्रमात्माशक्ति, कालशक्ति सबका स्रोत वही सत्ता है (वाक्यपदीय ३ जाति समुद्देश ३३ ३६)। सत्तावाद का विवेचन भर्तृहरि ने आत्म आदि दर्शनों की दृष्टि से भी किया। भर्तृहरि की यह शैली है कि एक प्रसंग पर दूसरे दर्शनों की मान्यताओं का संकेत करते चलते हैं। हेलाराज ने इस प्रसंग का सारांश यों दिया है—सभी शब्दों का वाच्य सत्ता है। फलतः जाति पदार्थ की व्याप्ति उपपन्न हो जाती है। यद्यपि भर्तृहरि ने द्रव्यपदार्थ के विवेचन में ब्रह्मद्रव्य को उपाधिभेद से भिन्न भिन्न कहा है फिर भी तात्पर्यभेद से व्यवस्थाभेद समझना चाहिए। जातिपदार्थ पक्ष में जाति रूप में

सवत्र ब्रह्म विवक्षित है, द्रव्यपदार्थ पक्ष म ब्रह्म परिनिष्ठित रूप म विवक्षित है—यह दार्शनिक विकल्प है। वस्तुत परमार्थ रूप म दोनो पक्षो म अनुगत एक ही तत्त्व है। वह सत्ता है।

द्रव्य

व्याकरण दर्शन म वह सब कुछ द्रव्य माना जाता है जिसे इद तत कहा जा सके। अथवा इद तत सवनाम से वाच्य का नाम द्रव्य है। द्रव्य के इस रूप पर तथा गुणाधार द्रव्य के रूप म पतजलि आदि के मत का उल्लेख यथावसर आगे किया गया है। वाक्यपदीय म द्रव्य समुद्देश एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप म है जो सबसे मिला हुआ है, सबसे भिन्न है। द्रव्य के दो भेद हैं व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक रूप का दर्शनभेद से निर्देश भतृहरि ने यो किया है

> आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीर तत्त्वमित्यपि।
> द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥
>
> —वाक्यपदीय द्रव्य समुद्देश १।

आत्मा वस्तु स्वभाव शरीर तत्त्व इन सब रूप म द्रव्य का उल्लेख उन स्थानो पर हो चुका था। भतृहरि के अपने सिद्धान्त म सत्य वस्तु का अवधारण असत्य वस्तुओ के द्वारा किया जाता है असत्योपाधिक शब्द से सत्य का निरूपण होता है। यह ससार का वचित्र्य है। उपलक्षण द्वारा सत्य का निभास सदा देखा गया है। काक शब्द देवदत्त के गृह का पूर्ण रूप से ज्ञापक है। असत्योपाधिक कुण्डल आदि के पीछे सत्य शुद्ध स्वर्ण निहित है। जसे नाडिका से काल का अवच्छेद होता है वसे ही आकार म सर्वव्याप्त शक्ति का निर्धारण होता है। वस्तुत तत्त्व और अतत्त्व म भेद नहीं है। अविकल्पित तत्त्व विकल्प रूप म, अविभाज्य काल विभक्त रूप म प्रतीत होता आया है।

आकृति के विलीन हो जाने पर भी जो अवस्थित रहता है उसे ही सत्य कहा जाता है। वही पारमार्थिक सत्य है। व्याकरण दर्शन की पश्यन्ती वाक उसी का प्रतीक है

> सवित च पश्यन्तीरूपा परावाक शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात पारमार्थिकात न भिद्यते—हेलाराज द्रव्यसमुद्देश।[1]

इस प्रसग के भतृहरि के अनेक वाक्य नागार्जुन की शली पर है, जसे

> न तदस्ति न तत्रास्ति न तदेक न तत पृथक्।
> न ससृष्ट विभक्त वा विकृत न च नान्यथा॥
>
> —द्रव्य समुद्देश १०।

अस्तु व्याकरण दर्शन म जसा कि कहा जा चुका है द्रव्य के पीछे भी किसी शाश्वत शक्ति के दर्शन की चेष्टा की गई है। हेलाराज कयट आदि ने उसे ब्रह्म नाम दिया है।

---

१ हेलाराज ने परावाक को अलग न मानकर उसे पश्यन्ती स्वरूप माना है।

४

आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात के रचना नाम यह जाता है और ऋषि भारद्वाज है

भारद्वाजमाख्यात भागव नाम भाष्यते ।
वासिष्ठ उपसर्गास्तु निपात काश्यप स्मृत ॥[1]

इससे यह ज्ञात होता है कि आख्यात का सर्वप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप म भारद्वाज ने किया था। इसका सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण म मिलता है

ओंकार पृच्छाम को धातु, किं प्रातिपदिकम् किं नामाख्यात, किं लिंग किं वचनम् का विभक्ति क प्रत्यय इति ।[2]

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप म नहीं करते। अष्टाध्यायी म केवल आख्यातोपयोगे (१।४।२९) और द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वर पुरश्चरणनामाख्याताट्ठक् (४।३।७२) इन सूत्रों म आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप म करते थे। काशकृत्स्न सूत्रों म आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप म मिलता है। जैसे—

धातु साधने दिशि पुरुषे चेति तदाख्यातम् ।[3]

कात्यायन ने आख्यात साव्ययकारकविशेषण वाक्यम् जैसे वार्तिकों म और महाभाष्यकार ने क्रियाप्रधानमाख्यातम् (५।३।६६) जैसे वाक्यों म आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ म प्रयोग किया है। आख्यात शब्द का मूल अर्थ जो कहा जा चुका है।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायतेऽनेन इस रूप म की जाती है

आख्यायते नेन क्रिया प्रधानभूतेत्याख्यातमिति, कृत्यल्युटो बहुलम् इति करणत्व स्वनिकायप्रसिद्धिरेषा । दुर्गाचार्य ने आख्यात की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या यों की है

---

१ वाजसनेयि प्रातिशाख्य, उवटभाष्य, ८।५

२ गोपथ ब्राह्मण प्रथमप्रपाठक, १।२४,

३ वृषभ ने वाक्यपदीय १।[illegible] की टीका में इसे काशकृत्स्न का सूत्र कह कर उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त ने भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, [illegible]भाग, पृष्ठ २६५ पर इस सूत्र को उद्धृत किया है।

आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वर्तमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावाभिव्यक्त युमुखीभूता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भाव स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातम ।

अथवा

आख्याते स्त्रीपुंनपुंसकानि क्रियागुणभावेन वर्तमानान्यनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राधान्येन वर्तमानेत्याख्यातम ।[४]

चन्द्रकीर्ति के अनुसार भू आदि के रूप जिनसे व्यक्त हों वह आख्यात है अथवा जो कर्त्ता के व्यापार को व्यक्त करे वह आख्यात है

आख्यायन्ते कथ्यन्ते अर्थात निष्पाद्यन्ते स्वादीना रूपाणि येन तदाख्यातम ।

अथवा आख्यान्ति आचक्षते कर्तृ व्यापारमित्याख्याता ।[५]

लघुन्यासकार के अनुसार क्रिया का प्रधान रूप में अथवा साध्य रूप को व्यक्त करने वाली के रूप में होना आख्यात है

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यधर्माभिधायितया वेत्याख्यातम ।[६]

भर्तृहरि से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिये गये आख्यात के कुछ लक्षण निम्न लिखित हैं

भावप्रधानमाख्यातम । पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे ।

—निरुक्त १।१, ११

तदाख्यात येन भाव सधातु ।—ऋक्प्रातिशाख्य १।२।१६ ।

क्रियासु बह्वीष्वभिसश्रितो य पूर्वापरीभूत इहैक एव ।

क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहु ॥

—बृहद् देवता १।४४ ।

आविष्टलिंग आख्यात क्रियावाचि —कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१०।२८ ।

येषा सूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आख्यातानि ।

—मीमासा सूत्र २।१।४ ।

क्रियाप्रधानम आख्यातम । महाभाष्य ५।३।६६ ।

उपर्युक्त सभी लक्षणों में आख्यात का क्रियावाचकत्व समान है । वाक्यपदीय में भी जन्मादि क्रिया आख्यातपद निबन्धना (वाक्यपदीय १।१३ हरिवृत्ति) आदि स्थलों में आख्यात का क्रियाप्रधानरूप ही अधिक वर्णित है । क्रिया के स्वरूप पर आगे विचार किया जायगा ।

आख्यात चार रूपों में देखा जाता है—कर्त्ता में भाव में कर्म में और कर्म-कर्त्ता में । पचति जैसे शब्दों में कर्त्ता में । भूयते पच्यते जैसे शब्दों में भावकर्म में ।

---

४ दुर्गाचार्य, निरुक्त-टीका १।१।१

५ श्री क्षितीशचन्द्र चटर्जी द्वारा टैक्निकल टर्म्स एण्ड टैक्निक आफ संस्कृत ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६६ पर उद्धृत

६ वही, पृ० ६८

आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात के इतना साथ यह ज्ञात है और ऋषि भारद्वाज है

भारद्वाजकमाख्यातं भार्गवं नाम भाष्यते ।
वासिष्ठ उपसर्गास्तु निपातः काश्यपः स्मृतः ॥[1]

इससे यह ज्ञात पड़ता है कि आख्यात का सर्वप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप में भारद्वाज ने किया था । इसका सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में मिलता है

ओंकारं पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः इति ।[2]

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नहीं करते । अष्टाध्यायी में केवल आख्यातोपयोगे (१।४।२९) और छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि — प्रथमाध्वर्यु पुरश्चरणनामाख्यातात् ठक् (४।२।६०) इन सूत्रों में आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है । परन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में करते थे । काशकृत्स्न सूत्रों में आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप में मिलता है । जैसे—

धातुः साधने दिशि पुरुषे चेति तदाख्यातम् ।[3]

कात्यायन ने आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम् जैसे वार्तिकों में और महाभाष्यकार ने क्रियाप्रधानमाख्यातम् (५।३।६६) जैसे वाक्यों में आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है । आख्यात शब्द का मूल अर्थ जो कहा जा चुका है ।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायते अनेन इस रूप में की जाती है

आख्यायते अनेन क्रिया प्रधानभूतेत्याख्यातम् इति कृत्यल्युटो बहुलम् इति करणे ल्युट् ध्वनिकायप्रसिद्धिरेषा । दुर्गाचार्य ने आख्यात की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या यों की है

---

१ ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य, ■ वर्गभाष्य, ८।

२ गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक, १।२४,

३ युधिष्ठिर मीमांसक ने काशकृत्स्न धातुपाठ की भूमिका में इसे काशकृत्स्न का सूत्र कह कर उद्धृत किया है । अभिनवगुप्त ने भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी द्वितीयभाग, पृष्ठ २६५ पर इस सूत्र को उद्धृत किया है ।

आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वर्तमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावामिव्यक्त युगुखीभूता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भाव स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातम ।

अथवा

आख्याते स्त्रीपुंनपुंसकानि क्रियागुणभावेन वर्तमानान्यनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राधान्येन वर्तमानेत्याख्यातम ।[४]

चन्द्रकीर्ति के अनुसार भू आदि के रूप जिससे व्यक्त हों वह आख्यात है अथवा जो कर्ता के व्यापार को व्यक्त करे वह आख्यात है

आख्यायन्ते कथ्यन्ते अर्थात निष्पाद्यन्ते भ्वादीनां रूपाणि येन तदाख्यातम ।
अथवा आख्याति आचक्षते कर्तुर्व्यापारमित्याख्याता ।[५]

नघुयामकार के अनुसार क्रिया का प्रधान रूप में अथवा मान्य अर्थ को व्यक्त करने वाली के रूप में होना आख्यात है

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यर्यामिधायितया वेत्याख्यातम ।[६]

भर्तृहरि के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिये गये आख्यात के कुछ लक्षण निम्न लिखित हैं

भावप्रधानमाख्यातम । पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे ।

—निरुक्त १।१, ११

तदाख्यात येन भाव सधातु ।—ऋक्प्रातिशाख्य १२।१६ ।
क्रियासु बह वीष्वमिसश्रितो य पूर्वापरीभूत इहैक एव ।
क्रियाभिनिव त्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाह ॥

—बृहद देवता १।४४ ।

आविष्टलिंग आख्यात क्रियावाचि —कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१०।२८ ।
येषा तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आख्यातानि ।

—मीमांसा सूत्र २।१।४ ।

क्रियाप्रधानम आख्यातम । महाभाष्य ५।३।६६ ।

उपर्युक्त सभी लक्षणों में आख्यात का क्रियावाचकत्व समान है। वाक्यपदीय में भी 'जन्माद्रि क्रिया आख्यातपद निबन्धना (वाक्यपदीय १।१३ हरिवृत्ति) आदि स्थलों में आख्यात का क्रियाप्रधानत्व ही अधिक वर्णित है। क्रिया के स्वरूप पर आगे विचार किया जायगा।

आख्यात चार रूपों में देखा जाता है—कर्त्ता में भाव में, कर्म में और कर्म-कर्त्ता में। पचति जैसे शब्दों में कर्त्ता में। भूयते पच्यते जैसे शब्दों में भावकर्म में।

---

४ दुर्गाचार्य, निरुक्त-टीका १।१।१
५ श्री भिनाशचन्द्र वर्मा द्वारा टेक्निकल टर्म्स एण्ड टेकनिक आफ संस्कृत ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६६ पर उद्धृत
६ वही, पृष्ठ ६८

और द्रव्य । व्यवहार जगत् व्यापारों में व्यस्तता से । इन भावों रूपों में ... परिवर्तित होते रहने से इनमें प्रधान होता है क्रिया ही प्रधान होता है। उस क्रिया को कहने हेतु और स्वयं उस क्रिया में साध्यमान होता हुआ यह आख्यात आख्यात कहा जाता है।

आख्यात के अर्थ

धातु जब आख्यात के उच्चारण से अर्थ पदों की प्रतीति होती है। जैसे आदि क्रिया की प्रतीति होती है। भवति आदि काल की प्रतीति होती है। प्रथम मध्यम आदि पुरुष की प्रतीति होती है पचति से पर पुरुष की पचसि से युष्मद् की और पचामि से अस्मद् की। कर्तृ साधिकरणाभिधेय से एव से उपग्रह की प्रतीति होता है पचते यजते आदि आत्मनेपद के उच्चारण से कर्तृगामि फल की प्रतीति होती है और पचति यजति आदि परस्मैपद के प्रयोग से परगामित्व की प्रतीति होती है। साधन की भी प्रतीति होती है पचति से कर्ता पच्यते से कर्म की। संख्या भी प्रतीति होती है। पचति इत्यत्र पचन से भिन्न कर्ता से एकत्व आदि। अतः क्रिया काल पुरुष उपग्रह साधन और संख्या ये आख्यात से गम्य अर्थ माने जाते हैं। फलतः इन्हें ही व्याकरणशास्त्र में आख्यातार्थ कहा जाता है।

क्रिया काल पुरुष उपग्रह साधन और संख्या ये सभी आख्यात के अर्थ हैं इसमें कोई विवाद नहीं है। सभी वैयाकरण इसे मानते हैं। सार्वधातुके यक् ३।१।६७ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है

लिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते   लिङभिहितो भावो कर्त्रा सम्प्रयुज्यते।

प्रशंसायां रूपप् ५।३।६६ के भाष्यविवरण में कैयट ने भी आख्यात के क्रिया काल उपग्रह आदि अर्थ माने हैं

कालसंख्यासाधनोपग्रहाभिधानेऽप्याख्यातस्य क्रियाप्रधानत्वावगमः।

इसी तरह महाभाष्य के 'पुनरुक्तिः' पर टिप्पणी करते हुए कैयट ने लिखा है कि काल साधन, संख्या पुरुष, क्रिया और उपग्रह ये तिङर्थ हैं। (कालसाधनसंख्यापुरुष क्रियोपग्रहरूपस्तिङर्थः —महाभाष्यप्रदीप २।२।१८)।

भर्तृहरि ने भी क्रिया काल पुरुष आदि का ग्रहण आख्यातार्थ के रूप में किया है

प्रवृत्तिज आदि क्रिया आख्यातपदनिबन्धना। तस्याः प्रवृत्तिरिति समाख्याता यास्तत्त्व साध्यत्व साधनाकांक्षता क्रमरूपोपग्रहकालाभिव्यक्तिहेतुत्वम्।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१३।

क्रियासाधनकालादयोऽपि कश्चित कथंचिदभिधेयत्वेन प्रविभक्ता।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२६।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वाक्यपदीयकार के मत से आख्यात के उपर्युक्त ही अर्थ हैं। क्रिया काल, पुरुष आदि का आख्यातार्थ के रूप में ग्रहण आलंकारिक भी

करते हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही लिखा है

> तिङन्तपदानुप्रविष्टस्यापि अर्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्यम्।[७]

साधन काल आदि का आख्याता में रूप में सब प्रथम संकेत काशकृत्स्न सूत्र में मिलता है। एक सूत्र का रूप है—धातु साधन दिक्षि पुरुषे चिति च तदाख्यातम्। लिंग विभक्ति विभक्तौ एतन्नाम'। इस सूत्र के काशकृत्स्न व्याकरण के होने में वृषभदेव और अभिनवगुप्त के प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। यह सूत्र अत्यन्त प्राचीन है। इसमें प्रमाण यह भी है कि इस सूत्र में संख्या के अर्थ में चिति शब्द का प्रयोग हुआ है। दिक् का अर्थ क्रिया और काल है (दिक् शब्देन क्रियाकालश्चोच्यते वृषभ (पृष्ठ ४१)। आख्यात नाम का प्रयोग और आख्यात के अर्थ रूप में क्रिया, काल साधन पुरुष संख्या आदि का उल्लेख भी एक साथ हो गया है।

उपर्युक्त आख्यातार्थों का व्याकरणदर्शन की दृष्टि से विवरण अगले अध्यायों में वाक्यपदीय के आधार पर किया जाएगा।

क्रिया विचार

आख्यातार्थों में क्रिया की प्रधानता

क्रिया आख्यातगम्य है यह पूर्व के अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। आख्यातार्थों में क्रिया ही प्रधान मानी जाती है। महाभाष्यकार ने 'क्रिया प्रधानमाख्यातं भवति'[१] कहा है। न्यायशास्त्र ने भी क्रिया और साधन दोनों को आख्यात का वाच्य मानते हुए क्रिया को ही उसका प्रधान अर्थ माना है

> आख्यातस्य यद्यपि क्रियासाधनञ्चोभयं वाच्यं, तथापि तस्य क्रियैव प्रधानमर्थः।[२]

व्यवहार में जब पूछा जाता है देवदत्त क्या कर रहा है तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर क्रिया द्वारा ही दिया जाता है जैसे वह पका रहा है (पचति)। एक पद उपात्त कारक की अपेक्षा भी क्रिया की प्रधानता देखी जाती है (एकपदोपात्तापेक्षं च क्रियाप्रधानत्वमभिधीयते महाभाष्य प्रदीप १।३।६६)। व्रीहीन् अवहन्ति जैसे वाक्यों में व्रीहि द्रव्य के संस्कारक होने के कारण अवघात की अप्रधानता है। अथवा यद्यपि अर्थ (द्रव्य) की दृष्टि से व्रीहि की प्रधानता है फिर भी क्रिया के साध्य होने के कारण शब्द की दृष्टि से उसी की प्रधानता है न कि व्रीहि की। भूत की अपेक्षा भविष्यत्काल में होने वाला (भाव्य) ही

---

७ ध्वन्यालोक लोचन २।१६ पृष्ठ १८
(चौखम्बा संस्करण)।

१ महाभाष्य, ५।३।६६

२ कारिका विवरणपञ्जिका ५।३। , पृ० १७

[illegible] न कहा जाता है इसलिए भाष्य प्रबन्धों में होने से कारक कारक की अपेक्षा व्यापारमयी क्रिया की प्रधानता मानी जाती है। यद्यपि इस दृष्टि से क्रिया में भी उस फल की प्रधानता है क्योंकि फल के लिए प्रवृत्ति होती है फिर भी फल की प्रधानता वस्तु की दृष्टि से है। धात्वर्थ के [illegible] से तो क्रिया की प्रधानता होती है। क्योंकि यद्यपि धात्वर्थ [illegible] से फल का [illegible] के द्वारा उत्पन्न [illegible] होता अपितु उसके लिए [illegible] का प्रयोग किया जाता है। [illegible] की अभिव्यक्ति होती है तो उसमें गुण और प्रधानभाव का भी विचार होता है। [illegible] में अभिप्राय पारस्परिक फल और पारस्परिक क्रिया में क्रिया अंश ही प्रधान है। [illegible] जब कम अंश में प्रयुक्त होता है तब भी पारस्परिक क्रिया की ही प्रधानता है। [illegible] क्योंकि [illegible] का अंश [illegible] निरपेक्ष रूप में सामने आता है। [illegible] सिद्धि के लिए है। इस अभिप्राय से हम फल को [illegible] क्रिया को गौण समझते हैं परन्तु यथार्थत साक्षात् रूप में [illegible] व्यापार [illegible] क्रिया का ही [illegible] सिद्ध होता है। [illegible] में क्रिया का ही अनुष्ठान किया जाता है फल तो स्वतः प्राप्त होता है। क्रिया की प्रधानता से ही वाक्यार्थ तो क्रिया के रूप में व्याख्यान किया जाता है। [illegible] कारक जो सिद्ध रूप में रहते हैं साध्य क्रिया के गुणीभूत रूप में ही व्यवहृत होते हैं। कम का भी क्रिया के प्रति गुणभाव ही है। [illegible] हम ही फल रूप में होता है वहां उसकी प्रधानता फल की दृष्टि से अवश्य होती है पर [illegible] वहां भी क्रिया की ही प्रधानता रहती है। इसलिए आख्यातार्थ साधन और क्रिया में क्रिया ही प्रधान है। संख्या और पुरुष भी साधन के आश्रय में क्रिया के उपकारी होते हैं अतः वे भी क्रिया की अपेक्षा गुणभूत है। काल और उपग्रह क्रिया के साक्षात् उपकारक हैं। [illegible] वे भी क्रिया के गुणभूत हैं। जहां भाव में लकार होता है वहां क्रिया की प्रधानता सख्या की अपेक्षा होती ही है। वस्तुतः जो साध्य रूप में है अनिवृत्त है वह दूसरे का अंग भाव (गुणीभूत) नहीं हो पाता है। क्रिया साध्य है। अतः प्रधान है। इसीलिए भाष्य में क्रिया को असत्त्वभूत भेदाभाव इत्यथवा क्रिया कहा गया है। हेलाराज के अनुसार इस वाक्य में एक [illegible] भेदाभाव का प्रदर्शनपरक है न कि सख्या वाचक। असत्त्वभूत होने के कारण क्रिया निःसत्त्व होती है [illegible] सख्या सभव नहीं है (हेलाराज वाक्यपदीय ३ क्रियासमुद्देश ८०)। अतः साधन काल पुरुष संख्या आदि की अपेक्षा क्रिया प्रधान होती है।

क्रिया अनुमेय होती है

क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह अनुमेय मानी जाती है। यदि क्रिया न होती द्रव्य ही द्रव्य होता तो फलजनकता का रूप समझाया नहीं जा सकता। यदि पाक और पाठ में कोई भेद न हो उनके फल में भी भेद होना कठिन है। इसलिए कारक के अतिरिक्त किन्तु कारक के आश्रित क्रमस्वरूपवाली भिन्नलक्षण कोई वस्तु है ऐसा अनुमान करना पड़ता है। वही क्रिया है। महाभाष्य में भूवादयो धातवः १।३।१ सूत्र की व्याख्या में इस संवाद पद्धति से यह व्यक्त किया गया है

क्रिया किसे कहते हैं ?
क्रिया ईहा को कहते हैं।
ईहा किसे कहते हैं ?
ईहा चेष्टा को कहते हैं।
चेष्टा किसे कहते हैं ?
चेष्टा व्यापार को कहते हैं।

आप तो केवल एक शब्द के बदले दूसरे शब्द कहते चले जा रहे हैं। कोई अर्थ स्वरूप सामने नहीं लाते जिससे ज्ञात हो कि क्रिया क्या है।

क्रिया एक ऐसी वस्तु है जो अत्यन्त अपरिदृष्ट (अपरस्पष्ट) है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। परमाणुओं के पिण्ड की तरह क्रिया का पिण्डीभूत कोई रूप नहीं होता। कुक्षिस्थ गर्भ की तरह क्रिया अप्रत्यक्ष होती है अथवा जैसे कुक्षि से बाहर आये हुए गर्भ का प्रत्यक्ष होता है वैसे क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह अनुमान से जानी जाती है। सभी साधनों के रहते हुए कभी पचति का व्यवहार होता है और कभी नहीं होता। जिस साधन के रहने पर पचति का व्यवहार होता है और जिसके न रहने से नहीं होता है वह अवश्य क्रिया है। अथवा देशान्तरप्राप्तिलक्षण कार्य से क्रिया रूप कारण का अनुमान होता है। देवदत्त यहाँ था कुछ समय बाद पाटलिपुत्र में दिखाई देता है। उसके स्थानान्तर होने में अवश्य कोई न कोई व्यापार कारण है। वही क्रिया है। अतः क्रिया अनुमान से जानी जाती है।

क्रिया के अनुमान में कुछ कठिनाइयाँ हैं। पहले प्रत्यक्ष के आधार पर सम्बन्ध ग्रहण हो तो अनुमान हो सकता है। फल और व्यापार में जन्यजनक भाव के प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद ही कार्यकारण भाव का अनुमान सम्भव होगा। यहाँ जब प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं है क्रिया विषयक अनुमान भी सम्भव नहीं है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि एक एक क्षण का प्रत्यक्ष होता है। धातुवाच्य समूह का युगपत् सन्निधान सम्भव नहीं है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होगा किन्तु एक एक क्षण का (अधिश्रयण स्थाल्युपस्थापन आदि का) प्रत्यक्ष होता है। बुद्धि के सहारे उन सभी क्षणों का एकत्र सङ्कलन कर पचति का प्रयोग किया जाता है। जब एक ही क्षण के लिए (केवल अधिश्रयण आदि के लिए) पचति का प्रयोग किया जाता है उस भी क्षण में समूह का आरोप कर लिया जाता है। शब्द शक्ति के स्वभाव के कारण एक क्षण धातुवाच्य नहीं माना जाता। कुछ लोगों के मत में अधिश्रयण आदि भी एक क्षणात्मक नहीं होते। उनमें भी काष्ठ का पकड़ना पात्र का आदान चुल्ली संयोजन आदि अवयव होते हैं इसलिए केवल अधिश्रयण भी समूह रूप होता है। उसका भी जो अवयव परमाणु रूप होगा वह शब्द शक्ति के स्वभाव के कारण न तो वाच्य होता है और न उसका प्रत्यक्ष होता है। अतः स्मृति के बल पर सम्बन्ध का ग्रहण कर क्रिया विषयक अनुमान होता है।

कुछ लोग मानते हैं कि पचति यह प्रख्या (बुद्धि) निरालम्ब होती है। निरालम्ब होने के कारण भ्रान्त होती है। भ्रान्त होने के कारण अनुमापक नहीं हो सकती।

फलत क्रिया को अनुमेय मानना ठीक नहीं है। यदि पचति की प्रत्यया सालम्बना मानी जाय तो क्रिया का प्रत्यक्ष मानना ही उचित है (ननु पचतीति प्रत्यया निरालम्बनत्वेन भ्रान्तत्वादनुमापकत्वमयुक्त स्यात्। सालम्बनत्वे तु प्रत्यक्षैव क्रिया प्रत्ययविशेषविषयत्वात्)।[3] इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि व्याकरण-मत में वस्तुरूप अर्थ अर्थ नहीं है अपितु शब्द का अर्थ अर्थ है। अन्वय व्यतिरेक के आधार पर धातु भाग का जो अर्थ निश्चित किया जाता है उसकी उपलब्धि साक्षात् सभव नहीं है। द्रव्य स्वभाव सिद्ध होता है। घट क्रियते जैसे वाक्यों में जिसमें साध्यावस्था भी व्यक्त है द्रव्य-मात्रावलम्बन प्रत्यय मृत्पिण्ड उत्पन्न करते हैं। किन्तु घट क्रियते में घट की जो भाव्यमानावस्था है जो शिवक स्तूपक आदि अवस्थाओं से क्रमश अभिव्यक्त होती है उसकी प्रतीति घट शब्द से नहीं होती। उसकी प्रतीति तो क्रियते जैसे क्रिया पद के प्रयोग से ही सभव है। किसी शब्द का वही अर्थ होगा जो पदान्तर निरपेक्ष रूप में अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता हो। इस आधार पर घट से केवल सत्ता आकारक बोध होता है। इसीलिए सत्ता को प्रातिपदिकार्थ माना जाता है। क्रियापद के प्रयोग से (जैसे क्रियते शब्द से) आश्रितक्रमरूप अर्थ की साध्यावस्था की प्रतीति होती है। इसलिए तिङन्त का अर्थ भाव्यमान रूप में गृहीत होता है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ अभिधेय के रूप में नित्य माने जाते हैं। जहाँ भूत या भविष्यत्काल का उल्लेख होता है जैसे घट अभूत घट भविष्यति आदि इस स्थलों में भी अर्थ अभिधेय के रूप में नित्य माने जाते हैं क्योंकि उन स्थलों में भी सत आकारक ज्ञान होता ही है। इसलिए शब्द रूप में भाव्यमाना क्रिया होती है। इसीलिए ध्वनति जैसे शब्दों में क्रियात्व माना जाता है। फलत अन्वयव्यतिरेक के आधार पर द्रव्य से क्रिया का अनुमान होता है (तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्या द्रव्यादनुमिता क्रिया हेलाराज वही)। अनुमान का प्रकार नागेश ने निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है—

> अनुमान त्वेवम् उत्तरदेशसयोगादिकल कारणजन्य कार्यत्वादिति। तच्च कारण प्रसिद्धातिरेके इतरबाधकबलात् क्रियारूपमेव प्रसिध्यतीति भाष्यतात्पर्यम्।—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।१

भर्तृहरि ने क्रिया विषयक अनुमान का स्पष्ट कथन किया है। ... मानते हैं। इन्द्रिया का सम्बन्ध सत वस्तु से ही होता है। क्रिया के क्रमिक अश सत रूप होते हैं समूह रूप से होते हैं इसलिए इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते। जहाँ क्रिया का एक ही क्षण है वहाँ भी समूह का पौर्वापर्य रूप में अध्यास होता है पौर्वापर्यरूप में ही क्रियात्व होता है। इसलिए क्रियाक्षण इन्द्रियविषय रहा है। फिर भी उसका ज्ञान होता है और वह अनुमेय ही कहा जायगा। गो प्रभृति आदि वर्ण समुदाय जिस तरह सस्कारक्रम से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धि निग्राह्य होते हैं उसी तरह क्षणसमाहारी सत क्रिया समुदायरूप में फलानुमेय माना

[3] हेलाराज वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश १ पृ० १८, विज्ञान सस्कृत सीरीज काशी के सस्करण में इसी का पाठ कम है।

जाती है। उसमे वर्तमानक्षणगत इन्द्रियसम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्षत्व आरोपित रहता है और उसमे एकत्व का भान भी आपाततः होता है। भर्तृहरि ने इसके स्पष्टीकरण मे अलातचक्र का उदाहरण दिया है। जिस तरह तेजी से घूमते हुए अलातचक्र में भ्रान्ति से चक्राकार का अध्यारोप होता है उसी तरह क्रियाक्षणो मे भी एकत्व की परिकल्पना और प्रत्यक्ष का अभिमान होता है। जिस तरह से पचति के अधिश्रयण आदि भाग है उसी तरह अधिश्रयण आदि के भी स्वसत्ताकारक अवयव है। अत पौर्वापर्य उन अवयवो मे भी होने के कारण वे प्रत्यक्ष से परे की वस्तु है। जो पर्यन्तवर्ती निरंश क्षणमात्र है उसके लिए क्रिया शब्द का प्रयोग नही होता। तात्पर्य यह है कि व्याकरणदर्शन मे वास्तविक भेद का विचार नही है। जहा तक शब्द का सम्बन्ध है शब्द से क्रिया समूहात्मा रूप मे ही भासित होती है यद्यपि वह क्षणमात्रस्वभावमयी है और विप्रकीर्ण अवयव वाली है। अतः क्रिया का सक्रम होना और अतीन्द्रिय होना दोनो सिद्ध होता है। और यदि कभी निरंश क्षणमात्र (अपवर्गपर्यन्त अनुप्राप्त) के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग हो भी तो वहा भी पूर्वोत्तर भाग की कल्पना से पौर्वापर्य क्रम अध्यवसित होता है। फलतः वह भी आख्यात वाच्य है। इसी आशय से निरुक्तकार ने भी पूर्वापरीभूत भाव को आख्यातवाच्य माना है (वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ६१०)।

कुछ लोग मानते है कि क्रिया अनित्य है। जिस तरह व्यक्ति मे आकृति अभिव्यक्त होती है उसी तरह अधिश्रयण उदकासेचन तण्डुलावपन आदि मे क्रिया अभिव्यक्त होती है।

कुछ अन्य आचार्य मानते है कि क्रिया उत्पन्न होती है अभिव्यक्त नही होती। जब दीप से घट की अभिव्यक्ति होती है घट की सत्ता पूर्व सिद्ध होती है। क्रिया के लिए अभिव्यक्त पक्ष स्वीकार करने मे अधिश्रयणादि मे पूर्व क्रिया की सत्ता माननी पडेगी।

कुछ आचार्य मानते है कि जिस व्यापार के अनन्तर फल की निष्पत्ति होती है वहा क्रिया है। पचति मे वस्तुतः क्रिया विक्लेदन (तण्डुल के अवयवो का फूल जाना विक्लित्ति रूप व्यापार है। क्योकि विक्लेदन के बाद ही ओदन रूप फल की निष्पत्ति होती है। अधिश्रयण आदि विक्लेदन के पूर्व के व्यापार ओदन की निष्पत्ति मे साक्षात उपकारक नही होते। इसलिए उन्हे यथार्थ रूप मे कारक (साधन) नही कहा जा सकता। अधिश्रयण आदि के लिए पचति का प्रयोग प्रधान विक्लेदन क्रिया के अधिश्रयण मे अध्यास से होता है। अथवा यो कह सकते है कि अधिश्रयण आदि विक्लेदन क्रिया के सहायक है। अतः उनमे क्रियात्व उपचरित है वास्तविक नही। उनमे क्रियात्व तादर्थ्य के आधार पर माना जाता है। जिस तरह से तादर्थ्य के कारण स्थूणा मे इन्द्र का आरोप करते है उसी तरह से अन्य अवयवो मे क्रिया रूप का आरोप करते है। महाभाष्य का ग्रन्थ के पचे प्रधानोऽयं यासौ तण्डुलाना विक्लित्तिरिति यह वाक्य भी इस मत का पोषक है। इसी मत के आधार पर क्रिया और व्यापार [illegible] किया जाता है। जिससे फल की निष्पत्ति होती है। उस अन्त्य भाग के

मात्र में है न कि धातुवाच्य में। जिस कारक की जो प्रवृत्ति है वही क्रिया है। पाक क्रिया भी सारे कारकों में सम्बद्ध होने के कारण अनेक हैं। धातु में केवल कुछ का ही अभिधान होता है कभी कर्मगत के रूप में जैसे पच्यते और कभी कर्तृगत के रूप में जैसे पचति। अतएव कर्ता और कर्म से ही व्यापार का सम्बन्ध होता है उन्हीं के व्यापार का ही धातु से अभिधान होता है।

कुछ व्याख्याता प्रवृत्तिविशेष में विशेष पद पर जोर देते हैं। प्रवृत्तियों के विशेष को वे प्रवृत्तिविशेष मानते हैं। सभी कारकों से अन्य विविक्त आदि रूप भूति (भवन) क्रिया है क्योंकि कारक की प्रवृत्ति का फल यही है।

कुछ लोगों के अनुसार यहां कारक से अभिप्राय प्रधानकारक-कर्ता-से है अप्रधान करण आदि से नहीं। कारकाणां पद में बहुवचन इस बात का द्योतक है कि क्रिया भेद से कर्ता भेद होता है और अनेक क्रिया के अनेक कर्ता हैं। अनेक कर्तृत्व की दृष्टि से एक कर्ता कारक शब्द में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। कोई कह सकता है कि तब कारकाणां के स्थान पर कर्तृ शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं किया। इसका समाधान यह है कि कर्म में भी व्यापार देखा जाता है उसका निराकरण न हो इसलिए कर्ता के वाचक कारक शब्द का व्यवहार उस लक्षणवाक्य में किया गया है। जहां कर्म की सम्भावना है वहां कर्म का व्यापार भी क्रिया है। विशेष बात यह है कि कर्म का विषय उतना व्यापक नहीं है जितना व्यापक कर्ता का है इसलिए व्यापक होने के कारण कर्ता ही यहां विवक्षित है। इसमें प्रमाण—अन्यथा च कारकाणि गुडौदने प्रवर्तन्ते अन्यथा च मांसौदने—(महाभाष्य १।३।१) यह वाक्य है। कर्ता भूखे ओदन की ओर मन्द रूप में प्रवृत्त होता है पर मांस युक्त ओदन की ओर उसकी प्रवृत्ति वेगमयी होती है। मन्दप्रयत्न या सरम्भमय प्रस्थान से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां कारक शब्द से कर्ता ही अभिप्रेत है। उसी की प्रवृत्ति देखी जाती है। वही चेतन भी है अत प्रवृत्ति उसी में सम्भव भी है। भाष्यकार ने क्रिया को मन्द प्रवृत्ति अथवा वेगमयी प्रवृत्ति के रूप में स्वयं व्यवहृत किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्ता की विशेष प्रवृत्ति ही क्रिया है। इस मत में कुछ लोग त्रुटि दिखाते हुए कहते हैं कि यदि क्रिया को प्रवृत्तिविशेष रूप में मानेंगे तो चेतन कर्ता तो गृहीत होगा परन्तु अचेतन कर्ता गृहीत न हो सकेगा। अचेतन होने के कारण उनमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त मांसौदन में करण आदि का भी हाथ हो सकता है। इसलिए कारक शब्द से केवल कर्ता ही निर्दिष्ट है ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि संरम्भ सामान्य का कर्ता में ही होना सम्भव है। थाली अथवा अन्य अधिकरण आदि कारक स्वयं ओदन की ओर मन्द रूप में अथवा वेगरूप में प्रवृत्त नहीं होते। कर्ता के सामान्य रूप में ग्रहण होने के कारण अचेतन प्रवृत्ति उनमें भी सम्भव है। वार्तिककार ने न वा तुल्यकारणत्वाद् इच्छाया हि प्रवर्तित उपलब्धि (महाभाष्य ३।१।७) कहा है चेतन और अचेतन में इच्छा की प्रवृत्ति देख कर ही। इच्छा चेतन देवदत्त में जैसे है वैसे ही अचेतन कूल में भी है। इसीलिए कूलं पिपतिषति प्रयोग किया जाता है। भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करते हुए

कहा है कि प्रवृत्ति से इच्छा जानी जाती है। देवदत्त जब चटाई बनाना चाहता है तो चिल्ला चिल्ला कर नहीं कहता कि मैं चटाई बनाऊंगा अपितु उसके हाथ में रज्जु कारक पूल आदि को देख कर उसकी चटाई बनाने की इच्छा का पता चल जाता है। इसी तरह कूल की प्रवृत्ति में उसकी इच्छा जानी जा सकती है। कूल जब गिरने को होता है लोष्ठ विशीर्ण होकर गिरने लगते हैं दरार पड जाती हैं और कूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर गिर कर चला जाता है (कूलस्यापि पिपतिषतो लोष्ठाः शीर्यन्ते भिदोपजायते, देशाद्देशान्तरमुपसङ्क्रामति महाभाष्य ३।१।७)। सर्वस्य वा चेतनवत्त्वात् वार्तिक महाभाष्य ३।१।७ में उल्लिखित दर्शन के अनुसार अचेतन में भी चेतनता सम्भव है। पदार्थों की उपलब्धि विचित्ररूप में होने के कारण सर्वत्र चैतन्य उपलब्ध नहीं होता (वचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतनधर्मप्रसंग सर्वत्रानोऽभावनीय — महाभाष्यप्रदीप ३।१।७)। दूसरी बात यह है कि भाष्यकार ने ओदन या माम ओदन की ओर मन्द या वेगवती प्रवृत्ति को दिखा कर प्रवृत्तिविशेष की ओर संकेत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्ता की विशिष्ट प्रवृत्ति को क्रिया कहते हैं। प्रवृत्तिविशेष का भाव प्रवृत्ति का ही विशेष (प्रवृत्तत्व विशेष) है। कारक के स्थान पर केवल कर्तृ पद नहीं कहा इसलिए कि कर्म का भी यथा स्थान ग्रहण हो सके कर्म का भी व्यापार क्रिया के रूप में प्रतीत होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस मत में एक कठिनाई और है। भाष्यकार ने एक स्थान पर कहा पच का प्रधान अर्थ क्या है? तण्डुलों की जो विक्लित्ति है वही प्रधान अर्थ है (अथ कः पचेः प्रधानोऽर्थः — यासौ तण्डुलानां विक्लिवित्तिरिति — महाभाष्य ३।१।२६)। अब यदि कर्तृ व्यापार को ही क्रिया माना जायगा और वही धातुवाच्य होगी महाभाष्यकार के उपयुक्त कथन के साथ विरोध होगा। क्योंकि विक्लित्ति कर्ता का व्यापार नहीं है कर्ता का व्यापार अग्नि से अधिक विक्लेदना है। विक्लिक्ति तो फल है व्यापार नहीं। पर इस आक्षेप का समाधान सरल है। वस्तुतः विरोध नहीं है। महाभाष्यकार ने विक्लित्ति को पच का प्रधान अर्थ वस्तु अर्थ की दृष्टि से कहा है न कि शब्दार्थ की दृष्टि से। अर्थ की दृष्टि से विक्लित्ति ही प्रधान है और शब्दार्थ की दृष्टि से विक्लित्ति सहित विक्लेदन अर्थ प्रधान है। कर्म में लकार मानने पर विक्लित्ति अथवा विक्लेदन सहित (उपसर्जन रूप में) विक्लित्ति अर्थ प्रधान है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अस्तु इस मत के अनुसार कर्ता और कर्म के व्यापार ही क्रिया है और क्रिया ही धात्वर्थ है। सम्प्रदान अपादान आदि के व्यापार धातु वाच्य नहीं है इसमें कारण शब्द शक्ति स्वभाव है। परन्तु कैयट के अनुसार सम्प्रदान अपादान आदि में भी व्यापार है। जैसे सम्प्रदान का अनुमनन अपादान का अवधि रूप में अवस्थान आदि। प्रतीयमान व्यापार भी कारक के व्यपदेश में निमित्त होता है—

> शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्च अपादानसम्प्रदानव्यापारे धातुर्न वर्तते। वस्तुतस्तु अपादानस्य अवधि भावेनावस्थानं व्यापारोऽस्ति। सम्प्रदानस्यापि अनुमनना दिलक्षणः। प्रतीयमानोऽपि व्यापारः कारकव्यपदेशनिबन्धनम्। यथा प्रविश

अन्ते या वा क्रिया भागे जाति सव क्रिया स्मृता ।
सा व्यक्तेरनुनिष्पादे जायमानेव गम्यते ।।

—वाक्यपदीय ३ क्रिया समुद्देश २०, २१

जातिक्रियावाद के आधार पतंजलि के क्रियासामान्यात सिद्धम (महाभाष्य १।२।६४) और सामान्यभूता क्रियावतते (महाभाष्य १।४।२३) जैसे कथन माने जा सकते हैं ।

सत्ता क्रियावाद

सत्ता क्रियावाद जातिक्रियावाद का ही एक रूप है । सत्तावादी जाति को सत्ता ही मानते हैं । इस दर्शन के अनुसार प्रति पदार्थ का एक सत्य रूप है और एक असत्य रूप है । जो सत्य रूप है वह जाति है जो असत्य रूप है वह व्यक्ति है । वह सत्य रूप सत्ता है । उसे ही परमसत्ता अपरसामान्य महासत्ता आदि नाम से व्यक्त करते हैं । सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है । विचित्र शक्ति योग के बल से वह सत्ता स्वयं भोक्ता भोग्य साधना आदि के रूप में व्यवहार का कारण होती है । भोग्य भावना आदि में सम्भाव्य ही संविद रूप में सत्य है । नानात्व कल्पित है । गोत्वादि जाति उसी महासत्ता का विवर्त रूप है । सम्बन्धिभेद से वही सत्ता गोत्व आदि भिन्न भिन्न रूप में जाति रूप में आभासित होती है । सभी प्रकार के शब्द सत्ता रूप जाति में अवस्थित हैं । उसी का प्रातिपदिकार्थ उसी का धात्वर्थ कहते हैं । वह नित्य है । महान आत्मा है त्व तल आदि प्रत्यय उसी के व्यंजक हैं । यहां तक कि अभाव भी सत्ता विहीन नहीं है । उसकी भी बौद्धिक सत्ता (**अभावस्यापि बुद्ध याकारेण निरूपणात**) । साधन के परिस्पन्द के कारण वही सत्ता क्रमरूप को प्राप्त होकर क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती है । अतः साक्षात् सत्ता क्रिया ही सभी धातुओं का विषय है । (वाक्यपदीय ३ जातिसमुद्देश ३२ ३५) ।

महासामान्यरूप महासत्ता क्रिया है । उसका क्रियाजातित्व साधना के व्यापार से भी सिद्ध है। क्योंकि कर्ता कर्म आदि साधना के क्रियाभेद में सत्ता ही समवायिनी होती है । इसलिए कर्ता कर्म के व्यापार से अवच्छिन्न सत्ता क्रियाजाति है । अथवा यों भी कह सकते हैं कि व्यापारों में समवाय रूप से रहने वाली सत्ता आश्रय भेद से भेदमयी होकर क्रिया कहलाती है।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ लोग जिस व्यापार के बाद फल निष्पन्न होता है उसे ही क्रिया मानते हैं । उसी आधार पर सत्तावादियों में भी कुछ अन्त्यव्यापारभाग की सत्ता को क्रिया मानते हैं (**अन्ये त्वात्मनि या सत्ता सा क्रिया कश्चिदिष्यते—वाक्यपदीय क्रियासमुद्देश २३**) ।

बुद्धिसत्ता क्रियावाद

जो लोग बुद्धि को शब्दार्थ मानते हैं उनके मत में बुद्धिसत्ता ही क्रिया है । इस मत के अनुसार दृश्य और विकल्प में अभेद होता है उसी आधार पर बुद्धि का भाव में अध्या-

रोप कर लिया जाता है। भाव के सहारे बुद्धिक्रिया में साधन की साकांक्षा और साध्यत्व भासित होते हैं।

भावसत्ता क्रियावाद

कुछ लोग सत्ता को भाव रूप में मानते हैं और उसी को क्रिया मानते हैं (सत्त्व भाव शब्दवाच्या मुख्य क्रियेति मन्यते—हेलाराज वाक्यपदीय३ क्रियासमुद्देश २३)। आचार्य वार्ष्यायणि ने षड्भावविकार का निर्देश किया था। (षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणि)[६]। इस आधार पर भी भर्तृहरि ने क्रिया का विवेचन किया है। भावविकार के विषय में व्याख्याकारों के कई प्रकार के मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि भाव का अर्थ क्रिया है। द्रव्य में विकार देख कर उसके भाव स्वरूप का अनुमान किया जाता है। क्योंकि द्रव्य स्वयं अपने आप में विकार नहीं पैदा कर सकता अपने आप में क्रिया नहीं होती। (स्वात्मनि क्रियाविरोधात्) और क्रिया भिन्न वस्तु से विकारवत्ता नहीं आ सकती। ऐसा असम्भव है। विकार शब्द यद्यपि प्रकृतिविकार भाव आदि में बाच्यवचन के रूप में देखा जाता है फिर भी यहां उस प्रकार-वचन के रूप में मानना चाहिए। क्योंकि क्रिया के प्रति क्रिया का कारणत्व नहीं होता क्रम क्रमसाध्य नहीं देखा जाता। इसलिए भावविकार का भाव है क्रिया प्रकार क्रियाभेद और वे छ होते हैं।

कुछ विद्वान मानते हैं कि भाव शब्द पदार्थ का पर्याय है। कस्यचित् भावस्या चिरव्याता इत्यभिभुज्जादयाभावा इत्यादि प्रयोगों में भाव शब्द पदार्थपर्याय के रूप में देखा जाता है। इसलिए वार्ष्यायणि के सूत्र में भाव का अर्थ पदार्थ है। यद्यपि वह एक ही है फिर भी उसमें छः भेद सन्निभिन्न से होते हैं जैसे स्फटिक में समगवाली वस्तु के धर्म (गुण) से भेद आ जाता है। कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि भाव शब्द का भाव शब्द है। इसीलिए यहां सर्वे भावा स्वेन भावेन भवन्ति ■ तथा भाव के भाव शब्द के लिए शब्द शब्द का प्रयोग पतंजलि ने किया है—यहां सर्वे शब्दा स्वे नार्थेन भवन्ति सत्यामर्थ।[७] शब्द यहां अर्थवान और वाक्यभूत रूप में गृहीत है। क्योंकि जब तक क्रिया पद का प्रयोग नहीं होता प्रवृत्ति या निवृत्ति सत्य या झूठ का पता नहीं चलता। केवल अंकुर शब्द कहने से अथवा केवल वन्ध्यासुत कहने से ठीक से अर्थ बोध नहीं होता। जब इनके साथ किसी क्रिया पद का प्रयोग करते हैं जैसे अस्ति नास्ति आदि का तभी ठीक से बोध होता है। अतः भावशब्द का तात्पर्य इस मत के अनुसार वाक्यभूत शब्द भेद में है।

किन्तु भर्तृहरि भाव शब्द के सत्ता अर्थ वाले पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं। वार्ष्यायणि के भाव शब्द का अर्थ सत्ता महासामान्य है। इसी सत्ता को कुछ लोग

---

६ निरुक्त १। ८, महाभाष्य १।३।१

७ पाणिनिसूत्र ५।१।११९ पर कात्यायन वार्त्तिक

८, महाभाष्य ५।१।११९

परमात्मा अथवा परमब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। वही सत्ता परा प्रकृति भी है। वह सर्वविकारों की अनुयायिनी है। वही सत्य है। इसकी पुष्टि के लिए भर्तृहरि ने निम्नलिखित अंश उद्धृत किया है—

पथिवीधातौ किं सत्यं विकल्पः विकल्पे किं सत्यं विज्ञानं, विज्ञाने किं सत्यं ऊं अथ तद् ब्रह्म इति।

—महाभाष्यत्रिपादी, मेनुस्क्रीप्ट, पृष्ठ २४ (श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का हस्तलेख)।[९]

अतः भावविकार से तात्पर्य महासामान्यात्मक सत्ता के जन्मादि विकार से है। वह विकार देशभेद से परिणामरूप में अथवा विवर्तरूप में होता है और उत्तरोत्तर विकार प्राप्त कर जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते और विनश्यति इन रूपों में व्यक्त किया जाता है।

षड्भाव विकारों का विश्लेषण

छः प्रकार के भावविकारों में पहली अवस्था 'जायते' शब्द से अभिव्यक्त की जाती है। यास्क के अनुसार 'जायते' से पूर्वभाव का आदि व्यक्त होता है।[१०] भर्तृहरि के अनुसार जायते में उत्पन्न होने की प्रक्रिया मात्र की अभिव्यक्ति होती है। जन्म का हो जाना नहीं अपितु जन्म का होते रहने वाला रूप जायते से व्यक्त किया जाता है। इसमें आत्मा पूर्व अवस्था को पूर्ण रूप में अभी छोड़ता नहीं है और उत्तर अवस्था का केवल संस्पर्शमात्र करता है। दूसरे शब्दों में, जायते अस्ति का पूर्वभाव है और अस्ति जायते का उत्तरभाव है। पूर्वभाव को छोड़ने और उत्तर भाव से संयोग होने के पूर्व तक जो अन्तराल अवस्था है उसे जन्म शब्द से कहते हैं। इस मत हरि ने यों व्यक्त किया है—

पूर्वावस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम्।
सम्मूर्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते।[११]

यहां प्रश्न यह है कि जायते की प्रक्रिया में कर्तृत्व प्रकृति का है अथवा स्वयं भावविकार का। हेलाराज के अनुसार दोनों का है। पूर्व अवस्था (कारण अवस्था) का पूर्ण रूप में न छोड़ने में प्रकृति के कर्तृत्व की संभावना है और उत्तर अवस्था के प्राप्त करने के प्रयत्न में विकार का भी कर्तृत्व है। प्रकृति और विकार दोनों के सामानाधिकरण्य होने से दोनों में कर्तृत्व मानना उचित है। अतः जायते से उस दशा को समझना चाहिए जो पूर्व और अपर दोनों अवस्थाओं की उपाधियों से अवच्छिन्न है, जो पूर्व अवस्था से सर्वथा विच्छिन्न नहीं है पर उत्तर अवस्था के प्राप्त करने में उन्मुख है, और जो प्रतीयमान है। सत्कार्यवाद के अनुसार जायते का अभिप्राय अभिव्यक्ति है और असत्कार्यवाद के अनुसार उसका अभिप्राय जन्म है। जायते

९ हेलाराज ने भी इस अंश को जाति समुद्देश ३२ की टीका में उद्धृत किया है।
१० निरुक्त १।२।६
११ वाक्यपदीय साधनसमुद्देश ११६, द्रष्टव्य क्रियासमुद्देश २८ और जाति समुद्देश ३६

का अस्ति से पूर्व उल्लेख इसलिए किया गया है कि जायते की प्रक्रिया के उपरान्त ही अस्ति का अस्तित्व माना जाता है।

द्वितीय भावविकार 'अस्ति' शब्द से व्यक्त किया जाता है। अस्ति से उत्पन्न पदार्थ का धारण सूचित होता है। यह जायते का उत्तरभाग है। क्योंकि जन्म लेना और अस्तित्व प्राप्त करना एक ही बात है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। जन्म की प्रक्रिया (व्यापार) के पश्चात् जब वस्तु सत्ता को प्राप्त कर लेती है तब अस्ति से वह अभिव्यक्त होती है पर उसमें पूर्व व्यापार की व्यापकता भी रहती है। 'अस्ति' शब्द से स्वयं अपने को धारण करना (आत्मधारण क्रिया) अथवा अपनी सत्ता को बनाए रखना (सत्ता भावना) यह व्यापार सूचित होता है। यह अस्ति न किसी विकार से उत्पन्न होने के कारण अथवा परिणाम में जैसा प्रयोग किया जाता है वैसा परिणाम में न होने के कारण अथवा [illegible] कहा जाता है?) का प्रतिपादक अस्ति (है) धातु उत्पन्न होने के बाद जो भाव अस्ति में [illegible] का संकेत करता है उसको स्पष्ट दिखाता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है अस्ति क्रिया व्याप्ति से सामान्यलक्षणता दिखाता है। कियत्काल तिष्ठति इत्यादि में प्रश्न का बोध होता जाता है और कभी कभी कहा जाता है कि उत्तर में भी है कहा नहीं जाता है अतः बाधक नहीं हो जाता है। सभी क्रियाओं के व्यापारों पर यही प्रश्न उठता जाता है। अस्ति में यह स्पष्ट नहीं है फिर भी आत्मभरणप्रवृत्ति का जो ही फल होगा वही अस्ति क्रिया का फल माना जायगा।[1] उत्पत्ति के बाद विनाश तक सब वस्तुओं में सत्ता अनुगतरूप से रहती है और इसीलिए उन वस्तुओं की प्रतीति अस्ति रूप से होती है। दूसरी बात यह है कि सभी क्रियाओं की योनि सत्ता है और यह अस्ति का ही दूसरा नाम है। यही अस्ति समस्त सत्ता जन्मादि रूपों में भासित होती है—सत्ता सर्वेषां भावानामविशेषेण साधनत्वेन व्यवस्थितत्वात् ... भाविरूपतया प्रथमासते महाभाष्यप्रदीप १।३।१ पृ० १७८। यद्यपि भावविकारों में निष्ठति की गणना नहीं की गई है फिर भी उसका अस्ति में ही अन्तर्भाव मानना चाहिए। और उसमें भी क्रियात्व मानना चाहिए। भाष्यकार के क्रिया क्रिया की निवर्तिका होती है इस उक्ति के आधार पर निष्ठति में भी क्रियात्व है क्योंकि निष्ठति कहने से वृद्धि और अपाय दोनों की निवृत्ति दृष्टि आती है। उसमें भी आत्मधारण रूप प्रवृत्ति है। भर्तृहरि ने आश्रित साम्य में ही स्थिति माना है। (... सर्वाश्रितसाम्य स्थितिरित्यभिधीयते क्रियासमुद्देश २६)।

तीसरा अवस्था विपरिणमते है। स्थित की विकारापत्ति विपरिणाम है। विपरिणाम से वस्तु का परिवर्तन मात्र लक्षित होता है उस वस्तु की सत्ता बनी रहती है। पशु पक्षी मनुष्य आदि में आकार-परिवर्तन होता रहता है फिर भी उनकी मूल सत्ता बनी रहती है।

---

१ हेलाराज के अनुसार यह फल आत्मसात्म्य है (किमत्रफलमिति चेत् आत्मभावरूपम् इति ...) क्रियासमुद्देश ?, पृष्ठ ?

चौथी अवस्था वर्धते शब्द से व्यक्त की जाती है। कोई भी वस्तु मुहूर्त भर भी अपने आप में ज्यों की त्यों अवस्थित नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। बढ़ती हुई दशा को चौथा भाव विकार माना गया है।

पांचवीं अवस्था अपक्षीयते शब्द से द्योतित की जाती है। वर्धते के विपरीत अपक्षीयते का व्यापार है।

अन्तिम अवस्था विनश्यति से व्यक्त की जाती है। इसमें सर्वथा नाश का व्यापार रहता है। सांख्यशास्त्री इसे नाश न कहकर तिरोधान या तिरोभाव कहते हैं।

कुछ लोग मूल भाव विकार तीन ही मानते हैं जायते अस्ति और विनश्यति। इन में ही शेष तीन का अन्तर्भाव हो जाता है। जन्म में अवयवों की वृद्धि अन्तर्भूत रहती है। अतः वर्धते का जायते में अन्तर्भाव हो जायगा। इसी तरह परिणमते का भी अन्तर्भाव जायते में हो जायगा, क्योंकि परिणाम धर्मान्तर आविर्भाव को व्यक्त करता है जो जायते के व्यापार में भी है। अपक्षीयते का अन्तर्भाव नश्यति में सहज ही हो जायगा।[13]

वाक्यपदीयकार ने पदभावों की समीक्षा करते हुए मूलभाव दो ही माने हैं और वे भी औपचारिक रूप में। वस्तुतः उनके मत में एक ही भाव है और वह सत्ता लक्षण है। पर व्यवहार की दृष्टि से आविर्भाव और तिरोभाव अथवा जन्म और नाश की कल्पना कर ली जाती है। सत्तालक्षण भाव नित्य है उसमें उदय और ध्वंस सम्भव नहीं है। सदा एक स्वरूप होने के कारण उसमें आविर्भाव और तिरोभाव भी सम्भव नहीं है। इसलिए ये कल्पित नाम हैं और कल्पित रूप में क्रियाव्यवहार के विषय होते हैं। इन्हीं के भीतर सब भाव विकार किसी न किसी रूप में आ जाते हैं। इन भाव विकारों में एक सत्ता भी रह जाती है (अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते)। वह नित्य होती हुई भी भेद भाव प्राप्त कर सा ध्यभाव क्रिया के रूप में व्यक्त होती है।

विवर्तवाद के अनुसार क्रिया

वाक्यपदीय में विवर्तवाद के आधार पर भी क्रिया का लक्षण समझाया गया है। भर्तृहरि के मत से मूल तत्त्व एक है। वह अन्य अन्य रूपों में दिखाई पड़ सकता है पर इस विक्रिया से उसके मूल रूप में कोई भेद नहीं पड़ता। वह ज्यों का त्यों रहता है। संसार में अन्य पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के सम्पर्क से अपने स्वरूप को खोते हुए जान पड़ते हैं स्फटिक नाना रंग के संसर्ग से नाना रूप में दिखाई देता है। पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। किन्तु भेद के अध्यास के कारण

13 निरुक्त दुर्गाचार्य ३ सं बम्बई पृ ४८

वह एक ही प्रत्येक रूपों में बंटा [illegible] रहता है। [illegible] रूपों का प्रविभाग अनुगत किया जाता है। [illegible] प्रत्यभास किया है

तस्य [illegible] भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यपोद्धारिता विवर्त — वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१ पृष्ठ ८ लाहौर संस्करण।

भर्तृहरि ने विवर्त के [illegible] रूपों का [illegible] किया है

(१) मूर्ति विवर्त और

( ) क्रियाविवर्त।

[illegible] परिभाषा [illegible] है देशभेदावग्रहेणावस्थानं मूर्तिविवर्तः। उत्पादविनाशादिविभागशिल्पत्वावस्थानं क्रियाविवर्तः।[१५] [illegible] व्याख्या [illegible] है कालात्मनामविच्छिन्नो हि क्रियाविवर्तः। दिग्लक्षणविच्छिन्नः मूर्तिविवर्तः। दूसरे शब्दों में कहें, तो शब्द तत्व का सिद्ध रूप बनता है वह मूर्तिविवर्त है और जिस रूप में साध्यवत् रूप है वह क्रियाविवर्त है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द [illegible] है। उसमें सभी शक्तियाँ समाहित हैं। [illegible] व्यापारों में क्रम का प्रविभाग कराता हुआ पूर्वापरीभूत क्रिया की प्रतीति उत्पन्न करता है। शब्द का [illegible] में [illegible] का अनुगत [illegible] हो जाता फिर भी क्रम रूप में उसका भान होता है। विभिन्न होते हुए भी अभिन्न रूप से [illegible] प्रकाशन किया किया है।[१६]

प्रवृत्तिशक्ति-क्रियावाद

कुछ लोगों के अनुसार प्रवृत्ति ही एक शक्ति है वही क्रिया है। वह साधन शक्ति से सहयोग कर साध्यता को प्राप्त करती है। उस शक्ति को कोई अपूर्व कोई काल शक्ति और कोई क्रिया शक्ति कहते हैं। उसका एक सामान्य रूप है और एक विशेष रूप है। अपने प्रथम अवस्था में अपूर्व आदि के रूप में वह सामान्य रूप में रहता है। साधन व्यापारों में विभक्त होकर क्रिया का रूप धारण करती है। और आश्रय के अनुसार पकाना जाना आदि विशेष क्रिया रूपों को अपनाती है। यही प्रवृत्ति शक्ति सभी साधनों की प्रकृति है (प्रकृतिः साधनानां सा)। प्रत्यय होने कारण उसकी उपमा स्रोत प्रवाह से दी जाती है। फिर भी वह नित्य है और कारकों की प्रथम आधिकार है। यही प्रकृति रूप प्रवृत्ति साधन भेद के कारण प्रविभक्त होकर विशेष क्रियाओं का रूप धारण करती है। कुछ लोग सामान्य रूप प्रवृत्ति से विशेष साधन

---

१४ [illegible] की इस परिभाषा को अभिनवगुप्त ने ई श्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—प्रथम भाग पृष्ठ ८ पर और हेलाराज ने वाक्यपदीय साधन समुद्देश ७८ की टीका में उद्धृत किया है।

१५ वाक्यपदीय १।१ पर वृत्ति—पृष्ठ ६ लाहौर संस्करण।

१६ वाक्यपदीय ३ क्रियासमुद्देश ३४।

व्यापार को भिन्न मानते हैं।[१७]

विमर्श-क्रियावाद

शैवागम के अनुसार क्रिया विमर्श स्वभावा है। विमर्श रूप होने के कारण क्रिया का मूल रूप संवेदन है। प्रकाश का स्वात्मविश्रान्तिलक्षण परा वाक् का रूप विमर्श क्रिया है। पश्यन्ती में अहम् रूप की मलीन भावना (विमर्श) रहती है। उसमें प्रवाह नहीं रहता। किन्तु इदम्भाव अहम्भाव में ग्रस्त रहता है। इदम्भाव का सूचक पश्यन्ती की क्रिया है। मध्यमा इदम्भाव को अलग से खींचती है—मैं इसको जानता हूँ मैं इसे करता हूँ आदि। इसी रूप में दूसरों से कहने की भावना जब प्राण में परिस्फुट होती है वह वैखरी कही जाती है और शरीर में स्पन्दन रूप क्रिया होती है। यहाँ तक सर्वत्र विमर्श रूप क्रिया स्व में अनुगत है। मैं चलता हूँ सिर हिलाता हूँ जैसे विमर्श होने पर ही शरीर और उसके अंगों में चेष्टा देखी जाती है। ऐसी क्रियाएँ जिनमें परिस्पन्द दृष्टिगोचर नहीं होता जैसे ठहरना खड़े रहना आदि में उनमें भी खड़े रहने वाला में (कर्ता में) क्रमिक परामर्शमयी (मैं खड़ा हूँ इस रूप में) क्रिया है। इसी कारण वह (खड़े रहने की क्रिया) जल गिरना आदि के स्थिर रहने की क्रिया से विलक्षण है। जड़ पदार्थगत क्रिया भी विमर्श रूप है। क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। उनमें जो स्वात्मनिष्ठा है वह वस्तुतः प्रमाता की संवित् में परिनिष्ठित होने के कारण। ज्ञान संवित् के मूल में अहं के साथ इदं भी जुड़ा है। इदं (वस्तु) में गतिशीलता अहं के विमर्श से युक्त है। अतः सभी क्रियाएँ विमर्श रूप हैं।[१८]

क्रियाभेद से आभास और परामर्श भिन्न होते हुए भी एक परामर्श में व्यवहृत होते हैं

क्रिया भेदेन च आभासपरामर्शौ भिन्नावपि एकपरामर्शप्रतिष्ठितौ भवत निपीयमानं मधु मदयति, कुम्भकारोऽयं क्रियते इति।[१९]

भावना-क्रियावाद

मीमांसकों के अनुसार भावक पुरुष का भाव्य स्वर्ग के लिए यज धातु करणक आख्यात प्रत्ययवाच्य व्यापार भावना क्रिया है।

---

१७ वही, क्रियासमुद्देश ३, ३८, मानव समुद्देश १०, ४, हेलाराज के अनुसार यह मत ८र सा मामको का है अथवा सांख्य दर्शन का है। (सांख्यानां नि प्रवृत्ति रूपा क्रियाऽप्रकाश दर्शनान्तर ...रामासकानामागम। ...लक्षणा वा प्रवृत्ति नि या स ... अनुयायिनी ...नयनानि सांख्यनय। साधनसमुद्देश ३३ पृ० १६७।

१८ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी प्रथम भाग, पृष्ठ १०५।

१९ वही द्वितीयभाग, पृष्ठ ३९३

उपर्युक्त सभी शाब्दिक प्रवादों में क्रिया का पूर्वापरीभूत क्रमिक रूप और साध्यस्वरूप साधारण है। आख्यात में क्रिया की प्रतीति होती है यह निश्चित है। भाव का निष्पन्न में वाच्य रूप साध्य है और कृदन्त पद में वाच्य रूप सिद्ध है।

तिङभिहितभाव और कृदभिहितभाव में भेद

तिङन्त में शब्दशक्ति के अनुरोधवश से पूर्वापरीभूत भाव का बोध होता है जैसे पचति से। कृदभिहितभाव का सिद्ध रूप में बोध होता है जैसे पाक में। कृदभिहितभाव में भी धातुभाग से साध्यमान अवस्था वाली क्रिया का ही बोध होता है। अन्तर यह है कि आख्यात में उसका बोध प्रधान रूप में होता है जबकि कृदन्त में वह अप्रधान में गुणीभूत रहती है।

महाभाष्यकार के अनुसार तिङभिहितभाव का क्रिया के साथ समवाय नहीं होता क्योंकि पचति भवति ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। वस्तुतः यह नियम करण आदि भाव की दृष्टि में रख कर है। कृत कर्मभाव से क्रिया आख्यात वाच्य क्रिया के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है जैसे भवति पचति, पश्य मृगो धावति आदि में। इसीलिए भाष्यकार ने पचादि क्रिया को भवति क्रिया का कर्ता माना है (पचादयः क्रिया भवति क्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति)[१] अर्थात् उनमें साध्यसाधनभाव होता है न कि सामान्य-विशेष भाव। यद्यपि क्रिया स्वयं साध्य है अतः किसी दूसरी क्रिया के प्रति उसका स्वयं कर्ता या कर्म होना सहज नहीं है फिर भी विषयभेद से एक ही वस्तु का अपने आप में साधनसाध्य सम्बन्ध देखा जाता है। जैसे पश्य मृगो धावति में आख्यात कर्ता भी है कर्म भी है—गमन क्रिया धावति की दृष्टि से साध्य है और दर्शन की दृष्टि से साधन है। भोक्तुं इच्छति जैसे वाक्यों में दो क्रियाओं का सम्बन्ध स्पष्ट है। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि क्रिया भी क्रिया में ईप्सित होती है सम्पश्यति क्रिया से प्रार्थयति क्रिया से और अध्यवस्यति क्रिया से—

> क्रियापि क्रिययेप्सिततमा भवति। कया क्रियया। सम्पश्यति क्रियया प्रार्थयति क्रियया अध्यवस्यति क्रियया वा। इह य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या तावत् कञ्चिदर्थं सम्पश्यति संदृष्टे प्रार्थना प्रार्थिते अध्यवसाय, अध्यवसाये आरम्भ, आरम्भे निर्वृत्तिः, निर्वृत्तौ फलावाप्तिः। एवं क्रियापि कृत्रिमं कर्म।[११]

कृदभिहितभाव का लिंग से योग होता है जैसे पक्तिः, पचनं, पाकः। तिङभिहित भाव का लिंग से योग नहीं होता। लिंग से वर्जित है। आख्यात असत्त्वभूत है। जिस तरह आख्यात से संख्या आदि की अभिव्यक्ति होती है उसी तरह आख्यात से लिंग की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इसका ठीक ठीक समाधान संस्कृत के वैयाकरणों ने नहीं

---

[१] महाभाष्य ३।३।१९

[११] महाभाष्य १।४।४९

क्रिया है। कयट ने इस भावशक्ति का वचित्र्य माना है—

आख्यातस्य शक्तयाश्रयद्रव्यसंख्या प्रतिपादने सामर्थ्य न तु लिंगप्रतिपादने, विचित्रत्वादभावशक्तीनाम्।

—महाभाष्य प्रदीप १।२।६७ पृष्ठ ७२

कृदभिहितभाव में भी घञादि अभिहित भाव से ही लिंग योग होता है अव्ययकृद-भिहित से नहीं होता। क्योंकि अव्ययकृदभिहितभाव साध्यभाव सा ही जान पड़ता है न कि सिद्धस्वभाव सा। उसे क्रिया की तरह माना जाता है द्रव्य की तरह नहीं। अतः उसके साथ लिंग संख्या आदि का योग नहीं होता। क्रियावत मान जाने के कारण ही उससे कृत्वसुच जैसे प्रत्यय देखे जाते हैं जबकि घञादि अभिहितभाव से कृत्वसुच् प्रत्यय नहीं होते। शायितव्यम भवता त्रि भुक्त देवदत्तेन द्वि भुक्तवा गत जैसे प्रयोग देखे जाते हैं परन्तु द्वि पाकः जैसे प्रयोग नहीं होते। महाभाष्यकार पञ्चकृत्व पचति इस वाक्य को तो उचित समझते हैं परन्तु पञ्चकृत्व पाकः इसका प्रयोग पसन्द नहीं करते हैं। कुछ लोग घञन्त आदि के प्रयोग के साथ भी कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग उचित समझते हैं। स्वयं पाणिनि ने द्विवचनेऽचि १।१।५६। में द्विवचन शब्द का प्रयोग क्रिया है। द्विरावृत्ति द्वि प्रयोगाद्विवचनम जैसे प्रयोग देखे ही जाते हैं।

कृदभिहितभाव का संख्या के साथ सम्बन्ध होता है तिङभिहितभाव का संख्या से योग नहीं माना जाता। यद्यपि संख्या आख्यातार्थ है फिर भी क्रिया निःसंख्य मानी जाती है। पचति, पचतः पचन्ति आदि में जो संख्या की प्रतीति होती है वह साधन गतसंख्या की होती है पचति अर्थात पाक क्रिया का कर्त्ता एक है आदि। अतः क्रिया निःसंख्य होने के कारण एक मानी जाती है। आख्यात वाच्य क्रिया सर्वत्र भेद रहित ही प्रतीत होती है। भवद्भिः आस्यताम जैसे वाक्यों में कर्त्ता भेद से वस्तु स्थिति के कारण भेद होते हुए भी तिङन्त से भेद की प्रतीति नहीं होती। एक क्रिया की भी जब आवृत्ति की जाती है उसमें आवृत्ति निबन्धन भेद संख्या से सम्बद्ध होता है उस संख्या का अनुभव होता है। इसी कारण कृत्वसुच आदि आवृत्ति द्योतक प्रत्ययों की उत्पत्ति भी उससे होती है। हेलाराज के अनुसार अत्यन्तभेद अथवा अत्यन्त अभेद में आवृत्ति सम्भव नहीं है। जहाँ भेद और अभेद दोनों हों वहीं आवृत्ति होती है।[२२] फिर भी क्रिया में स्वतः संख्या योग नहीं होता। कयट के अनुसार भी प्रकर्ष (जैसे पचतितराम) और अभ्यावृत्ति (जैसे द्वि पचति) क्रिया के एकत्व के बाधक नहीं होते। क्योंकि वे आश्रय के प्रकर्ष अथवा अभ्यावृत्ति के भेद के निमित्त होते हैं।

प्रकर्षाभ्यावृत्त्यादयस्तु भेदनिबन्धना आश्रयप्रकर्षाभ्यावृत्त्यादिभेदनिमित्ता नकत्व क्रियाया विघ्नन्ति।[२३]

जहाँ क्रियापृथक्त्व है वहां भी क्रिया में संख्या नहीं होती। पञ्चधा गच्छति में एक ही गमन क्रिया का पाँच प्रकार से होना निर्दिष्ट है। इस सम्बन्ध में पाणिनि

२२ वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ६१ टीका पृ० ४० त्रि ० संस्करण।
२३ महाभाष्यप्रदीप १।२।६४ पृ० ११३

पड़ता है उनके मत में क्रियाओं में उपमानोपमेय भाव सम्भव है। जैसे यह वाक्य लीजिये--

इयं नु कदा गन्ता या एवं पादौ निदधाति

यह कब पहुचेगी जो इस तरह से पैर डाल रही है (अर्थात विलम्ब के कारण न पहुच सकेगी) इस वाक्य में भविष्यत्सामान्य के अर्थ में अनद्यतनसामान्य का प्रयोग हुआ है। वार्तिककार के मत में यहां उपमानोपमेयभाव है वाक्यरूप के आधार पर अर्थात् के गन्ता एवं गन्ता के रूप में इसकी व्याख्या करते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार तिङन्त के साथ उपमान सम्भव नहीं है अतः वे अनद्यतने लुट अनद्यतन के आधार पर इस समझाते हैं। गमन में शीघ्रता के कारण की सम्भावना मान कर भविष्यत सामान्य के अवसर पर अनद्यतन का प्रयोग हुआ है। यहां भविष्यत्काल अनद्यतनकाल के सदृश है यह तात्पर्य है। महाभाष्यकार के अनुसरण पर भर्तृहरि भी क्रियाओं में उपमानोपमेय भाव नहीं मानते।[१६]

पूर्वकालिक क्रिया

यद्यपि पूर्वकाल के अर्थ में वर्तमान धातु से भाव में क्त्वा प्रत्यय का विधान होता है फिर भी धातु सम्बन्ध के बल से वाक्यार्थ के अनुप्राणक के रूप में क्त्वान्तार्थ की प्रतीति होती है। उदाहरण के लिए--

(१) पूर्वं आसवं पिबति ततो गायति
(२) आसवं पीत्वा गायति

इन दो वाक्यों में पूर्व के वाक्य में जैसा पौर्वापर्य झलकता है ठीक वैसा ही दूसरे वाक्य से नहीं झलकता। अपितु दूसरे वाक्य में पीत्वा शब्द के बल से आसवपान प्रधान वाक्यार्थ के अनुप्राणक के रूप में सामने आता है। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति जैसे वाक्यों में भी व्रज क्रिया के प्रति स्नान भोजन आदि क्रियाओं की पौर्वकालिक सत्ता है। साथ ही आख्यात वाच्य क्रिया के विशेष्य होने के कारण व्रज क्रिया के प्रति स्नानादि क्रियाएं विशेषण हैं फलतः उनमें परस्पर असम्बन्ध है जैसा कि न्याय है **गुणानाञ्च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात्।** अर्थात प्रधानक्रिया में अन्वय यदि सम्भव है गुणभूत क्रिया में अन्वय करना उचित नहीं है। क्त्वा प्रत्यय से पौर्वकाल्य के द्योत्य होने के कारण मुखं व्यादाय स्वपिति इस वाक्य में व्यादाय शब्द का प्रयोग कहां तक उचित माना जायगा। क्योंकि मुख का खुलना सोने की क्रिया के बाद में होता है वह पूर्वकालिक व्यापार नहीं है। वार्तिककार का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने इसकी सिद्धि उपसंख्यान के बल पर करनी चाही। परन्तु उन्होंने स्वयं यह भी सुझाव दिया कि क्षणभर भी मुख खोल कर यदि कोई सोता है तो सोने की क्रिया के पूर्व ही मुख खोलने की क्रिया घटित होती है। अतः यहां भी पूर्वकालता है। कैयट के मत में यद्यपि स्वापगण

---

१ द्रष्टव्य वाक्यपदीय, क्रियासमुद्देश ४३-४७

पहले है और गुरुव्यापार बाद वाले में घटित होता है फिर भी दूसरा स्पन्द क्रिया से (प्रथमावस्पन्दन के बाद जो गाड़ी आदि की क्रिया होती है) पहले होता है (यद्यपि स्पन्दनगतानां दशाश्रमात पूर्वकालता तथापि व्यापारान्तरताविवक्षयाक्रियावस्था व्यापारस्य पूर्वकालत्वमस्ति)।[२६]

पचनवा याति भुक्त्वा स्वपिति

पचनवा याति भुक्त्वा व्रजन्ति

इन दोनों वाक्यों में क्त्वा प्रत्यय द्वारा कर्ता और कर्म के अनभिधान होने पर भी द्वितीया और तृतीया विभक्तियां पाद की अपेक्षा से नहीं होती। क्योंकि आख्यात वाच्य क्रिया विशेष्य होने के कारण प्रधान होती है। विशेषणभूतक्रिया अप्रधान होती है। इसी आधार पर उन क्रियाओं के साधक शक्तियों में भी गुण प्रधानभाव माना है। प्रधान शक्ति के अभिधान से गुणक्रियाशक्ति अभिहित के रूप में प्रकट होती है। प्रधान की अनुगामी गुण होता है उसके विरुद्ध नहीं चल सकता।[२८] परन्तु हरदत्त के अनुसार एक बार ही गुण जान याने का एक ही साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिए प्रधान के साथ शब्द सम्बन्ध और अन्य के साथ साथ सम्बन्ध मान लेना चाहिए (पदमञ्जरी ३।४।२९ पृष्ठ ७२८)। परन्तु नागेश ने हरदत्त की उक्ति को युक्तिसंगत नहीं माना है। हरदत्त के मत को मान लेने पर ग्रामाय गन्तु इच्छति प्रयोग सम्भव न हो सकेगा। ग्राम में चतुर्थी न हो सकेगी। परन्तु महाभाष्यकार ने स्वयं इसका प्रयोग सन् सूत्रस्य भाष्य में किया है (महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।४।२६ पृष्ठ ३४०)। नागेश ने कैयट के शुध प्रतिहन्तु शक्यम् इस प्रयोग की भी आलोचना की है। यहां यह जान लेना चाहिए कि भाष्यकार ने शक्य चानेन शुत प्रतिहन्तु वाक्य का प्रयोग किया है। सामान्यतौर पर क्षुत् के स्त्रीलिंग होने के कारण शक्या का प्रयोग होना चाहिए। कैयट ने निम्नलिखित तीनों तरह के प्रयोग की उपपत्ति समझाई है—

(१) शक्य चानेन क्षुत प्रतिहन्तुम्
(२) शक्या चानेन क्षुत प्रतिहन्तुम्
(३) शक्य चानेन क्षुध प्रतिह तुम।

—महाभाष्यप्रदीप पस्पशाह्निक पृष्ठ ५७, गुरुप्रसाद शास्त्री सम्पादित।

---

२७ महाभाष्यप्रदीप २।४।२१ पृष्ठ ३४४, गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित।

२८ इस सम्बन्ध में प्राचीन वैयाकरणों में विवाद था। उपर्युक्त मत कैयट का है जो हरिदत्त का निम्नलिखित कारिकाओं पर आश्रित है—

प्रधानेतरयो यत्र द्रव्यस्य क्रियया पृथक।
शक्ति गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते॥
प्रधानविषया शक्ति प्रत्ययेनाभिधीयते।
यदा गुणे तदा तदनुवृत्तापि प्रतीयते।

तत्स्था क्रिया

पहले कहा जा चुका है कि अपरिस्पन्दसाधनसाध्य धात्वर्थ को भाव कहते हैं और सपरिस्पन्दसाधनसाध्य को क्रिया कहते हैं। परन्तु इस भेद का ध्यान में न रखकर सामान्यरूप से तत्स्था क्रिया का विचार किया जाता है। स्वयं पाणिनि ने लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६) और यस्य च भावेन भावलक्षणम् (२।३।३७) इन सूत्रों में क्रिया और भाव में अभेद माना है। तत्स्था क्रिया वहाँ होती है जहाँ क्रियाकृतविशेष कभी कर्ता में और कभी कर्म में दिखाई देता है। इस आधार पर क्रिया भी कभी कर्तृस्था और कभी कर्मस्था होती है। यद्यपि ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिससे कर्तृगत विशेषता कुछ न कुछ लक्षित न हो फिर भी प्राधान्य के कारण व्यपदेश होते हैं। इस उक्ति के आधार पर कर्तृस्था और कर्मस्था क्रिया कहते हैं। गच्छति धावति हसति आदि में क्रियाकृत विशेष कर्ता में दिखाई देता है। चलना, दौड़ना हँसना ये सब व्यापार उसी में दिखाई पड़ते हैं। ग्रामम् अवरुणद्धि कटं करोति जैसे वाक्यों में क्रिया कर्मस्था है अर्थात् क्रियाकृतविशेषताएँ ग्राम और कट में स्पष्ट पड़ती हैं। नागेश के अनुसार जिस धातु के द्वारा फल कर्मसाधारण फल शब्द से प्रतिपादित होता है वह कर्तृस्वभावक है। जैसे पश्यति गच्छति आदि में। पश्यति में विषयता और समवाय के आधार पर ज्ञान उभयनिष्ठ है। गच्छति में भी संयोग उभयनिष्ठ है। जहाँ धातु से कर्ता में न रहने वाला धर्मरूपफल शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है वहाँ क्रिया कर्मस्वभावक है। जैसे भिनत्ति आदि में।[२९] कभी कभी क्रिया कर्तृस्था और कर्मस्था दोनों जान पड़ती है। 'चैत्राय रोचते मोदकः' इस वाक्य में मोदक प्रीणयिता है और चैत्र अभिलाषवान् होने के कारण कर्म है। अतः क्रिया को यहाँ कर्मस्था ही कहना चाहिए। परन्तु रोचते क्रिया अपने विषयक अभिलाष उसमें पैदा करती है। इसलिए विषयिविषयभाव सम्बन्ध के आधार पर रुचिकर्तृ के अभिलाष ही प्राधान्यरूप में प्रकट होता है। रोचते क्रिया अपने कर्ता को अप्रधान सा करती है और अपने प्रयोजक व्यापार को भी गौण रूप देती है फलतः यहाँ सम्प्रदान संज्ञा होती है। सम्बन्ध सम्बन्धि भाव की दृष्टि से भी चैत्र अभिलाषा करने में कर्ता है इसलिए क्रिया कर्तृस्था भी है। हेलाराज के अनुसार [illegible] स्वयमेव प्रयोग नहीं होना चाहिए। वे क्रिया व्यवस्था को शब्द के आधार पर विचार करने वाले पक्ष का समर्थन करते हुए जान पड़ते हैं। केवल विशेषदर्शन के आधार पर यदि क्रिया व्यवस्था की जायगी तो कुछ कठिनाई पड़ सकती है। पच जैसी क्रियाएँ कर्मस्वभावक हैं। परन्तु पकाने की क्रिया में कर्ता में भी परिश्रम आदि देखे जाते हैं, वे भी क्रियाकृतविशेष किसी न किसी रूप में हैं ही। अतः शब्द के द्वारा विशेष की उपलब्धि का स्वीकार कर क्रिया व्यवस्था करनी चाहिए। शब्द प्रमाणकों के लिए शब्द का आश्रय ही उपयुक्त है। वस्तुतः जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति के आधार पर

---

२९. महाभाष्य प्रदीपोद्योत ३।१।८७, पृष्ठ [illegible]

क्रिया विशेष दर्शन के आधार पर तत्स्था क्रिया की व्यवस्था की जा सकती है। भर्तृहरि ने दोनों पक्षों का निर्देश कर दिया है—

विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता।
क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां शब्दैरेव प्रकाश्यते॥
—वाक्यपदीय, ३ साधन समुद्देश ६६।

क्रिया का सकर्मक-अकर्मक रूप

क्रिया का सकर्मक और अकर्मक रूप भी क्रिया के स्वरूप से प्रभावित है और दर्शन भेद से यहां भी विभिन्न प्रकार के विचार हैं। तत्स्था क्रिया के विचार के समय स्पष्ट किया जा चुका है कि क्रिया से क्रियाकृतविशेष का आभास होता है। एक तरह से प्रत्येक क्रिया किसी न किसी ईप्सा का द्योतक है उससे किसी-न किसी भाव का अवगमन होता है। इस दृष्टि से सभी क्रियाएं सकर्मक ही होनी चाहियें। फिर भी व्याकरण शास्त्र में सकर्मक अकर्मक का विवेचन है। क्योंकि क्रिया की ईप्सा होने पर भी प्रत्येक क्रिया से बाह्य विषय की सम्भावना नहीं व्यक्त होती। कुछ क्रियाएँ कर्ता में ही विश्रान्त देखी जाती हैं व किसी बाह्यभाव की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे, आस्ते शेते आदि। शयन पूर्ण रूप से कर्तृविश्रान्तलक्षण है। शयन करता है इस अर्थ में सोने की भावना का पर्यवसान देखा जाता है शयन की भावना का 'भाव्य' शयन ही है। इसलिए किम् (क्या) जैसे प्रश्न नहीं पूछे जाते जो वस्तुतः बाह्यभाव विषयक हैं। कुछ ऐसी क्रियाएं होती हैं जो बाह्यभावों की अपेक्षा रखती हैं जिनमें बाह्य निष्ठ भावना होती है। जैसे, पचति आदि। इस तरह की क्रियाओं का उत्तर बाह्यभावविषयक प्रश्न किम् (क्या) से मिल जाता है। जैसे क्या पका रहा है प्रश्न का उत्तर ओदन है जो बाह्यभाव है। इन दो तरह की क्रियाओं में बाह्यभाव की अपेक्षा न रखने वाली क्रिया अकर्मक और बाह्यभाव की अपेक्षा रखने वाली क्रिया सकर्मक मानी जाती है।

व्याकरण दर्शन में भावना और क्रिया में कुछ भेद माना जाता है और वह यह है कि भावना सदा सकर्मक ही होती है जब कि क्रिया सकर्मक भी होती है और अकर्मक भी होती है। फिर भी साध्य रूप दोनों में समान है और साधारण तौर पर भावना और क्रिया शब्द पर्याय के रूप में प्राय प्रयुक्त होते हैं

भावना सकर्मिकैव अकर्मिकापि क्रियेति सत्यपि भेदे साध्यत्वाविशेषाद् अभेद एवानयोः। यथा धात्वर्थभूता क्रिया साध्यरूपैव तथा भावनापीति कथम् वान्तरभेदाद् भेदोऽनयोः भवेत्। —पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

हेलाराज ने भी भावना और क्रिया में जरा सा भेद माना है—

यद्यपीह दर्शने भावना धात्वर्थ एव तथापि फलपर्यन्तासौ कर्तृव्यापाररूपा दीर्घतरावयवक्रियामात्रात् पृथग् व्यवहारसंज्ञा।
—साधन समुद्देश ८६, पृष्ठ २३४।

परन्तु यहाँ भावना और क्रिया में अभेद मानकर ही सकर्मक अकर्मक का विचार किया जा रहा है।

महाभाष्यकार ने कर्म की व्याख्या क्रियाकृतविशेष के आधार पर की थी (यत्र कश्चित् क्रियाकृतो विशेष उपजायते तन्नाप्य कर्मेति)। इस के प्राकृतकर्म (स्वाभाविक) कर्म समझते थे। परन्तु स्वाभाविक कर्म को क्रियाकृतविशेष के रूप में लेने पर आदित्यं पश्यति हिमवन्तं शृणोति जैसे वाक्यों में कर्म की सत्ता सिद्ध करना कठिन होगा। क्योंकि सूर्य को देखने आदि की क्रिया में कोई क्रियाकृतविशेष सूर्य में नहीं दिखाई देता है। प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा हम सूर्य में दर्शनक्रिया के कारण कोई विकार नहीं समझ पाते हैं। कुछ लोग आदित्य का दर्शन क्रिया का ईप्सिततम होना ही क्रियाकृतविशेष यहाँ मानते हैं और आदित्य को कर्म समझते हैं और क्रियाकृतविशेष के आधार पर सकर्मक अकर्मक का विभाग किया जा सकता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

महाभाष्यकार की यह भी मान्यता जान पड़ती है कि काल, भाव आदि की सर्वत्र सत्ता होने के कारण कोई भी धातु अकर्मक नहीं है, काल आदि के कारण सभी सकर्मक हैं। पर ऐसे स्वीकार करने में भी सकर्मक अकर्मक का विभाग अनुपपन्न हो जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि अविवक्षा के आधार पर अकर्मक धातु माने जा सकते हैं। जब उनका व्यवहार कर्म की विवक्षा किये बिना ही होगा वे अकर्मक माने जायेंगे। परन्तु अविवक्षा के आधार पर तो पच आदि भी अकर्मक कहे जा सकते हैं। इसलिए, कैयट के अनुसार जिस धातु के कर्म कभी सम्भव ही न हों अकर्मक पद में उन्हीं का ग्रहण होना चाहिए। पाणिनि ने गतिबुद्धि० १।४।५२ सूत्र में अकर्मक शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अकर्मक शब्द से अन्य पदार्थ प्रधान के बल पर धातु का ग्रहण होना चाहिए न कि धातु के अर्थ का। अर्थ का आश्रय लेने पर कर्म की अविवक्षा होने पर अर्थ का नाम भी अकर्मक पड़ने लगेगा। धातु को अकर्मक मानने पर पच् आदि अकर्मक नहीं कहे जा सकेंगे। क्योंकि एक बार भी जो धातु कर्म के सहित देखा गया रहेगा उसे प्रत्यभिज्ञा अथवा सादृश्य प्रतिपत्ति के आधार पर अविवक्षा दशा में भी सकर्मक कहा जा सकेगा। अर्थ तो कारकभेद में भिन्न भिन्न होते हैं इसलिए सकर्मक अर्थ और अकर्मक अर्थ होंगे। यदि अर्थ में भी स्वतः भेद नहीं होता इस सिद्धान्त को माना जायगा तब अर्थ में अन्य पदार्थ के रूप में बोध समझना चाहिए

> अर्थास्तु कारकभेदाद् भिन्ना एवेत्यन्ये सकर्मका अन्ये एवाकर्मका इति स्यादव्यपदेशः। यदा त्वर्थस्यापि नास्ति स्वतो भेद इति दर्शनं तदार्थेऽप्यन्यपदार्थत्वदोषः।
>
> —महाभाष्यप्रदीप १।४।५२ पृष्ठ ४०१

कुछ लोगों के अनुसार अकर्मक क्रिया उसे कहेंगे जहाँ फल और व्यापार एकनिष्ठ हो जाता हो। जहाँ फल और व्यापार एकनिष्ठ न होकर अलग अलग आधार वाले हों वहाँ क्रिया को सकर्मक समझना चाहिए। वैयाकरणभूषणकार का यही मत है। इस मत में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। आत्मानं जानाति इस वाक्य में जानाति

क्रिया का फल और व्यापार एकनिष्ठ है, फलतः इसे अकर्मक होना चाहिए परन्तु यह सकर्मक है। कुछ लोग इसका समाधान महाभाष्यकार के दो आत्मा वाले कथन के आधार पर करते हैं। महाभाष्य में एक स्थान पर लिखा है आत्मा दो हैं। अन्तरात्मा और शरीरात्मा। अन्तरात्मा के क्रियाकलाप से शरीरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है और शरीर की क्रियाओं से अन्तरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है।[30] आत्मानं जानाति में फल और व्यापार के आधार दो आत्माओं के अलग अलग हो जाने से सकर्मकत्व अक्षुण्ण रहेगा।

कुछ लोगों के अनुसार जब धात्वर्थ साक्षात् और अव्यभिचरित रूप में कर्म का भागी होता है उस धातु को सकर्मक कहते हैं। यदि साक्षात् न होकर परम्परया कर्म का भागी होता है वह क्रिया अकर्मक होती है। इस मत में अन्योन्याश्रय दोष-सा आ जाता है। कर्म के निरूपण के बाद ही सकर्मक का विचार होगा और सकर्मक होने पर ही कर्म का निरूपण होगा। यही अन्योन्याश्रय है।

कुछ लोग मानते हैं कि जिस क्रिया के उच्चारण में कर्म की आकांक्षा होती है वह सकर्मक है जहाँ आकांक्षा नहीं होती वह अकर्मक है। परन्तु यह मत भी निर्दोष नहीं माना जाता है। जाता है (गच्छति), गिरता है (पतति) जैसी क्रियाओं में कर्म की आकांक्षा नहीं देखी जाती फिर भी ये क्रियाएँ सकर्मक हैं। पतति क्रिया के सकर्मक होने में प्रमाण पतित शब्द के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास का विधान ही है जो द्वितीयाश्रितातीतपतित० २।१।२४ सूत्र से सिद्ध है।

नागेश ने सकर्मक अकर्मक को सार्थक शब्द माना है। उनके अनुसार व्याकरण शास्त्र से सम्पादित कर्म संज्ञा से युक्त धातु सकर्मक है और उससे रहित अकर्मक है। इस आधार पर ही अध्यासिता भूमयः जैसे प्रयोग संभव हो पाते हैं।[31]

वस्तुतः सकर्मक अकर्मक सापेक्ष शब्द हैं और एक दूसरे के स्वरूप धारण करते रहते हैं। बाह्यकर्म के सद्भाव होते हुए भी क्रिया अकर्मक हो सकती है और किसी कर्म के न रहने पर भी क्रिया सकर्मक कही जा सकती है।

भर्तृहरि ने बाह्यकर्म के सद्भाव होते हुए भी क्रिया के अकर्मक कहे जाने के निम्नलिखित चार कारण बताये हैं—

(१) धातु के प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का अभिधान
(२) धात्वर्थक्रिया में कर्म का अन्तर्भाव,
(३) प्रसिद्धि
(४) अविवक्षा।

---

३० महाभाष्य ३।१।८७ पृष्ठ १५६

३१ वैयाकरणभूषणसार की टीका काशिका में उद्धृत पृष्ठ ३२४

जब धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में व्यवहृत होता है, सकर्मक होता हुआ भी कभी कभी अकर्मक हो जाता है। जैसे 'भारं वहति' इस वाक्य में वहति (ढोता है) सकर्मक है। परन्तु वहने के अर्थ में वह अकर्मक हो जाता है जैसे नदी वहति। वहन में जो जल का प्रवाह प्रतीत होता है वह नद्यात्मक जल से भिन्न नहीं है।

धातु के अर्थ बदलने में उपसर्ग आदि भी कारण होते हैं। फलतः सकर्मक क्रिया अकर्मक होती रहती है। चरति क्रिया देशान्तरगमन अर्थ में सकर्मक है परन्तु उत् उपसर्ग के साथ ऊपर उठने के अर्थ में वह अकर्मक मानी जाती है जैसे बाष्प उच्चरति, धूम उच्चरति। यहां उच्चरति अकर्मक है।

कभी-कभी आत्मनेपद के प्रयोग से भी सकर्मक क्रिया की अकर्मक के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जैसे तपति सकर्मक है परन्तु उत्तपते अकर्मक है। उत्तपते का अर्थ भासित होना है। मावद् भुक्तमुपतिष्ठते, सर्पिषो जानीते जैसे वाक्यों में आत्मनेपद का प्रयोग क्रिया के अकर्मकत्व का सूचक है।

कभी कभी वाक्य के सामर्थ्य से अकर्मकत्व की अभिव्यक्ति होती है जैसे वायुर्वहति में। इसमें वायुलक्षण रूप विशेष के सामर्थ्य से वहने की क्रिया में अकर्मकत्व भासित होता है।

पच्यते ओदनः स्वयमेव, भिद्यते काष्ठं स्वयमेव जैसे स्थलों में कर्म के कर्ता के रूप में व्यवहृत होने के कारण अकर्मकत्व की प्रतीति होती है।

धात्वर्थक्रिया में जब कर्म का अन्तर्भाव हो गया रहता है तब क्रिया अकर्मक मानी जाती है। जीवति क्रिया में प्राणधारणरूप कर्म अन्तर्हित है इसलिए वह अकर्मक है। इसी तरह म्रियते में प्राणत्यागरूप कर्म छिपा है। अस्ति में आत्मधारणरूप कर्म का अन्तर्भाव है। कर्म का अन्तर्भाव वहां देखा जाता है जहां स्व शब्द से उसका निर्देश संभव न हो। पच और भिद जैसी क्रियाओं में कर्म का अन्तर्भाव संभव नहीं है। क्योंकि इनके कर्म का स्वशब्द से उल्लेख संभव है जैसे पचति पाकम् भिनत्ति भेदम्। जहां अन्तर्भाव होगा स्वशब्द से निर्देश संभव नहीं होगा जैसे जीवति जीवितं जैसे प्रयोग नहीं देखे जाते।

कभी कभी व्याकरण सम्बन्धी प्रत्याख्यान व्यवस्था के कारण उनका भी अन्तर्भाव मान लिया जाता है जिनके स्वरूप निर्धार्यमाण होते हैं, जैसे पुत्रीयति में पुत्र कर्म का अन्तर्भाव है। वस्तुतः यहां पुत्र कर्म क्रिया के भीतर अन्तर्हित है क्योंकि प्रक्रिया दिखाने के लिए पुत्र इच्छति इस तरह का विग्रह किया जाता है। ऐसे स्थलों में भी कभी-कभी पुत्र उपमा के रूप में सामने आता है इसलिए उसका अन्तर्भाव नहीं माना जाता फलतः क्रिया सकर्मक ही होती है जैसे पुत्रीयति छात्रम्।

कभी-कभी सामान्य कर्म के अन्तर्भूत होते हुए भी विशेषकर्म के द्वारा सकर्मकत्व अक्षुण्ण बना रहता है। जैसे मुण्डयति माणवकम्। मिश्रयति तिलान् आदि। कभी-कभी विशेषकर्म अन्तर्भूत रहता है जैसे धूमायते राजायते आदि में।

कुछ सकर्मक क्रियाएं भी अकर्मक के रूप में प्रतीत होती हैं जिनका कर्म सदा

अव्यभिचरित रूप में उनके साथ दृष्टिगोचर होता है। जैसे, वर्षति। वर्षण की क्रिया में देव की कर्ता के रूप में और जल की कर्म के रूप में प्रतीति स्वभावतः हो जाती है। इसलिए कर्म यहां अन्तर्हित-सा है। फलतः वर्षति अकर्मक है। अकर्मक मान कर ही वृष्टो देवः जैसे प्रयोग निष्पन्न होते हैं यहां कर्ता के अर्थ में क्त प्रत्यय अकर्मकत्व के आश्रय से हुआ है। परन्तु जब कर्म प्रसिद्ध नहीं होता वर्षति क्रिया सकर्मक मानी जाती है जैसे रुधिरं वर्षति लाजान् वर्षति आदि। उत्पल वृष्ट में कर्म में क्त प्रत्यय हुआ है।

प्रसिद्धि के कारण सकर्मक क्रिया के जो अकर्मक रूप होते हैं उनमें भी देश, काल आदि के भेद से अवान्तर भेद पाये जाते हैं। जैसे दक्षिणापथ में यदि दोपहर के पहले पच्यताम् कहा जाता था तो इसका तात्पर्य यवागू होना था। परन्तु यदि दोपहर के बाद पच्यताम् कहा जाता था तो उसका अभिप्राय ओदन होता था। यवागू और ओदन रूपी कर्म देश और काल के आधार पर समझ लिये जाते थे।

क्रिया के स्वरूपसामर्थ्य के बल से कभी प्रसिद्ध कर्म प्रतीत होता है जैसे केवल वर्षति से जल रूप कर्म की प्रतीति हो जाती है। कभी कभी कर्ता के स्वरूपसामर्थ्य के कारण भी कर्म की झलक मिल जाती है जैसे सज्जनः करोति इस वाक्य में सज्जन शब्द के बल से उपकार रूपी कर्म की व्यंजना हो जाती है। इस तरह प्रसिद्धि के बल से सकर्मक के रूप में अभिव्यक्ति के अपरिमित रूप संभव हैं।

कर्म के रहते हुए भी यदि क्रिया मात्र के प्रतिपादन में तात्पर्य हो कर्म की बिल्कुल ही विवक्षा न हो वहां भी अकर्मकत्व देखा जाता है। ददाति पचति जुहोति क्रिया सकर्मक है परन्तु यदि ऐसा कहा जाय दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति यहां कर्म की विवक्षा न होने से इनका प्रयोग अकर्मक रूप में माना जाता है। क्योंकि दीक्षित व्यक्ति न देता है न पकाता है न हवन करता है यह कहना समय कथन विशेष क्रियाओं के निषेध के प्रति संकेत है न कि किसी कर्म के प्रति।

अविवक्षा का उद्देश्य भी कभी-कभी कर्म के सादृश्य मात्र के प्रतिपादन से रहता है जैसे, अनुदन्ते कठः कलापस्य इस वाक्य में कठ और कलाप का भाषण-सादृश्य प्रतिपाद्य है कर्म की विवक्षा नहीं है। इसी तरह यदि पूछा जाय देवदत्त क्या कर रहा है और यदि इसका उत्तर हो देवदत्त पका रहा है (पचति) अथवा पढ़ रहा है (पठति) तो ऐसे स्थलों में भी विशेष कर्म (कर्मसम्बन्ध) अविवक्षित ही रहता है। इसी तरह पचति एवं ददाति एवं जैसे स्थलों में क्रियाप्रबन्ध का अखण्डरूप ही अभिप्रेत रहता है—वह सदा पकाता ही है देता ही है कहने में वक्ता का अभिप्राय कर्म से न होकर क्रिया के बराबर घटित होने वाले स्वरूप से रहता है। अतः ऐसे स्थलों में भी कर्म की अविवक्षा होने में क्रिया अकर्मक मान ली जाती है।

इसी तरह अकर्मक क्रियाएँ भी उपसर्गयोग अर्थान्तरवृत्ति आदि कारणों से सकर्मक रूप में परिणत हो जाती हैं। भवति क्रिया अकर्मक है परन्तु अनुभवति सकर्मक है। उपसर्ग के योग से वह सकर्मक हो गई है

मवतिरप्रमत्तः । अप्रमत्ता प्रति च धातव सोपसर्गाः संग्रमन्ते भवन्ति ।—

—महाभाष्य १।१।१०३

यहाँ अर्थात् क्रिया शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है—

मवतिरप्रमत्त । प्रापयम संग्रमन्तीति ।

—महाभाष्यप्रदीप १।१।१०२

शक्ति के आधार पर सभी क्रियाएँ स्वतन्त्र मानी जा सकती हैं। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

क्रिया और उपसर्ग

क्रिया और उपसर्ग का बड़ा घना सम्बन्ध है। एक तरह से उपसर्ग नाम क्रिया से संयुक्त होने पर ही पड़ता है। पर साथ यह भी है कि उपसर्ग क्रिया से अतिरिक्त नहीं रहता। उपसर्ग सहित जो धातु का रूप है उसे ही धातु का स्वरूप समझना चाहिए। शास्त्र में जो उपसर्गों का विधान है वह प्रक्रिया पद्धति पर है और व्याकरण के नियमों के निर्वाह के लिए है जैसे अट् आदि आगम आदि का उपसर्ग में अट् आदि धातु के पूर्व परन्तु उपसर्ग के बाद होते हैं। यदि उपसर्ग सहित धातु को धातु माना जायगा अट् आदि उपसर्ग के पूर्व लगने चाहिए। अतः शास्त्र में प्रक्रिया निर्वाह के लिए उपसर्ग के धातु से पृथक् होने की कल्पना की जाती है। वस्तुतः उपसर्ग सहित धातु ही धातु है। इसीलिए संग्रामयत में उपसर्ग के पूर्व अट् लगा है और सिद्ध प्रायोपिक में उपसर्ग सहित का द्वित्व हुआ है।[32]

सोपसर्ग धातु के मानने से ही धातुपाठ के आश्रय से होने वाले गुण आदि अन्तरंग माने जाते हैं। उपसर्ग युक्त होकर ही क्रिया वाक्य के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है। अतएव अनुभूयते में कर्म के अर्थ में लकार होता है। अतएव अवभ्यासन्मता

---

३२ महाभाष्यकार के अनुसार संग्राम में सम् उपसर्ग है। जैसा कि उनके 'अथवा संग्रामयत सोपसर्गादुत्पत्तिरस्त्येव' (महाभाष्य ३।१।१२) इस वाक्य से स्पष्ट है। भर्तृहरि और कैयट का भी यही मत है। परन्तु नागेश संग्राम के सम को उपसर्ग नहीं मानते—यद्यपि संग्राम शब्दे सम्‌शब्दो सोपसर्गस्तथापि सादृश्यादित्यन्ये साधारणमिति राक्षसियों आदि। परन्तु कैयट के अनुसार ग्राम शब्द ही युद्ध करने के अर्थ में है सम् शब्द केवल द्योतक है। जैसे इङ् स्मरणे इङ अध्ययने में अधि द्योतक है। यदि संग्राम' को शब्द माना जायगा यहाँ वा वचनान्तर ६।४।२१ से परत्वात् विकल्प से नहीं हो सकेगा। महाभाष्यकार ने संग्राम शब्द को नियमार्थक माना है अर्थात् संग्राम यह नियम करता है कि यदि सोपसर्ग धातु से अट् आदि हों तो संग्रामयत से ही हों अन्य सोपसर्ग धातु से न हों। इसलिये अन्य सोपसर्ग धातुओं से उपसर्ग के बाद परन्तु धातु से पूर्व अट् आदि होते हैं।

वस्तुतः केवल इस एक (संग्रामयत) उदाहरण के बल पर सामान्य नियम बनाना उचित नहीं है। या तो इसे अपवाद मान लेना चाहिए, अथवा जैसा कि नागेश ने माना है, संग्राम के सम् को उपसर्ग नहीं मानना चाहिए।

यपि इस सूत्र की आवश्यकता नहीं मानी जाती। नागेश ने इस सूत्र को इसीलिए अनार्ष माना है। (एवङ्चाड्भ्यासव्यवायेपीत्यनार्ष सूत्रपाठ —महाभाष्यप्रदीपोद्योत ६।१।१३८) । इन्हीं आधारों पर कहा जाता है कि धातु पहले उपसर्ग से जुड़ता है बाद में साधन (कारक) से अन्वित होता है। (पूर्व धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन)।[33] कारकों की विशेष प्रवृत्ति को ही क्रिया कहते हैं। उपसर्गयुक्त विशिष्ट क्रिया ही साधन के साथ अर्थ लाभ के लिये जुड़ती है। विशिष्ट क्रिया साधन (कारक) से साध्य होती है न कि साधन द्वारा लब्ध स्वरूप क्रिया किसी अन्य से विशेषता प्राप्त करती है। यह ठीक है कि साधन से सम्बन्ध के पूर्व क्रिया का विशेषरूप निष्पन्न नहीं होता फिर भी धातु—उपसर्ग के सम्बन्ध को अभ्यन्तर मान कर धातु का साधन से सम्बन्ध होता है। वह बुद्धि निरूपित होता है और भावि साधन को मान कर होता है। इसलिए धातु उपसर्ग समुदाय से ही विशिष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। फलतः 'पूर्व धातु उपसर्गेण युज्यते' इस पक्ष को अधिक महत्त्व देना चाहिए। यदि यह माना जायगा कि धातु का सम्बन्ध पहले साधन से होता है बाद में उपसर्ग से होता है तो उसके लिए इसे समझाना कठिन हो जायगा कि क्या आस्यते गुरुणा में क्रिया अकर्मक है परन्तु आस्यते गुरु में सकर्मक है।

जो लोग धातु का सम्बन्ध पहले साधन से मानते हैं और बाद में उपसर्ग से मानते हैं उनका तर्क यह है कि साधन से सम्बद्ध होकर क्रिया साध्य स्वरूपवाली कही जाती है। साधन ही क्रिया का निर्वर्तक है। जब तक साधन से योग नहीं होगा क्रिया अनिष्पन्न रहेगी फलतः किसी विशेषण की भी आकांक्षा उसमें न हो सकेगी। अतः धातु पहले साधन से सम्बन्ध प्राप्त करता है बाद में उपसर्ग से जुड़ता है —

> इह प्रसिद्ध विशेष्यमनेकप्रकारं सम्भवे सति वाक्यप्रयोगेण शब्देनाभिधीयमानं विशेषणविशेष्यभावं प्रतिपद्यते। साध्यत्वाच्च क्रियायाः साधनसम्बन्धेन निर्वृत्तिः। तस्मात् प्राक् साधनसम्बन्धादनुपजाता क्रिया निरात्मिका सतीसत्त्वेनोपसर्गेण सह विशेषणविशेष्यसम्बन्धं नोत्सहते प्रतिपत्तुम्। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते इत्येकेषां दर्शनम्।
>
> —वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१८४ लाहौर संस्करण

क्रिया के साथ उपसर्ग की प्रवृत्तियाँ

क्रिया और उपसर्ग में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना जाता है और वह अर्थद्वारक माना जाता है

> अर्थद्वारकश्च तेषां सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावलक्षणः। स चोपसर्गैरेव पर्यादिभिः सम्भवति नान्यैः। — वाम० १।२।१८

क्रिया के साथ उपसर्ग के संयोग होने पर प्रायः अर्थपरिवर्तन देखा जाता है —

---

33 महाभाष्य ६।१।१३५, ८।१।७०

> उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
> गङ्गासलिलमाधुर्य सागरेण यथाम्भसा ॥[२५]

फिर भी उपसर्ग की कई प्रकार की अवान्तर प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

असंदेहार्थ उपसर्ग

कभी-कभी असंदेहार्थ उपसर्ग का आश्रय लिया जाता है। महाभाष्यकार ने लिखा है कि मनायते के स्थान पर सुमनायते इसलिए कहा जाता है कि श्रोता को संदेह न हो। केवल मनायते कहने से यह नहीं पता चलता कि उसका मन शुभ रूप में हो रहा है अथवा दुःखी हो रहा है

> तत्र मनायत इत्युक्ते संदेहः स्यात् अभिमनायते सुमनायते उन्मनायते, दुर्मनायत इति। तत्रासंदेहार्थमुपसर्गः प्रयुज्यते।

(यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अभिमनस् सुमनस् उन्मनस् दुर्मनस् आदि का उपसर्ग सहित ही पाठ मिलता है। ये उपसर्ग सहित ही प्रकृति माने गये हैं। इस विषय को लेकर वैयाकरणों में प्रत्ययार्थ विशेषणपक्ष और प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष रूप में विवाद है। मन शब्द का सु, उत्, दुर्, अभि आदि उपसर्गों के साथ यदि समास नहीं माना जायगा तो वे उपसर्ग प्रत्ययार्थ के विशेषण होंगे। मन शब्द यहाँ तद्वान—मनस्वी अर्थ में है। अतः सुमनस् का अभिप्राय प्रत्ययार्थविशेषण पक्ष में मनस्वी अच्छा (सुष्ठु) होता है अर्थ होता है। जब सु अभि आदि का मन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास माना जायगा, वे उपसर्ग प्रकृत्यर्थ के विशेषण होंगे।)

उपसर्ग क्रिया का अर्थान्तर व्यक्त करता है

उपसर्ग धात्वर्थ के बाधक रूप में भी प्रसिद्ध हैं। तिष्ठति का अर्थ ठहरना है परन्तु प्रतिष्ठते का अर्थ प्रस्थान करना है। उपसर्ग की इस शक्ति के कारण संस्कृत भाषा की क्रियाओं का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। धातुपाठ में सीमित धातुओं का उल्लेख होते हुए भी उपसर्ग के बल से अर्थान्तर व्यक्त करने की क्षमता आ जाने के कारण उनके रूप का विस्तार हो गया है। कभी कभी उपसर्गों के द्वारा बिल्कुल विरोधी अर्थ व्यक्त किया जाता है जैसे,

पतति (गिरता है)	उत्पतति (उठता है)
ददते (देता है)	आदत्ते (स्वीकार करता है)

> मलीमसीमाददते न पद्धतिम्
> (रघुवंश २।४६)

---

२४ चन्द्रकीर्ति, माध्यमिक कारिका टीका पृष्ठ ५

२५ महाभाष्य १।१।२ पृष्ठ ६३, गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित।

सृजति (रचना करता है)	उत्सृजति (छोडता है) उत्सृष्टसकलव्यापारतया (कादम्बरी पृ० २४०)
सीदति (दुखी होता है)	प्रसीदति (प्रसन्न होना है)।

उपसर्ग धात्वर्थ का अनुगामी होता है

कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ का अनुवर्तन करता है। जैसे मृत, प्रमृत। अन्या गच्छति पर्यागच्छति में अधि और परि उपसर्ग अनर्थक से हैं। इनका प्रयोग केवल स्पष्टार्थक है। अध्यति अधीते जैसी क्रियाओं में यह धातु का सहयोगी है। कुछ लोग इट और इक धातु को निरर्थक मानते हैं, उपसर्ग के कारण व सार्थक माने जाते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार अधीन में अधि का अर्थ उपरिभाव है अर्थात् अधीन का अर्थ विशिष्टार्थ युक्त शब्दों का अध्ययन है (ततश्चाधीत इत्यस्य विशिष्टार्थयुक्तानां शब्दानां पठनं विधिपूर्वकं करोतीत्यर्थः—महाभाष्यप्रदीप १।२।१)।

उपसर्ग की ससाधनक्रियावाचकता

बहुत से प्रत्यय उपसर्गों से किये जाते हैं। ऐसे स्थानों में उपसर्ग साधनसहित क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं—

त एते उपसर्गेभ्यो विधीयमाना ससाधनायां क्रियायां भविष्यन्ति—महाभाष्य ५।२।२८ विशाल, विशंकट शब्द विउपसर्ग से शालच और शंकटच प्रत्यय लगा कर बनाये जाते हैं। विशाल का अर्थ है बड़ी सींग वाला बैल। संकट, प्रकट उत्कट आदि शब्द भी उपसर्ग से बनाये गये हैं। इन सब स्थानों पर उपसर्ग साधनक्रियावचन माने जाते हैं।[२६]

उपसर्ग का क्रिया द्योतकत्व

कुछ आचार्य उपसर्ग को द्योतक मानते हैं। इसका उल्लेख पदार्थ विचार के अवसर पर किया जा चुका है। धातु को अनेकार्थ मान कर उपसर्ग का द्योतकत्व प्रकट किया जाता है। तिष्ठति का अर्थ गमन भी है प्र उपसर्ग इस गमन का द्योतक माना है। भर्तृहरि के अनुसार उपसर्ग का द्योतकत्व दो तरह के अनुमान से सिद्ध होता है। सामान्यतो दृष्ट से और विशेषतो दृष्ट से। प्रपचति में प्र शब्द आदि कर्म का द्योतक देखा गया है। इस सामान्य दृष्ट के आधार पर सभी प्रशब्द आदि कर्म के द्योतक हैं प्र उपसर्ग है अतः सभी उपसर्ग द्योतक हैं।

इसी विशेषतो दृष्ट अनुमान से भी द्योतकता निश्चित की जाती है। प्र शब्द के समानधर्मा सभी प्रादि हैं। प्र शब्द में द्योतकत्व है। अतः सभी उपसर्गों में द्योतकत्व है। इसी तरह धातु भी सामान्यतो दृष्ट और विशेषतो दृष्ट द्विविध अनुमान

---

२६ कैयट के अनुसार ये सब गुण शब्द हैं केवल व्युत्पत्ति मात्र उपयुक्त प्रकार से की जाती है—पुष्पत्वनुसारेण चन्द्रमुच्यते। शृङ्गशब्दात्तु विशालाख्य। साधुत्वारयानाय तु कश्चिदुपायमाश्रित्य व्युत्पत्तिः क्रियते। यथा प्रतिलोमोनुलोम इति।—महाभाष्य दीप ५।२। ८, पृष्ठ ३६६.

केवल स्वार्थ है।[३९]

भर्तृहरि के अनुसार द्योतकत्व भी दो तरह का होता है
(१) अनाविर्भूताविर्भावन और
(२) सहाभिधान

द्योतनमपि द्विविधम्। अनाविर्भूताविर्भावनम्। अव्युदासप्रसंगे वा प्रकारान्तरव्युदासेन कस्यचिन्नवधारणम्। तद् यथा प्रतिष्ठते उत्पुच्छयते अभिमनायत इति। तदपि प्रसिद्धाप्रसिद्धाविपुतप्रयोगाणाम्। उपास्ते प्रपचति अधीत इत्यतीति यथा। सहाभिधानं वा। यावक गोपायिता ब्राह्मणाधीन अनुसंत इति।

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१६५ १६६ लाहौर संस्करण

संग्रहकार के अनुसार भी उपसर्ग द्योतक होते हैं—शब्दान्तरोपग्रहणं तरेण समवेतान अतःअनियमो वा परस्तद् द्योतको नियमन वाचकतामति आमतीति संग्रहकार आह।—

—वाक्यपदीय २ १८६ हरिवृत्ति हस्तलेख

उपसर्ग का वाचकत्व

उपसर्ग के संयोग से क्रिया के जो अर्थान्तर अर्थ जान पड़ते हैं उनके वाचक कुछ आचार्यों के अनुसार उपसर्ग हैं। तिष्ठति कहने से स्थिर रहने की अभिव्यक्ति होती है परन्तु प्रतिष्ठते कहने से चलने का जो अर्थ भासित होता है वह प्र उपसर्ग के कारण अतः प्र को विशेष अर्थ का वाचक मान लेना चाहिए। भर्तृहरि ने उपसर्ग के वाचकत्व का निर्देश न वाचका विशेषाणाम् कह कर किया है। यद्यपि पाणिनि के व्याकरण उपसर्ग को द्योतक ही मानते हैं परन्तु भाषा की दृष्टि से यह अच्छी तरह सिद्ध किया जा सकता है कि उपसर्गों के कभी स्वतन्त्र अर्थ थे। और उनको सार्थक मानने का अर्थ ही है उनमें वाचकत्व स्वीकार करना। महाभाष्यकार ने स्वयं कई उपसर्गों के अर्थों का उल्लेख किया है जो प्रायः निरुक्त में दिए हुए अर्थों से मेल खाते हैं। आङ् आभिमुख्य बताते, प्र शब्द आदि कर्माणि निरय बहिर्भाव बताते जैसी उक्तियाँ उपसर्गों के साथक होने का संकेत करती हैं। बाद में इनका व्यवहार प्रतीक के रूप में होने लगा था। सम उपसर्ग समता संतुलन का प्रतीक था। अभि सामने अथवा प्रथम का प्रतीक था और अभिनव अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। अभ्यस्त गाय (वह गाय या बैल जिन पर पहचान के लिए नये चिह्न लगे हों) में अभि शब्द अभिनव अर्थ में प्रयुक्त है (अभि शब्दो अभिनवार्थे वर्तते—न्यास २।१।१६)।

---

३९ वाक्यपदीय २ और इस पर पुण्यराज की टीका। भर्तृहरि ने उपसर्ग में वाचकत्व, द्योतकत्व और सहाभिधान माना है—वाचकत्व द्योतकत्व सहाभिधायकत्वमिदमुपसर्गेषु त्रिविधा प्रतिपत्तिराचार्याणाम्। तत्रान्ये तिष्ठतेः वाचकत्व वाचक इति प्रतिपादयन्। धर्मविनिर्भवमनभिधान-मन्ये प्रकरण वाचक स्वयुक्तान्यते। सम्प्रदायाः अन्ये निष्प्रयोजनसहाभिधानमाश्रयन्त स्वार्थिकत्वं मन्यन्ते निपाता इव धात्वर्थ—वाक्यपदीय २।१६० हरिवृत्ति हस्तलेख

भत हरि न वत्ति के विषय म उपसर्गों की साथकता कण्ठ खोल कर स्वीकार की है और उन्ह सत्त्वाभिधायी कहा है—

क्रियाया साधने ये प्रादयो ये व्यवस्थिता ।
तेभ्य सत्त्वाभिधायीभ्यो वति स्वार्थे विधीयते ॥

—वाक्यपदीय, वत्तिसमुद्देश १८३

उद्वत (उत+वत) निवत(नि+वत) इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि उपसग यहा साधक है। जयादित्य ने भी प्रादयो हि वत्तिविषय ससाधना क्रियामाहु —(काशिका ६।२।१६२) कह कर उपयुक्त मान्यता की पुष्टि की ह।

बहुत से एम प्रत्यय ह जो उपसर्गों से स्वाथ म हुये है। यह तभी सभव है जब कि उपसर्गों के स्वतन्त्र अथ हो। उदाहरण के लिये पाणिनि का यह सूत्र लीजिये

अनुकाभिकाभीक कमिता ५ २।७४

इसम अनुक (अनु+क) अभिक (अभि+क) और अभीक (अभि+इ+क) उपसर्गों से कन प्रत्यय लगा कर बनाय गय है।

उत्तर उत्तम का उल्लेख पहल किया जा चुका है। भाष्यकार ने इस अव्युत्पन्न शब्द होन का सकेत किया ह और कयट ने भी स्पष्ट ही कहा है कि **उत शब्दात् तमवेव, नास्ति, अव्युत्पन्न एवतूत्तमशब्द स्वभावात निप्रभतीनामस्यमाह** (महाभाष्यप्रदीप ४।१।७८)। परन्तु कोई भी भाषाविज्ञान का विद्यार्थी कयट के मत स सहमत नही हो सकता। जसा कि उद्वा उद्वती म उत से प्रत्यय हुए है वस ही उत म तर और तम प्रत्यय हुए है। कयट न स्वय उद्वा म उत को साधक माना ह (**उदगतमस्यास्तीति ससाधनक्रियावचनात उपसर्गात प्रत्यय**—महाभाष्यप्रदीप ५।२।१०८)

यह मा यता कि उपसग असम्बद्ध रूप म स्वतन्त्र रूप म अथ व्यक्त नहीं करत पूण रूप से ठीक नही है। कवियो न स्वतन्त्र रूप म भी इनक साथक प्रयोग किय हैं जसे—**रेखामात्रमपिक्षुण्णाद आ मनो वत्मन परम** (रघुवश १।१७) इसम आ का स्वतन्त्र रूप म प्रयोग हुआ है। जसा कि मल्लिनाथ ने कहा है आ और मनु यहा दो शब्द है (**आ मनो । मनुमारभ्यइत्यभिविधि । पदद्वय चतत । समासस्य-विभाषितत्वात**)। कुछ शब्द तो पूण रूप स उपसग म ही बन है और आज स्वतन्त्र शब्द स जान पडत हैं। जस अणु शब्द। यास्क के अनुसार अनु उपसग ही अणु शब्द बन गया है।[२८] धन अन्तर और अस्त शब्दों का उपसर्गों क भीतर समावेश भी उप सर्गों के वाचकत्व का परिचायक है। कभी-कभी उपसग तद्धित प्रत्यय के अथ म भी व्यवहृत होत देख गय है। दुर्गाचाय ने प्रसग द (कुमीदी की सतान) शब्द म प्र का अपत्याथक माना है।[२९] प्रस्कण्व म भी प्र शब्द अपत्याथक है। अभिरूपायकन्यादेया का भाव अभिरूपतमाय कन्या देया है अर्थात अभि का प्रयोग यहा तमप अथ म हुआ है।

---

२८ निरुक्त ६।१।३।४

२९ निरुक्त टीका ६।३।२।१।७

धातु और उपसर्ग के संघात में वाचकत्व

कुछ विचारकों की यह धारणा है कि उपसर्ग और धातु दोनों मिलकर संघात रूप में अर्थ के वाचक होते हैं। उपसर्गों का अलग निवरण अर्थ आदि की व्यवस्था के लिए है—

परमार्थत धातूपसर्गसंघात एव क्रियावाची व्युत्पादनमात्रार्थस्तु धातूपसर्गयोरन्वाख्यानम्।[४]

क्रिया और अव्यय

अव्ययों में कुछ विभक्त्यर्थप्रधान होते हैं और कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। जैसे हिरुक् पृथक् ये क्रियाप्रधान अव्यय हैं। क्रिया विशेषण होने के कारण इन्हें क्रिया प्रधान माना जाता है। पृथक् दत्तम् जैसे प्रयोग अवश्य देखे जाते हैं इसमें कोई क्रियापद नहीं है फिर भी ऐसे प्रयोग स्थित्वा आदि क्रियापद के आक्षेप की आकांक्षा रखते हैं। क्रियाप्रधान होने के कारण तथा अव्यय होने के कारण इनके साथ लिंग और संख्या का योग नहीं होता। क्रिया में तो एकत्व संख्या मानी भी जाती है और पचतिरूपम् जैसे प्रयोगों में नपुंसक लिंग भी देखा जाता है परन्तु क्रिया प्रधान अव्यय के साथ लिंग और संख्या नहीं जुड़ते।

क्रिया और रूढि शब्द

रूढिशब्द उस शब्द को कहते हैं जिसके विग्रह वाक्य में अन्य अर्थ प्रतीत होता है और वृत्ति में अन्य।

'येषां तु वाक्यप्रयोगेऽन्य एवार्थः क्रियासम्बन्धी वृत्तिप्रयोगेऽन्य एव तेषां रूढिशब्दत्वम्।

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।३७ लाहौर संस्करण

विग्रह वाक्य और वृत्ति में सादृश्य की कल्पना की जाती है। फिर भी किसी किसी शब्द के विग्रह वाक्य से सर्वथा अन्य अर्थ प्रकट होने लगता है ऐसे ही शब्दों को रूढि शब्द कहते हैं। जैसे तैलपायिका। इस शब्द का विग्रह तैलं पिबति (तेल पीता है) के रूप में किया जाता है और इससे यही अर्थ झलकता है परन्तु वस्तुतः इस शब्द का अर्थ कीट विशेष है। तेल पीने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए तैलपायिका रूढि शब्द है।

रूढिशब्दों में क्रिया का आश्रय केवल व्युत्पत्ति के लिए लिया जाता है। गौ शब्द की व्युत्पत्ति गच्छतीति के द्वारा समझाई जाती है। परन्तु यह व्युत्पत्ति मात्र है वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जो गमन नहीं करती है

४० म॰भा॰ प्रदीप १।३।१ ७०

उस गाय को भी गौ कहते हैं और गमन करने वाली गाडी आदि को गौ नहीं कहते हैं।

क्रिया का जो सम्बन्ध रूढिशब्दों के साथ है वही ताच्छीलिक शब्दों के साथ है। ताच्छीलिक भी एक तरह के रूढि शब्द ही हैं। रूढि शब्द में और ताच्छीलिक में केवल यही अन्तर है कि रूढि शब्दों में किसी का गति से सम्बन्ध नहीं होता जबकि ताच्छीलिकों में कुछ का गति से सम्बन्ध होता है और कुछ का गति से सम्बन्ध नहीं होता। ताच्छील्य शब्द भी क्रिया विषयक ताच्छील्य के आश्रय से प्रयुक्त होते हैं यद्यपि उनमें क्रिया का आवेश नहीं रहता। उनमें कुछ गति से जुडते हैं जैसे आगामुक, प्रवपुक। कुछ नहीं जुडते। जैसे कामुक। प्रकामुक नहीं होता। व्याघ्र जैसे शब्द उपसर्ग सहित ही रूढि शब्द माने जाते हैं, इनके साथ किसी दूसरे गति की आवश्यकता नहीं है।

क्रियाभ्यावृत्ति

एककर्तृक तुल्यजातीय क्रियाओं का बार बार घटित होना अभ्यावृत्ति कहलाता है। अभ्यावृत्ति क्रिया में ही सम्भव है द्रव्य और गुण में नहीं। क्योंकि शब्द से प्रतिपाद्य द्रव्य और गुण स्वभाव सिद्ध होते हैं अभ्यावृत्ति साध्यस्वभाववाली क्रिया में होती है। कभी-कभी पुन पुन दण्डी 'पुन पुन स्थूल' जैसे स्थलों में द्रव्य और गुण की भी अभ्यावृत्ति देखी जाती है परन्तु ऐसे स्थलों में भी वस्तुत सामर्थ्यवश क्रिया की ही अभ्यावृत्ति होती है। पुन-पुन दण्डी भवति पुन पुन स्थूलो भवति इस रूप में क्रियापद का आक्षेप ऐसे शब्दों में समझना चाहिए।

महाभाष्यकार ने कहा है कि आवृत्ति अभ्यावृत्ति नहीं है अपितु अभिमुखी प्रवृत्ति को अभ्यावृत्ति कहते हैं।[४१]

> अभ्यावृत्ति भिन्न काल की क्रियाओं में होती है (अभ्यावृत्तिर्हि भिन्नकालाना क्रियाणा भवति।— न्यास ८।४।१७

नित्य, आभीक्ष्ण्य और क्रियासमभिहार—

क्रियाभ्यावृत्ति की तरह नित्य और आभीक्ष्ण्य भी क्रिया से सम्बद्ध हैं। बार बार क्रिया की प्रवृत्ति को आभीक्ष्ण्य कहते है। आभीक्ष्ण्य साध्यरूप क्रिया में ही सम्भव है द्रव्य में नहीं। द्रव्य के सिद्धरूप होने से उसमें पुन-पुन प्रवृत्ति नहीं होती। नित्य भी आभीक्ष्ण्य का अर्थ रखता है। पाणिनि ने नित्यवीप्सयो ८।१।४ में नित्य शब्द का व्यवहार आभीक्ष्ण्य के अर्थ में किया है। जिस क्रिया को कर्ता प्रधानरूप से लगातार करता है उसे नित्य कहते हैं। आभीक्ष्ण्य और नित्य में थोडा सा अन्तर है। आभीक्ष्ण्य में क्रिया की आवृत्ति प्रधान होती है जब कि नित्यता में क्रिया का

---

४१ महाभाष्य ८।४।१६

अविच्छेद जान पड़ता है। जैसे 'भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति' इस वाक्य में क्रिया के विच्छेद होने पर भी बार-बार खाता है और बार बार जाता है इस रूप में क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है। अत यहा आभीक्ष्ण्य है। 'जीवति जीवति' कहने में क्रिया का अविच्छेद प्रतीत होता है यह जीता ही है यह अर्थ भासित होता है। उसमें वह जीकर मरता है अथवा मर कर जीता है इस रूप में आवृत्ति नहीं जान पड़ती। कदाचित् का दीर्घकाल तक अविच्छिन्न रूप में जीवित होना ही ज्ञात होता है।

क्रियासमभिहार शब्द क्रिया के बार बार होने का अथवा उसके अत्यन्त तीव्र स्वरूप का द्योतन करता है। क्रियासमभिहार का रूप प्राय यङन्त से द्योतित होता है—

धातोरेकाचो हलादे क्रियासमभिहारे यङ्।—पाणिनि ३।१।२२

क्रिया की प्रत्येक परिसमाप्ति—

कुछ विशेष क्रियाओं को लेकर भर्तृहरि ने क्रिया के सम्बन्ध में यह भी विचार किया है कि क्रिया की वाक्य में प्रत्येक परिसमाप्ति मानी जाय अथवा समुदाय परिसमाप्ति अथवा उभयपरिसमाप्ति। वाक्यपदीय में तीनों तरह के मत उल्लिखित हैं उनका विवरण संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है।

एक मत यह है कि वाक्यार्थरूप क्रिया का अवस्थान प्रत्येक से सम्बद्ध है। उस अवस्थान को सामर्थ्यलक्षण शब्द से व्यक्त किया जाता है। सब एक शेष द्वन्द्व में क्रिया की प्रत्येक में परिसमाप्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए भोजन की क्रिया (भुजि क्रिया) को लीजिए। जब कहा जाता है कि ब्राह्मण अथवा एक ब्राह्मण अथवा देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र भोजन कर लें इस वाक्य में ब्राह्मण एक के भोजन क्रिया का प्रत्येक में सम्बन्ध होता है। क्योंकि भोजन क्रिया का फल तृप्ति है और वह प्रत्येक भोक्ता में अलग अलग होती है। भोजन के व्यापार भी जैसे पाद प्रक्षालन आसन पर बैठाना दूसरे द्वारा परोसे जाना आदि—प्रत्येक भोक्ता के अलग अलग किये जाते हैं। अथवा प्रत्येक भोक्ता स्वयं इन व्यापारों को करता है। इसलिए फल की दृष्टि से और स्वरूप की दृष्टि में भी भोजन क्रिया की परिसमाप्ति प्रत्येक में होती है।

भुजिक्रिया नाट्यक्रिया की तरह नहीं है। नाट्यक्रिया अनेक साधन से साध्य है और सब साधनों के सहयोग से फलवती होती है। भोजन क्रिया वैसी नहीं है। वह तो प्रत्येक कारक (यहां भोक्ता) से निवर्त्य है। यह भेद वस्तुगति की दृष्टि से है। वस्तुगति नियत होती है [नियत स्वरूपा हि वस्तुगतयो भवन्ति]।[42] वस्तु-स्वभाव के कारण ही दीपक की प्रकाश क्रिया एक अधिकरण [आधार] पाकर भी चारों ओर प्रकाश फल देती है। परन्तु भोजन क्रिया विभक्त रूप में ही प्रत्येक में तृप्ति फल उत्पन्न करती है।

४२ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२८०

इस मत का समर्थन शास्त्र में भी किया जा सकता है। व्याकरण का पारिभाषिक वृद्धि नाम आ ए औ इनमें से प्रत्येक में परिसमाप्त माना जाता है अर्थात प्रत्येक वृद्धि संज्ञक कहा जाता है।[43]

क्रिया की समुदायपरिसमाप्ति

एक मत यह भी है कि क्रिया की परिसमाप्ति समुदाय में होती है। यदि यह कहा जाय 'देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र दर्शनीय वस्तु को देखते हैं' तो दर्शन की क्रिया दर्शनीय वस्तु में समुदाय में परिसमाप्त होती है। और स्नानक्रिया का फल भी युगपत ही होता है।

जिस क्रिया में भिन्न भिन्न व्यापार विभिन्न कारकों से देखे जाते हैं उनकी परिसमाप्ति समुदाय में सम्मिलितरूप में (सम्भूय) माननी चाहिये। जैसे, देवदत्त काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति इस वाक्य में वाक्यार्थभूत प्रधान की क्रिया में देवदत्त, काष्ठ स्थाली आदि विभिन्न कारकों का व्यापार भिन्न भिन्न है। कर्ता के भी सदगन, प्रार्थना अध्यवसाय आदि कई व्यापार हैं। उपर्युक्त सभी व्यापार सम्पूर्ण रूप में पाक क्रिया के साधक माने जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि क्रिया चाहे कर्तृस्था हो या कर्मस्था पचिक्रिया कर्म में ही समवेत होती है। कुछ लोग मानते हैं कि पचिक्रिया के कर्म में समवेत होने पर भी उसमें अधिश्रयण, उपसर्जन, विक्लित्ति आदि कई व्यापार भी उसके अंश के भीतर हैं उन सबके द्वारा पचि क्रिया निष्पन्न होती है अतः उसकी समुदाय में ही परिसमाप्ति माननी चाहिए।

गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम् जैसे वाक्यों से सौ के दण्ड की परिसमाप्ति समुदाय में ही देखी जाती है। यहां प्रत्येक गर्ग का सौ का दण्ड ऐसा अभिप्रेत नहीं है। यदि यहां प्रत्येक में दण्ड की परिसमाप्ति मानी जायगी तो शत के स्थान पर शतानि संख्या का आश्रय लेना पड़ेगा जिससे वाक्य में विरोध होगा प्रधानकर्म का स्वरूप भिन्न होगा और वीप्सा की भी प्राप्ति नहीं होगी। अतः गर्गसंघ पर ही शत दण्ड समझा जाता है।

शास्त्र में भी वाक्यपदीय-व्याख्यान—दर्शन के अपनाने पर समुदायपरिसमाप्ति पक्ष देखा जाता है। समास संज्ञा और अभ्यस्त संज्ञा समुदाय की ही होती है।[44]

---

४३ वाक्यपदीय ३,७३ इसमें आ, ऐ, औ प्रत्येक वृद्धिसंज्ञक है इसमें प्रमाण पाणिनि का संकेत है। प्रत्ये वृद्धमकस्यादीनाम् ६।२।८७ सूत्र प्रत्य उत्तरपद रहते पूर्वपद उदात्त करता है कर्क्यादि और वृद्ध'' को छोड़ कर, मालादीनां च ६।२।८८ यह सूत्र भी प्रत्य उत्तर पद रहते पूर्वपद को आदि उदात्त करता है। वृद्ध' यहां पारिभाषिक है ना वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३ के अनुसार होता है। अब आ, ऐ, आदि को प्रत्येक का वृद्धि संज्ञा नेत्र होगी तभी मालादि उपर्युक्त सूत्र (१।१।७३) से वृद्ध कहे जा सकेंगे—

—पुण्यराज वाक्यपदीय ३। ८४

४४ वाक्यपदीय २।३८७, ३८३, ३८४, ३६४।

उभयपरिसमाप्ति

कुछ क्रियाओं में ऐसा देखा जाता है कि उनकी परिसमाप्ति प्रत्येक में भी और समुदाय में भी एक साथ ही देखी जाती है। जैसे यह कहा जाता है कि कपल को इस मन्दिर में आना मना है तो यहाँ निषधरूपक्रिया का संबंध कपल से एकाकीरूप में भी होता है और कपलसमूह के साथ भी होता है। शास्त्र में भी पारव करने में अट स्वरा पवरा आङ नुम आदि का व्यवधान प्रत्येक रूप में और सामूहिकरूप में भी माना जाता है।[४५]

वस्तुतः वाक्यार्थक्रिया की परिसमाप्ति कहीं प्रत्येक में होती है और कहीं समुदाय में होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि केवल प्रत्येक में ही हो अथवा वाक्य में ही हो —

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरित्येतत् न राजाज्ञयानेन व्यवस्थाप्यते।—पुण्यराज वाक्यपदीय २।३८५

क्रिया एक अथवा अनेक

क्रियाओं के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने उनके एकत्व और नानात्व पर भी विचार किया है। भुजि क्रिया एक है अथवा अनेक। एक भी है और अनेक भी है। भोक्ता की तृप्ति की दृष्टि से भोजन क्रिया का समारम्भ होता है वहाँ वह एक ही मानी जायगी। क्योंकि तृप्तिफल समान है। परन्तु देशभेद कालभेद आदि के कारण एक होने हुए भी अनेक जान पड़ती है। इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि भोक्तृभेद से फलभेद होता है। इसलिए भोजन क्रिया में भी स्वभावतः भेद माना जायगा। उसमें यदि अभेद की प्रतीति होती है तो इसलिए होती है कि भोजन व्यापार के पात्र आदि प्रायः एक से भासित होते हैं। पात्र के अभेद से उसमें एकत्व और स्वभावतः अनेकत्व है।

फल की दृष्टि से भी क्रिया में भेद जान पड़ता है। कोई स्वर्ग के लिए यजन करता है कोई पुत्र के लिए कोई धन के लिए। इस फल भेद से इतिकर्तव्यता में भी भेद हो जाता है और इस कारण क्रिया में अनेकत्व झलकता है। परन्तु वस्तुतः क्रिया एक है। (एका हि क्रिया महाभाष्य १।२।६४)। आख्यात वाच्य क्रिया सर्वत्र भेद निबन्धनी होती है यही सिद्धान्त है। फल और साधनभेद से यजन—क्रिया में भेद प्रयोग की दृष्टि से भर्तृहरि अवगत हो शब्द की दृष्टि से वह सदा सामान्यरूप में एक है। प्रयत्न या आवृत्ति के कारण क्रिया का एकत्व विघटित नहीं होता। क्रिया के एकत्व की रक्षा में लिए भर्तृहरि ने क्रिया में व्यक्तिभाग और जातिभाग की कल्पना की है —

क्वचित् क्रिया व्यक्तिभागहपकारे प्रवर्तते।
सामान्यभाग एवास्या क्वचिन्न्यस्य साधकः ॥[४६]

---

४५ द्रष्टव्य वाक्यपदीय ३।१,२८०-३८०
४६ वाक्यपदीय ३।८।२५

क्रिया का एक व्यक्तिभाग है और एक उसका सामान्यरूप जातिभाग है। समीहित सिद्धि के लिए कभी व्यक्तिरूप में क्रिया प्रवृत्त होती है और कभी जातिरूप में। बाधा विकल्प, समुच्चय, अभिनाय, प्रशंसा[47] आदि में क्रिया व्यक्तिभाग के रूप में प्रवृत्त होती है क्योंकि क्रिया के सामान्यरूप से प्रवृत्ति मानने पर समुच्चय विकल्प आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती। अनेक क्रियाओं के अध्याहार को समुच्चय कहते हैं। तुल्य बलवाली अविरोधी क्रियाओं का अध्याहार भी समुच्चय है। जैसे—देवदत्त भोजय लवणेन सर्पिषा शाकेन च, अथवा—

> अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्।
> वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मद ॥

इसमें एक ही नयति क्रिया में गौ अश्व पुरुष आदि का समुच्चय है। ऐसे स्थलों में क्रिया का जातिस्वरूप प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि जाति में समुच्चय सम्भव नहीं है। विकल्प भी तुल्यबल के विरोध में होता है। जैसे कौण्डिन्य को दधि और तक्र दिया जाय में विकल्प है। यहां भी क्रिया व्यक्तिभाग के द्वारा उपकारक है। इसी तरह अभिनाय आदि स्थानों में समझना चाहिये। परन्तु लोक-व्यवहार की सिद्धि के लिये क्रिया जाति रूप में भी प्रवृत्त होती है जैसे पचति, यजते आदि में क्रिया का सामान्य रूप ही वाक्यार्थ में अधिक उपयोगी होता है। कालभेद अथवा साधनभेद से क्रिया-भेद की प्रतीति क्रिया के जातिरूप का विघातक नहीं होती।

जहां क्रिया विजातीय और विभिन्नपदवाच्य है परन्तु साधन एक ही है वहां भी कालभेद से साधन में भेद मानकर क्रिया की प्रत्येक के साथ परिसमाप्ति सिद्ध होती है जैसे अक्षा भक्ष्यन्ता भज्यन्ता दीव्यन्ताम् में अक्ष साधन एक शब्दोपात्त है और क्रिया भिन्न जाति वाली और भिन्न शब्दोपात्त है फिर प्रतिपत्ति वशात् में अक्ष शब्द से बहेड़े गाड़ी की धुरी और जूए की प्रतिपत्ति होने से विभिन्न क्रियाओं का इन विभिन्न साधनों से पृथक् पृथक् सम्बन्ध हो जायगा। क्योंकि विभीतक का ही भक्षण होता है न कि शकटाक्ष अथवा देवनाक्ष का। इसी तरह शकटाक्ष का ही भजन होता है न कि विभीतक अथवा देवनाक्ष का। इसीलिये क्रिया को यौगपद्य अवस्था में भी क्रमवाली माना जाता है—

> क्रिया तु यौगपद्येऽपि क्रमरूपानुपातिनी[48]।

वस्तुतः क्रम और यौगपद्य शब्द की शक्तिविशेष हैं जिन्हें क्रमशः भेदशक्ति और संसर्ग-शक्ति कह सकते हैं। ये शब्द के व्यापार हैं जो शब्द से भिन्न से जान पड़ते हैं।

---

४७ त्रिप्रकारा हि प्रशंसाशब्दाः। केचिन्नानि शब्दाः परार्थे प्रयुज्यमानाः प्रशंसामाचक्षते यथा सिंहोदेवदत्त इति। क्वचिद् गुणशब्दा गुणगुणिसम्बन्धेन प्रशंसा वचना भवन्ति यथा रमणीयो ग्राम शोभन पाचक इति। क्वचिद् रूढिशब्दा मतल्लिकादय। तेषां प्रशंसैव पदार्थ —न्यास २।१।६६

४८ वाक्यपदीय २।४७१

आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का सर्वस्व क्रिया पर अवलम्बित है। भर्तृहरि ने क्रिया का विचार वाक्य की दृष्टि से भी किया है। वाक्यपदीय के क्रियासमुद्देश के आरम्भ में वाक्य सम्बन्धी आठ तरह के विकल्प उपस्थित किये हैं। उनमें से पहला आख्यात शब्द है। कुछ विचारकों के अनुसार क्रियापद वाक्य है। कभी कभी एक ही क्रियापद से कर्ता और कर्म से सहित बोध देखा जाता है। जैसे वर्षति में। वर्षति क्रिया में देव कर्ता का और जल कर्म का बोध हो जाता है। इसलिए वर्षति वाक्य है।[49]

वार्तिककार ने वाक्य के दो पारिभाषिक लक्षण दिये हैं। वे हैं—आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। यहाँ आख्यात पद से तिङन्त क्रियापद का ग्रहण होता है। अव्यय कारक विशेषण सहित आख्यात वाक्य है। अव्यय सहित जैसे उच्चैः पठति। कारक सहित जैसे ओदनं पचति। क्रियाविशेषणसहित जैसे सुष्ठु पचति। ये सब अलग और समुच्चय में भी गृहीत होते हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी होता है फिर भी अपृथक् उसका ग्रहण यहाँ किया गया है। आख्यात सविशेषण इतना ही लक्षण पर्याप्त है। आख्यात पद से यहाँ क्रिया की प्रधानता लक्षित है इसलिए देवदत्तेन गमितव्यम् भी वाक्य है। यह वाक्य का शास्त्रीय लक्षण है। कैयट के अनुसार वाक्य का लौकिक लक्षण अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्[50] है अर्थात् साकांक्ष एकार्थ पद समूह को वाक्य कहते हैं। यह मीमांसकों का मत है जिसे कैयट ने लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण-दर्शन में मान्य नहीं है। अयं दण्डो हरानेन (यह लाठी है इससे गायों को ले जाओ) ओदनं पच तव भविष्यति (भोजन बनाओ तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जैसे वाक्य वस्तुतः दो वाक्य माने जाते हैं। क्योंकि इनमें दो आख्यातपद हैं। इन्हें दो वाक्य मान कर ही वार्तिककार ने ऐसे स्थानों में निघात आदि के निषेध के लिए **समानवाक्ये** निघातयुष्मदस्मदादेशाः[51] इस वार्तिक में समानवाक्य शब्द रखा है। लौकिक अथवा मीमांसक वाक्यलक्षण के अनुसार उपयुक्त वाक्यों में एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होने लगेगी। अतः वार्तिककार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वार्तिककार के इस वाक्यलक्षण के अनुसार ही व्रजानि देवदत्त जैसे वाक्य में पाणिनिसूत्र ८।१।१९ से निघात सिद्ध होता है। क्योंकि यहाँ जाने की क्रिया सम्बोध्य देवदत्त के जाने की क्रिया से अथवा यज्ञदत्तविषयक जाने की क्रिया से पृथक् होने के कारण विशिष्ट मानी जाती है फलतः देवदत्त क्रियाविशेषण होने के कारण वाक्य की परिभाषा के भीतर आ जाता है। क्रिया का विशेषण सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य दोनों रूपों में देखा जाता है। शोभनं करोति सुष्ठु करोति जैसे वाक्यों में क्रिया की सुष्ठु आदि विशेषण युक्त रूप में ही प्रतीति होती है। इसलिए करोति क्रिया

---

४९ वाक्यपदीय २।३२७
५० मीमांसासूत्र २।१।४६ महाभाष्यप्रदीप ८।१।१९
५१ पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वार्तिक

का सुष्ठु शोभन के साथ सामानाधिकरण्य है। असत्वभूतक्रिया के विशेषण होने के कारण ही त्रियाविशेषण सदा नपुसक लिंग वाले ही होते हैं। क्रिया के निवत्य होने के कारण क्रियाविशेषण म कमत्व भी स्वाभाविक ही है। व्रजानि देवदत्त म वयधिकरण्य के रूप म विशेषण है। यहा देवदत्त और जाने की त्रिया का सामानाधिकरण्य नही है। देवदत्त को आमत्रण करके जान म केवल बिना आमत्रण क जाने की अपेक्षा आमत्रणपूवक जान वाली त्रिया विलक्षण हो गई है इसलिय आख्यात इस वाक्य म सविशेषण है। नागेश के अनुसार सविशेषण का अथ साक्षात अथवा परम्परा विशेषण सहित है अत नद्यास्तिष्ठति कूले' मे समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भतृहरि न वार्तिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है 'एकतिङ वाक्यम'। वार्तिककार के प्रथम वाक्य लक्षण म आख्यात शब्द म एकत्व की अविवक्षा की शका किसी को न होने पावे इसलिय ही वार्तिककार न 'एक तिङ वाक्यम पुन कहा है अर्थात दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न मान जाय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि न तिङतिङ ८।१।२८ सूत्र मे अतिङ ग्रहण किया है। इसस जान पडता है कि उनके मत म अनक तिङन्तपद के रहते हुए भी यदि अथ साकाक्ष है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वार्तिककार और सूत्रकार म यहा मतभेद नही है। वार्तिककार का एकतिङत्व प्रधानतिङन्त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अत सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वार्तिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नही करत और दोनो मुनियो म वाक्यविषयक मतभद मानत हैं।[५२] कुछ लोग अनेक त्रियापदो वाले वाक्यो म भेदाभेद सिद्धान्त को अपनाते है। पश्य मृगो याति इस वाक्य म दो तिङन्तपद होने के कारण यहा वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का याति पद से और उसका पश्य से योग होने के कारण एक ही वाक्य है अभेद है—

तिङ ता तरयुक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुन ।
मृग पश्यत यातीति भेदाभेदौ न (च) तिष्ठत ॥[५३]

क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय म वाक्याथ छ प्रकार के विवचित ह—ससग, प्रयोजन ससृष्टि निराकाक्षपदाथ प्रतिभा और त्रिया। इनम त्रियावाला पक्ष त्रिया वाक्याथवाद क नाम से प्रसिद्ध है। इसके भी फलवाक्याथवाद और कमवाक्याथवाद नाम के अवान्तरभेद होत ह। जो लोग आख्यातपद को वाक्य मानते ह उनके मत म त्रिया ही वाक्याथ है। त्रिया के अनुपग से ही पदाथ की प्रतीति होती है। बिना त्रिया के किसी वस्तु क अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नही चलता। जहा एक ही पद निराकार सत्ता का प्रतिपादक होता है वहा भी है था नही हुआ आदि रूप म अनुभूति होने पर ही वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है। अत ऐसे स्थलो म भी किसी न किसी रूप में त्रियापद का सम्बन्ध अनिवाय है। त्रिया वाक्याथ होने के कारण ही एक

५२ पुण्यराज वाक्यदीप २।४।०
५३ वाक्यदीय २।४५२

आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का स्वरूप क्रिया पर अवलम्बित है। भर्तृहरि ने क्रिया को ही वाक्य की दृष्टि से भी लिया है। वाक्यपदीय टीकाकारों ने प्रारम्भ में वाक्य सम्बन्धी आठ तरह के विकल्प उठाये हैं। उनमें से पहला आख्यात शब्द है। कुछ विचारकों के अनुसार क्रियापद वाक्य हैं। कभी कभी एक ही क्रियापद से कर्ता और कर्म का सहित बोध देखा जाता है। जैसे वर्षति में। वर्षति क्रिया में देव कर्ता का और जल कर्म का बोध हो जाता है। फलतः वर्षति वाक्य है।[49]

वार्तिककार ने वाक्य के दो पारिभाषिक लक्षण दिये हैं। एक है—आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। इसमें आख्यात पद से एक क्रियापद का ग्रहण होता है। अव्यय कारक विशेषण सहित आख्यात वाक्य है। अव्यय सहित जैसे उच्चैः पठति। कारक सहित जैसे ओदनं पचति। क्रियाविशेषणसहित जैसे सुष्ठु पचति। ये सब अलग अलग और समुच्चित रूप में भी गृहीत होते हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी होता है फिर भी प्रपञ्चार्थ उसका ग्रहण यहाँ किया गया है। आख्यात पद से यहाँ क्रिया की प्रधानता सूचित है इसलिए देवदत्तेन गमितव्यम् भी वाक्य है। यह वाक्य का शास्त्रीय लक्षण है। दूसरा वाक्य का लौकिक लक्षण अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्[50] है अर्थात् साकांक्ष एकार्थ पद समूह को वाक्य कहते हैं। यह मीमांसकों का मत है जिसे कैयट ने लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण दर्शन में मान्य नहीं है। अयं दण्डो हरानेन (यह लाठी है इससे गायों को ले जाओ) ओदनं पच तव भविष्यति (भोजन बनाओ तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जैसे वाक्य वस्तुतः दो वाक्य माने जाते हैं। क्योंकि इनमें दो आख्यातपद हैं। इन्हें दो वाक्य मान कर ही वार्तिककार ने ऐसे स्थानों में निघात आदि के निषेध के लिए इस वार्तिक में समानवाक्य शब्द रखा है। समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः।[51] लौकिक अथवा मीमांसक वाक्यलक्षण के अनुसार उपर्युक्त वाक्यों में एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होने लगेगी। अतः वार्तिककार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वार्तिककार के इस वाक्यलक्षण के अनुसार ही व्रजानि देवदत्त जैसे वाक्य में पाणिनिसूत्र ८।१।१९ से निघात सिद्ध होता है। क्योंकि यहाँ जाने की क्रिया सम्बोध्य देवदत्त के जाने की क्रिया से अथवा यज्ञदत्तविषयक जाने की क्रिया से पृथक् होने के कारण विशिष्ट मानी जाती है फलतः देवदत्त क्रियाविशेषण होने के कारण वाक्य की परिभाषा के भीतर आ जाता है। क्रिया का विशेषण सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य दोनों रूपों में देखा जाता है। शोभनं करोति सुष्ठु करोति जैसे वाक्यों में क्रिया की सुष्ठु आदि विशेषण युक्त रूप में ही प्रतीति होती है। इसलिए करोति क्रिया

---

४९ वाक्यपदीय २।३२७
५० मीमांसासूत्र २।१।४६ महाभाष्यप्रदीप ८।१।१९
५१ पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वार्तिक

का सुष्ठु, शोमन के साय सामानाधिकरण्य है। असत्वभूतक्रिया के विशेषण होने के कारण ही क्रियाविशेषण सदा नपुसक लिंग वाले ही होत हैं। क्रिया के निवत्य होने के कारण क्रियाविशेषण म कमत्व भी स्वाभाविक ही है। प्रजानि दवदत्त म वयधिकरण्य के रूप म विशेषण है। यहा दवन्त और जाने की क्रिया का सामानाधिकरण्य नही है। देवदत्त को आमत्रण करके जान म केवल विना आमत्रण के जान की अपेक्षा आम त्रणपूवक जान वाली क्रिया विलक्षण हो गई है इसलिय आख्यात इस वाक्य म सविशेषण है। कात्येश के अनुसार सविशेषण का अथ साक्षात अथवा परम्परा विशेषण सहित है अत नद्यास्तिष्ठति कूले म समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भतृहरि न वार्तिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है एकतिङ वाक्यम । वार्तिककार के प्रथम वाक्य लक्षण म आख्यात शब्द म एकत्व की अविवक्षा की शका किसी को न होने पाव इसलिय ही वार्तिककार ने 'एक तिङ वाक्यम' पुन कहा है अर्थात दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न माने जाय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि ने तिङतिङ ८।१।२८ सूत्र म अतिङ ग्रहण किया है। इससे जान पडता है कि उनके मन म अनेक तिङन्तपद के रहत हुए भी यदि अथ साकाक्ष है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वार्तिककार और सूत्रकार म यहा मतभेद नही है। वार्तिककार का एकतिङ त्व प्रधानतिङन्त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अत सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वार्तिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नही करत और दोना मुनिया म वाक्यविषयक मतभद मानत हैं।[५२] कुछ लोग अनेक क्रियापदो वाले वाक्यो म भेदाभेद सिद्धान्त को अपनाते ह। पश्य मृगो याति इस वाक्य म दो तिङन्तपद होने के कारण यहा वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का याति पद स और उसका पश्य स योग होन के कारण एक ही वाक्य है अभेद है—

तिङन्ता तरयुक्तेषु युक्तायुक्तेषु वा पुन ।
मृग पश्यत यातीति भेदाभेदौ न (च) तिष्ठत ॥[५३]

क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय म वाक्याथ छ प्रकार के विवचित ह—ससग प्रयोजन ससृष्टि निराकाक्षपदाथ, प्रतिभा और क्रिया। इनम क्रियावाला पक्ष क्रिया वाक्याथवाद के नाम स प्रसिद्ध है। इसक भी कत्रवाक्याथवाद और कमवाक्याथवाद नाम क अवान्तरभेद होते ह। जो लोग आख्यातपद को वाक्य मानत ह उनक मत म क्रिया ही वाक्याथ है। क्रिया के अनुपग स ही पदाथ की प्रतीति होती है। बिना क्रिया के किसी वस्तु क अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नही चलता। जहा एक ही पद निराकाक्ष सत्ता का प्रतिपादक होता है वहा भी है या नही हुआ आदि रूप म अनुभूति होने पर ही वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है। अत ऐसे स्थलो म भी किसी न किसी रूप में क्रियापद का सम्बन्ध अनिवाय है। क्रिया वाक्याथ होने के कारण ही एक

---

५२ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५०
५३ वाक्यपदीय २।४५०

क्रिया दूसरी क्रिया से विशिष्ट होती है, फलत भिन्न होती है। क्रिया के आधार और साधन नियत होते हैं इसी से क्रिया में वैशिष्ट्य आता है। वाक्य में विशेषण (साधनों) के प्रयोग क्रिया के मुख्य रूप के उत्पादन में सहायक होते हैं।[५४]

जब फल पर अधिक दृष्टि रहती है तब क्रिया का प्रयोजन फल होता है। अत: क्रिया फल का अंगभूत हो जाती है। ऐसे स्थलों में ही फलवाक्यार्थवाद का सिद्धान्त अपनाया जाता है। इसे भर्तृहरि ने साध्यप्रयुक्तान्यङ्गानि फलं तस्य प्रयोजकम् (वाक्यपदीय २।४३४) के रूप में व्यक्त किया है।

कर्मवाक्यार्थवाद में भी क्रिया कर्म के लिए होती है। इस दृष्टि से कर्म क्रिया से प्रधान ठहरता है —

पचिक्रियां करोमीति कर्मत्वेनाभिधीयते
पक्ति करणरूपं तु साध्यत्वेन प्रतीयते ॥[५५]

फलवाक्यार्थवाद कर्मवाक्यार्थवाद और क्रियावाक्यार्थवाद एक ही के विभिन्न पहलू हैं। क्रिया मुख्य है। कर्म क्रिया से ही निष्पन्न होता है और फल तो फल है। क्रिया के बिना इनकी सत्ता नहीं है। इसीलिए भर्तृहरि ने क्रियावाक्यार्थवाद को महत्त्व दिया है।

वस्तुत: भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा वाक्यार्थ है। प्रतिभा पर आगे विचार किया जायगा। परन्तु वाक्यार्थरूप प्रतिभा भी क्रियाश्रित ही है। पुण्यराज ने इसकी पुष्टि में निम्नलिखित वाक्यपदीय का श्लोक उद्धृत किया है यद्यपि यह श्लोक छपे वाक्यपदीय में नहीं मिलता —

प्रतिभा यत प्रभूतार्था (प्रभूत्यर्था) यामनुष्ठानमाश्रितम्।
फलं प्रसूयेत यत सा क्रिया वाक्यगोचरः ॥

—वाक्यपदीय २।१ की टीका में पुण्यराज द्वारा उद्धृत।

---

५४ वाक्यपदीय २।४२१
५५ वही २।४३६

५

कालविचार

शक्त्यात्मदेवतापक्षे भिन्नं कालस्य दर्शनम्

—वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश ६२।

आख्यातार्थों में क्रिया के बाद प्रमुख स्थान काल का है। भर्तृहरि ने काल पर विचार एक दार्शनिक की भांति किया है। इनके काल सम्बन्धी अपने स्वतन्त्र विचार हैं जो व्याकरण सम्प्रदाय में प्रसिद्ध नहीं रहे हैं। आगे हम देखेंगे कि इनका काल-दर्शन कश्मीर शैवागम की मान्यताओं से मेल खाता है। परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार भर्तृहरि ने काल सम्बन्धी उन दार्शनिकवादों का भी वाक्यपदीय में संकेत किया है जो उनके समय तक प्रसिद्धि पा चुके थे।

अपने देश में काल सम्बन्धी विचार वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो गये थे। यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि संसार परिवर्तनशील है। रात बीतती है। दिन आता है। शरद, हेमन्त आदि बारी बारी से आते जाते रहते हैं। ग्रह और नक्षत्र अनवरत गतिशील हैं। कोई भी वस्तु अपने आप में क्षण भर स्थिर नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। इस परिवर्तन की अवस्था विशेष के बोध के लिये और अवस्थाओं के पूर्वापरसम्बन्ध ज्ञान के लिये किसी न किसी उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। वह उपाय काल है। वैदिक ऋषियों ने ऋत नाम की एक शक्ति की कल्पना की थी जो सार्वभौम नियम के रूप में थी।[1] ऋतावा (वरुण) यह देखते थे कि सूर्य और चन्द्र, नदियां तथा सभी जन यथास्थान यथावसर अपने अपने व्यापार करते हैं। वरुण कालज्ञ थे। वे बारह महीनों को और उनसे उत्पन्न होने वाले मास (मलमास) को जानते थे —

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते।।[2]

---

१ ऋत शब्द का सम्बन्ध अवेस्ता के अश शब्द से है। अवेस्ता में अश के कई रूप मिलते हैं। अश, अर्श, एरत और अरत। ये सब वैदिक ऋत शब्द के ही रूपान्तर हैं। यह निश्चित सा है कि आर्यकाल में, जबकि भारतीय आर्य और ईरानी आर्य अलग नहीं हुए थे ऋत का ज्ञान पूर्ण रूप में फैल चुका था। अवेस्ता के अरत और वेद के ऋत दोनों का अर्थ अपरिवर्तनीय शाश्वत नियम है।

२ ऋक्संहिता १।२५।८

वत्सर परिवत्सर आदि शब्द तथा भूत भव्य इत्यादि काल भेद द्योतक शब्द ऋग्वेद में मिलते हैं। काल दर्शन के बीज भी ऋग्वेद में हैं। यह कहा गया है कि देश काल आदि पुरुष के ही विकार हैं। सूर्य और चन्द्र पुरुष से ही प्रसूत हैं वसन्त ग्रीष्म शरद् पुरुष की क्रिया है (वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म शरद् हवि)।[3] काल भी पुरुष ही है

पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भव्यम्।[4]

अथर्ववेद में काल परमदेवता के रूप में स्थित है। काल ही स्रष्टा है। काल ही भर्ता है। काल में सब कुछ प्रतिष्ठित है। काल से विश्व का विकास हुआ है —

काले भूतिमसृजत काले तपति सूर्य।
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥[5]
कालादाप समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिश।
कालेनोदेति सूर्य काले निविशते पुन ॥[6]

काल के स्वरूप का विचार उपनिषदों में मिलता है। सभी भाव किसी देश और किसी काल में उत्पन्न होते हैं। अत काल रचना प्रपंच का कारण हो सकता है कि नहीं इसका विचार विमर्श उपनिषदों में मिलता है —

काल स्वभावो नियति यदृच्छा
भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।[7]

पुराणों में काल के देवता स्वरूप का ही अधिक विवरण है। महाभारत में काल पचति भूतानि काल संहरते प्रजा आदि के रूप में अथर्ववेदोक्त काल के अलौकिक महिमा का विवरण पाया जाता है। भर्तृहरि ने इन सब मतों का संकेत अन्यथा मदेवतापक्ष भिन्न कालस्य दर्शनम् इस वाक्य से किया है और ये सब विचार आगे के काल दर्शन के विवरण में पीठिका रूप से उपयोगी हैं।

काल शब्द की व्युत्पत्ति जटिल नहीं है फिर भी प्रकारभेद देखा जाता है। यास्क के अनुसार काल शब्द गत्यर्थक कालय से निष्पन्न हुआ है—काल कालयते गति कर्मण।[8] पाणिनीय धातुपाठ में कल शब्दसंख्यानयो कल क्षेपे कल गतौ संख्याने च इस रूप में कल धातु के कई अर्थ उल्लिखित हैं। क्षीरस्वामी ने कलयत्यायु काल ऐसा कहा है।[9] फिर भी स कला कालयन् सर्वा कालाख्य लभते विभु।[10] कालो

---

३ ऋक्संहिता, पुरुषसूक्त १०।९०
४ वही १०।९०।२
५ अथर्व संहिता १९।५३।६
६ वही १९।५४।१
७ श्वेताश्वतरोपनि द १।२
८ निरुक्त २।२५।१
९ अमरकोश १।१।५६
१० वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश १४

ऽय कलनात्मक [11] 'काल कलयतामह' [12] इत्यादि वाक्यों में इसका प्रयोग गति और सख्यान अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। इसलिये काल शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ गति और सख्यान है। काल के विचार में व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का भी थोड़ा सा प्रभाव है।

न्याय-वैशेषिक के मत में काल

कालसमुद्देश की प्रथम कारिका में भर्तृहरि ने काल के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक दर्शन के मत का उल्लेख किया है। नैयायिक और वैशेषिक काल की बाह्य सत्ता मानते हैं। उनके मत में काल द्रव्य है। काल की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है। पर अपर चिर क्षिप्र आदि लिंगों के द्वारा काल की सत्ता का अनुमान होता है

> काल परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिंगम्। तेषां विषयेषु पूर्व प्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तौ अन्यनिमित्ताभावात् यदत्र निमित्त स काल ।[13]

पर अपर चिर क्षिप्र आदि का ज्ञान आदित्य के परिस्पन्द के द्वारा जाना जाता है। केवल आदित्यपरिस्पन्द को ही काल इसलिए नहीं कह सकते कि काल युगपदादि ज्ञान से भी अनुमेय होता है। केवल आदित्य परिवर्तन में युगपदादि ज्ञान का सम्भव नहीं है। वैशेषिक के मत में काल सभी कार्यों का हेतु है। नित्य है। विभु है। एक है।

नैयायिकों में रघुनाथशिरोमणि काल की पृथक् सत्ता अंगीकार नहीं करते। उनके मत में दिक् और काल ईश्वर के अतिरिक्त नहीं है उनका ईश्वर में ही अन्तर्भाव सम्भव है

> दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्यते मानाभावात्। तत्तत् निमित्तविशेषसमवधानवत् ईश्वरादेव तत् तत् कार्यविशेषाणामुत्पत्तेः ।[14]

किन्तु रघुनाथ शिरोमणि से सैकड़ों वर्ष पूर्व भर्तृहरि ने इस मत का प्रतिपादन भी वाक्यपदीय में किया था जो निम्नलिखित कारिकाओं में स्पष्ट है—

> व्यत्ययवत् स्थिता लोके दिक्कालपरिकल्पना।
> प्रवृत्तिं प्राणिनां तां हि कोऽन्यथा स्थापयिष्यति ॥[15]
> कालविच्छेदरूपेण तदेवैकमवस्थितम्।
> स ह्यपूर्वापरो भाग पररूपेण लभ्यते ॥[16]

---

11 सूर्यसिद्धान्त १।१०
12 भगवद्गीता १०।३०
13 प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ ३३२
14 पदार्थ तत्व निरूपण, पृष्ठ १२
15 वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १८
16 वही काल समुद्देश ४२

सांख्य-दर्शन के अनुसार काल

पातञ्जल-दर्शन में सांख्य-दर्शन के अनुसार जो काल का विवरण है वह वर्तमान समय में उपलब्ध सांख्य के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। हम उसका उल्लेख काल के विचार के प्रसंग पर करेंगे। कुछ आचार्यों के अनुसार सांख्यदर्शन में कालतत्त्व की चर्चा नहीं है। स्वयं वाचस्पति मिश्र भी इस मत के समर्थक ज्ञात पड़ते हैं। उनके मत से सांख्य के आचार्यों ने काल तत्त्व का निर्देश इसलिए नहीं किया है कि जिन उपाधियों के आधार पर काल भेद किया जाता है वे ही उपाधियाँ काल-व्यवहार का काम कर सकती हैं—

> कालश्च वैशेषिकाभिमत एको न अनागतादि व्यवहार भेद प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादि भेद प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाधयो ये अनागतादिव्यवहारहेतव कृतमन्तर्गडुना कालेनेति सांख्याचार्याः।[17]

सांख्य के इस मत का भी वाक्यपदीय में संकेत है। व्यवहार की सुविधा के लिए क्रिया आदि पदार्थ की उपाधि रूप में मान लिए जाते हैं। अभिन्न-काल में व्यवहार सम्भव नहीं है। काल भेद उपाधिकृत होता है। अतः उपाधि ही मुख्य है। काल नाम की किसी वस्तु की बाह्य सत्ता नहीं है। और यदि उसके कल्पित रूप की आवश्यकता होगी भी तो भी उसका स्वरूप बौद्धिक ही होगा। काल का सांख्य-मत के अनुसार बुद्ध्यनुसंहारात्मक है। बुद्धि के द्वारा निरन्तर आदि क्रियाओं का जो समस्तनात्मक काल्पनिक रूप है वही काल है। उसकी बाह्य सत्ता नहीं है—

> कलाभि पचनादीनि प्रविभक्तं स्वभावत।
> केचिद् बुद्ध्यनुसंहारलक्षणं तं प्रचक्षते॥[18]

परन्तु बाद के सांख्याचार्यों ने काल को आकाश की तन्मात्रा का परिणाम मान लिया है जैसा कि 'दिक्कालावाकाशादिभ्य' इस सांख्य सूत्र में स्पष्ट है।

योग-दर्शन में काल

उपर्युक्त सांख्य दर्शन की मान्यता के अनुरूप ही योग दर्शन में भी काल सम्बन्धी विचार हैं। एक परमाणु पूर्व देश को छोड़कर उत्तर देश के साथ जब तक संयोग प्राप्त करता है उस काल को क्षण कहते हैं। क्षण के निरन्तर प्रवाह को क्रम कहते हैं। क्षण और उसके क्रम का समाहार सम्भव नहीं है क्योंकि क्षण अयुगपत् होते हैं। इसलिए बौद्धिक समाहार माना जाता है। वही बौद्धिक समाहार मुहूर्त, अहोरात्र आदि के रूप में जान पड़ता है। काल वस्तुशून्य (अवास्तविक) है। वह बुद्धिनिर्मित है, शब्दज्ञानानुपाती है और भ्रान्तदर्शियों को वस्तु रूप में प्रतिभासित होता है।[19] भर्तृहरि

---

१७ तत्वकौमुदी, सांख्यकारिका ३३

१८ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश ५७

१९ वाक्यपदीय ३, काल समुद्देश ६६

ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है कि जितने क्षण-सन्तान बुद्धि के द्वारा सङ्कलनात्मक-रूप से एक के रूप में गृहीत होते हैं तब तब एक काल होता है। इसी आधार पर मास वर्ष आदि का विभाग समझना चाहिए। क्षण में और मन्वन्तर आदि में भेद केवल यह है कि अपचय का पराकाष्ठागत काल क्षण है और उपचय का पराकाष्ठागत काल मन्वन्तर है। सर्वथा काल भेद बुद्धि भेद पर आधारित है। बाह्य क्रिया के अभाव में भी बुद्धि निवेशिनी क्रिया द्वारा चिर क्षिप्र आदि काल भेद का ज्ञान सम्भव है। योगी प्राणचार की प्रक्रिया से क्षण आदि का परिज्ञान करते देखे जाते हैं। लोक में भी प्राणगति से कालगति की कल्पना होती है। प्राणसंचारमयी क्रिया काल है। इस मत का दार्शनिक आधार जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है यह है कि सभी रूपों की ज्ञान में सङ्क्रान्ति देखी जाती है सभी वस्तुओं का परिज्ञान उनकी बुद्धि में सङ्क्रान्त होने के बाद ही होता है। साथ ही ज्ञान के द्वारा ही उन सब का अनुसंहार अथवा सङ्कलन भी होता है। (ज्ञाने रूपस्य सङ्क्रान्तिः ज्ञानेनैवानुसंहृतिः)।[20] काल की बौद्धिक प्रातिभासिक सत्ता होने के कारण ही काल सापेक्ष रूप में जान पड़ता है। योगवासिष्ठ में काल के सापेक्ष रूप को अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। विरह पीड़ित किसी व्यक्ति का एक दिन भी वर्ष की भांति जान पड़ता है। और ध्यान में लीन व्यक्ति को दिन रात का पता नहीं चलता। काल की लघुता और दीर्घता सर्वथा सापेक्ष हैं (देशदैर्घ्यं यथा नास्ति कालदैर्घ्यं तथाऽगते)।[21] योगवासिष्ठ में काल को सङ्कल्पमात्र माना गया है।[22]

बौद्ध दर्शन में भी काल की बाह्य सत्ता नहीं मानी गई है। उसके अनुसार क्षणिक प्रवाह रूप विज्ञान सन्तति ही काल है।

अद्वैतदर्शन के अनुसार काल

हेलाराज ने अद्वैत मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्मतत्त्व क्रमरहित है। परन्तु अविद्याकृत क्रम रूप में उसका विवर्त होता है और विवर्त देश काल में होता है। कोई भी वस्तु सर्वप्रथम किसी देश और किसी काल में होती है। काल की वास्तविक सत्ता नहीं है। परब्रह्म में अध्यारोपित उसकी प्रातिभासिक सत्ता है। काल के आधार पर जो भेद प्रभेद किए जाते हैं सब अविद्या जन्य हैं। विद्या के आविर्भूत होने पर सभी प्रपंच का विलय हो जाता है। काल का भी विलय हो जाता है। अतः काल के विषय में युक्तायुक्त विचार करने में प्रयासमात्र फल है।[23]

---

२० वही ७८

२१ योगवासिष्ठ ३।२०।२२

२२ विभ्रमकल्पमात्रोऽसौ कालो ब्रह्मणि तिष्ठति—
योगवासिष्ठ ५।४६।४

२३ वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश, टीका ६२

ज्योतिष में काल

ज्योतिषशास्त्रसिद्ध ग्रहों की गति पर अवलम्बित काल-स्वरूप का निर्देश भर्तृहरि ने निम्नलिखित कारिका में किया है—

आदित्यग्रहनक्षत्रपरिस्पन्दसमथापर।
भिन्नमावृत्तिभेदेन कालं कालविदो विदुः ॥[24]

व्याकरण-दर्शन में काल

पाणिनि ने काल सम्बन्धी नियम प्रसिद्ध माने थे। काल का ज्ञान लोक से सहज ही हो जाने के कारण काल विशेष द्योतक अद्यतन आदि शब्दों की परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। फलतः पाणिनि का व्याकरण अकालक कहा जाता था (पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम् काशिका २।४।२१)। परन्तु महाभाष्यकार आदि ने काल पर एक दार्शनिक की भांति विचार किया है। महाभाष्य में काल सम्बन्धी कई तरह के वक्तव्य हैं।

कुछ वैयाकरण मानते हैं कि क्रिया ही काल है। क्रिया में काल का बोध होता है अतः क्रिया को ही काल मान लेना चाहिए (नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानकाला व्यज्यन्ते—महाभाष्य १।१।७०)। इस मत के पोषक कैयट हैं। उनके मत में उस प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया को काल कहते हैं जो अप्रसिद्ध परिमाणवाली दूसरी किसी क्रिया की परिच्छेदिका है —

कालो हि प्रसिद्धपरिमाणाक्रिया अप्रसिद्धपरिमाणस्य क्रियान्तरस्य परिच्छेदिका—महाभाष्यप्रदीप १।१।७०

कैयट ने क्रिया के प्रसिद्ध परिमाण को सूर्यादिकृत भी माना है। दिवसमधीते इस वाक्य में दिवस शब्द से सूर्य की गति क्रिया अभिप्रेत है जो उदय से लेकर अस्त काल तक व्याप्त है। वह क्रिया (आदित्य क्रिया एव च) अध्ययन क्रिया का परिच्छेदक है अतः उसे काल कहते हैं

प्रसिद्धपरिमाणक्रिया सूर्यादिकृता अप्रसिद्धपरिमाणाया क्रियाया परिच्छेदोपाहिता अहरादिव्यपदेश्या काल इत्याहुः।

—महाभाष्यप्रदीप ३।२।८४

इस मत की पुष्टि महाभाष्यकार के भी कुछ वक्तव्यों में होती है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—बाह्यश्च पुनः आस्थातः कालः अर्थात् काल मुख्य से ग्राह्य है। यह उक्ति क्रिया को काल मान कर ही सम्भव है (क्रियैव कालो नातिरिक्तमते इदम्)।[25] प्रसिद्ध परिमाण वाली क्रिया बाह्य क्रियान्तर का परिच्छेदक होती है। इस बाह्यत्व के आधार पर उस क्रिया को बाह्य काल कहा गया है। गोदोहमास्ते—गाय के दोहन

---

२४ वाप० कालसमुद्देश ७२

२५ महाभाष्यप्रदीपोद्योत, अ ६ उ ग

काल तक ठहरता है—इस वाक्य में गोदोह क्रियाविशेष है। उसके काल की इयत्ता अच्छी तरह ज्ञात होने के कारण वह क्रिया प्रसिद्ध परिमाण वाली है। इसलिए वह देवदत्त के ठहरने की क्रिया का परिच्छेदक है। फलतः वह काल है। जहाँ पर बाह्य-क्रिया नहीं है, जहाँ सूर्य संचार अथवा नालिकासृति [काल नापने का यन्त्र] आदि प्रसिद्ध परिमाण बतानेवाले साधन नहीं हैं वहाँ बुद्धिनिवेशिनी क्रिया ही क्रियान्तर का परिच्छेदक हो जाती है। प्राणप्रवाह के आधार पर काल की गणना संभव है। प्राण प्रवाह के आधार पर अधिक बुद्धि के उदय से चिरकाल का और अल्प बुद्धि के उदय से क्षिप्रकाल का परिज्ञान हो जायगा।

यदि क्रिया से अतिरिक्त काल की सत्ता नहीं है तो 'भूता सत्ता' जैसे वक्तव्य कैसे सम्भव है क्योंकि क्रिया स्वयं सत्ता रूप है उसका किसी सत्ता रूप क्रिया से योग संभव नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर स्वयं भर्तृहरि ने दिया है। जिस तरह से 'भूतो घटः' इस वाक्य में सत्तारूप क्रिया की ही भूतता मानी जाती है वैसे ही 'भूता सत्ता' इस वाक्य में भी सत्तारूप क्रिया की ही सत्ता भूत रूप में मानी जाती है। भाव यह है कि भूतो घट में भूतता घट की संभव नहीं है। घट द्रव्य है। द्रव्य का काल से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। साध्य स्वभाववाली क्रिया का करणभूत काल के साथ सम्बन्ध होता है। निष्ठा प्रत्यय के द्वारा धातु वाच्य सत्तारूप क्रिया की भूतता अभि-व्यक्त होती है। वह सत्तारूप क्रिया यहाँ घट में है। इसलिए काल का क्रिया के सम्बन्ध से घट से भी परम्परया सम्बन्ध हो जाता है और घट की भूतता ज्ञात पड़ती है यहाँ द्रव्य और काल का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह 'भूता सत्ता' इस वाक्य में भी धातु वाच्य क्रिया रूप सत्ता अन्य है और प्रातिपदिक पद [सत्ता शब्द] वाच्य द्रव्यमय अन्य है। यहाँ भी धातुवाच्य सत्ता की भूतता के द्वारा ही द्रव्याय-माण सत्ता के भूतत्व की प्रतीति होती है। इसलिए क्रिया को काल मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। सत्ता नित्य है। फिर भी आश्रय भेद से उसमें भेद मान कर भूत वर्तमान आदि विभागभेद की व्यवस्था भी सम्भव है।

कुछ वैयाकरण काल को क्रिया से भिन्न मानते हैं और काल को क्रिया का परिच्छेदक मानते हैं। क्रिया अनेकक्षण का समाहाररूप है। क्षण युगपत् नहीं होते। क्रम से होते हैं। इसलिये क्रिया सक्रमा होती है। क्रम काल का धर्म है। अक्रम सक्रमा क्रिया काल शक्ति से अनुगृहीत होती है। दो क्रियाओं का उदय और अन्त समान होते हुये भी एक चिर से सम्पन्न होती देखी जाती है और दूसरी क्षिप्र सम्पन्न होते देखी जाती है। यह विलक्षण परिच्छेद बिना किसी उपाधिगत सम्बन्ध के सम्भव नहीं है। क्रिया में आश्रयभेद से भेद होता है। अतः एक क्रिया चिरता और क्षिप्रता की प्रतीति का कारण नहीं हो सकती। आश्रयभेद से भेद होने के कारण उसमें भेद की अनुवृत्ति हो जाया करेगी। जिसमें भेद की अनुवृत्ति होती है वह अभिन्न व्यपदेश का हेतु नहीं हो सकता। इसी आधार पर अन्य द्रव्य भी यहाँ निमित्त नहीं हो सकता। उसमें भी भेद होता है। आकाश भी निमित्त नहीं हो सकता। उसमें भी भेद की अनुवृत्ति होती है। अतः इस विलक्षण परिच्छेद का जो निमित्त है वह काल है। जिस तरह से तुला

जैसे स्वर्ण रजत आदि द्रव्य की गुरुता को पल आदि के रूप में परिच्छिन्न करता है उसी प्रकार काल भी अपनी शक्ति से सभी पदार्थों को विभाग के लिए पर्याप्त रूप में परिच्छिन्न करता है।

क्रिया भेद के परिच्छेदक होने के कारण ही काल हायन [संवत्सर] कहा जाता है। हायन का अर्थ है क्रिया का त्याग (जहाति क्रिया इति हायन)। हायन शब्द व्रीहि का भी वाचक है क्योंकि व्रीहि भी सब प्रकार के उत्पन्न करने का त्याग करता है। इसलिए काशिकाकार जयादित्य (गुरु जयादित्य)[25] ने ब्रीहि के अर्थ को हायन कहा है (ओहाक्त्यागे ... व्रीहयो हायना हायनाः — पदमञ्जरी ३।१।१४८)। पाणिनि ने भी ३।१।१४८ सूत्र के द्वारा हायन शब्द की सिद्धि व्रीहि और काल दोनों अर्थ में अभिप्रेत की है।[26] जिस प्रकार ... व्रीहि का उपचार होता है उसी प्रकार सहगामी क्रियाओं से काल भाव का उपचार करता है।

वितस्ति-प्रभृति क्रिया के भीतर आ जाता है। इसका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। ... प्रस्थ परिमाण ... आदि ...। वितस्ति आदि ... विभाग के ... वस्तु के परिच्छेदक होते हैं। इन्हें प्रमाण कहते हैं। प्रस्थ ... आढक आदि ... और परिमाण के द्वारा धान्य आदि के परिच्छिन्न होते हैं। इन्हें परिमाण कहते हैं। निष्क पल आदि गुरुत्व आदि के गुरुत्व के परिच्छेदक होते हैं। इन्हें उन्मान कहते हैं। ये सब मूर्तिभेद के लिए माने जाते हैं। परन्तु काल क्रिया का परिच्छेदक है। यह क्रिया के भेद के लिए है (क्रियाभेदाय कालस्तु)।[27] सूर्य आदि ग्रहों की रफ्तार क्रिया काल से मापी जाती है। उस मान को मास संवत्सर आदि के द्वारा व्यक्त करते हैं। परिच्छेद की दृष्टि से संख्या और काल में यह भेद है कि काल केवल क्रिया का परिच्छेदक होता है जब कि संख्या मूर्त अमूर्त सब की परिच्छेदिका है। जैसे द्वौ घटौ। बहुत्व ... मासमान। द्वे ... वितस्ति। द्वौ हस्तौ। चत्वार प्रस्था। पञ्च पलानि। संख्या संख्या की भी परिच्छेदिका है जैसे दो बीस (द्वे विंशती) पाँच पचास (पञ्च पञ्चाशत)।

सभी पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति और उनके विनाश देखे जाते हैं। पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति आदि का अलग अलग रूप काल के आधार पर ही संभव है। पदार्थ किसी न किसी काल में उत्पन्न होते हैं। किसी न किसी काल में स्थित होते हैं और किसी न किसी काल में विनष्ट होते हैं। इसलिए जन्मादि अवस्था वाले पदार्थों का निमित्तकारण काल है। फलतः जन्मादि क्रिया का परिच्छेदक है। यद्यपि वह एक है फिर भी उपाधिभेद से भेद प्राप्त करता है और संसर्गी क्रियाओं में भेद करता है।

२५अ कुरुजांगल जनपद पृथूदक (वर्तमान पिहोवा) के दक्षिण पश्चिम में था। आज कल का हरियाना कुरुजांगल है। हांसी, हिसार, फतहाबाद सिरसा आदि इसी में है।

२६ काशिकाकार ने काल के अर्थ में हायन शब्द की व्युत्पत्ति जिहीते से की है—जिहीते भावान् इति। इसकी व्याख्या हरदत्त ने की है—भावा पदार्था तान् जिहीते गच्छति परिच्छेदकत्वेन यातीत्यर्थ —पदमञ्जरी ३।१।१४८

२७ वाक्यपदीय कालसमुद्देश २

समय होता है। मास आदि भेद व्यवहार और भूत आदि व्यपदेश संसर्गिभूयादि क्रिया के भेद से होते हैं।[२८]

जिस तरह से द्रव्य न तो शुक्ल है और न कृष्ण है फिर भी संसर्गि गुण के कारण शुक्ल और कृष्ण आदि रूप में व्यक्त होता है उसी तरह काल भी भेद अभेद से अनिर्वाच्य है। उत्पत्ति आदि क्रिया के सम्बन्ध के कारण काल को उत्पत्तिकाल स्थितिकाल विनाशकाल जैसे भेद व्यवहार शब्द में व्यवहृत करते हैं। वस्तुतः भर्तृहरि के अनुसार भेद अभेद, एकत्व अनेकत्व आदि किसी के भी स्वाभाविक नहीं होते। इसीलिए कहा है—'न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः' इति।[२९]

महाभाष्यकार ने काल की एक परिभाषा यह दी है—

येन मूर्तीनाम् उपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुः।[३०] तृण तरु लता आदि का कभी उपचय देखा जाता है और कभी अपचय। पदार्थों के इस वृद्धि-ह्रास से काल का अनुमान होता है। उपचय और अपचय काल कृत हैं।[३१] उसी काल का किसी क्रिया से सम्बन्ध होने पर दिन और कभी रात्रि आदि नाम पड़ता है। वह क्रिया भाष्यकार के अनुसार आदित्यगति है। यद्यपि आख्यात से क्रिया की अभिव्यक्ति सदा निवृत्तभेद रूप में ही होती है और इसलिए क्रिया एक मानी जाती है फिर भी आदित्य आदि साधन भेद से क्रिया भिन्न भिन्न ही होती है। काल का उपर्युक्त स्वरूप भी काल क्रिया का भेदक है इस पक्ष की परिपुष्टि करता है।

परन्तु नागेश इस मत से सहमत नहीं है। उनके मत में काल को क्रिया का भेदक मानने पर क्रिया में क्षण—उपाधि सम्भव नहीं है। उत्तरदेश-संयोगावच्छिन्न क्रिया को मानने पर भी क्रिया के विशेषण विशेष्य और सम्बन्ध रूप में होने के कारण तीनों के स्थिर रहने के कारण उसके लिये क्षण का व्यवहार असम्भव है। नागेश ने क्रिया ही काल है इस पक्ष में भी यह दोष दिखाया है। साथ ही अप्रसिद्धपरिणामी क्रिया को काल मानने में नागेश के अनुसार अनवस्था भी है। यदि क्रिया से काल को अतिरिक्त माना जाय तब भी काल को अखण्ड न मान कर उसे क्षण पदार्थ के रूप में मानना चाहिए। क्षणों के प्रचय से मुहूर्त आदि व्यवहार की उपपत्ति हो जायगी।

आद्यपक्षे क्षणोपाधेर्निवक्तुमशक्यत्वम्। उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियेति चेत् तस्या विशेष्यविशेषणसम्बन्धरूपत्वे त्रयाणामपि स्थिरत्वात् क्षणव्यवहारनियाम

---

२८ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश ३

२९ मत के अनुसार यह वाक्य वाक्यपदीय का है। परन्तु अब तक की प्रकाशित वृत्ति में यह वाक्य नहीं है। इसे कहीं न कहीं होना चाहिए। इस वाक्य का उल्लेख हेलाराज ने सम्बन्ध समुद्देश ५२ की टीका में किया है।

३० महाभाष्य २।२।५

३१ इस मत को भर्तृहरि ने निम्नलिखित कारिका में व्यक्त किया है—
मूर्तीनां तेन भिन्नानामाचयापचयाः पृथक्।
लक्ष्यन्ते परिणामेन सर्वासां भेदयोगिना॥ कालसमुद्देश १२

> [illegible] । परिनिष्ठितो निवृत्तो विनिष्ट [illegible] इति तत्र प्रयत्नेन [illegible] विनश्यतेव तेन ।
>
> किञ्च प्रतिद्वन्द्वि[illegible] [illegible] परि [illegible] [illegible] ।[22]

[illegible] कहा जाता है और [illegible] प्रामाणिक [illegible] [illegible] को भी [illegible] लिया है

> प्रकृत परिणामस्य विनाश [illegible] विभो [illegible] [illegible] नाम स्यात् । [illegible] परिणाम एव विनाश नाम ।[23]

[illegible] और [illegible] में प्रमाणित है । उसी [illegible] शब्द की [illegible] व्याकरण सम्प्रदाय में प्रसिद्ध [illegible] के विरुद्ध है । [illegible] में [illegible] अपने भाष्य के [illegible] को [illegible] कर [illegible] किया है । [illegible] उपयुक्त सभी [illegible] ही [illegible] हैं । [illegible] [illegible] में [illegible] भी है । परन्तु क्षण भी क्रिया [illegible] के भीतर है । जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है क्रिया [illegible] के लिए काल की [illegible] अनिवार्य है । व्याकरण की दृष्टि से अतिप्रभूत, भविष्यति [illegible] क्रिया [illegible] को बिना काल के [illegible] के समझाया ही नहीं जा सकता ।

भर्तृहरि का काल-दर्शन

काल स्वातन्त्र्य-शक्ति है

भर्तृहरि के मत में काल शक्तिविशेष है ।

स्वातन्त्र्य शक्ति को काल कहते हैं ।

स्वातन्त्र्य रूप काल शक्ति के आश्रय से जन्मादि षड्भावविकार विश्व के विकास में सहायक होते हैं । काल शक्ति लोकयन्त्र का सूत्रधार है । काल विश्वात्मा है—काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते ।[24] भर्तृहरि के अनुसार सत्य भाव परमब्रह्म है । उसमें नानाशक्ति योग समाविष्ट है । उस शक्ति योग द्वारा भावों की सत्ता को वह बिखेरता है (कालयति) इसलिये उसे काल कहते हैं । अपनी कर्तृ शक्ति के कारण काल शक्ति को स्वातन्त्र्यशक्ति कहते हैं ।[25] हेलाराज ने भर्तृहरि के काल विचार का निष्कर्ष दो बार स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में व्यक्त किया है —

---

२२ महाभाष्य प्रदीपोद्योत ३।२।८४ और मंजूषा, पृष्ठ ८४७

२३ मंजूषा पृष्ठ ८८६, ८४०

२४ वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६२

२५ वही, १४

अतएव स्वातन्त्र्यशक्ति काल इति वाक्यपदीये सिद्धान्तितम् ।[३६]

तथा

कालाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मण इति तत्रभवदमत हरेरभिप्राय ।[३७]

भर्तृहरि ने स्वयं भी काल को स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में उल्लेख किया है —

कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वा परतन्त्रा जन्मवत्य शक्तय समाविष्टा काल शक्तिवृत्तिमनुपतन्ति । ततश्च प्रतिमाव वश्वरूपस्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्या शक्त्यवच्छेदेन क्रमवानिवावभासोपगमो लक्ष्यते । सर्वेषां हि विकाराणां कारणान्तरेष्वप्यपेक्षावत्ता प्रतिबन्धजन्मनामाभ्यनुज्ञयासहकारिकारणकाल ।

—वाक्यपदीय १।३ हरिवृत्ति लाहौर संस्करण

भर्तृहरि के अनुसार कालशक्ति की सहकारिणी कई अवान्तर शक्तियाँ है। वाक्यपदीय मे प्रतिबन्धशक्ति, अभ्यनुज्ञाशक्ति, क्रमशक्ति, समवायशक्ति और जराख्या शक्ति का उल्लेख है। इनमे प्रथम दो महत्त्वपूर्ण है।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्ति

किसी क्रिया के साधनशक्तियो के व्यापार का विघात प्रतिबन्ध है और इसके विपरीत अभ्यनुज्ञा है। कोई शक्ति प्रतिबन्ध करती है और कोई प्रतिबन्ध को हटाती है। ये व्यापार सर्वत्र होते हैं। जैसे किसी एक वृक्ष में पहले किसलय की अभ्यनुज्ञा और पल्लव का प्रतिबन्ध होता है। पुन किसलय का प्रतिबन्ध और पल्लव की अभ्यनुज्ञा होती है। भावो का स्थगन और उन्मज्जन जन्म और नाश इन दो शक्तियो से परिचालित है। पौर्वापर्य का ज्ञान इन्ही शक्तियो की क्रिया है। काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के द्वारा विश्व को विभक्त करता है।

भर्तृहरि के अनुसार यदि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा अपने व्यापार न करें तो भावो की युगपत उत्पत्ति होने लगे बीज अकुर नाल, काण्ड आदि मे पौर्वापर्य क्रम विच्छिन्न हो जाय और सर्वत्र साकर्य छा जाय।[३८] सर्ग, स्थिति और प्रलय भी कालकृत प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के वश से होते है।

अतीत और अनागत भी क्रमश प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के ही पर्याय है।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा मे विरोध नही है। दोनो एक ही शक्ति से परिचालित हैं। वाक्यपदीयकार ने इसे स्पष्ट करने के लिये शकुन्त-तन्तु का उदाहरण दिया है। पहले कभी ऐसा होता था कि बहेलिये किसी छोटे पक्षी को सूत्र मे बाध देते थे। यथावसर उन्हे उडाते थे फिर सूत्र खीच लेते थे। पक्षी उतनी ही दूर तक उड सकते थे जितनी सूत की लम्बाई होती थी। उनका उडना और उनका पुन वापस आना सूत

---

३६ हेलाराज वही

३७ हेलाराज वाक्यपदीय कालसमुद्देश ६२

३८ वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६

के विस्तार और सकोच पर स्थित था। कल्पित [illegible] के प्रमाण के लिए इस तरह के व्यापार करते थे। सूत के विस्तार की तरह अभ्यनुज्ञा शक्ति है और सूत के सकोच की तरह प्रतिबन्ध शक्ति है। भावों की स्थिति का काल है। इसी से जो भाव शक्ति को कुण्ठित करता है वह [illegible] उद्भूत भी करता है। काल सूत्र से बंधे हुए सभी पदार्थ सकोच विकास उत्पत्ति और नाश का अनुभव करते हैं। काल रूपी प्रवाह (डोरे) के भीतर सम्पूर्ण विश्व पड़ा हुआ है। वह उसमें उगता है विकसित होता है और विनाश भी होता है।

जराख्याशक्ति

जराख्या शक्ति प्रतिबन्ध शक्ति का ही एक रूप है। भर्तृहरि ने [illegible] में इस विचार का प्रतिपादन किया है। यह भावों के यौवन को कुण्ठित करने वाली जरा शक्ति विनाशक मानी जाती है और शक्ति विरोधी दूसरे जन्म के दोष का कारण होती है—

जराख्या काल शक्तियाँ [illegible] विरोधिनी।
सा शक्ति प्रतिबध्नाति जायते च विरोधिनि ॥[39]

स्थिति भाग [जन्म के बाद वाली दूसरी अवस्था] में हेतु जरा शक्ति के आगमन से ह्रस्व लगते हैं और भावों में कार्यकारिता शक्ति प्रक्षीण होने लगती है।

क्रम शक्ति

क्रमाख्या शक्ति उस शक्ति को कहते हैं जिसके आधार से उपसंहृत वस्तु अपने अवयवों में फिर से अभिव्यक्त होती है। भर्तृहरि ने क्रमशक्ति का उल्लेख शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के प्रसंग में भी किया है। अन्तःकरणस्थ शब्द में उसके विभाग प्रत्यस्तमित रहते हैं, लीन रहते हैं। विवक्षा होने पर उस आन्तर शब्द में पद वाक्य आदि के विवर्त के रूप में प्रत्येक अवयवों का विकास होता है परन्तु यह क्रम से ही होता है। अवयवों का क्रम से अवभास होना ही क्रमाख्या शक्ति का काम है। क्रम से उदय और क्रम से प्रत्यस्त होना दोनों ही उसकी क्रिया है। वस्तुतः क्रम क्रिया का धर्म है—

क्रमाख्या शक्तिम्। यतस्तेऽवयवा क्रमेणावभासमुपगच्छन्ति।
तेषामवयवानां च क्रमेणोदयप्रत्यस्तमयप्रत्यवभासः सैवास्य क्रिया।[40]

भर्तृहरि ने इस क्रमशक्ति को काल की मीमांसा में भी अपनाया है। काल विश्वात्मा है। उसमें विश्व का विकास होता है। वह विकास भी क्रम शक्ति के

---

३९ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश २४
४० वृत्ति, वाक्यपदीय १।५२ टीका, लाहौर संस्करण

आधार पर होता है। काल की शाश्वत वृत्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा से लक्षित होती है। काल वृत्ति में विश्व क्रमवश में विभक्त होता है। वह विभाग क्रमिक होता है। क्रम मुख्यतः क्रिया का धर्म है पर क्रिया भी काल के सम्बन्ध से ही अपना स्वरूप पाती है। इसलिए काल में भी क्रम है। भाव सतत परिणामी हैं। उनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। उस परिवर्तन का आधार भी क्रम ही है। काल ही क्रम का रूप धारण कर लेता है—

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम्॥[४१]

अदृष्टवश से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। परमाणुओं के परस्पर मिलन से द्वणुक आदि बनते हैं और उनके द्वारा सभी पदार्थ स्वरूप प्राप्त करते हैं। इन सभी व्यापारों में क्रमाख्य काल शक्ति का हाथ रहता है— "अत्र च सर्वत्र क्रमाख्या कालशक्ति स व्यापारे यथायत् क्रमेयम्।"[४२] कुछ लोग मानते हैं कि विश्व अपने मूल रूप में अक्रम है। वह ब्रह्म का विवर्त है। काल ब्रह्म की शक्ति है। वह अविद्या का सहकारी है। अविद्या के कारण अक्रम क्रमवान सा होने लगता है। क्रम के अध्यास से ही कालभेद का भान होता है। फलतः क्रम को ही काल कहते हैं। निमेष आदि भी सूक्ष्म क्रम रूप काल से परिच्छिन्न हैं। अतः सभी भावों में क्रमाख्या कालशक्ति सूक्ष्म रूप से अनुस्यूत है। सभी प्रकार के संवित् क्रम से अनुप्रमाणित रहते हैं। पश्यन्ती स्वरूप संवित् क्रम का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्त होता है—

अक्रमा हि पश्यन्ती रूपा संवित् प्राणवृत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्तीति कृतनिर्णयं वाक्यपदीये शब्दप्रमाणायामस्माभिः।

—हेलाराज कालसमुद्देश ६२

समवाय शक्ति

काल के प्रसंग में समवाय शक्ति का आदि क्रिया के विश्लेषण में व्यवहृत हुई है। समवाय शक्ति वह शक्ति है जो कारण और कार्य के भेद को तिरोहित करती है। इस शक्ति के साहचर्य से कारण और कार्य अभिन्न से लगने लगते हैं। भर्तृहरि के अनुसार विशिष्ट काल के सम्बन्ध से परिपाकप्राप्त शक्तियों में नित्य क्रिया अभिव्यक्त होती है। सामान्यभूत प्रवृत्ति क्रिया है। परमाणुओं में कार्यजनक शक्ति के अभिमुख होने से परस्पर संश्लेष होता है अथवा मूल तत्त्व में प्रेरणामय कम्प विशेष अभिव्यक्त होता है। उसमें किसी अद्भुत शक्ति के द्वारा फल की अभिव्यक्ति होती है। फल व्यक्ति (कार्य) और उसके कारण में एकत्व की सी बुद्धि समवाय शक्ति से होती है—

---

४१ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश २०

४२ हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश २०

> सास्तु समवायाख्या शक्तिर्भेदस्य बाधिका ।
> एकत्वमिव सा व्यक्तीरापादयति कारणम् ॥[४३]

इन सब व्यापारों से जन्म की अभिव्यक्ति होती है और जन्म भी काल का ही व्यापार है। इसी तरह से स्थिति भी काल परतन्त्र है। ये सब काल की अभ्यनुज्ञा शक्ति के भीतर आ जाते हैं।

उपर्युक्त सभी शक्तियाँ स्वातन्त्र्यशक्ति रूप काल की ही मायायें हैं।

स्वातन्त्र्यशक्ति और कर्तृशक्ति

भर्तृहरि ने स्वातन्त्र्य शक्ति और कर्तृ शक्ति में कोई भेद नहीं माना है। ब्रह्म की यह शक्ति क्रम रूप पाकर काल शक्ति के रूप में व्यक्त होती है—

> अभ्याहितकला (अभ्याहता कला) यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता।
> तस्य क्रमवद्भि स्वातन्त्र्य कर्तृशक्ति प्रविभज्यमाना विकार मात्रागत भेदस्य सत्राध्यारोपयति। —वाक्यपदीय १ ३ हरिवृत्ति
>
> वृषभ ने भी स्वातन्त्र्य को कर्तृ शक्ति के रूप में ग्रहण किया है —
> (स्वातन्त्र्य कर्तृ शक्ति । पदार्थनिष्पादनोपसंहारयोग्या कर्तृ शक्ति)।[४४]

भर्तृहरि का कालदर्शन और कश्मीर शैवागम में काल

भर्तृहरि की काल शक्ति की कल्पना कश्मीर शैवागम में गृहीत काल स्वरूप से बहुत दूर तक मेल खाती है। भर्तृहरि जिस तरह से काल को द्रव्य नहीं मानते उसी तरह शैवागम में भी काल द्रव्य नहीं है। भर्तृहरि जिस तरह क्रम को काल का धर्म मानते हैं उसी तरह शैवागम में भी क्रम को क्रिया का सर्वस्व कहते हुए काल का आधार माना गया है। क्रम को आभासित करने वाली भगवान की शक्ति काल शक्ति है। वैयाकरणों की तरह कश्मीर शैवागम में भी सूर्यादिसंचार रूप प्रसिद्ध परिमाण वाली क्रिया को अन्य अप्रसिद्ध क्रियाओं का परिच्छेदक माना गया है और नावा के अवच्छेदक होने के कारण उसे काल माना गया है। इस मत में अनवस्था दोष, जैसा कि नागेश ने बताया है, बताना ठीक नहीं है। अभिनव गुप्त ने अनवस्था दोष का परिहार करके प्रतिवर्तक के दृष्टान्त से किया है। प्रतिवर्तक (सोने को नापने के लिए सोने की ही मासे जैसी वस्तु) से सोना नापा जाता है। एक मासे स्वर्ण का जो परिच्छिन्न रूप है वह स्वर्ण के रूप से भिन्न नहीं है। मास (प्रतिवर्तक) में जो स्वर्ण है वह उपलक्ष्य मात्र है न कि प्रतिवर्तकगत स्वर्ण परिच्छेद्य स्वर्ण में जाकर मिलता है अथवा आरोपित होता है। इसी तरह सूर्यादिसंचार की क्रिया उपलक्षण रूप में है। वसन्त काल में क्रम के दर्शन कोरक, मुकुल, पिकस्वर आदि विचित्र परिवर्तनों में हो सकते हैं। सूर्य की गति तो उपलक्षण मात्र है। फलतः अन्योन्याश्रय और अनवस्था जैसे दोष प्रसिद्ध

---

४३ वाक्यपदीय कालसमुद्देश ३८
४४ वाक्यपदीय टीका १।३ पृष्ठ ११ लाहौर संस्करण

या नियत परिणाम वाली क्रिया के पक्ष म नहा सम्भव है (अनवस्थादि च कनक-प्रतिवतकवृत्तातेन कृतसमाधानमेव)।[४५] सूर्याभ्गित जा नियत स्वभाव भेद है वह क्रम है और वही काल है। अभिनवगुप्त के अनुसार सभी दशना के कालस्वरूप का अन्तर्भाव क्रम-दशन म हो जाता है। वैशेषिका का द्रव्य रूप काल परत्व अपरत्व आदि के द्वारा क्रम मय है। सांख्य दर्शन मे काल रज स्वभाव है और रजोगुण प्रवत क के रूप मे क्रम मय ही है। वैयाकरणा का काल स्वरूप नित्य अनाश्रित ? (आश्रित) प्रवृत्ति स्वभाव है और प्रवृत्ति क्रमाश्रित हाती है। बौद्धा का भी सन्तान प्रवाहमय काल क्रम स सवथा रहित नहीं है—

> तेन सूर्यसञ्चारादिभि योऽन्यो लक्ष्यते प्रवहण धर्मा चिरक्षीप्रतायसकीण भावस्वभावोत्थापको वैशेषिकाणा द्रव्यरूप, कापिलाना रज स्वभाव प्रवतना त्मकत्वात्, वैयाकरणाना नित्यानाश्रितप्रवृत्तिस्वभाव, सौगताना सन्तयमान भावरूपरमाथ, सोऽपि वस्तुत क्रमरूपता न अतिक्रामतीति क्रम एव नाम बहि काल इति व्यवहृयते।
>
> —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीयभाग पृ० ५

भर्तृहरि की स्वातन्त्र्य शक्ति और कश्मीर शवागम म गृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति भी समान है। दाना दशना म वह काल का दूसरा नाम है। एक म वह ब्रह्म की शक्ति है और दूसर म परमेश्वर की।

शवागम म भगवान की इच्छाशक्ति का नाम स्वातन्त्र्य शक्ति है। (स्वतन इति तस्येच्छा शक्ति स्वातन्त्र्यमनिता)[४६]। प्रकाश और विमश भी स्वतन्त्र के रूप म गृहीत हाते ह। शवागम म प्रकाश ज्ञान का और विमश क्रिया का प्रतीक है। स्वातन्त्र्य शक्ति भगवान की कर्तृ शक्ति है। भगवान म जब अपने आपको अथवा अपन अन्तःयवस्थित विश्वात्म रूप भाव जगत का अवभासित करने की इच्छा होती है भगवान की कत शक्ति निर्माण करन वाली माया शक्ति क सम्बन्ध म काल-क्रम के रूप म अवभासित होने लगती है। अपने आप को इस तरह स प्रकाशित करने की परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति कालोत्थापक होन के कारण उसकी काल शक्ति कही जाती है। वही स्वातन्त्र्य शक्ति प्रमाता प्रमेय आदि रूप म क्रिया के आधार से विस्तार पाता है। क्रिया प्रधान रूप स प्रतिभासित होती हुई भी काल शक्ति से अनुविद्ध हाती है। सवथा काल शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति का ही रूप है

> यस्या परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्ते, सा कालोत्थापकत्वात् भगवत कालशक्ति रिति उच्यते, अ याहतकला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता इत्यादौ।[४७]

अभिनवगुप्त ने यहा स्वातन्त्र्य शक्ति क सम्बन्ध म अपन वक्तव्य की पुष्टि के लिय वाक्यपदीय की कारिका उद्धत की है। यह इस बात का प्रमाण है कि दोनों दशना

---

४५ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृष्ठ ५

४६ अभिनवगुप्त, मालिनीविजय वार्तिक ८७

४७ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी तृतीय भाग, पृष्ठ ८

में काल का स्वरूप एक सा है और स्वातन्त्र्य शक्ति भी एक ही है।

भर्तृहरि के स्वातन्त्र्यशक्ति में और शैवागमगृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति में यदि अन्तर है तो यह कि शैवागम में स्वातन्त्र्यशक्ति कई विभिन्न रूपों में उपचरित है जब कि भर्तृहरि ने इस पर विशेष चर्चा नहीं की है और उसका स्वरूप भी अपना कृत सीमित है। दूसरा अन्तर यह है कि शैवागम में स्वातन्त्र्यशक्ति का सम्बन्ध परावाक् से है—

> चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता
> स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥[४८]

जब कि भर्तृहरि परावाक् की सत्ता स्वीकार नहीं करते। यदि वाक् से स्वातन्त्र्यशक्ति रूप काल का सम्बन्ध जोड़ भी जाय तो पश्यन्ती के साथ जोड़ना उचित होगा जैसा कि हेलाराज ने किया है

> अस्मा हि पश्यन्तीरूपा सवित प्राणवत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमैव चकास्ति।[४९]

स्वातन्त्र्य शक्ति का मूल स्रोत क्या है? महाभाष्य में स्वातन्त्र्य शक्ति जैसी किसी शक्ति का संकेत नहीं है। शैवागम के जितने लेखक सम्प्रति ज्ञात हैं वे सब भर्तृहरि के बाद हुए हैं। परन्तु यह कल्पना किसी न किसी आगम की हो जान पड़ती है। बहुत सम्भव है शैवागम की परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन हो। भर्तृहरि आगमों से अधिक प्रभावित थे और व्याकरणदर्शन को भी आगम मानते थे।

कुछ लोग स्वातन्त्र्यशक्ति का मूल उद्भावक पाणिनि को मानते हैं।[५०] उनके मत में इसका आधार पाणिनि का 'स्वतन्त्रः कर्ता' १।४।५४ यह सूत्र है। स्वतन्त्र शब्द से अपने आपका प्राधान्य अभिव्यक्त होता है (स्व आत्मा तन्त्रं प्रधानं यस्य स स्वतन्त्र उच्यते। महाभाष्यप्रदीप १।४।५४)। स्वातन्त्र्य शक्ति में भी अपनी इच्छा का अविघात और आत्म प्राधान्य है। फिर भी व्याकरण सम्प्रदाय में कर्ता के स्वातन्त्र्य को न तो शक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है और न उसका सम्बन्ध काल से जोड़ा गया है। स्वयं भर्तृहरि ने भी स्वतन्त्र कर्ता की व्याख्या में स्वातन्त्र्यशक्ति का संकेत नहीं किया है। स्वयं पाणिनि ने स्वातन्त्र्य को प्रयोजक हेतु के अर्थ में भी लिया है और 'अलंकरणयाम्न्यतायां' ३।३।१९ जैसे सूत्रों में उसे साधन के रूप में भी व्यवहृत किया है।

काल एक, नित्य और विभु

काल व्यापक है। पर अपर, चिर क्षिप्र आदि का ज्ञान सब को सब देश में समान होता

---

४८ वही पृष्ठ १८७
४९ वाक्यपदीय कालसमुद्देश ६२ की टीका
५० डा० के० सी० पाण्डेय, एन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलासफीकल स्टडी आफ अभिनवगुप्त, पृष्ठ २०३-२०४

है इससे काल की व्यापकता स्पष्ट है। काल अमूर्त है। अमूर्त है। अत नित्य है। वह एक है। उसमें भेद कल्पित है।

महाभाष्यकार ने काल को नित्य माना है (नित्ये हि कालनक्षत्रे—महाभाष्य ४।२।३)। काल को नित्य और एक मानने में एक कठिनाई सामने रही होगी। पाणिनि ने ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत १।२।२७ इस सूत्र में कालभेद का सकेत किया है। महाभाष्यकार ने भी द्रुता मध्यमा और विलम्बिता वृत्तियों के सम्बन्ध में काल भेद का उल्लेख किया है।[51] ह्रस्व के उच्चारण में नालिकायन्त्र से जलबिन्दु अल्पमात्रा में चूते हैं दीर्घ के उच्चारण में उससे अधिक और प्लुत के उच्चारण में उससे भी अधिक चूते हैं। इनमें ८ १२ १६ पानीयपल का आनुपातिक सम्बन्ध माना जाता है। अब यदि काल के काल्पनिक भेद के आधार पर ह्रस्व आदि में भेद की कल्पना की जाय तो यह उचित नहीं है। क्योंकि सलिल स्रुति का यथार्थ सत्ता है एक कल्पित वस्तु का यथार्थ वस्तु में अन्वय सभव नहीं है। भाव यह है कि कल्पना के आधार पर ह्रस्व आदि में काल्पनिक भेद मानने पर जल स्रुति के प्रकर्ष को एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक पानीयपल के चूने का—समझाना कठिन हो जायगा। जो लोग शब्द को नित्य मानते हैं वे ह्रस्व आदि में काल्पनिक भेद ही स्वीकार करते हैं। जिस तरह यह शीघ्र किया यह देर में किया इन दोनों ज्ञान के समानकाल वाले होने पर भी विषयगत विस्तार अथवा अविस्तार के आधार पर काल भेद प्रतिभासित होता है उसी तरह से शब्द के नित्य होने के कारण समानकाल होने पर ह्रस्व आदि में कालभेद उपचरित होता है। अब कालभेद उपचरित मानने पर ह्रस्व आदि के उच्चारण समय जो पानीयपलों में अन्तर देखा जाता है वह नहीं होना चाहिए। पर होता है। इससे जान पड़ता है कि ह्रस्व आदि स्वभावत भिन्न भिन्न काल वाले हैं। फलत शब्द की नित्यता में व्याघात पहुँचता है। इस कठिनाई का समाधान भर्तृहरि ने किया है। उनके अनुसार शब्द का तत्त्व अभिन्न है वह प्रचित या अपचित नहीं होता। अभिव्यक्ति के निमित्त ध्वनिकृत कालभेद उसमें आभासित होता है। प्राकृत ध्वनियाँ स्वगत कालभेद को शब्द में भी प्रतिबिम्बित करती हैं। अर्थात् व्यजक का धर्म व्यग्य में जान पड़ता है। फलत कालभेद से सलिलस्रुति में भी उपचय अपचय का ज्ञान भेद जान पड़ेगा ही। इससे शब्द की नित्यता में बाधा नहीं पड़ती। वैकृतध्वनि जनित भेद शब्द का भेदक नहीं होता। ह्रस्व दीर्घ आदि शब्दधर्म सर्वथा व्यजकाधीन है—

> वैकृतध्वनिजनितस्तु वृत्तिभेदो न भेदक इति निर्णीतमेव पूर्वकाण्डे। वक्ष्यते चाग्रे "सर्वश्च ह्रस्वदीर्घानुनासिकत्वादि धर्मव्रात शब्दात्मनि व्यजकाधीन" इति।[52]

सर्वथा काल भेद औपाधिक है। नालिका यन्त्र की जल स्रुति ही काल नहीं

---

५१ किं पुन कारण न सिध्यति। कालभेदात्—महाभाष्य १।१।७०

५२ हेलाराज द्वारा, कालसमुद्देश ६५ की टीका में भर्तृहरि के वाक्य के रूप में उद्धृत।

न्याय से पहले किया जा चुका है। सूक्ष्म गति के अतिरिक्त क्रिया की इयत्ता के परिचायक निमेष व्यापार प्राणप्रवाह बुद्धिगण आदि हैं। सूर्यादि संचार भी लोक में दिन रात के रूप में निश्चित परिमाण के रूप में प्रसिद्ध हैं।

भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से काल को नित्य माना है—

न नित्य परमात्मापि कालो भेदमिहाहृति

—वाक्यपदीय, ३।२४

भर्तृहरि के अनुसार काल शक्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के आधार पर पर-अपर की पहचान कराती है (**कालाख्या हि कत शक्ति कार्येष्वेव प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां पौर्वापर्य प्रकल्पयति—वाक्यपदीय ३।२२ हरिवृत्ति**)। यदि काल नित्य है तो उसमें पौर्वापर्य सम्भव कैसे है? इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि वह काल शक्ति की महिमा है कि एक होते हुए भी क्रम से रूप में प्रतिभासित होती है। यहाँ भर्तृहरि ने बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन की क्रम मीमांसा का उल्लेख किया है। बौद्ध दर्शन में बुद्धिलक्षण अक्रम है। उसमें सत्ता का विरुद्ध रूप भी अविरुद्ध रूप में प्रतिभासित होता है क्रम एकत्व का अतिक्रमण नहीं करता। वेदान्त की दृष्टि से विश्वात्मा एक है क्रम का अवभास उसके एकत्व का व्याघातक नहीं होता—

> *क्रमप्रत्ययवभासत्वम एकत्वानतिक्रमेण अक्रमे बुद्धिलक्षण क्षणिकवादिन सत्यस्य विरुद्धरूपमिवाविरुद्ध भवति। अन्यतविर्दा तु विश्वात्मन्येकत्वानतिक्रमेण क्रमप्रत्ययवभासत्व भवति।*

—वाक्यपदीय ३।२२ हरिवृत्ति लाहौर संस्करण

भर्तृहरि ने इस प्रसंग में एक ऐसे दर्शन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार मात्रा भेद के आधार पर काल भेद सम्भव नहीं है क्योंकि मात्राओं की सत्ता उदय अस्तमयी है व स्वयं असत् सी है और उनके अभाव मानने पर क्रम भी जो मात्राओं के परिणाम पर निर्भर करता है सम्भव नहीं है। इस दर्शन के अनुसार विश्व की मात्रा, परिणाम जन्यभेद अनित्य है पूर्व का अपर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सब कुछ एक दूसरे से असंस्पृष्ट है। पूर्व और अपर भी निरुपाख्य है। इनमें सम्बन्ध अहंकार द्वारा होता है जो पूर्व और अपर का परामर्श सा करता है। सूक्ष्म (अपरपर्यन्त) अभेद्य और परिमाणभेदरहित होते हुए भी पूर्वापर का सम्बन्ध मिथ्या अभ्यासवश अबुध व्यक्ति को दीर्घ सा जान पड़ता है। इस दर्शन के अनुसार सभी व्यवहार एक धर्म से आबद्ध एक धर्म में प्रतिष्ठित और अभिन्न काल वाले होते हैं। मात्राभेद असत् है। असत् का असत् से अथवा असत् का सत् से सम्बन्ध में कोई क्रम नहीं होता। खरहे की सींग का ऊँट की सींग के साथ में अथवा हिमालय के साथ में कोई क्रम नहीं होता

तदेतस्मिन पक्ष एकधर्मावबद्धेषु एकधर्मप्रतिष्ठितेषु अभिन्नकालेषु सर्व व्यवहारेषु कीदृश सनात्मत्यतासता च मात्राभेदानाक्रम। न हि

शशविषाणस्योष्ट्रविषाणेन हिमवता वा कश्चिदपि क्रमो विद्यते ।

—हरिवत्ति वाक्यपदीय २।२४

इस दृष्टान्त के अनुसार किसी एक अर्थ का समानकालिक अथवा भिन्न कालिक व्यापार के साथ भी क्रम सम्बन्ध नही होता। क्रम की सम्भावना न देखकर और कोई दूसरा उपाय न पाकर एक व्यावहारिक क्रम मान लिया जाता है। मूर्तिया का जो परिमाण भेद है वही भेद है। उसके अतिरिक्त कोई कल्पित परिमाण भेद नही है। इस मत के अनुसार सह उत्पन्न सभी भाव काल म स्वन्द अथवा क्षण जैसे कल्पित कालान्तर अवस्थाओं म आत्म तत्व का अतिक्रमण नही करते और न किसी आगन्तुक अथवा अनागन्तुक भेद से सस्पृष्ट होते ह। उन भावो के अतिरिक्त क्षण काल मन्वन्तर नाम जसी कोई वस्तु ही नही है जिसके आधार पर उन्हे कालान्तर अवस्थायी नित्य अथवा क्षणिक कहा जा सके (हरिवत्ति वही)।

यदि यह कहा जाय कि परिमाण भेद की व्याख्या प्रचित और अप्रचित बुद्धि के आधार पर कर लिया जायगा काल की कोई आवश्यकता नही तो यह भी ठीक नही है क्योकि बुद्धि एक है। इसलिए बुद्धि प्रत्ययकम भी भाग रहित ही होगे।

भत हरि ने इन सब के समाधान के लिए व्याख्या शक्ति का आश्रय लिया है। उस शक्ति क सामर्थ्य से मात्राओं म क्रम का आभास होता है—

भेदभावनानुगतबुद्धीनामेकत्वेन व्यवहरताम अनादिना मिथ्याभ्यासेन विहित समवायानाम एकस्यां बुद्धौ अव्यतिरिक्तासु अनपायापायिनीषु मवमानासु क्रमाख्याया शक्ते सामर्थ्यमविद्यमान प्रकल्प्यते क्रम प्रसिद्धये।

—हरिवत्ति वाक्यपदीय २।२७

अत काल म क्रमभेद से भेद होता है। काल औपाधिक भेद से भिन्न है। स्वत अभिन्न है। नित्य है।

काल का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान

किसी के मत से काल प्रत्यक्षगम्य है और किसी के मत स वह अनुमेय है। महाभाष्यकार के मत म काल अनुमान गम्य है। जसे क्रिया का पिण्डीभूत दर्शन सम्भव नही है वैसे ही काल का भी। वर्तमान लट् ३।२।१२३ के भाष्य म स्पष्ट ही 'सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्य' कहकर काल को अनुमेय माना है। वाक्यपदीय म भी अनुमान पक्ष का समर्थन किया गया है। भर्तृहरि के अनुसार दो विभिन्न आश्रयवाली क्रियाओ म उनके उदय और अस्त समान होने पर भी उनके शीघ्र या देर म सिद्ध होने का ज्ञान बिना किसी सम्बन्धी परिच्छेदक के सम्भव नही है। काल के अनुमान म यह भी एक हेतु है

क्रिययोरपवर्गिण्योर्नानाश्रयसमवेतयो ।

सम्बन्धिना विनकेन परिच्छेद कथ भवेत ॥[२६]

---

२६ वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ७

मूर्त पदार्थों का उपचय और अपचय भी काल के अनुमान में सहायक हैं।

कुछ लोग काल को अतीन्द्रिय मानते हैं और दिक् के विपरीत परत्व अपरत्व के आधार पर काल का अनुमान करते हैं।

नागेश 'इस समय देख रहा हूँ', 'इस समय सूँघ रहा हूँ' जैसे अनुभवों के आधार पर काल को षड् इन्द्रिय वेद्य मानते हैं (क्षणसमूहरूपश्च स षडिन्द्रियवेद्य - मञ्जूषा पृष्ठ ८४६)। मीमांसकों का भी यही मत है (स च कालः षडिन्द्रियग्राह्य)।[४७] कुछ लोग काल का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करते हैं। काल में रूप न होना काल के प्रत्यक्ष होने में बाधक नहीं है क्योंकि इन्द्रियग्राह्यता का नाम प्रत्यक्ष है और वह काल में है।

वैशेषिक प्रसिद्ध काल गुणों का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है जैसे—

कालपरिमाण	(महाभाष्य २।२।८)
कालपृथक्त्व	(महाभाष्य १।१।२६)
कालविभाग	(महाभाष्य ३।२।३२)
काल संयोग	(,, ३।१।२६)

इसके अतिरिक्त तत्रभव ४।३।५३ सूत्र के भाष्य में कालाभिसम्बन्ध का और तपरस्तत्कालस्य १।१।७० सूत्र के भाष्य में 'कालसहचरित' शब्द का उल्लेख है।

कालभेदविचार

काल का स्वरूप चाहे जो हो शब्द व्यवहार में वह भिन्न रूप में ही देखा पड़ता है। व्याकरणदर्शन का सम्बन्ध मुख्यरूप से शब्दव्यवहार वाले काल के स्वरूप से है। अस्ति अभूत भविष्यति आदि क्रिया भेद की विवेचना उस करनी ही पड़ेगी

> नास्माभिस्तत्त्वविवेक आरब्धः किन्तु शब्दे व्यवहारे यदङ्गं तत् परीक्ष्यम्। अस्ति च भिन्नकालः शब्दो व्यवहारोऽभूत् अस्ति भविष्यतीति। तत्र यथा यागमविचारितरमणीयः कालोऽभ्युपगन्तव्यः।[४८]

फलतः व्याकरणदर्शन काल को वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीन रूपों में विभक्त कर देता है। परन्तु इस विभाग के पीछे भी कुछ दार्शनिक प्रवाद हैं जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने किया है।

काल की तीन शक्तियाँ

कुछ लोग मानते हैं कि काल तो एक है किन्तु उसकी तीन शक्तियाँ हैं। कार्य के भेद से कारण भेद का अनुमान होता है। शक्तिभेद से ही कार्यभेद सम्भव है। इस आधार पर काल की शक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं। इन शक्तियों के आधार पर काल का

---

४७ नारायणभट्ट मानमेयोदय पृ० १७०, काल प्रकरण

४८ हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश ५८

'नाभावो विद्यते सत:' वाले सिद्धान्त के आधार पर यह मानते हैं कि जो तिरोभूत है वही वर्तमान होता है। सभी भाव मानो किसी प्रमेयत्व (योग?) के भीतर रहते हैं वहीं से अपने आपको व्यक्त करते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। हेलाराज के अनुसार पञ्चाधिकरणदर्शनस्थ सांख्यों का यह दावा है।[५९] यह विचार धर्मी और धर्म में कुछ भेद मानकर है। धर्मी स्थायी सदा रहता है और उसके धर्म तीन अध्वा वाले (त्र्यध्वान) अतीत वर्तमान और अनागत के रूप में प्रकट होते हैं।

जो लोग धर्म को धर्मी से अतिरिक्त नहीं मानते उनके मत में भी धर्मी का एकसाथ ही अतीत वर्तमान आदि व्यपदेश धर्म के द्वारा सम्भव है। वर्तमान के समय में भी अतीत के कुछ धर्म से अतीत, और अनागत के कुछ धर्म होने से अनागत कहा जा सकता है। अतः धर्मी सदा वर्तमान होता हुआ भी धर्म के तीन तरह के होने के कारण तीन अध्वावाला अथवा तीन काल वाला कहा जाता है। हेतु के आधार पर जब कोई क्रिया-कलाप प्रत्यक्ष होने लगता है उसे वर्तमान कहते हैं। जब हेतु व्यापार खत्म हो जाते हैं उन्हें कुछ करने को नहीं रहता तब भावों का अदर्शन होता है उसे अतीत कहते हैं। जब हेतु अपनी क्रिया के लिए चेष्टा नहीं करते उसे अनागत कहते हैं। इस तरह एक के ही उपाधि भेद से भिन्न भिन्न नाम हो जाते हैं। इसमें सांकर्य दोष नहीं है। क्योंकि वृत्ति वैचित्र्य है। आविर्भाव और तिरोभाव क्रम रूप से घटित होते हैं। दर्शन और अदर्शन यही वृत्तियों का व्यापार है और वह विलक्षण है। वर्तमान शक्ति से दर्शन और अतीत अनागत शक्ति से अदर्शन ये एक दूसरे को बाधा न देते घटित होते हैं। इसलिये संकर सम्भव नहीं है। दृष्ट और अदृष्ट अवस्था में भी धर्मी एक है। सत्त्व से असत्त्व का भेद नहीं है। सत्त्व तिरोभूत होकर असत्त्व कहा जाता है। इसलिये भावों से शक्ति के अतिरिक्त न होते हुए भी और सत्ता एक साथ रहते हुए भी सांकर्य नहीं होता। हेलाराज के अनुसार यह महाभाष्यकार का मत है

> **धर्मधर्मिणोरव्यतिरेक भाविकमाश्रित्य धर्मिणो युगपदपि व्यपदेशत्रयं धर्मद्वारक प्रवर्तत इति महाभाष्यमतम्।**[६०]

हेलाराज के अनुसार ब्रह्मदर्शन ? के अनुसार भी शक्ति रूप काल के तीन गुणमय परिणाम सम्भव हैं। जीवात्मा में ज्ञान क्रिया और शक्ति (इच्छा ?) के रूप में तीनों गुण रहते हैं—**त्रिगुण्यपरिणामश्च ब्रह्मदर्शनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्ति रूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिमि जीवात्मनि गुणत्रयम्।**[६१]

क्रिया के आधार पर भी कालभेद की मीमांसा की जाती है। व्याकरणदर्शन इसी मत का प्रश्रय देता है

---

५९ हेलाराज, वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ५३

६० वही ५४, यह मत वस्तुतः योगसूत्र भाष्य का है। प्राचीन टीकाकार व्यासभाष्य को पातञ्जल मानते थे। इसी आधार पर हेलाराज ने उपर्युक्त वक्तव्य महाभाष्यकार का माना है।

६१ वही ५३ त्रिवेन्द्रम संस्करण में यह वाक्य मुद्रित है उसमें 'ब्रह्मदर्शन' पाठ नहीं है। यह शब्द काशी वाले संस्करण में है। वहाँ से यहाँ उद्धृत किया गया है।

> तस्याभिन्नस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृताः ।
> भेदा इव त्रयः सिद्धा यांल्लोको नातिवर्तते ॥[62]

भूत, भविष्य और वर्तमान क्रियोपाधिक हैं। जब क्रिया उत्पन्न होकर ध्वस्त हो जाती है उसके उपाधि-काल को भूत कहते हैं। जब क्रिया के साधन संनिहित रहते हैं और उसका आरम्भ समीप रहता है उससे उपाधि काल को भविष्यत् कहते हैं। जब क्रिया प्रारम्भ हो गई रहती है परन्तु अभी समाप्त नहीं हुई रहती उसके उपाधि-काल को वर्तमान कहते हैं।

क्रिया जो बीत गई है जो अब वर्तमान नहीं है वह काल में भूतकाल रूप कैसे लाती है ? इसी तरह जो क्रिया अभी हुई नहीं है वह काल में भविष्यत् का स्वरूप कैसे दिखाती है ? इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि जो क्रिया बीत जाती है वह काल में अपना संस्कार छोड़ जाती है। बुद्धि या स्मृति के द्वारा उस संस्कार का ग्रहण कर काल में भूतकाल का व्यपदेश किया जाता है। इसी तरह अभी सम्पन्न होने वाली क्रिया का भी प्रतिबिम्ब काल में पड़ता है। उस होने वाली क्रिया के प्रतिबिम्ब का काल में अध्यारोप कर काल को भविष्यत् काल कहते हैं। भर्तृहरि के अनुसार काल एक स्वच्छ आदर्श की तरह है

> काले निधाय स्वं रूपं प्रलयो यो निगृह्यते ।
> भावास्ततो निवर्तन्ते तत्र संक्रान्तवस्तवः ॥
> भाविनां चैव यद् रूपं तस्य च प्रतिबिम्बकम्
> सुनिर्मिष्ट इवादर्शे काल एवोपपद्यते ॥[63]

वर्तमान काल

वाक्यपदीय में वर्तमानकाल पर विचार महाभाष्य की पद्धति पर है। पतंजलि के पूर्व ही वर्तमानकाल के विषय में कुछ विप्रतिपत्तियाँ सामने आ गई थीं जिन्हें सुलझाने का प्रयत्न कात्यायन ने किया था। पतंजलि ने भी अपनी पद्धति से उन्हें सुलझाया और अन्य दर्शनों में भी जैसा कि वात्स्यायनभाष्य से ज्ञात पड़ता है उन पर विचार होता रहा।

वर्तमान काल के सूचक लट् की प्राचीन संज्ञा 'भवन्ती' थी। कात्यायन ने 'इह अधीमहे' 'इह वसामः' जैसे वाक्यों में वर्तमान के होने में इस आधार पर आक्षेप लगाया था कि अध्ययन करने और रहने के बीच में दूसरी भी क्रियाएँ होती रहती हैं। अतः अध्ययनादि क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं। वर्तमान काल से हम उसी क्रिया की अभिव्यक्ति करते जो आरम्भ तो कर दी गई हो परन्तु जिसका उपरम अभी नहीं हुआ हो। बीच में विच्छिन्न होती हुई क्रिया का वर्तमान रूप नहीं बनेगा।

इसका समाधान कई तरह से कर दिया गया था। वर्तमान काल उसको माना जायगा जहाँ क्रिया का आरम्भ समाप्त न हुआ हो (एष मास ... वर्तमान काल

---

६२ वाक्यपदीय कालसमुद्देश ५८

(६३) ३९,४०

यत्रारम्भोऽनपवर्क्त महा—भाष्य ३।२।१२३) । अत अध्ययन जब तक समाप्त नही होगा हम उसे वतमान काल म व्यक्त कर सकत है। बीच बीच म जो भोजन आदि की क्रिया व्यवधानरूप म जान पडती हैं वे नान्तरीयक है। अत वे व्यवधायिका नहीं हो सकता। 'देवदत्त भोजन कर रहा है' इस वाक्य म भोजन की क्रिया का वतमान काल म बिना किसी हिचक अथवा संशय के व्यक्त करते है। परन्तु भोजन के व्यापार म भी बीच बीच म बालना हँसना पानी पीना आदि व्यापार होता ही रहा हैं। जिस तरह स इन व्यापारा के होते हुए भी 'भुङ्क्ते' म वतमान काल की अनुपपत्ति नही मानी जाती उसी तरह 'इह अधीमहे' जैस स्थला म भी अवान्तर क्रियाओं के होते हुये भी कोई अनुपपत्ति नहा होगी।

अत हरि के अनुसार ऐसी कोई क्रिया नही है जो किसी न किसी अन्य क्रिया स सकीर्ण सी न जान पडती हो और नहीं तो निमेष क्रिया श्वास क्रिया जसी क्रियाएँ सभी व्यापारा के साथ रहेंगी ही। अत अन्तरालवर्ती क्रियाओ से मुख्य का व्यवधान नही मानना चाहिये। अन्तरालवर्ती क्रियाओं को मुख्य क्रिया का अवयव मान लेना चाहिये। इस तरह भोजन के बीच म हँसने आदि के व्यापार भोजन क्रिया के अवयव है अत व्यवधायक नही हो सकते। भोजन की प्रवृत्ति हो जाने पर भी ऊपर स दधि शक्कर आदि का बाद म परोसा जाना जस भोजन क्रिया का अग ही माना जाता है वसे ही मित्रा का परस्पर बातचीत करते, हँसत बोलत भोजन करना भोजन क्रिया का अग ही है।

अथवा हम फल की दृष्टि से क्रिया सन्तान की व्याख्या करेंगे। भोजन की क्रिया का फल तृप्ति है। अध्ययन की क्रिया का फल ज्ञान है। जब तक इन फला के लिये प्रयत्न जारी है बीच म अन्य व्यापारा के होत हुय भी वे अविच्छिन्न माने जायगे इसलिये अन्य व्यापारा के करत हुय भी अधीमहे कहा जा सकता है।

अथवा भौतिक व्यापार के उपरत होने पर भी मानसिक व्यापार के द्वारा क्रिया सन्तान का एकत्व जहा बना रहता हम उसे वतमान काल म व्यक्त कर सकते है। पहले क्रिया विचार के अध्याय म यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जिस तरह क्रिया म सदर्शन प्राथना आदि अध्यवसाय होत हैं। जानाति इच्छति तता यतते— मनुष्य पहल जानता है तब इच्छा करता है और तब उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होता है यह सब तरह के व्यापार का मनोवैज्ञानिक पहलू है। अत मानस व्यापार जब तक विरत न हो तब तक क्रिया भी उपरत नही मानी जायगी

> सदर्शनादिफलपय त क्षणसमूह क्रिया। तत्र च भौतिक व्यापारोपरमे
> ऽप्यन्तरा सदर्शनप्राथनादे मानस व्यापारस्य यावत
> फलाधिगम तावदविराम एव।[८४]

तात्पर्य यह है कि प्रत्यवयव क्रियासमाप्ति न मान कर फलपर्यन्तक्रिया समूह के आश्रय से क्रियासन्तान का विवेचन करना चाहिये।

---

८४ हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८२,८३

वर्तमान काल के सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह थी कि जो नित्यप्रवृत्त भाव हैं जिनका कभी बीच में विच्छेद नहीं होता उन्हें हम वर्तमान काल से कैसे व्यक्त करेंगे। क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतियोगी है। नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत सम्भव नहीं है। अत वर्तमान भी सम्भव नहीं है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि अविच्छिन्नरूप में सदा प्रवृत्त भावों में भूत, भविष्यत तो सम्भव नहीं है परन्तु उनके सदा वर्तमान होने के कारण उनके साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध स्थापित रहेगा ही। क्योंकि यहाँ काल का सम्बन्ध उन्हीं भावों से होता है जो नियत अवधि वाले होते हैं। साधन के सन्निहित होते हुये जिनकी उत्पत्ति आसन्न होती है उनका सम्बन्ध हम भविष्यत काल से जोड़ते हैं साधनों के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उन्हें हम वर्तमान काल से प्रकट करते हैं और जो नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं जिनके शरीर विलुप्त हो जाते हैं उन्हें हम भूत शब्द से व्यक्त करते हैं। इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत के बीच में होती है। फलत जहाँ भूत और भविष्यत की सम्भावना नहीं है वहाँ वर्तमान भी सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि काल तो क्रियोपाधिक है। नित्यप्रवृत्त भावों में किसी क्रम के न होने के कारण क्रमाश्रित साध्यस्वभाववाली क्रिया ही सम्भव नहीं है इसलिये वहाँ काल विभाग ही सम्भव नहीं है।

इसके उत्तर में व्याकरण सम्प्रदाय के अनुसार भर्तृहरि का कहना है कि किसी के स्वरूप में आत्मा में भेद नहीं होता। भेद परत होता है। सभी भावजात वस्तु उपाधिसंसर्ग से भेद प्राप्त करती है। अत नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भी कालभेद सम्भव है और जब कालविभाग सम्भव है तो वर्तमान काल भी सम्भव है। 'सन्तु पर्वता', 'वहन्ति नदियाँ' जैसे नित्यप्रवृत्ति के द्योतक वाक्यों में भी तत्तत्कालीन राजाओं की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है। राजाओं की क्रियाओं में कालत्व, अभिव्यक्ति और साध्यमानता है। अत उनके साहचर्य से पर्वतादि के साथ भी कालत्व सम्भव है। 'पर्वत थे', 'पर्वत होंगे' ऐसे प्रयोग इसी आधार पर होंगे। जब भूत भविष्यत सम्भव होंगे वर्तमान की उपपत्ति भी उनके साथ होगी ही (वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८०)।

अथवा एक निरूपावयव क्रिया होती है और एक सरूपावयवक्रिया होती है। पर्वत के स्थितिरूप व्यापार में सरूपावयव क्रिया है। आत्मभरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश है। सादृश्य के कारण उनमें भेद की अभिव्यक्ति उतनी सरल नहीं है जितनी कि पतन आदि के व्यापार में विरूपावयव क्रियायें होती हैं। राजाओं की क्रिया विरूपावयव है। अत उनमें विभाग सम्भव है। वे प्रसिद्धपरिमाणवाली हैं। प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया से परिच्छेदक होकर कालव्यवहारी है। स्थिति, भूत आदि के रूप में राजाओं की क्रिया भिन्न भिन्न होकर पर्वत की स्थिति आदि का भेदक होकर कालभेद में व्यवहृत होती है। अत नित्यप्रवृत्त भावों में भी क्रिया और काल के योग उत्पन्न है। सूर्यक्रिया को सूर्यसंचार आदि को परिमाण मानना चाहिये। नित्य पदार्थों में भी अपना अपना प्रतिभाग धारण करने

की क्रिया म क्रियान्तर है। शब्द व्यवहार म शब्द का अर्थ ही अर्थ रूप म गृहीत होता है। निष्ठति आदि क्रियापदा स क्रम की अभिव्यक्ति होती है। अत क्रिया-योग नित्य पदार्थों क साथ भी शब्द शक्ति के कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेश क उदाहरण वस्तु म हैं। कलापी उस काल का कहते हैं जिस समय मयूर कलापी होते ह (यस्मिन काले मयूरा कलापिनो भवन्ति स कलापी—काशिका ४।३।४६)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहा साहचर्य स काल व्यपदेश है (कलापिसहचरित काल कलापी काल —महाभाष्य ४।३।४८)। इसी तरह अश्वत्थ और यववुस भी काल वाचक शब्द ह जो साहचर्य क आधार पर गठित हुए ह।

वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते ह कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही हैं भूत और भविष्यत। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग सभव नही है। कोई भी वस्तु या तो भूत होती है अथवा असत होती है। कोई तीसरी कोटि नही है। जो क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हो गया। फलत क्रिया भी अतीत कहलायेगी। जो क्षण अभी आया नही है वह भावी है। इसलिये उसकी द्योतक क्रिया भविष्यत् स सम्बद्ध होगी। बीच म कोई तीसरा क्षण जो सत भी हो और असत् भी हो नही है। अत वर्तमान काल भी नही है। पतति मे पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। क्योंकि पात क्रिया का जो अनागतरूप है वह असत्व है उसे पतति शब्द से नही कहा जा सकता। और जो पातक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतिक्रान्त होने के कारण असत्व है, इस लिय उसके लिये भी पतति का प्रयोग नही हो सकता और इस दशा म भी कोई पतति का प्रयोग कर तो उसके लिय हिमवान अपि चलति—हिमालय भी हिलता डोलता है—कहना सरल है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत रूप है या असत रूप है। इन दोनो रूपो म क्रम सभव नही है। जो सत है वह विद्यमान होने के कारण अनित्य है उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नही है और इसीलिये उसे क्रम के आश्रय लने की भी आवश्यकता नही है। जो असत है वह भी असत अवस्था मे है सिद्ध किय जान की कोटि म नही है इसलिय उसम भी क्रम सभव नही है। इन दोनो अवस्थाओ म नित्य रूपमान अभिन्न क्रियारूप के अभाव होन क कारण वर्तमानता सभव नही है।

तीसरी बात यह है कि सदा एक ही क्षण की उपलब्धि होती है। एक म कोई भेद नही होता। भेद न होने से उसम कोई क्रम भी सभव नही है। एक ही क्षण म गमन आदि क्रिया का सभार सभव नहा है इसलिये गच्छति—जाता है—जसे वर्तमान कालिक वक्तव्य अनुपपन्न है

> एक एव क्षण उपलभ्यते, नातीतो नापि अनागतो न चकस्य क्षणस्य गमनादिक्रियावेन सभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

इसका समाधान

उपयुक्त आक्षेप के उत्तर म यह कहा जाता है कि देवदत्त के एक स्थान से

वर्तमान काल के सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह थी कि जो नित्यप्रवृत्त भाव है, जिनका कभी बीच में विच्छेद नहीं होता उनके हम वर्तमान काल में क्यों रखें। क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतियोगी है। नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत् संभव नहीं है। अतः वर्तमान भी सम्भव नहीं है। यह कहना ठीक नहीं होता कि अविच्छिन्नरूप में सदा प्रवृत्त भावों में भूत भविष्यत् तो सम्भव नहीं है परन्तु उनके सदा वर्तमान होने के कारण उनके साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध सदा बना रहेगा ही। क्योंकि यहाँ काल का सम्बन्ध उन भावों से होता है जो नियत अवधि वाले होते हैं। साधन के सन्निहित होने हुये जिनकी उत्पत्ति आसन्न होती है उनका सम्बन्ध हम भविष्यत् काल से जोड़ते हैं, साधनों के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उन्हें हम वर्तमान काल में प्रकट करते हैं और जो नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनके शरीर विलुप्त हो जाते हैं उन्हें हम भूत काल में व्यक्त करते हैं। इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत् के बीच में होती है। फलतः जहाँ भूत और भविष्यत् की सम्भावना नहीं है वहाँ वर्तमान भी सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि काल तो क्रियोपाधिक है। नित्यप्रवृत्त भावों में किसी क्रम के न होने के कारण क्रमाश्रित साध्यरूपभाववाली क्रिया ही सम्भव नहीं है इसलिए वहाँ काल विभाग ही सम्भव नहीं है।

इसके उत्तर में व्याकरण सम्प्रदाय के अनुसार भर्तृहरि का कहना है कि किसी के स्वरूप में, आत्मा में भेद नहीं होता। भेद परक होता है। सभी भावजात वस्तु उपाधिसम्पन्न में भेद प्राप्त करती है। अतः नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भी कालभेद सम्भव है और जब कालविभाग सम्भव है तो वर्तमान काल भी सम्भव है। अस्तु पर्वत हैं, नदियाँ बहती हैं जैसे नित्यप्रवृत्ति के बोधक वाक्यों में भी तत् तत् कालीन राजाओं की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है। राजाओं की क्रियाओं में प्रत्यक्ष क्रमिकता और साध्यमानता है। अतः उनके साहचर्य से पर्वतादि के साथ भी क्रम सम्भव है। पर्वत थे पर्वत होंगे ऐसे प्रयोग इसी आधार पर होंगे जब भूत भविष्यत् सम्भव होंगे, वर्तमान की उपपत्ति भी उनके साथ होगी ही (वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८०)।

अथवा एक विरूपावयव क्रिया होती है और एक सरूपावयव क्रिया होती है। पर्वत के स्थितिरूप व्यापार में सरूपावयव क्रिया है। आत्मभरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश है। सादृश्य के कारण उनमें भेद की अभिव्यक्ति उतनी सरल नहीं है जितनी कि पकाने आदि के व्यापार में विरूपावयव क्रियाएँ होती हैं। राजाओं की क्रिया विरूपावयव है। अतः उनमें विभाग सम्भव है। वे प्रसिद्धपरिमाणवाली हैं। प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया के परिच्छेदक होकर काल कहलाती हैं। स्थिति भूत आदि के रूप में राजाओं की क्रिया भिन्न भिन्न होकर पर्वत की स्थिति आदि का भेदक होकर कालशब्द से व्यवहृत होती हैं। अतः नित्यप्रवृत्त भावों में भी क्रिया और तीनों काल के योग उपपन्न हैं। राजक्रिया को सूर्य-संचार आदि का उपलक्षण मानना चाहिये। नित्य पदार्थों में भी अपने आपको प्रतिक्षण धारण करने

का दिशा में क्रियाव है। शब्द व्यवहार में शब्द का अर्थ ही अर्थ रूप में गृहीत होता है। निष्पत्ति आदि क्रियापद से क्रम की अभिव्यक्ति होती है। अतः क्रिया-योग नित्य पदार्थों के साथ भी शब्द शक्ति के कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेश के उदाहरण बहुत से हैं। कलापी उस काल को कहते हैं जिस समय मयूर कलापी होते हैं (यस्मिन् काले मयूरा कलापिनो भवन्ति स कलापो—काशिका ४।३।४६)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहां साहचर्य से काल व्यपदेश है (कलापिसहचरित काल कलापी काल—महाभाष्य ४।३।४८)। इसी तरह अश्वत्थ और यवबुस भी काल वाचक शब्द हैं जो साहचर्य के आधार पर गठित हुए हैं।

वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते हैं कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही हैं भूत और भविष्यत। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग संभव नहीं है। कोई भी वस्तु या तो सत होती है अथवा असत होती है। कोई तीसरी कोटि नहीं है। जो क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हो गया। फलतः क्रिया भी अतीत कहलावेगी। जो क्षण अभी आया नहीं है वह भावी है। इसलिये उसकी द्योतक क्रिया भविष्यत से सम्बन्ध जोड़ेगी। बीच में कोई तीसरा क्षण जो सत भी हो और असत् भी हो नहीं है। अतः वर्तमान काल भी नहीं है। पतति में पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि पातक्रिया का जो अनागतरूप है वह असम्बद्ध है उसे पतति शब्द से नहीं कहा जा सकता। और जो पातक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतिक्रान्त होने के कारण असत्त्व है इसलिये उसके लिये भी पतति का प्रयोग नहीं हो सकता और इस दशा में भी कोई पतति का प्रयोग करे तो उसके लिये हिमवान अपि चलति—हिमालय भी हिलता डोलता है—कहना सरल है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत रूप है या असत रूप है। इन दोनों रूपों में क्रम संभव नहीं है। जो सत् है वह विद्यमान होने के कारण अनिवर्त्य है उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और इसीलिये उसे क्रम के आश्रय लेने की भी आवश्यकता नहीं है। जो असत है वह भी असत अवस्था में है सिद्ध किये जाने की कोटि में नहीं है इसलिये उसमें भी क्रम संभव नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं में निष्पद्यमान क्रिया रूप के अभाव होने के कारण वर्तमानता संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि सदा एक ही क्षण की उपलब्धि होती है। एक में कोई भेद नहीं होता। भेद न होने से उसमें कोई क्रम भी संभव नहीं है। एक ही क्षण में गमन आदि क्रिया का संभार संभव नहीं है इसलिये गच्छति—जाता है—जैसे वर्तमान कालिक वक्तव्य अनुपपन्न है

> एक एव क्षण उपलभ्यते, नातीतो नापि अनागतो न चैकस्य क्षणस्य
> गमनादिक्रियावेश संभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

इसका समाधान

उपर्युक्त आक्षेप के उत्तर में यह कहा जाता है कि देवदत्त के एक स्थान में

दूसरे स्थान पर जाने में कोई न कोई हेतु अवश्य है। और वह गमन क्रिया है। गमन क्रिया ही उसके एक स्थान से दूसरे स्थान में होने का निमित्त है। उस गमन क्रिया के अवलम्ब से जाता है ऐसा ज्ञान अबाधित रूप में व्यक्त होता है। अतः क्रिया का भी सत्व है। पुनः सत्व ही वर्तमान का लक्षण नहीं है। वर्तमान का लक्षण प्रारब्ध अपरिसमाप्तत्व है। क्रिया के आरम्भ से लेकर समाप्ति के समीप तक जितने क्षण हैं उनके समूह में वह अव्यस्त रहता है। कार्य सम्पादन के लिए मानसिक व्यापार से लेकर शारीरिक चेष्टा तक सब उसके भीतर गृहीत है। क्षण रूप से समूह की जो विद्यमानता है वही वर्तमान है। एक एक क्षण में भी क्रम अव्यस्त है। एक फल के उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण क्षण समूह भी एक है। अथवा अनेक क्षण समूहात्मक क्रिया प्रबन्ध का बौद्धिक संकलन कर लिया जाता है जैसा प्रयोग किया जाता है। क्रियाक्षणों के अवयव बिखरे रहते हैं फिर भी शब्दात्मा में उनका आकार समाहित रहता है शब्दात्मा के एक होने से वे भी एक ज्ञात होते हैं। इस आधार पर वर्तमान का भी अनेक क्षण समूहात्मक और एक माना जाता है

> क्रियाप्रबन्धरूपं यदध्यासेन निगृह्यते ।
> सदसत्त्वविभागेन तामाहुर्वर्तमानताम् ॥—काल समुद्देश ६०

दूसरी बात यह है कि यदि वर्तमान की सत्ता न मानी जायगी तो भूत और भविष्यत् की सत्ता भी संकट में पड़ जायगी। वर्तमान के अभाव में उनका भी अभाव होगा। वर्तमान के आधार पर ही भूत और भविष्यत् की स्थिति खड़ी है। वर्तमान की सिद्धि से ही अतीत और अनागत की सिद्धि सम्भव है अन्यथा नहीं।

> वर्तमानत्वाभावे च भूतभविष्यतोरप्यभावप्रसङ्गः, वर्तमानो हि भूतस्य भविष्यतश्च प्रतिपद्यते।—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

महाभाष्यकार के अनुसार काल के तीन विभाग क्रियाओं से अनुमान से सिद्ध हैं। वस्तुतः वह एक है और [illegible] सत्य है

> अस्ति हि तां वेदयन्ते त्रिभावा सूर्यो हि [illegible] गम्य
> महाभाष्य ३।२।१२०

दो प्रकार का वर्तमान काल

भर्तृहरि के अनुसार वर्तमान काल दो प्रकार का है। एक तो मुख्य है जो प्रारब्ध अपरिसमाप्त रूप में रहता है। दूसरा गौण है जो वर्तमान सामीप्य के कारण [illegible] भूत के अनुसार भूत और भविष्यत् रूप में होता है। कभी कभी क्रिया का [illegible] क्रिया के व्यापार गौण [illegible] जाते हैं। [illegible] आधार से भूत [illegible] वर्तमान [illegible] होता है [illegible] काल के रूप में वर्तमान काल का प्रयोग किया जाता है। [illegible] वर्तमान [illegible] होता है [illegible] क्रिया का [illegible] में वर्तमान [illegible] जाता है। वर्तमान का यह रूप [illegible] है। [illegible]

एक ही अवसर के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आशंसा के अर्थ में भी वर्तमान काल का प्रयोग वैकल्पिक रूप में देखा जाता है। अप्राप्त प्रिय अर्थ के प्राप्त करने की इच्छा को आशंसा कहते हैं। यद्यपि प्रार्थना अथवा इच्छा का सम्बन्ध वर्तमान से है परन्तु आशंसा का विषय भविष्यत् काल होता है। इस आधार पर महाभाष्य में इस भविष्यत् काल का माना है (आशंसा नाम भविष्यत्काला—महाभाष्य ३।३।१३२)। भविष्यत् काल से सम्बन्ध होते हुए भी उसके साथ भूतकाल (भूत सामान्य) के से प्रत्यय होते हैं। फलतः वर्तमान भूत और भविष्यत् तीनों काल आशंसा की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होते हैं। कुछ लोग आशंसा और संभावना को समानार्थक मानते हैं। कुछ लोग संभावना को आशंसा का अवयव मानते हैं। कुछ लोग दोनों में कुछ भेद मानते हैं। भेद की दृष्टि से इनमें अन्तर यह है कि आशंसा में इप्सित अर्थ की प्राप्ति साधन बल से शक्य और अशक्य दोनों होती है जब कि सम्भावना में उसकी प्राप्ति शक्य होती है—

> आशंसा नाम अधारितोऽर्थोऽभिनीतश्चानभिनीतश्च। संभावनं नाम अधारितोऽर्थोऽभिनीत एव।—महाभाष्य ३।३।१३२

वस्तुतः आशंसा प्रयोक्तृधर्म है। वह शब्दार्थ नहीं है। फिर भी आशंसा शब्दसंस्कार में निमित्त होती है। पुण्यधर्म में भी शास्त्र की प्रवृत्ति होती है यह वाक्यपदीयकार का मत है (पुण्यधर्मेऽपि शास्त्रमधिकृतमिति विचारितं वाक्यपदीये—हेलाराज, कालसमुद्देश १०४)।

कभी कभी भूत अर्थ में भी वर्तमान काल का प्रयोग होता है जैसे कंस और बलि की घटना को बीते सैंकड़ों वर्ष हो जाने पर भी कंसं घातयति बलिं बन्धयति ऐसे वर्तमानकालिक प्रयोग देखे जाते हैं। भाष्यकार के अनुसार इन वाक्यों में वर्तमान काल के प्रयोग का आधार वर्तमान काल में रंगमंच पर दिखाये जाने वाले कंस वध और बलि बंधन के व्यापार हैं। शौभिक (नटों के आचार्य) और ग्रंथिक (कथक) उन व्यापारों को प्रत्यक्ष से दिखाते हैं। कथक ग्रंथिक के मन में उन व्यापारों की बुद्धिविषयकसत्ता रहती है इसलिए वे उन्हें प्रत्यक्ष सा व्यक्त करने में समर्थ होते हैं—

> शब्दोपहितरूपांश्च (रूपांस्तु) बुद्धेर्विषयतां गतान्।
> प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥
>
> —वाक्यपदीय ३ साधनसमुद्देश ५।

केवल वर्तमान का ही नहीं भूत और भविष्य का भी ऐसे अवसरों पर प्रयोग देखा जाता है। उस एक ही घटना के तीनों कालों में इस तरह प्रयोग देखा जाता है—

जाओ देखो कंस मारा जा रहा है (गच्छ हन्यते कंसः)। जाओ देखो कंस मारा जायगा (गच्छ घानिष्यते कंसः)। अब जाने से क्या लाभ कंस मार डाला गया (किं गतेन हतः कंसः)।

कभी कभी मुख्य वर्तमान के क्षेत्र में, प्रारम्भ अपरिसमाप्त की अवस्था में भूतकाल का व्यवहार देखा जाता है। कोई पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ा। एक दिन बीत जाने पर रास्ते में ठहर गया। अभी वह पाटलिपुत्र पहुँचा नहीं है और जब तक नहीं पहुंचेगा उसकी गमन क्रिया अपरिसमाप्त मानी जायगी। फिर भी रास्ते में एक दिन के बाद ठहर जाने पर भी "आज इतना रास्ता बीत गया (इदमद्य गतम्)" ऐसा भूतकालिक प्रयोग करते हैं। गमन क्रिया के समाप्त न होने पर भी जितना मार्ग समाप्त हो चुका है उसी को मान कर समाप्ति सूचक भूतकाल का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः क्रिया के कई अवयव होते हैं। इन के आधार पर समूह रूप क्रिया का जिस अवयव के साथ सम्बन्ध होता है उसी में उसकी समाप्ति भी होती है। अवयवों का तीनों काल से सम्बन्ध होने के कारण क्रिया का भी तीनों काल से योग उपपन्न है

> इन्देन प्रत्याय्यमाना येन येनावयवेन सबध्यते समूह रूपा क्रिया तस्मिन्नेवाव यवे समाप्यते। तत्र अवयवानां कालत्रययोगात क्रियाया अपि कालत्रययोग
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप ३।२।१०२

भूतकाल

जिसकी अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है वह भूत शब्द से व्यक्त किया जाता है (यस्य स्व सत्ता व्यपवक्ता तत्सव भूत शब्देनोच्यते—महाभाष्यप्रदीप २।२।८४)। कभी-कभी अल्प सत्ता की परिसमाप्ति पर भी भूतकाल माना जाता है (एष च न्याय्यो भूतकालो यत्र किंचिदपवृक्त दृश्यते—महाभाष्य ३।२।१०२)। उत्पन्न होकर ध्वस्त हुई क्रिया की उपाधि के रूप में भूतकाल का प्रयोग किया जाता है। भर्तृहरि के अनुसार भूतकाल पांच तरह का होता है। हेलाराज के अनुसार ये पांच प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) सामान्य भूत,
(२) अद्यतनभूत
(३) अनद्यतनभूत
(४) अद्यतनानद्यतनभूत
(५) भविष्यत के स्थान पर आरोपितभूत

सामान्यभूत

भूत विशेष का आश्रय न लेकर केवल सामान्यभूत के अर्थ में क्रिया का प्रयोग देखा जाता है। पाणिनि ने लुङ् लकार से ऐसे ही भूत सामान्य को द्योतित किया है। विशेष में भी सामान्य होता है और इस आधार पर कभी-कभी विशेषभूत के अर्थ में सामान्यभूत का व्यवहार देखा जाता है। जैसे अगमाम घोषान् अपाम पय जस

वाक्यो म विशेषभूत की सम्भावना होते हुए भी उसकी अविवक्षा से सामान्यभूत का प्रयोग हुआ है। वस्तुत विवक्षारूढ अर्थ ही शब्द प्रयोग का निमित्त होता है। विशेष-भूत की विवक्षा होने पर उपयुक्त वाक्या म विशेषभूत के द्योतक लङ आदि लकारा के प्रयोग हो सकते है।

ननु शब्द के साथ प्रश्न के उत्तर देने पर सामान्यभूत के अर्थ मे वतमानकाल का प्रयोग होता है जैसे— अकार्षी कट देवदत्त ननु करोमि भो (देवदत्त तुमने चटाई बीन ली जी, अवश्य मैंने चटाई बीन ली)। नु शब्द के साथ प्रत्युत्तर देने मे भी सामान्यभूत के अर्थ म वतमानकाल व्यवहृत होता है परन्तु विकल्प स। जस, अकार्षी कट देवदत्त, नु करोमि भो। अथवा, नाकार्षम।

अद्यतनभूत

अद्यतन की परिभाषा दो तरह की व्याकरण सम्प्रदाय म प्रसिद्ध है। न्यासकार, कैयट, हरदत्त आदि के अनुसार पूरा दिन बीती हुई रात का अतिम (चौथा) पहर और आने वाली रात का पहला पहर अद्यतनकाल है

> दिवस सकल अतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामिन्याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतन काल।
>
> न्यास ३।२।११०

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार बीती हुई पिछली आधी रात स लेकर आग आने वाली आधी रात तक का समय अद्यतन है

> अतीताया रात्रे पश्चार्धेन आगामिन्या पूर्वार्धेन च सहितो दिवस अद्यतन।
> —सिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ ३०१

वस्तुत अद्यतन और श्वस्तन शब्द पाणिनि के पूर्व के आचार्यों के ह और अपने मूल रूप म इनका भाव अद्य भव अद्यतन काल श्वो भव श्वस्तन काल के रूप म था।

जब अद्यतन मे कोई क्रिया समाप्त हुई रहती है उसे अद्यतन भूत क रूप म व्यक्त किया जाता है। यद्यपि यहा सामान्यभूत की भी सत्ता है। फिर भी सामान्य म विशेष रहता ह। इस आधार पर हम अद्यतन को विशेष मान लेते है और सामान्यभूत से अद्यतनभूत को अलग करते ह।

महाभाष्यकार के अनुसार अद्यतन म भी अद्यतन सभव है। (अद्यतनेऽपि अद्यतनो विद्यते। कथम। व्यपदेशिवद् भावेन—महाभाष्य ३।२।१११)। अद्यतन का भी एक सामान्य रूप ह और उसके भीतर मुहूर्त क्षण आदि के रूप म अद्यतन का एक विशेष रूप भी ह। इस तरह समुदाय और अवयव के रूप म भेद मान कर समुदाय अद्यतन मे अवयव अद्यतन ह ऐसा कहा जा सकता ह। वस्तुत यहाँ अवयव स व्यतिरिक्त रूप म समुदाय की सत्ता आधार रूप म नही ह। एक काल का दूसरे काल के

साथ आधाराधेयभाव सर्वथा कल्पित होता है यथार्थ नहीं। इसे भर्तृहरि ने इस रूप में व्यक्त किया है—

> कालस्याप्यपर कालं निर्दिश्यस्येव लौकिका।
> न च निर्देशमात्रेण व्यतिरेकोऽनुगम्यते॥
>
> —वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ८३

अनद्यतनभूत

अनद्यतन शब्द में बहुव्रीहि समास माना जाता है। जिसमें अद्यतन न हो वह अनद्यतन है। अर्थात् जहाँ अद्यतन का गन्ध भी है वहाँ अनद्यतन भूत नहीं होता है। अनद्यतन भूत का प्रतिनिधि लकार लङ् है। अकरोत् अहरत् जैसी क्रियाएँ अनद्यतनभूत को व्यक्त करती हैं।

परोक्ष भी अनद्यतनभूत का ही एक भेद है। इसलिये पाँच प्रकार के उपर्युक्त भूत भेदों से अतिरिक्त के रूप में इसकी गणना भर्तृहरि ने नहीं की है। परोक्ष का प्रतिनिधि लकार लिट् है। परोक्ष शब्द में अक्षि शब्द केवल आँख मात्र का बोधक न होकर सभी इन्द्रियों का वाचक माना जाता है। इसलिये जो इन्द्रियों से परे है, जो वस्तु इन्द्रियगोचर नहीं है वह परोक्ष है। एक तरह से सभी धात्वर्थ परोक्ष ही होते हैं क्योंकि धात्वर्थ वह क्रिया है जो साध्य है। जो अभी साध्यमान है वह असत् है। जो असत् है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। अतः धात्वर्थ परोक्ष होगा। फिर भी जहाँ पर साधन प्रत्यक्ष है उसके आधार पर क्रिया के प्रत्यक्ष की बात लोक में देखी जाती है। साधन यद्यपि शक्तिरूप है फिर भी द्रव्याश्रित होने के कारण द्रव्य के प्रत्यक्ष के द्वारा वे भी प्रत्यक्ष होने वाले मान लिये जाते हैं। अथवा शक्ति और शक्तिमान में अभेद की विवक्षा से साधन को ही द्रव्य मान लिया जाता है। जहाँ द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है वहाँ प्रत्यक्ष का और जहाँ द्रव्य का परोक्ष होता है वहाँ परोक्ष का व्यवहार लोक में देखा जाता है।

पतञ्जलि के समय में परोक्ष के विषय में कई तरह की मान्यताएँ प्रचलित थीं। किसी के अनुसार सौ वर्ष पहले का वृत्त परोक्ष था। किसी के अनुसार किसी दिवाल या कुटी से अन्तरित वृत्त भी परोक्ष था। कुछ लोग दो तीन दिन पहले बीती हुई घटना को भी परोक्ष मानते थे। कैयट के अनुसार इन्द्रिय से अगोचर साधन से साधित सभी अनद्यतन क्रियावाची अर्थ एक तरह से परोक्ष हैं और ऐसे परोक्ष में लिट् का प्रयोग साधु है। फलतः 'कल पकाया' इस अर्थ में 'ह्यः पपाच' वाक्य शुद्ध है—

> इन्द्रियागोचरसाधनसाधितानद्यतनक्रियावाचिनस्तु
> धातोर्लिट् प्रत्यय इति निर्णयः। तथा ह्यः पपाचेत्याद्यपि भवति। महा-
> भाष्य प्रदीप ३।२।११५

उत्तम पुरुष में जहाँ क्रिया आत्मसाध्य होती है परोक्ष का व्यवहार चित्तव्याक्षेप अथवा अपह्नव के आधार पर माना जाता है। भाष्यकार ने इस प्रसंग में

शास्त्रायन की तल्लीनता का उल्लेख किया है जो राजमार्ग पर स्थित होते हुए भी सामने से जाते हुए शकटों को नहीं देख सके थे। पतंजलि के अनुसार मन से संयुक्त होकर इन्द्रियाँ उपलब्धि में कारण होती हैं। मन यदि पास में नहीं है तो वस्तु प्रत्यक्ष होती हुई भी परोक्ष ही है—

> **किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानकाले नोपलभते। मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसान्निध्यात।** महाभाष्य ३।२।११८

स्वयं अनुभूत न होने के कारण जो परोक्ष घटनाएँ हैं परन्तु वक्ता के समय में ही घटित हुई हैं उनके लिये परोक्ष के अर्थ में अनद्यतन का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् लिट् के स्थान पर लङ् लकार का प्रयोग किया जाता है, जैसे 'अरुणद् यवनः साकेतम्'। इस वाक्य में वक्ता के स्थिति काल में साकेत पर यवनों का आक्रमण हुआ था। यह भाव लङ् के प्रयोग से जान पड़ता है। (**अरुणद् इत्युदाहरणे तु तुल्यकाल प्रवक्तेति बोध्यम्—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।२।११५**)। इसी तरह ह शश्वत और प्रश्न काल प्रश्न के सम्बन्ध में भूत अनद्यतन परोक्ष के अर्थ में लङ् लकार का प्रयोग पाणिनि ने उपयुक्त माना है।

वस (निवास करना) के साथ अनद्यतन के अर्थ में सामान्यभूत का लकार (लुङ्) प्रयुक्त होता है। कोई प्रातःकाल सोकर उठता है। उसमें कोई पूछता है 'आप ने रात कहाँ बिताई'। वह उत्तर देता है — इस स्थान पर रहा (अमुत्र अवात्सम)। परन्तु यहाँ लङ् लकार का प्रयोग तभी होता है जब कि जागरण संतति अर्थ गम्य हो अर्थात् रात के चौथे पहर में जग जाने के बाद वक्ता फिर नहीं सोया हो। यदि चौथे पहर में जग जाने के बाद वह एक मुहूर्त के लिये भी सोता है 'अवात्सम' के स्थान पर उसे 'अवसम' कहना चाहिये। कयट के अनुसार जागरण संतति का अभिप्राय यह है कि यदि प्रयोक्ता रात्रि के प्रथम तीन पहर जागे जाग ही बिताया हो तभी अवात्सम प्रयोग होगा, यदि बीच में सोकर पुनः उठ कर अपने सोने की बात वह करता है तो उसे अवसम कहना चाहिये।

पुरा और स्म के साथ (उपपद रूप में) अनद्यतन भूत के अर्थ में वर्तमान काल का व्यवहार देखा जाता है पुरा शब्द के साथ वैकल्पिक रूप में ही वर्तमान काल मिलता है। जैसे वसन्तीह पुरा छात्राः। इति स्मोपाध्यायः कथयति।

अद्यतन-अनद्यतनभूत

भूत काल का एक अद्यतन और अनद्यतन का मिश्र रूप भी भर्तृहरि ने स्वीकार किया है। अद्यतन और अनद्यतन का समुदाय अनद्यतन से भिन्न है। इसलिये अद्यतनानद्यतन नाम से एक अलग भूतभेद मान लिया गया है। इसका उदाहरण 'अद्य ह्यः अभुक्ष्महि' है।

भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत

पाणिनि ने आशंसायां भूतवच्च ३।३।१३२ इस सूत्र द्वारा भविष्यत् काल के अर्थ में

भूतकाल के प्रत्ययों का विधान किया है। ऐसे स्थलों के लिये भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होने से इसे एक अलग भूत भेद मान लिया गया है।

भविष्यत् काल

भर्तृहरि के अनुसार भविष्यत् काल चार प्रकार का है—

(१) सामान्य भविष्यत,
(२) अद्यतन भविष्यत,
(३) अनद्यतन भविष्यत
(४) अद्यतनानद्यतन भविष्यत।

इनमें सामान्य भविष्यत का निर्देशक लट् लकार है। अद्यतन भविष्यत् के लिए भी लृट् का प्रयोग किया जाता है। अनद्यतन भविष्यत अनद्यतन भूत की तरह है। इसका द्योतक लुट् लकार है। अद्यतनानद्यतनसमुदाय अद्यतन और अनद्यतन भविष्यत से भिन्न है।

जिस तरह भविष्यत के स्थान पर आरोपित भूत होता है उसी तरह अनद्यतन भूत के अर्थ में भविष्यत काल का भी आरोप देखा जाता है विशेषकर स्मरणार्थक धातुओं के साथ। जैसे, अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्याम। परन्तु भर्तृहरि ने इसे अलग भविष्यत भेद के रूप में स्वीकृत नहीं किया है इसी तरह अनद्यतन भविष्यत् होते हुए भी जिनमें सामान्यभविष्यत के प्रत्यय आदि प्रतिषेध के आधार पर किये जाते हैं उन्हें सामान्य भविष्यत में ही परिगणित करना चाहिए (यस्तु अनद्यतनवत् प्रतिषधात् भविष्यत सामान्यकार्याणि प्रतिपद्यते सोऽनद्यतनोऽपि शास्त्र व्यवहारो भविष्यत्सामान्यमेव—हेलाराज काल समुद्देश ७८)।

परिदेवन (खेद) के अर्थ में अद्यतनभविष्यत के लिये अनद्यतन भविष्यत का प्रयोग साधु माना जाता है जैसे इयं कदा नु गन्ता या एवं पादौ निदधाति (जब यह इस तरह से पैर रख रही है तब कब पहुंच सकेगी)। पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य लुट् को श्वस्तनी और लट् को भविष्यन्ती कहते थे।

लोक में भविष्यत के अर्थ में भूत का प्रयोग एक वाक्य में देखा जाता था। वह वाक्य यह है—दवदेवे वृष्टे निष्पन्ना शालय (यदि पानी बरसेगा धान की फसल अच्छी होगी)। वस्तुतः सपत्स्यन्त शालयः कहना चाहिये क्योंकि अभी धान होने वाले हैं वे अभी निष्पन्न नहीं हुए हैं। फिर भी जनता भविष्यत काल का प्रयोग नहीं करती थी और यदि कोई भविष्यत काल का प्रयोग (संपत्स्यन्ते) कर देता था तो उससे कहा जाता था कि संपत्स्यन्ते के स्थान पर संपन्ना कहो। वाक्य पदीयकार ने यहां भूतकाल के प्रयोग के पक्ष में कुछ अपने सुझाव दिये हैं।

उनके मत में निष्पत्ति शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो आरम्भ जो फल की उत्पत्ति के कारण है और दूसरा फल का सिद्ध होना। जहां तक धान की निष्पत्ति का प्रश्न है पहले अर्थ के अनुसार जल और शालि का संयोग ही निष्पत्ति है। धान के सिद्ध होने में जल शालि का संयोग सम्पन्न होने वाली अवस्था का एक अवयव

है। वह वपण क्रिया मात्र से सिद्ध है। धान की जो फसल होगी उसके बहुत पहले ही जल शालि का संयोग घटित हो गया रहता है। इस आधार पर क्रिया अतीत मान ली जायगी और भविष्यत् के स्थान पर भूत का (निष्पन्न शब्द का) प्रयोग उपपन्न हो सकेगा।

यदि निष्पत्ति शब्द का दूसरा अर्थ, फल प्रसव रूप अर्थ लिया जायगा तब भी उपर्युक्त वाक्य में भूतकाल के व्यवहार का समर्थन किया जा सकता है। धान की निष्पत्ति का अर्थ फल रूप धान का सम्पन्न होना है। उसके कारण जल शालि संयोग आदि है। कार्य के धर्म का कारण के धर्मों में अध्यास किया जाता है। इस आधार पर फलनिष्पन्नरूप कार्य का जल शालि संयोग में अध्यास हो जायगा। जल शालि का संयोग केवल वपण क्रिया से सिद्ध हो जाने के कारण क्रिया अतीत मान ली जायगी। फलतः फल निष्पत्ति भी अध्यस्त रूप में अतीत ही मानी जायगी और इस तरह निष्पन्न शब्द का व्यवहार भविष्यत के अर्थ में भूत का प्रयोग उपपन्न हो जायगा।[६६]

अथवा कार्य में कारण के धर्म का अध्यारोप किया जायगा। धान की फल निष्पत्ति कार्य है। जल शालि का संयोग कारण है। उसका वपण क्रिया अतीत धर्म है उस धर्म का निष्पत्ति में आरोप कर निष्पत्ति को अतीत मान निष्पन्ना शालय कहा जा सकता है। पूर्व वाले मत से इस मत में इतना ही अन्तर है कि पहले कारण धर्म में कार्य धर्म का आरोप कहा गया था इसमें फल में कारण धर्म का अध्यास कहा गया है। कात्यायन ने हेतुभूतकालसम्प्रेषितत्वात् (वार्तिक, महाभाष्य ३।३।१३३) के द्वारा इसी मत का समर्थन किया है। धान की निष्पत्ति में हेतुभूत वर्षा आदि हैं। वर्षा के काल का (अतीत का) धान की सम्पन्नतारूप कार्य में अर्पण की जाती है अर्थात् कार्य और कारण में अभेद मान कर कारण का ही कार्य रूप में व्यक्त किया जाता है। इस तरह औपचारिक व्यवहार करने का प्रयोजन किसी विशेष कारण या अन्य कारणों की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न बताना है। यदि इस तरह से शालि निष्पन्न माना जायगा तो उससे भोजन आदि के व्यापार (गत्यक्रिया) भी तुरन्त क्यों नहीं होने लगते? इसके उत्तर में महाभाष्यकार ने कहा है कि जो धान यथार्थरूप में निष्पन्न हो चुके हैं और खलिहान से उठाकर कोठला (कोष्ठ) में रख गये हैं वे भी तुरन्त बिना किसी दूसरी क्रिया के सहारा लिये अन्य क्रिया के उपयोगी नहीं होते। उन्हें भी भोजन के योग्य होने के लिये अवहनन (मूसल से छाँटना) आदि व्यापारों की अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई विद्यमान वस्तु अन्य क्रिया को नहीं कर रही है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें अन्य क्रिया की शक्ति ही नहीं है। उसमें भी अन्य क्रिया की शक्ति अनभिव्यक्त रूप में हो सकती है। इसलिए निष्पन्न कहे जाने वाले पर अभी अनिष्पन्न शालि भी जनन आदि क्रिया की प्रतीक्षा करने वाले कहे जा सकते हैं। और अर्थक्रियाशक्ति सम्पन्न माने जा सकते हैं।

इस प्रसंग में भर्तृहरि ने निष्पत्ति और सिद्धि में थोड़ा सा भेद दिखाया है

---

६६ वाक्यपदीय, कालसमुद्देश १०६, १०७।

जो व्यापार देश योग्य है। भर्तृहरि के अनुसार निष्पत्ति के हेतु अनाश्रित होता है, उसकी कारण शक्ति की परिकल्पना ठीक ठीक नहीं हो पाती है। जबकि सिद्धि का साधन स्पष्ट शक्ति और व्यवस्थित होता है। निष्पत्ति का सम्बन्ध हेतु से और पराश्रय होना है जबकि सिद्धि का सम्बन्ध स्व से ही है। निष्पत्ति मात्र साधना के अधीन है जब कि सिद्धि साधारण साधन के अधीन है

निष्पत्त्यवधि कश्चित् कर्ता यत्र प्रतिविधीयते ।
हेतुभूतव्यपेक्षयान फलत्वमेति चोच्यते ॥
ययाहिसाधनाधीना सिद्धि यत्र विवक्षिता ।
तत् साधनान्तराभावात् सिद्धमित्युपदिश्यते ॥
—वाक्यपदीय ३ काल समुद्देश १०९ ११०

भर्तृहरि ने पदविभाग के आधार पर उपयुक्त काल में भूत भविष्यत् और वर्तमान कालों के प्रयोग का समर्थन किया है निष्पन्न शास्त्र निष्पत्स्यमान शास्त्र निष्पद्यते शास्त्र इत्यादि वाक्य विवक्षानुसार प्रयुक्त हो सकते हैं। भर्तृहरि ने सत्य का वास्तविकता की मान्यता पर जोर दिया है। इसके पीछे उनका सत्तावाद है। मार्ग में एक कूप है। जो पथिक उस प्रदेश में आ रहा है उसके लिए कूप की वर्तमान-सत्ता है जो उस देश छोड़ चुका है उसके लिए उस कूप की भूत सत्ता है और जो उस अभी पहुँचेगा उसके लिए उस कूप की भविष्यत्-सत्ता है। इन्द्रिय सम्बन्ध या असम्बन्ध के आधार पर एक ही सत्ता भिन्न भिन्न व्यपदेश वाली है। साथ ही वस्तु की बौद्धिक सत्ता सर्वदा वर्तमान रूप में उपलब्ध हो सकती है। इस आधार से कूप है ऐसा वर्तमानकालिक प्रयोग सर्वथा उपपन्न है। इस तरह की उपलब्धि में भूत भविष्यत् आदि की विवक्षा प्राधान्येन नहीं उठती, केवल वस्तु के सत्ता की विवक्षा मानसिक ग्रहण में देखी जाती है

सतामिन्द्रियसम्बन्धात् सैव सत्ता विशिष्यते ।
भेदेन व्यवहारो हि वस्त्वन्तरनिबन्धन ॥
प्रतिसंव वस्तुमात्रस्य बुद्ध्या तु परिगृह्यते ।
स समासादनाद् भेद स तत्र न विवक्षित ॥
—वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश ११२ ११३

क्रियातिपत्ति में भूत और भविष्यत्

जब किसी प्रतिबन्धक के कारण अथवा सामग्री की विकलता से किसी क्रिया की उत्पत्ति बिल्कुल नहीं हो पाती है उसे क्रियातिपत्ति कहते हैं कुतश्चिद् वैगुण्याद अनभिनिर्वृत्तिः क्रियायाः क्रियातिपत्तिः —काशिका ३।३।१३९। अब प्रश्न यह है कि क्रिया की अनुत्पत्ति के साथ भूत या भविष्यत का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। क्योंकि भूत उत्पन्न के अतिक्रान्त अवस्था को द्योतित करता है जो अनुत्पन्न है उस के साथ उसका सम्बन्ध दुर्घट है। इसी तरह साधनसंनिधान के होते हुए संभावित उत्पत्ति भविष्यत का क्षेत्र है। अनुत्पन्न से उसका भी सम्बन्ध कठिन है।

भर्तृहरि ने इस प्रश्न का समाधान अवधिभेद से विषयभेद के आधार पर किया है। यदि कमलकम् आह्वास्यत न शकट पर्याभविष्यत (यदि कमलक को बुलाता गाडी नहीं टूटती)। कमलक एक ऐसा व्यक्ति है जो शकट को संभालने में कुशल है उसकी कुशलता पूर्व के अवसरों पर परीक्षित है। इसलिए भविष्य में भी कमलक का आह्वान शकट की सुरक्षा में साधक हो सकता है ऐसा समझना स्वाभाविक है। शास्त्रीय शब्द में यही लिंग है और कमलक का आह्वान सामान्य धर्म है। यहां कमलक के पुकारे जाने की और गाड़ी के टूटने की अतिपत्ति है और वह प्रमाणान्तर गम्य है। कमलक के पुकारे जाने की अनिपत्ति उसके देशान्तर चले जाने से सम्भव है और गाडी का भग्न होना भी अत्यधिक भार आदि से सम्भव है। इस बात को समझते हुए ही वक्ता ने उपयुक्त वाक्य का प्रयोग किया है। इसमें कमलक के आह्वान और शकट के न टूटने में हेतुहेतुमद्भाव है। इस वाक्य से इन दोनों की अनिपत्ति भविष्यत् कालिक जान पड़ती है। वर्तमान में तो वह देख ही रहा है कि कमलक को बुलाया नहीं जा सकता और न गाडी ही टूटने से बचाई जा सकती है। अतः यहां भविष्यत् काल सम्बन्धी क्रियातिपत्ति है। अर्थात् काल का अवच्छेद भविष्यत् रूप में होने के कारण क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भी भविष्यत् से हो गया है।

इसी तरह क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भूतकाल से भी हो जाता है। जैसे कोई किसी से कह रहा है— मैंने अपने भूखे पुत्र को भोजन की फिराक में इधर-उधर घूमते देखा है एक दूसरे आदमी को भी देखा जो भोजन कराने के लिये ब्राह्मण की खोज में घूम रहा था। यदि उसे देखा होता अवश्य खिलाता परन्तु उसने भोजन नहीं किया वह दूसरे रास्ते से चला गया' इस उक्ति में न भोजन करने का व्यापार जो भोजन का प्रतिद्वन्द्वी है, भूतकाल के रूप में व्यक्त किया गया है वह अतीत को विषय हो गया है। इसलिये क्रियातिपत्ति भी अतीत विषय वाली जान पड़ती है। इसलिये यहाँ उसका व्यवहार भूत रूप में किया गया है।

नागेश के अनुसार ऐसे स्थलों में भविष्यत आदि का आरोप किया जाता है और इस आरोपित अर्थ के द्वारा ही क्रियातिपत्ति का भविष्यत आदि से सम्बन्ध हो पाता है—

> साधनाभावाद् अभविष्यदपि वस्तुनि भविष्यत्त्वम् आरोप्यते निषेधप्रतियोगित्वायेत्यदोषात्। सुभिक्षभवन हेतुसुवृष्टिभवन भविष्यत्वेन असम्भावयन् एवमभिधत्ते। एवं हि क्रियातिपत्ति अवगता भवति—मंजूषा, पृष्ठ ६२३

व्यामिश्र काल

संस्कृत में ऐसे बहुत से वाक्य मिलते हैं जिनमें दो विरुद्ध काल एक साथ उलझे रहते हैं जैसे—

(१) भावि कृत्य आसीत

(२) अग्नि गामशाक्यस्य पुत्रो जनिता

(३) साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो ये प्लावयिष्यन्ति समं ततोमी
(४) गोमान् आसीत् आदि।

इनमें प्रथम वाक्य में भावि शब्द में भविष्यत्काल का प्रत्यय है आसी भूतकाल का है। द्वितीय वाक्य में अग्निष्टोमयाजी शब्द में भूत काल का प्रत्यय है, जनिता भविष्यत काल है। ततीय वाक्य में नदन्त वर्तमानकाल का 'प्लावयिष्यन्ति' भविष्यत काल से सम्बन्ध है। चतुर्थ वाक्य में वर्तमान काल का भूतकाल से सबंध है। पाणिनि ने इस तरह के प्रयोगों की साधुता दिखाने के लिये धातु सम्बन्धे प्रत्ययाः' ३।४।१ इस सूत्र का निर्माण किया था। धातुओं में परस्पर संबंध संभव है। वह विशेषण विशेष्यभाव रूप में होता है। सुबन्तवाच्य अर्थ विशेषण होता है और तिङन्त वाच्य अर्थ प्रधान होने के कारण विशेष्य होता है। अग्निष्टोमयाजी में भूतकाल विशेषण है जनिता शब्द में भविष्यत काल विशेष्य है। विशेषणविशेष्यसंबंध के बल पर भूतकाल भविष्यत काल से मिल कर भविष्यतकाल हो जाता है। अतः उपर्युक्त वाक्य का भाव हो जाता है— इसको ऐसा पुत्र होगा जो अग्निष्टोम से यज्ञ करेगा। इसलिये पाणिनि का उपर्युक्त सूत्र से अभिप्राय यही था कि धातु के संबंध में कालान्तरविहित प्रत्यय वाले शब्दों का किसी अन्यकाल के साथ सम्बन्ध संभव हो सके और उन्हें साधु माना जाय। परन्तु महाभाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है और भर्तृहरि आदि ने इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार का अनुकरण किया है। कात्यायन के अनुसार प्रत्यय के यथाकाल विधान से काम चल जायगा। जिस तरह से 'इन सूत्रों से साड़ी बनाओ' इस वाक्य से साड़ी की भावि व्यपदेश रूप में प्रतिपत्ति होती है उसी तरह अग्निष्टोमयाजी के भूत का जनिता के भविष्यत के सहारे भाविव्यपदेश हो जायगा। उपपन्न में विशेषण में विशेष्य के काल से अन्य काल का होना अस्वाभाविक नहीं है परन्तु वाक्य के सामर्थ्य से विशेषण का काल विशेष्य के काल से सम्बद्ध होकर ही भासित होगा। इसलिये सूत्र के बिना भी काम चल सकता है। किन्तु भर्तृहरि ने सूत्र की सार्थकता के पक्ष में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। व्यामिश्रकाल में भूत और भविष्यत आदि के एक साथ प्रयोग को मान्यता देने के लिये सूत्र की सार्थकता है—

> शुद्धे च काले व्याख्यातमामिश्रे न प्रसिध्यति।
> साधुत्वमयथाकालं तत्र सूत्रेणोपलक्ष्यते ॥[१७]

इस तरह से वाक्यपदीय में ग्यारह तरह के कालभेद का विवेचन किया गया है

> भूतः पञ्चविधस्तत्र भविष्यंश्च चतुर्विधः।
> वर्तमानो द्विधा स्यात् इत्येकादश कल्पना ॥[१८]

१७ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश ६८
१८ वही ३८

परन्तु भर्तृहरि-दर्शन में ये सब भेद व्यवहार की सुविधा की दृष्टि से कल्पित हैं, यथार्थ नहीं हैं। कालाख्य स्वतन्त्रशक्ति भेद से सर्वथा रहित है—

> विकल्परूपं भजते तत्वमेवाविकल्पितम्।
> न चात्र कालभेदोस्ति कालभेदश्च गृह्यते ॥[६९]

दिक् और काल

भारतीय विचार परम्परा में दिक् और काल साथ-साथ आते रहे हैं। व्याकरण में भी इनका साहचर्य है। पाणिनि ने कई नियम दोनों के लिये साथ-साथ व्यक्त किये हैं जैसे दिग्देशकालेष्वस्ताति।५।३।२७। भर्तृहरि ने भी काल की तरह दिक् पर भी विचार किया है।

भर्तृहरि के दर्शन में दिक् और काल में कई तरह के साम्य हैं। जिस तरह वे काल को शक्ति मानते हैं वैसे ही दिक् को भी शक्ति मानते हैं —

> शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिते।
> दिक् साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिना ॥
>
> —वाक्यपदीय दिक् समुद्देश १

कालशक्ति क्रिया का भेदक है और दिक् शक्ति मूर्ति का (कालात् क्रियाविभज्यन्ते आकाशात् सर्व मूर्तय —वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश, अधिकरण ६)।

दिक् और काल दोनों क्रम के आधार पर भेदक होते हैं। देश भेद चलने वाले (गन्ता) की गति से स्पष्ट है। ठहरने (तिष्ठति) में भी देश भेद है। काल भेद तो क्रमाश्रित है ही। यौगपद्य में भी पर्यायतः क्रम रहता है।

भर्तृहरि के अनुसार दिक् अवधि और अवधिमान में भेद का हेतु है। ऋजु या वक्र के ज्ञान का निमित्त भी दिक् है। क्रम के तिर्यक् ऊर्ध्व आदि के व्यंजक भ्रमण उत्क्षेपण आदि जातिभेद की अभिव्यक्ति भी दिक् के ही आश्रय से होती है। दिक् शक्ति एक है फिर भी उपाधिभेद से दस प्रकार की मानी जाती है। दिक् के सहारे ही परत्व और अपरत्व विवेचन होता है। मूर्ति (अवगतद्रव्यपरिमाण) में क्रमरूप की कल्पना दिगाश्रित है। अमूर्त आकाश में भी परत्व अपरत्व वस्तुओं के संयोग विभाग के आधार पर औपाधिक रूप में माने जाते हैं।[७०] इसी पूर्व अपर आदि ज्ञानों के बल पर दिक् की सत्ता का अनुमान किया जाता है (यथा पूर्वापरादि प्रत्ययलक्षणेन कार्येण अनुमित सत्वा तयाम्युपगन्तव्या शक्तिरूपा दिक्—हेलाराज, दिक् समुद्देश ७)

भर्तृहरि ने दिक् की बाह्य सत्ता के अतिरिक्त उसकी आन्तरिक सत्ता भी मानी

---

६९ वही द्रव्यसमुद्देश ८
७० वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश २-५।

है। उनके अनुसार दिक् अन्तःकरण का एक धर्म है जो बाह्य रूप में, पूर्व अपर रूप में प्रकाशित होता है। दिक् का कोई बाह्य रूप नहीं है (न बाह्या काचिद् दिगस्ति—हेलाराज, दिक् समुद्देश २३)।

अन्तःकरणधर्मो वा बहिरेव प्रकाशते।[७१]

---

७१. वा० दिक् समुद्देश २३

उपग्रह-पुरुष-संख्या-विचार

उपग्रह शब्द पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का जान पडता है यद्यपि निरुक्त और प्रातिशाख्यों में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु कात्यायन, पतंजलि आदि ने इसका व्यवहार पारिभाषिक रूप में किया है। पाणिनि-सूत्रों में यह शब्द नहीं है। पाणिनि के एक सूत्र 'चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठ्याः' ६।२।१३४ का पाठभेद 'चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्' इस रूप में मिलता है। इसका उल्लेख काशिका में वामन ने किया है। इसमें उपग्रह शब्द है। वामन के अनुसार पूर्व के आचार्य षष्ठ्यन्त को उपग्रह कहते थे

> चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठान्तरम्। तत्रोपग्रह इति षष्ठ्यन्तमेव पूर्वाचार्यानुरोधेन गृह्यते।—काशिका ६।२।१३४
>
> पूर्वाचार्या हि षष्ठ्यन्तमुपग्रह इत्येवमुपचरन्ति स्म।
>
> —न्यास ६।२।१३४

किन्तु आख्यातगम्य उपग्रह षष्ठ्यन्त-उपग्रह से भिन्न है। आख्यातगम्य उपग्रह शब्द का प्रयोग कात्यायन ने उपग्रह प्रतिषेधश्च (वार्तिक ३।२।१२७) में किया है। महाभाष्य में पारिभाषिक उपग्रह शब्द का व्यवहार कई स्थलों पर मिलता है। जैसे—

> न निष्ठापरस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहौ विशेषितौ स्याताम्।
>
> महाभाष्य २।१।६०
>
> सुप्तिङुपग्रह लिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
>
> व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥
>
> —महाभाष्य ३।१।८५
>
> तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते।
>
> —महाभाष्य ३।१।६७

उपग्रह की परिभाषा

स्कन्दस्वामी ने उपग्रह के स्वरूप बतलाते हुए उसे कर्तृगामी और परगामी लक्षण वाला माना है। आत्मनेपद के उच्चारण से फल कर्तृगामी जान पड़ता है और परस्मैपद

के उच्चारण से फल परगामी जान पड़ता है —

> उपग्रह कर्तृगामि परगामित्व लक्षण । स्वरितञितः आत्मनेपदं उच्चारिते ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इति कर्तृगामिफलत्वं प्रतीयते । परस्मैपदे तु यजन्ति याजका इति परगामिफलत्वम् ।[1]

जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार उपग्रह एक तरह का क्रिया विशेष है परन्तु उससे आत्मनेपद और परस्मैपद इसलिए गृहीत होते हैं कि वे ही उसकी अभिव्यक्ति में निमित्त हैं—

> लादेश व्यङ्ग्य क्रियाविशेषो मुख्य उपग्रह । इह तु तद् व्यक्तिनिमित्तत्वात् परस्मैपदात्मनेपदयोर्वर्तते ।[2]

इसको भट्टोजि दीक्षित ने यों कहा है—

> लादेश व्यङ्ग्य क्रियासाधनविशेषरूप स्वार्थपरार्थत्वादिश्चोपग्रहशब्दस्य वाच्य ।[3]

इन सब उक्तियों का आधार वाक्यपदीय है । उपग्रह की परिभाषा वाक्यपदीय में ही सर्वप्रथम देख पड़ती है । वह यों है —

> य आत्मनेपदाद् भेद क्वचिदर्थस्य गम्यते ।
> अन्यतश्चापि लादेशान् मन्यन्ते तमुपग्रहम् ॥[4]

आत्मनेपद या परस्मैपद के प्रयोग से क्रिया या साधन के किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जिसका सम्बन्ध सीधे कर्ता से होता है अथवा कर्ता से अन्य किसी दूसरे में होता है । इसी क्रिया या साधन के विशेष को उपग्रह कहा जाता है । हेलाराज के अनुसार पूर्वाचार्यों ने इसी अर्थ में उपग्रह शब्द का व्यवहार किया था और उसी आधार पर उसी अर्थ में यह शब्द सम्प्रति व्याकरण-दर्शन में गृहीत है — (पूर्वाचार्यप्रसिद्ध योपग्रहशब्दवाच्योऽयमर्थो व्यवहृयतेऽत्र शास्त्र—हेलाराज, उपग्रह समुद्देश १) ।

साधन उपग्रह रूप में

कर्म कर्ता जैसे साधन आत्मनेपद से व्यक्त होने के कारण उपग्रह कहे कहे जाते हैं । जैसे पच्यते गम्यते जैसे शब्दों में आत्मनेपद से कर्म द्योतित होता है । एधन्

---

१ निरुक्तमध्याय पृष्ठ ६ डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित ।
२ काशिका विवरण पञ्जिका ३।१।८५
३ शब्द कौस्तुभ पृष्ठ ८६६ (चौखम्बा संस्करण)
४ वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १

यानि जैसे शब्दा म आत्मनपद और परस्मैपद से कर्ता व्यग्य है। कभी कभी भाव भी साधन के रूप मे व्यवहृत होता है और वह आत्मनपद से अभिव्यक्त होता है। जसे आस्त शय्यते जस पत्ना मे आत्मनेपद के द्वारा ही भाव की अभिव्यक्ति हाती है, भाव क्रिया के एकपदवाच्य साधनावग को अभिव्यक्त करता हुआ स्वय साधन हो जाता है। कभी कभी उपग्रह साधन के विशेषणरूप म व्यक्त होता है विशेषकर व्यक्तवाक के अथ म। जस सप्रवदन्त ब्राह्मणा' इस वाक्य म उपग्रह साधन का विशेषण है। यद्यपि शुक, सारिका आदि के उच्चारण म भी वर्णों के स्पष्ट उच्चारण जान पडत ह किन्तु वे सीमित या इन गिने वर्णों म ही स्पष्ट जान पडत हैं और वह भी पुरुष के प्रयत्न से बहुत दिन तक सिखान रटान से सभव हो पात ह। इसलिय उनके लिय वदन्ति शब्द का ही प्रयोग हाता है वदत शब्द का नही।

क्रियाविशेष उपग्रह रूप में

कभी कभी क्रियाविशेष उपग्रह हाते हैं। जसे गन्धन (पीडा पहुचाने वाली निन्दा) और अवक्षेपण (भत्सना) धातु से वाच्य क्रियाविशेष हाते हुय भी जब तक आत्मनेपद स न व्यक्त किय जाय तब तक अनभिव्यक्त ही रहते हैं। जसे उत्कुरत। इस शब्द से हिंसात्मक निन्दा का अथ आत्मनेपद के प्रयोग से ही जान पडता है। इसी तरह 'श्येन वर्तिकाम उदाकुरुते" इस वाक्य म श्येन द्वारा वर्तिका की भत्सना उदाकुरुते म आत्मनेपद के प्रयाग से अवगत होती है। इसी तरह कमव्यतिहार भी क्रियाविशेषण के रूप म आत्मनपद से व्यग्य हाकर उपग्रह हाता है। कमव्यतिहार का अभिप्राय यहा क्रिया-व्यतिहार है। जब एक सम्बन्धी क्रिया को काई दूसरा व्यक्ति करने लगता है और दूसरे के लिय नियत क्रिया का जब पहला व्यक्ति करन लगता है उसे कम व्यतिहार अथवा क्रिया-व्यतिहार कहत हैं (अन्यस्य सर्वार्थानीं क्रियामन्य करोति, इतर सम्बन्धिनीं चेतर स कम व्यतिहार —काशिका १।३।१४)। क्रिया के साध्यस्वभाव के होन के कारण साध्यायि होने के कारण उनमे व्यतिहार अथवा विनिमय यद्यपि सभव नही है फिर भी साध्य साधन का विपर्यास सभव है। योग्यतावश से अमुक व्यक्ति की यह क्रिया साध्य है और अमुक का यह साधन है इस तरह के ज्ञान हाते हुय भी जब साध्यसाधनभाव म व्यत्यास हो जाता है उस क्रियाव्यतिहार कहत हैं। वस्तुत क्रिया अभी करने वाले को अभीष्ट रहती है 'मैं इस क्रिया को करूगा' इस तरह के विचार उसके मन म रहते हैं तभी काई दूसरा व्यक्ति उस क्रिया को करने लग तो क्रिया व्यतिहार होता है जसे-व्यतिलुनीते। इसका अभिप्राय है कि अन्य द्वारा काटे जाने वाल धान को पहले ही काई दूसरा काट रहा है। यहा आत्मनपद से यही व्यत्यास द्योतित है। फलत क्रियाव्यतिहार भी उपग्रह माना जाता है। क्रिया व्यतिहार म ता आत्मनपद होता है परन्तु साधनकम व्यतिहार म नही होता जसे देवदत्तस्य धान्य व्यतिलुनन्ति (देवदत्त द्वारा सग्रहीत धान्य का काई अन्य सग्रह कर रहे हैं)। यहा अन्य सम्बन्धी धान्य का अन्य द्वारा सग्रह किय जाने के कारण साधन-

कर्म व्यतिहार है। इसे परस्मैपद से ही व्यक्त किया जाता है। कभी कभी परस्परकरण भी क्रिया व्यतिहार होता है जैसे—'संप्रहरन्ते राजानः'। इस वाक्य में एक ही क्रिया सचारिणी सी जान पड़ती है। क्रिया व्यतिहार प्रायः उपसर्ग से द्योतित किये जाते हैं (उपसर्गाश्च प्रायः कर्मव्यतिहारद्योतनाय प्रयुज्यन्ते—कयट, महाभाष्यप्रदीप १।३।१६) उपसर्गों में भी प्रायः व्यति (वि और अति) ही क्रियाव्यतिहार के लिए प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी सम् भी प्रयुक्त होता है। क्रिया व्यतिहार प्रायः अनेक कर्तृक होता है इसलिये उसके लिये क्रियाशब्द सदा बहुवचन में ही होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। किन्तु 'क्रियां व्यतिस्ते तु ममापि धर्मः' जैसे वाक्यों में एकवचन का प्रयोग भी देखा जाता है।

विषयभेद के आधार पर क्रिया विशेष उपग्रह रूप में

एक ही क्रिया विषयभेद से भिन्न भिन्न मान ली जाती है और उसके भिन्न स्वरूप आत्मनेपद और परस्मैपद से द्योतित किये जाते हैं। पचति और पचते में अन्तर है। पचति शब्द में परस्मैपद इस बात का द्योतक है कि पकाने वाले की पकाने की क्रिया जीविका रूप में है वह केवल भृत्य की तरह का व्यापार है। यहां प्रधान क्रिया फल कर्तृगामी नहीं है भृत्य के लिये वेतन मात्र फल है। किन्तु पचते में आत्मनेपद से यह ध्वनित होता है कि पाक क्रिया का प्रधान फल कर्ता को मिलेगा। कर्ता अपने लिये ही पका रहा है। विषयभेद के आधार पर क्रिया का भेद वाक्य में भी दिखाई दे सकता है। जैसे स्वयं यजते और स्वयं यजति। यह भ्रम हो सकता है कि परस्मैपद से द्योत्य (यजति) प्रधान क्रिया फल कर्तृगामी नहीं होगा। इस भ्रम के निवारण के लिये ही 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' (१।३।७७) सूत्र की आवश्यकता है। अर्थात् उपपद (समीप में उच्चरित न कि पारिभाषिक) से द्योत्य क्रियाफल कर्तृगामी होगा चाहे वह आत्मनेपद से द्योत्य हो अथवा परस्मैपद से। फलतः स्वं कटं करोति और स्वं कटं कुरुते में फल की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।[५] वस्तुतः इन वाक्यों में प्रधानफल का कर्तृगामित्व स्व रूप में द्योत्य स्व शब्द की शक्ति के कारण होता है। अतः विषयभेद से क्रिया भेद के आधार पर कहीं कहीं क्रियाविशेषण भी उपग्रह हो सकते हैं।

इस प्रसंग में महाभाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि याति वाति जैसी क्रियाओं में आत्मनेपद क्यों नहीं होता। क्योंकि जब क्रिया फल कर्तृ अभिप्राय वाला (कर्तृगामी) हो आत्मनेपद होता है। इस तरह से सभी क्रिया फल कर्तृ अभिप्राय वाले होते हैं। इसका समाधान स्वयं उन्होंने किया है। उनका कहना है कि उन धातुओं से आत्मनेपद होगा जिनके क्रिया फल कर्तृ अभिप्रायवाले और अकर्तृ अभिप्राय वाले भी होंगे। या वा जैसे धातु कर्तृगामी और अकर्तृगामी भी क्रिया फल

---

५ काशिका १।३ उपग्रह समुद्देश ३

वाले नही हैं। इसलिये इनसे ग्रात्मनमद नही होना। पाणिनि ने, महाभाष्यकार के अनुसार एस भी स्वरित जित धातु पढे है जिनके क्रियाफल कत गामी भी हैं और अकर्त - गामी भी हैं। फलत स्वरितजित कत्र भिप्राय नियाफने १।१।७२ इस सूत्र म स्वरितजित की आवश्यकता नहीं है।[6] यद्यपि पाणिनि ने धातुग्रा म ञ आदि अनुबन्ध को लक्ष्य कर ही स्वरितजित् ग्रहण किया होगा और इस दृष्टि से स्वरितजित की साथकता भी है परन्तु प्रत्याख्यान के पक्षपाती ञकार आदि अनुबन्धा को धातु की स्वाभाविक शक्ति के द्योतक मानन हैं (स्वाभाविकी हि धातूना शक्ति नियतविषया ञकाराद्यनुबन्ध तदवगमाय कृता गणकार —हेलाराज उपग्रहसमुद्देश ११)। भत हरि के अनुसार अकार आदि अनुबन्ध स्मरणार्थक हैं। जो लोग केवल प्रयोग स धातु के स्वाभाविक अर्थ के समझने म असमर्थ हैं उनके लिये अनुबन्धा का विन्यास किया गया है। प्रयोगज्ञ के लिये उनकी आवश्यकता नही है

अनुबन्धश्च सिद्धेऽर्थे स्मरणयमनुपज्यते[7]

कुछ लोगा के अनुसार स्वार्थ की दृष्टि से जब क्रिया आरम की जाती है आत्मनपद होता है। परार्थ की दृष्टि से जब क्रिया का आरम्भ होता है परस्मैपद होता है परन्तु एक तरह स सभी क्रिया स्वार्थ के लिये ही होती हैं। महाभाष्यकार न इसे इस रूप म व्यक्त किया है—'सभी व्यक्ति अपने अपने लाभ के लिये ही क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं। जो गुरु की सेवा शिनि गत किया करते है वे भी वस्तुत अपने स्वार्थ के लिये ही ऐसा करते हैं। हमे पुण्य मिलेगा और प्रसन्न होकर गुरु हमे पढावेगा ऐसी उनकी भावना गुरु सेवा म अन्तर्हित रहती है। जो कमकर (कमकर) हैं वे भी स्वार्थ भावना से ही काम करते हैं। हमे अन्न-वस्त्र मिलेंगे और फटकार न सुननी पडेगी ऐसी उनकी अभिलाषा रहती है। शिल्पी भी वेतन और मित्र की अभिलाषा स ही अपने काम म प्रवृत्त होते हैं।[8] स्वार्थता ही पारमार्थिक (सत्य) है और परार्थता असत्य है। अत कुछ लोग स्वार्थता-परार्थता को विवक्षाधीन मानते हैं। कुछ लोग स्वार्थता म स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण उसे विवक्षा निमित्त नही मानते, केवल परार्थता को विवक्षा निबन्धन मानते हैं। कुछ लोग प्रधानफल की दृष्टि से स्वार्थता और परार्थता दोनो को वास्तविक मानते हैं। कयट न स्वार्थपरार्थता की दृष्टि स भी स्वरितजित ग्रहण को प्रत्याख्येय माना है क्योंकि जहा स्वार्थ परार्थ दोनो की विवक्षा होगी वही सूत्र की प्रवृत्ति होगी। यानि आदि क्रियाओं म परार्थता सभव नही है इसलिये वहा आत्मनेपद की प्राप्ति ही न होगी। फलत उपयुक्त सूत्र म स्वरितजित ग्रहण की आवश्यकता नही है।

---

६ महाभाष्य १।३।७२
७ वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १२
८ महाभाष्य, ३।१।२६

साहचर्य से और वाक्यार्थ के पर्यालोचन से समझ पड़ता है। ऐसे उदाहरणों में ग्रंथ के सामर्थ्य से जिस अर्थ की उपपत्ति होती है उसकी आत्मनेपद से ही उपपत्ति का भ्रम होना स्वाभाविक है। और इस भ्रान्ति के आधार पर आत्मनेपद और णिच् के विकल्प का सिद्धान्त खड़ा है। परन्तु नागेश इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत में विकल्प-उक्ति असंगत है। वपन, चिनुते आदि प्रयोग भी स्वभावनिर्णय के आधार पर उपपन्न हो सकते हैं। अथवा प्रकरण आदि के बल पर इनका तात्पर्य समझा जा सकता है और इस तरह का ज्ञान परस्मैपद के प्रयोगों के साथ भी दिखाई दे सकती है—

> चिनुते इत्यादिप्रयोगश्च असमीचितप्रत्ययतया उपपाद्यः प्रकरणादिकं च तात्पर्यग्राहकम्। कदाचित् परस्मैपदेऽपि तत्प्रतीत्या तस्याव्यञ्जकत्वाच्च।[९] वस्तुतः णिच् प्रेरणावाची। किञ्च सामान्यविहितस्य णिचो धातुविशेषाद् विहितेनात्मनेपदेन बाध एवोचितः।[१०]

इसका अभिप्राय क्रियाफल में भी आत्मनेपद देखा जाता है यदि अण्यन्तावस्था का कर्म ण्यन्त में कर्म होता हुआ भी कर्ता के रूप में व्यवहृत हो। जैसे आरोहयते हस्ती स्वयमेव। अण्यन्तावस्था में यह वाक्य आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः के रूप में था। हस्तिन् शब्द कर्म था। वही कर्म ण्यन्तावस्था में कर्म होता हुआ कर्ता हो गया है। इसलिए यहाँ आत्मनेपद है। एक ही समय में एक ही शब्द कर्म और कर्ता दोनों कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि धर्म भेद से ऐसा सम्भव है। एक वस्तु धर्म है दूसरा विवक्षा धर्म है। हस्ती पर आरोहण किया जाता है यह आरोह्य है, अतः वस्तु धर्म के कारण उसमें कर्मत्व है। स्वातन्त्र्य की विवक्षा में उसमें कर्तृत्व भी है। आङ्पूर्वक रुह् धातु से दो क्रियाएँ अवगत होती हैं न्यग्भवन (नीचे झुकना) और न्यग्भावन (झुकाया जाना)। न्यग्भवन क्रिया में हस्ती कर्ता है। न्यग्भावन क्रिया में हस्तीपक कर्ता है। झुकते हुए हाथी को हस्तीपक (पीलवान) झुकाता है। किन्तु अच्छी तरह से सिखाया हुआ और सरल हाथी न्यग्भवन क्रिया में अनुकूल हो जाता है। इस दशा में हस्ती हस्तीपक का प्रयोजक होता है और हस्तीपक प्रयोज्य होता है। 'मुझ पर आरोहण करो' इस भावना से हस्ती हस्तीपक का प्रयोजक होता है। प्रयोज्य प्रयोजक भाव की विवक्षा में णिच् होता है। पुनः हाथी इतना कुशल हो सकता है कि उसे किसी प्रयोज्य की अपेक्षा न हो। उस अवस्था में रुह् का अर्थ न्यग्भवन मात्र है और ऐसे ही समय पर आरोहयते हस्ती स्वयमेव" प्रयोग किया जाता है। प्रयोज्य प्रयोजक भाव की निवृत्ति होने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि निवृत्ति के कारण का यहाँ अभाव है। जैसे देवदत्त के व्यापार की निवृत्ति होने पर भी 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' कहते हैं अर्थात् पच की धातु में निवृत्ति

९ महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।७२ पृष्ठ २८१, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।
१० मंजूषा, पृष्ठ ४०

नहीं होती वैसे ही प्रयोज्यप्रयोजक व्यापार के निवृत्त हो जाने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं होती। कर्मकर्तृ की अवस्था को भर्तृहरि ने पंचमी अवस्था मानी है। अर्थ विभाग भूमि की अंतिम अवस्था पांचवी अवस्था मानी जाती है और वह प्रायोगिक होती है —

> यावन्तीषु सोपानस्थानीयासु पदं विन्यस्यैव प्रायोगिकी पर्यन्तभूमिः प्राप्यते ता अन्तरालभाविन्यो गम्यमाना भूमयोऽवस्थाशब्दवाच्याः।[11]

व्यभवन और व्यभावन दो रूप शुद्ध रूढ़ (णिच रहित रूढ़) से प्रतीत होते हैं। ये दो रूप णिच सहित रूप से भी व्यक्त किए जाते हैं। ये चार अवस्थाएं हैं। पांचवी अवस्था कर्मकर्तृ अवस्था से द्योतित होती है

> व्यभावना व्यभवनं रूढो शुद्धे प्रतीयते।
> व्यभावना व्यभवनं ण्यन्तेऽपि प्रतिपाद्यते॥
> अवस्थां पंचमीमाहु र्ण्यन्ते तां कर्मकर्तरि।
> निवृत्तप्रेषणाद् धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते॥[12]

(१) आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः,
(२) आरुह्यते हस्ती स्वयमेव
(३) आरोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः,
(४) आरोह्यते हस्ती स्वयमेव।

इन वाक्यों में एक ही व्यापार को सौकर्य असौकर्य के आधार पर विभिन्न रूपों में व्यक्त किया गया है। कैयट ने इसे एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) लुनाति केदारं देवदत्तः
(२) लूयते केदारः स्वयमेव,
(३) लावयते केदारः स्वयमेव।

इनमें प्रथम दो वाक्यों का कर्मकर्ता ण्यन्त वाले तीसरे वाक्य में भी कर्मकर्ता है। ऐसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अर्थ द्विधाभवन और द्विधाभावन भी है। लुनाति केदारं देवदत्तः ऐसा कहने से खण्ड होते हुए धान को खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। जब धान के सौकर्यातिशय को प्रकट करने की इच्छा होती है देवदत्त के व्यापार की विवक्षा नहीं की जाती है। तब लुनाति क्रिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है। अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले धातु वस्तुतः भिन्न भिन्न होते हैं। सारूप्य के कारण वे एक-से जान पड़ते हैं। अस्तु द्विधाभवन में केदार का कर्तृत्व है उसमें कर्म-कार्य

---

११ हेलाराज वाक्यपदीय साधनसमुद्देश पृ० २११, महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।१।६७
१२ वाक्यपदीय साधनसमुद्देश ५६ ६०

का अतिदेश किया जाता है। फलत 'लूयत केदार स्वयमेव" प्रयोग उपपन्न होता है। जहा पर देवदत्त हाथ म हसुवा (दात्र) लिए दिखाई देता है वहा भी सौकार्य की विवक्षा से उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूय की किरणो से सूखे हुए जजर धान के डठल स्वय विशीर्ण हो जाते हैं—उन्हे काटने म कुछ भी कठिनाई नही पडती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था म केदार के द्विधाभवन की बुद्धि होती है केदार म काट जाने की योग्यता लक्ष्य कर ही व्यक्ति उसम प्रवत्त होता है। द्वितीय अवस्था म यह भाव झलकता है कि धान अन्य द्वारा नही स्वय अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था म भी स्वय पद कहने की विशेष आवश्यकता नही है। "लूयत केदार इतना पर्याप्त है। क्योकि यदि स्वय का अथ अपने द्वारा है तो अपनी अपेक्षा स कमत्व ह ही। अथवा स्वयम" शब्द स अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि कमत्व। प्राचीन वत्तिकार स्वय पद स अन्य कर्ता का परिहार समझते थ। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अथ वाली लुनाति क्रिया म देवदत्त प्रयोजक व्यापार म णिच उत्पन्न होता ह और 'लावयति केदार देवदत्त यह वाक्य सामने आता है। इस वाक्य का वही अथ है जो लुनाति केदार दवदत्त इस वाक्य का है। 'लुनाति केदारम इस अवस्था की अपेक्षा तीसरी अवस्था म णिच विशेष है। *णिजथव्यापार प्रकृत्यथ और फलसमानाधिकरण व्यापार* के त्याग मे चतुर्थी अवस्था होती है। स्वय द्विधाभवन म प्रवत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लविता) प्रवत्त करता है। यह चतुर्थी कक्षा है। इसके बाद सौकार्य निश्चय की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नही होती है द्विधाभवन काय लावयति क्रिया म समझा जाता है। लूयते केदार स्वयमेव का जो अथ है वही अथ "लावयत केदार स्वयमव' का है। यही पचमी अवस्था है। इसम प्रयोजक व्यापार की अविवक्षा होती है। प्रयोज्य प्रयोजकभाव की निवत्ति होने पर भी णिच की निवत्ति नही होती। उपाय के निवत्त होने पर भी उपेय निवत्त नही होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करनी पडती है और अथ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि से किया जाता है। लौकिक व्यवहार म सौकार्य की अपेक्षा म प्राय लावयते केदार ' इतना ही कहते ह। यह पक्ष व्याकरण सप्रदाय म 'निवत्तप्रेषण पक्ष' क नाम से प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिसे 'अध्यारोपितप्रेषणपक्ष कहा जाता है।

अध्यारोपित प्रेषण पक्ष के अनुसार प्रक्रिया या है—

(१) लुनाति केदार देवदत्त

(२) लावयति केदारा दवदत्तेन,

(३) लावयत केदार स्वयमेव।

यहा दूसरे वाक्य म केदार के व्यापार म णिच हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोक्ता केदार हो रहा है सौकार्यनिश्चय से। प्रयोज्यप्रयोजक की अविवक्षा से तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवत्तप्रेषणपक्ष और अध्यारोपितप्रेषणपक्ष म व्याकरण की दृष्टि से यह

ऱ्ऱी होती जब ही प्रयोज्यप्रयोजक व्यापार म निवृत्त हो जान पर भी णिच् की निवृत्ति नहा होता। कमक र्ृ की अवस्था को भर्तृहरि न पचमी अवस्था माना है। प्रथ विभाग भूमि का अंत तक अवस्था पाचवा अवस्था मानी जाती है और यह प्रायः णिच् हाती है —

> पायशेषु सोपानस्थानीयासु पद विन्यस्येव प्रायोगिको पयन्तभूमि प्राप्यते ता अन्तरालभाविन्यो गम्यमाना भूमयोऽवस्थान्तरवाच्या ।[11]

प्रयोजक और प्रयोज्य दो रूप शाद रहू (णिच रहित रूप) म प्रतीत होत हैं। य दो रूप णिच सहित रूप म भी व्यक्त किए जाते हैं। य चार अवस्थाए हैं। पाचवी अवस्था कमकत अवस्था स द्योतित होती है

> प्राग्भावना प्राग्भवन रुहौ शुद्धे प्रतीयते।
> प्राग्भावना प्राग्भवन ण्यन्तेऽपि प्रतिपाद्यते ॥
> प्रवस्था पचमीमाहु ण्यन्ते ता कमकर्तरि।
> निवृत्तप्रेषणाद् धातो प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते ॥[12]

(१) आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपका
(२) आरुह्यत हस्ती स्वयमव
(३) आरोहयन्ति हस्तिन हस्तिपका
(४) आरोहयते हस्ती स्वयमव।

इन वाक्यो म एक ही व्यापार का सौकर्य असौकर्य के आधार पर विभिन्न रूपो म व्यक्त किया गया है। कयट ने इस एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) लुनाति केदार दवदत्त
(२) लूयत केदार स्वयमेव
(३) लावयते केदार स्वयमव।

इनम प्रथम दो वाक्यो का कमकर्ता ण्यन्त वाले तीसरे वाक्य म भी कमकर्ता है। एसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अथ द्विधाभवन और द्विधाभावन भी है। लुनाति केदार देवदत्त एसा कहन स स्पष्ट होत हुए धान को खण्ड खण्ड कर रहा है एसा अथ प्रतीत होता है। जब धान के सौकार्यातिशय को प्रकट करने की इच्छा होती है, दवदत्त क व्यापार की विवक्षा नहा की जाती है। तब लुनाति क्रिया का अथ केवल द्विधाभवन है। धातु के अनेक अथ हात है इस आधार पर एसा कहा जाता है। अथवा भिन्न भिन्न अथ वाले धातु वस्तुत भिन्न भिन्न होते हैं। सारूप्य के कारण व एक से जान पडत है। अस्तु द्विधाभवन म केदार का कत व है उसम कम काय

---

११ हेलाराज वाक्यपदीय साधनसमुद्देश प० २११ महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।६७
१२ वाक्यपदीय साधनसमुद्देश ५८ ६०

का अतिदेश किया जाता है। फलत 'लूयते केदार स्वयमेव' प्रयोग उपपन्न होता है। जहा पर देवदत्त हाथ म हसुआ (दात्र) लिए दिखाई देता है वहा भी सौकर्य की विवक्षा से उपयुक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूर्य की किरणा से सूखे हुए जजर धान के डंठल स्वय विशीर्ण हो जाते हैं—उन्हें काटने म कुछ भी कठिनाई नहीं पडती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था म केदार के द्विधाभवन की वृद्धि होती है केदार म काटे जाने की योग्यता देख कर ही व्यक्ति उसम प्रवत्त होता है। द्वितीय अवस्था म यह भाव झलकता है कि धान अन्य द्वारा नहा स्वय अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था म भी स्वय पद कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। 'लूयते केदार' इतना पर्याप्त है। क्योंकि यदि स्वय का अर्थ अपन द्वारा है तो अपनी अपेक्षा स कमत्व है ही। अथवा स्वयम शब्द स अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि कतत्व। प्राचीन वत्तिकार स्वय पद से अन्य कर्त्ता का परिहार समझते थे। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अर्थ वाली लुनाति क्रिया म देवदत्त प्रयोजक व्यापारम णिच उत्पन्न होता है और 'लावयति केदार देवदत्त' यह वाक्य सामने आता है। इस वाक्य का वही अर्थ है जो 'लुनाति केदार देवदत्त' इस वाक्य का है। लुनाति केदारम इस अवस्था की अपेक्षा तीसरी अवस्था म णिच विशेष है। णिजर्थव्यापार प्रकृत्यर्थ और फलसमानाधिकरण व्यापार के त्याग म चतुर्थी अवस्था होती है। स्वय द्विधा भवन मे प्रवत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लविता) प्रवत्त करता है। यह चतुर्थी कक्षा है। इसके बाद सौकर्याति-शय की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नहीं होती है, द्विधाभवन काय लावयति क्रिया म समझा जाता है। 'लूयते केदार स्वयमेव' का जो अर्थ है वही अर्थ 'लावयते केदार स्वयमेव' का है। यही पचमी अवस्था है। इसम प्रयोजक व्यापार की अविवक्षा होती है। प्रयोज्य प्रयोजकभाव की निवत्ति होने पर भी णिच की निवत्ति नहीं होती। उपाय के निवत्त होन पर भी उपेय निवत्त नहीं होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करनी पडती है और अर्थ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि स किया जाता है। लौकिक व्यवहार म सौकर्य की अपेक्षा स प्राय 'लावयते केदार' इतना ही कहते हैं। यह पक्ष व्याकरण सम्प्रदाय मे 'निवत्तप्रेषण पक्ष' के नाम म प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिसे 'अध्यारोपितप्रेषणपक्ष' कहा जाता है।

अध्यारोपित प्रेषण पक्ष के अनुसार प्रक्रिया यो है—

(१) लुनाति केदार देवदत्त

(२) लावयति केदारो देवदत्तेन

(३) लावयते केदार स्वयमेव।

यहा दूसरे वाक्य म केदार के व्यापार म णिच हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोजक केदार हो रहा है सौकर्यातिशय स। प्रयोज्यप्रयोजक की अविवक्षा से तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवत्तप्रेषणपक्ष और अध्यारोपितप्रेषणपक्ष म व्याकरण की दृष्टि स यह

नहीं होती वैसे ही प्रयोज्यप्रयोजक व्यापार के निवृत्त हो जाने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं होती। कर्मवत् की अवस्था को भर्तृहरि ने पंचमी अवस्था माना है। अथ विभाग भूमि को अंतिम अवस्था पांचवीं अवस्था मानी जाती है और यह प्रामाणिक होती है —

> यावतीषु साधनावस्थानीमासु पद विपर्ययेय प्रायोविष्ठो पर्यन्तभूमि प्राप्यते ता अन्तरालमावियो गम्यमाना भूमयोऽवस्थाशब्दवाच्या ।[११]

न्यग्भवन और न्यग्भावन दो रूप शुद्ध रहें (णिच रहित रहे) में प्रतीत होते हैं। ये दो रूप णिच सन्निरूप से भी व्यक्त किए जाते हैं। ये चार अवस्थाएँ हैं। पांचवी अवस्था कर्मवत अवस्था से व्यक्त होती है

> न्यग्भावना न्यग्भवने रूढो शुद्धे प्रतीयते।
> न्यग्भावना न्यग्भवने ण्यन्तेऽपि प्रतिपाद्यते ॥
> अवस्था पंचमीमाहु ण्यन्ते तां कर्मकर्तरि।
> निवृत्तप्रेषणाद् धातो प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते ॥[१२]

(१) आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपका

(२) आरोहति हस्ती स्वयमेव

(३) आरोहयन्ति हस्तिन हस्तिपका

(४) आरोहयते हस्ती स्वयमेव।

इन वाक्यों में एक ही व्यापार को सौकर्य असौकर्य के आधार पर विभिन्न रूपों में व्यक्त किया गया है। कैयट ने इसे एक-दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) लुनाति केदार देवदत्त

(२) लवते केदार स्वयमेव

(३) लावयते केदार स्वयमेव।

इनमें प्रथम दो वाक्यों का कर्मकर्ता व्यक्त वाले तीसरे वाक्य में भी कर्मकर्ता है। ऐसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अर्थ द्विधाभवन और द्विधाभावन भी है। लुनाति केदार देवदत्त ऐसा कहने से खण्ड होते हुए धान को खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। जब धान के सौकर्यातिशय को प्रकट करने की इच्छा होती है देवदत्त के व्यापार की विवक्षा नहीं की जाती है। तब लुनाति क्रिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है। अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले धातु वस्तुत भिन्न भिन्न होते हैं। सादृश्य के कारण वे एक से जान पड़ते हैं। परन्तु द्विधाभवन में केदार का कर्तृत्व है उसमें कर्म काय

---

११ हेलाराज वाक्यपदीय साधनसमुद्देश पृ० २११, महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।१।६७

१२ वाक्यपदीय साधनसमुद्देश ५२ ६०

वस ही वत अभिप्राय क्रियाफल सविधान का उपलक्षण है। बिना किसी क्रिया के अनुष्ठान के कोई फल नहीं होता। याजक को स्वग फल किसी क्रिया द्वारा ही सभव है। अत कायभूत फल स कारणभूत क्रिया लक्षित होती है और ऐसी क्रिया से आत्मनेपद का विधान किया जाता है।

महाभाष्यकार ने उदुम्भाञ्चकार म आत्मनेपद की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह से यानि आदि क्रियाओं म सविधान के अभाव म आत्मनेपद नहीं होता है वस ही उम्भ के साथ भी सविधान के अभाव म आत्मनेपद नहीं होना चाहिये। उम्भ के सविधान वाचक न होने के कारण उसके साथ की करोति क्रिया भी सविधान के अथ म गृहीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार के सदेह स ऐसा मानना पडता है कि शब्दशक्ति के स्वभाव के बल उम्भ आदि भी कभी-कभी सविधान अथ म व्यवहृत होते ह। उम्भ के सविधान स महयोग होने के कारण उसके साथ की करोति क्रिया भी सविधान अथ म मानी जायगी। अत आत्मनेपद की प्राप्ति सभव है। इसका परिहार आमप्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३ सूत्र म पूव सूत्र १।३।६२ स पूववत् ग्रहण की अनुवृत्ति कर आम प्रत्ययवत् सूत्र को विधायक और नियामक बना कर किया जाता है। यहा तात्पय यह है कि स्वरितञित म अतिरिक्त धातुओं का सविधान म सवथा प्रयोग ही नहीं होता कभी-कभी योग भी होता है। फिर भी शब्दशक्ति के नियत होने के कारण व सविधान जन्य आत्मनेपद लाने म असफल होती है। इसी तरह लिङ योग्य अथ के अभिधान म समथ सभी धातुओं से सविधान की प्रतीति नहीं होती। शब्दों की अथ प्रत्यायन की शक्ति स्वाभाविक होती है युक्तिगम्य नहीं। एक ही क्रियापद स जैसे पचत' से दो साधनों की अभिव्यक्ति हो सकती है परन्तु दो लिङ की अभिव्यक्ति नहीं होती। आख्यात से लिंग की पुरुत्व आदि की प्रतीति नहीं होती। आख्यात से संख्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन की प्रतीति होती है। स्वदत्त पचति म इसी आधार पर द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचाय आख्याताथ को भी द्रव्य ही मानते ह। सवथा शब्दशक्ति कहीं कहीं नियन्त्रित हो जाती है। फलत सविधान सबध होने पर भी कुछ धातुओं म आत्मनेपद नहीं हो पाता है।[१५]

सविधानोपलक्षण क्रियाफल क्या है। इस सम्बन्ध म भी भतृहरि ने महाभाष्य के आधार पर विचार किया है। जिस अथ की सिद्धि के मन म रख कर कोई क्रिया आरभ की जाती है उस अथ की सिद्धि ही उस क्रिया का प्रधान फल है। सविधानोपलक्षण क्रियाफल म तात्पय इसी प्रधान फल स है। यजन क्रिया का फल स्वग है। स्वग की कामना स ही याजक यज्ञ क्रिया आरम्भ करता है। उस यज्ञ म काम करने वाले पुरोहित मत्र आदि स्वग की दृष्टि स क्रिया म प्रवत्त नहीं हुए ह। उनके लक्ष्य दक्षिणा अथवा वतन ह। इसलिये दक्षिणा द्रव्य अथवा वेतन लाभ (फल)

---

१५ वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १४ १७

अन्तर है कि पहले पक्ष के अनुसार णरणौ यत्कर्म १।३।६७ इस सूत्र के विभा 'लावयते केदारः स्वयमेव' में आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है कर्मवद्भाव द्वारा। दूसरा पक्ष उपर्युक्त सूत्र की सत्ता रहते ही सम्भव है। दूसरी प्रक्रिया कर्मवद्भाव की प्राप्ति नहीं है। कुछ लोग आरोहयत हस्ती स्वयमेव में कर्मवद्भाव दिखाते हैं। कयट के अनुसार यह उपयुक्त नहीं है। क्योंकि क्रिया का तादात्म्य विषयदर्शन से अथवा शब्द के आधार पर निश्चित होता है। ये दोनों ही बार आरोहण क्रिया की कर्तृस्थता प्रतिपादन करते हैं उसकी कर्मस्थता नहीं व्यक्त करते हैं। क्योंकि हस्तिनम् आरोहति, यवम् आरोहति, पर्वतम् आरोहति जैसे वाक्यों कर्म के भेद होने हुए भी आरोहण में कोई स्पभेद नहीं जान पड़ता है। इस प्रयोग में कर्म में किसी प्रकार की विशेषता क्रियाकृत नहीं दिखाई देती है। धातु के द्वारा यहाँ कर्तृगत ही क्रिया प्रतिपादित है कर्मगत नहीं। भाष्यकार ने भी रह की शक्ति विशेष अर्थ वाला मान कर इसके कर्तृस्थक्रियात्व को ही परिपुष्ट किया है।[13]

स्मरयति इस वनगुल्म स्वयमेव इस वाक्य में आत्मनेपद स्मरणार्थक निषेध के कारण नहीं होता है। आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपका तान आरोहन्ति इस इसमें भी आत्मनेपद वतिकार के अनुसार नहीं होना चाहिये। परन्तु भागवृत्तिकार यहाँ आत्मनेपद का प्रयोग चाहते हैं। माघ ने भी ऐसे स्थलों पर आत्मनेपद का प्रयोग किया है

> वत्तिकृता नेष्यते। भागवत्तिकारेण त्विष्यते। तथा माघ प्रयुक्ते करेणुरारोहयते निषादिनम् इति।[14]

कहीं कहीं पचति जैसी क्रियाओं से भी सविधान अर्थ की प्रतीति होती है यद्यपि पच का प्रधान अर्थ तण्डुल की विक्लित्ति है परन्तु महाभाष्यकार ने हेतुमति च ३।१।२६ के भाष्य में अपण और अधिश्रयण का भी पच का अर्थ माना है। सविधान—अर्थ सामग्री सम्पन्न रूप अर्थ के व्यक्त करने पर भी पचति के अर्थ में णिच नहीं होता। प्रयोज्यप्रेषण की विवक्षा में णिच होता है और पाचयति प्रयोग उपपन्न होता है। अस्तु पचति से इसमें के अधिश्रयण उदकासेचन (चावल को जल से धोना आदि व्यापार व्यक्त होते हैं पचते से सभी भाजन सम्भार व्यापार व्यक्त होता है पाचयति से प्रयोज्य प्रवृत्त होता है। सविधान ही अर्थ नहीं है। अपितु सविधान पूर्वक प्रेरण का अर्थ कहते हैं जिसे करते हुए व्यक्ति प्रयोजक कहा जाता है सविधान के करते हुए भी जब तक वह प्रेरणा का कार्य नहीं करता, उसे प्रयोजक नहीं कहा जाता है।

कत अभिप्राय क्रियाफल से सविधान क्रिया का निर्देश किया जाता है। जैसे नक्षत्र दृष्ट्वा वाच विसृजेत वाक्य में नक्षत्र दर्शन कालविशेष का उपलक्षण

---

१३ महाभाष्यप्रदीप ३।१।७
१४ पदमञ्जरी १।३।६७

यस ही यन अभिप्राय क्रियाफल सविधान या उपलक्षण है। बिना किसी क्रिया के अनुष्ठान के कोई फल नहीं होता। याजक को स्वर्ग फल किसी क्रिया द्वारा ही सभव है। अत कार्यभूत फल स कारणभूत क्रिया लक्षित होती है और ऐसी क्रिया म आत्मनेपद का विधान किया जाता है।

महाभाष्यकार न उदुम्भञ्चकार म आत्मनेपद की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह स यानि आदि क्रियाओ म सविधान के अभाव म आत्मनेपद नहीं होता है यस ही उम्भ क साथ भी सविधान के अभाव म आत्मनेपद नहीं होना चाहिए। उम्भ क सविधान बोधक न होने क कारण उसके साथ की करोति क्रिया भी सविधान क अर्थ म गृहीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार क संदेह स ऐसा मानना पडता है कि शब्दशक्ति क स्वभाव के बल उम्भ आदि भी कभी-कभी सविधान अर्थ म व्यवहृत होते हैं। उम्भ क सविधान स सहयोग होने के कारण उसके साथ की करोति क्रिया भी सविधान अर्थ म मानी जायगी। अत आत्मनेपद की प्राप्ति सभव है। इसका परिहार आमप्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य, १।३।६३ सूत्र म पूर्व-वत्सन १।३।६२ स पूर्ववत् ग्रहण की अनुवृत्ति कर आम प्रत्ययवत सूत्र का विधायक और नियमार्थक वना कर किया जाता है। यहा तात्पर्य यह है कि स्वरितञित से व्यतिरिक्त धातुओ का सविधान म सर्वथा प्रयोग ही नहीं होता कभी-कभी योग भी होता है। फिर भी शब्दशक्ति क नियत होने के कारण व सविधान जन्य आत्मनेपद लाने म असफल होती है। इसी तरह शिव याग्य अर्थ क अभिधान म समय सभी धातुओ स सविधान की प्रतीति नहीं होती। शब्दो की अर्थ प्रत्यायन की शक्ति स्वाभाविक होती है युक्तिगम्य नहीं। एक ही क्रिया... स जल पचत स ... साधन की अभिव्यक्ति हो सकती है परन्तु दो लिंग की अभिव्यक्ति नहीं होती। आख्यात से लिंग की पुरुष आदि की प्रतीति नहीं होती। आख्यात स सख्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन की प्रतीति होती है। देवदत्त पचति म इसी आधार पर द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचार्य आख्यातार्थ को भी द्रव्य ही मानते हैं। सर्वथा शब्दशक्ति कहा कहीं नियन्त्रित हो जाती है। फलत सविधान सबद्ध होने पर भी कुछ धातुओ म आत्मनेपद नहीं हो पाता है।[१५]

सविधानोपलक्षण क्रियाफल क्या है। इस सम्बन्ध मे भी भर्तृहरि न महाभाष्य क आधार पर विचार किया है। जिस अर्थ की सिद्धि को मन म रख कर कोई *क्रिया आरभ की जाती है उस अर्थ की सिद्धि ही उस क्रिया का प्रधान फल है।* *सविधानोपलक्षण क्रिया फल* मे तात्पर्य इसी प्रधान फल से है। यजन क्रिया का फल स्वर्ग है। स्वर्ग की कामना से ही याजक यज्ञ क्रिया आरम्भ करता है। उस यज्ञ म काम करने वाले पुरोहित भृत्य आदि स्वर्ग की दृष्टि से क्रिया म प्रवृत्त नहीं हुये है। उनके लक्ष्य दक्षिणा अथवा वेतन है। इसलिये दक्षिणा द्रव्य अथवा वेतन लाभ (फल)

---

१५ वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १४ १७

होते हुए भी प्रधानफल नहीं है। महाभाष्यकार ने प्रधानफल के निर्णय के लिये कहा है कि जिस क्रिया के बिना जो फल सिद्ध न हो सकता हो उस क्रिया का वही फल प्रधान फल है। यज्ञ फल यज्ञ क्रिया से ही सम्भव है। अतः वही उस क्रिया का मुख्य फल है। दक्षिणा और वेतन तो यज्ञ क्रिया के बिना भी अन्य तरह से उपलब्ध हो सकते हैं। अतः वे यज्ञ क्रिया के प्रधान फल नहीं हो सकते

> नचान्तरेण यजिं यजिफलमपि वा वपिफलं लभन्ते (लभते)। याजकाः पुनरन्तरेणापि यजिं गा लभन्ते भतकाश्च पादिकर्मिति।[१६]

यह अभिप्राय कर्तृ अभिप्राय क्रियाफल से निकलता है। फलतः संविधाता की दृष्टि से आत्मनेपद (यजते) और दक्षिणा लुब्ध याजकों की दृष्टि से परस्मैपद (यजन्ति) का प्रयोग उपपन्न होता है।

संविधान में आत्मनेपद मानने पर भी जहां स्वामी और भृत्य दोनों मिलकर एक ही व्यापार कर रहे हैं वहां संविधान के आधार पर आत्मनेपद प्राप्ति का निर्णय कैसे सम्भव है? क्योंकि स्वामीसाध्य व्यापार सामग्री संघटन (संविधान) रूप होगा और भृत्य साध्य व्यापार प्रधान क्रिया रूप होगा इसलिये पच धातु से भिन्न व्यापार का उदबोध न हो सकेगा। साथ ही स्वामी (संविधाता) की दृष्टि से आत्मनेपद किया जाय अथवा भृत्य की दृष्टि से परस्मैपद यह संशय बना रहेगा। यह मान भी लिया जाय कि एक धातु के कई अर्थ सम्भव हैं और यह भी मान लिया जाय कि संविधान के अर्थ में पच से आत्मनेपद किया जाय और विक्लित्ति आदि संस्कार अर्थ में उससे परस्मैपद किया जाय फिर भी एक ही प्रयोग में विरुद्ध दो लकारों की उत्पत्ति ठीक से न हो सकेगी भर्तृहरि ने इसका समाधान अध्यारोप के द्वारा किया है। स्वामीगत धर्म का भृत्य में आरोप किया जाता है। साहचर्य के सहारे ऐसा सम्भव है। आरोप से दास स्वामी के तुल्य हो जाता है। फलतः दास स्वामी के कर्तृत्व होने पर संविधान के अर्थ में पच से आत्मनेपद होगा। 'स्वामिन्नामौ पचेते'।

इस तरह का आरोप भर्तृहरि के अनुसार अन्यत्र भी देखा जाता है। जैसे, प्लक्ष शब्द के साहचर्य से न्यग्रोध में प्लक्षता मान ली जाती है। तभी एक दूसरे की अपेक्षा में द्वन्द्व में उनमें द्विवचन का व्यवहार (प्लक्षन्यग्रोधौ) होता है। सान्निध्य के कारण अन्य में धर्म का आरोप लोक और वेद दोनों में देखा जाता है। पुरोडाशान् प्रचरन्ति इसमें यद्यपि शब्दतः पुरोडाश बहुत्व अर्थ में व्यवहृत है परन्तु एक पुरोडाश के प्रसंग में भी उपयुक्त वाक्य कहा जाता है और सहचरित पुरोडाश भागों में बहुत्व के आरोप से ऐसा सम्भव हो पाता है। ऐसी तरह लोक में छत्रिणो यान्ति जैसे प्रयोग सम्प्रति छत्रिसंयोग न होने पर भी पहले के छत्र सम्बन्ध के आधार पर ठीक मान लिये जाते हैं।

कुछ लोगों के अनुसार क्रियामात्र की विवक्षा में यज्ञ परस्मैपद प्रयोग भी

---

[१६] महाभाष्य १।३।७२

उचित है 'स्वामिदासी पचत"।[17]

महाभाष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि एकान्त में निष्क्रिय रूप में चुपचाप बठे व्यक्ति के लिए कभी-कभी कहा जाता है—

पचभि हलैः कृषति" (पाच हलो से जोतवा रहा है नहीं तो, पाच हलो से जोत रहा है)।

इस वाक्य में कृषति शब्द उपयुक्त नहीं है। चुपचाप एकान्त में बैठा व्यक्ति एक साथ पाच हल नहीं चला सकता। अत यहा अभिप्राय है कि उसके पाच हल चलते हैं वह पाच हलो से खेती करवाता है। और यदि यह अभिप्राय है तो कृषति के स्थान पर 'कर्षयति' कहना चाहिए और यहा सविधान अर्थ होने के कारण आत्मनेपद भी होना चाहिए। जहा तक णिच का (कर्षयति) का प्रश्न है, महाभाष्यकार ने यह समाधान किया है कि कृष केवल जोतना या विलेखन ही नहीं है इसका अर्थ जोतवाना विलेखन करवाना (प्रतिविधान) भी है। धातु के अनेक अर्थ होने के कारण कृष का अर्थ प्रयोजक व्यापार भी हो सकता है। उपपद के साहचर्य से धातु से ही प्रयोजक व्यापार के व्यक्त हो जाने के कारण णिच नहीं हुआ है। जहा तक आत्मनेपद का प्रश्न है वह भी भर्तृहरि के अनुसार जटिल नहीं है। **विभाषोपपदेन प्रतीयमाने** १।३।८७—इस सूत्र में प्राप्तविभाषा पक्ष मानने पर कृषति में आत्मनेपद का अभाव संभव है

> **अत्र तूपपदेनायमर्थमेव प्रतीयते।**
> **प्राप्ते विभाषा विधते तस्मान्नास्त्यात्मनेपदम्॥**[18]

पाणिनि ने जितना आत्मनेपद पर विचार किया है उतना परस्मैपद पर नहीं। उनका शेष में परस्मैपद का विधान (**शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्** १।३।७८) इतना व्यापक है कि विचार का अवकाश भी नहीं रह जाता। अत भर्तृहरि ने भी आत्मनेपद सम्बन्धी मान्यताओं का जैसा विश्लेषण किया है वैसा परस्मैपद सम्बन्धी मान्यताओं का नहीं किया है।

आत्मनेपद और परस्मैपद के लिए कभी आत्मनेभाष और परस्मैभाष शब्द भी प्रचलित थे। कात्यायन ने इन दोनों शब्दों का उल्लेख किया है—**आत्मनेभाष परस्मैभाषयोरुपसंख्यानम्**।[19] पाणिनि को भी ये शब्द ज्ञात थे ऐसा उनके वैयाकरणाख्याया चतुर्थ्याः' ६।३। सूत्र से जान पड़ता है। परन्तु कैयट ने टिप्पणी दी है कि आत्मनेभाष और परस्मैभाष शब्द किसी व्याकरण में पारिभाषिक रूप में नहीं पढ़े गये हैं परन्तु इन शब्दों का व्यवहार होता आया है। आत्मनेपदी धातुओं को वैयाकरण आत्मनेभाष शब्द से और परस्मैपदी धातुओं को परस्मैभाष शब्द से व्यवहृत

---

१७ वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १६ २४

१८ वही, उपग्रह समुद्देश ७

१९ वार्तिक, ६।३।७

करता है। शब्दपरिशिष्ट ६।१०७ में भी उपर्युक्त ज्ञान की पुष्टि की गई है —

परस्मैपदं भाषा उक्तिरस्य इति परस्मैभाषः । एवमात्मनेभाषः ।
पदशब्दलोपो निपातनात् । धातुविशेषाणामिमौ व्यपदेशौ ।[21]

सुषेण ने पाणिनि और सर्ववर्मा के इस ग्रन्थ में कुछ भेद दिखाते हुए निम्न-लिखित कारिकाएँ लिखी हैं

परस्मैपद्यते यस्मात् तत् परस्मैपदं स्मृतम् ।
आत्मनेपद्यते यस्मात् तदेवात्मनेपदम् ॥
इत्थमन्वर्थसंज्ञाया विधानेनैव लभ्यते ।
मतं हि पाणिनेरेव सम्मतं सर्ववर्मणः ॥
अन्वर्थसंज्ञया प्रायः यतिरिहोच्यते ।
अतो न पाणिनेः सूत्रं सम्मतं सर्ववर्मणः ॥[22]

अस्तु उपग्रह शब्द आत्मनेपद और परस्मैपद के अर्थ में रूढ़ हो गया था। अष्टाध्यायी में उपग्रह शब्द का व्यवहार न होने के कारण उसका व्यवहार ही एक तरह से बंद हो गया परन्तु भर्तृहरि ने प्राचीनता के विवेचन में उपग्रह की मीमांसा करना उचित समझा।

पुरुष विचार

उपग्रह की तरह पुरुष भी पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का पारिभाषिक शब्द है

॥ कर्तृकर्मविशेषणभूत ॥ पुरुष इति पूर्वाचार्या आहुः ।[1]

पुरुष शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग निरुक्त में मिलता है

तत्र परोक्षकृता सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।[2]

काशकृत्स्न सूत्र में भी पारिभाषिक पुरुष शब्द का व्यवहार हुआ था। जैसे —

धातुः साधने दिशि पुरुषे चेति च तदाख्यातम् ।[3]

२० शब्दभाष्यप्रदीप ६।३।७
२१ टेक्निकल टर्म्स एण्ड टेक्निक ऑव संस्कृत ग्रामर में उद्धृत, पृष्ठ १०३
२२ कातन्त्र व्याकरण ३।१।७६
१ हेलाराज, वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ॥
२ निरुक्त ७।२
३ इस काशकृत्स्न के सूत्र होने में वचन प्रमाण ६, द्रष्टव्य वाक्यपदीय टीका १।५८

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में पुरुष शब्द का व्यवहार पारिभाषिक अर्थ में नहीं किया है। परन्तु कात्यायन और महाभाष्यकार ने पारिभाषिक पुरुष शब्द का व्यवहार किया है जैसे—

"परस्मैपदसंज्ञा पुरुषसंज्ञा"—वार्तिक १।४।१
न निष्ठा परस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहौ विज्ञायेतौ
स्याताम्"—महाभाष्य ३।१।४०

पाणिनि ने पारिभाषिक पुरुष शब्द के स्थान पर प्रथम, मध्यम और उत्तम शब्द का प्रयोग किया है। ये शब्द भी पारिभाषिक हैं और वस्तुतः ये भी पूर्वाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं

प्रथममध्यमेत्यादि महासंज्ञाकरण तु प्राचामनुरोधेन।[४]

आख्यातगत पुरुष शब्द में उसके अर्थ प्रत्यक्त्व और पराक्त्व समाहित होते हैं। प्रत्यक् स्वगत को कहते हैं और पराग्भाव सर्वान्यगत को कहते हैं। त्वं पचसि अहं पचामि त्वं पाठयसे अहं पाठये जैसे वाक्यों में मध्यम और उत्तम पुरुष का प्रत्यक्त्व और पराक्त्वरूप कर्तृ-कर्म विशेषण के रूप में शब्द शक्ति के बल से अवगत होता है। इसलिए कर्ता आदि साधनों का विशेषण पुरुष माना जाता है। कर्तृ-कर्म के विशेषण होने के कारण ही पुरुष भाव का विषय नहीं हो पाता और इसीलिए भाव में मध्यम और उत्तम पुरुष के प्रयोग नहीं होते। केवल शेष के कारण प्रथम पुरुष का ही व्यवहार होता है। स्वगतत्व और परगतत्व शब्दान्तर के प्रयोग से जाने जाते हैं जैसे आस्यते मया आस्यते त्वया आदि में।

वाक्यपदीयकार ने पुरुष का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके मत में पुरुष-व्यवस्था सत असत चेतनाश्रित है। उनके अनुसार प्रत्यक् पद का भाव अन्तर्यामी जीवात्मा है। वह प्रतिदेह में अवस्थित है। उसका भाव (प्रत्यक्त्व) पुरुष में वाच्य है। इसलिए प्रत्याकार की अहङ्कारास्पद चेतनता प्रत्यक्त्व है। आख्यात से जब क्रिया का अहङ्कार समानाश्रय रूप (मैं अहं की प्रतीति) अभिव्यक्त होता है, वह उत्तम पुरुष का विषय होता है। इसलिए पुरुष अहङ्काराश्रय कर्ता का और तिङन्त से वाच्य कर्म का भी उपाधिभूत है। पचे, पचामि जैसे क्रियापदों से कर्ता का उपाधिभूत उत्तम पुरुष अवगत होता है। कर्म उपाधिभूत आत्मनेपद से ही अभिव्यक्त होता है। जैसे पच्ये। कर्म में आत्मनेपद का विधान होता है। मध्यम पुरुष पराक् है। वह कर्तृकर्मविशेषणभूत है प्रश्न आदि विषय के उपयुक्त है। पचसि पच्यसे जैसे शब्दों में वह कर्त्रुपाधि है और पच्यसे जैसे आत्मनेपद से कर्मोपाधिरूप में व्यक्त होता है। इस तरह उत्तम और मध्यम पुरुष शब्द विशेष से लक्षित होते हैं और अपने अपने अर्थ का प्रकाश करते हैं अर्थात चैतन्ययुक्त कर्ता

४ महाभाष्य दीपिका १।४।१०१

और कर्म का बोध कराता है।

यदि चेतना के आधार पर मध्यम और उत्तम पुरुष की व्यवस्था की जाती तो अचेतन पदार्थों के साथ मध्यम और उत्तम पुरुष का प्रयोग असंभव होगा, क्योंकि अचेतन पदार्थ उत्तर नहीं जानते। इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृहरि कहते हैं कि अचेतन पदार्थों के साथ मध्यम और उत्तम पुरुष का प्रयोग अध्यारोपित चैतन्य के आधार पर हो जाएगा। भर्तृहरि के अनुसार मध्यम और उत्तम पुरुष से सदा अथवा प्रायः चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। अचेतन चैतन्य का अभिप्राय कुछ लोगों के अनुसार अभिव्यक्त चैतन्य से है। हेलाराज के अनुसार व्याकरणशास्त्र लोक से प्रयुक्त अर्थ का ही व्याख्यान करता है। शास्त्र चैतन्य समर्थ है। किसी दृष्टान्त के साथ यदि चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती तो वहाँ अध्यारोपित चेतनता की कल्पना कर ली जानी चाहिए। अतः मध्यम और उत्तम पुरुष चैतन्य के प्रतीक हैं।

परन्तु भर्तृहरि के मत में प्रथम पुरुष का सम्बन्ध चैतन्य से नहीं है। अध्यारोपित चेतन भी उसका विषय नहीं है। प्रथम पुरुष का विषय अचेतन है। प्रथम पुरुष का शेष विधान (शेषे प्रथमः १।४।१०८) होने के कारण हेलाराज के अनुसार, उसका निरसन अचेतन ही पड़ा है। इसलिए पतति कूल (तट गिरता है) लुप्यन्ति व्रीहय (धान कटते हैं) जैसे अचेतन पदार्थ ही प्रथम पुरुष के विषय हैं।

> सदसद्वापि चैतन्यमेताभ्यामवगम्यते ।
> चेत प्रमाणो प्रथम पुरुषो न तु चेतते ॥[२]

हेलाराज के अनुसार चैतन्यभाग शब्द में भाग ग्रहण से यह जान पड़ता है कि समानाधिकरण वाले (तुल्यकारक वाले) युष्मद् अस्मद् से अतिरिक्त भी चेतन प्रथम पुरुष का विषय हो सकता है जैसे ब्राह्मण पचति में। परन्तु यहाँ चैतन्य पदान्तर गम्य है। इसलिए यहाँ प्रथम पुरुष चैतन्य के सहारे से साधनसाध्य भाव मात्र जताता है। बुध्यते जानाति जैसी क्रियाओं में प्रथम पुरुष का चैतन्य से सम्बन्ध स्पष्ट जान पड़ता है जानना और समझना कर्त्ता में चेतनता की सत्ता से ही सम्भव है। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार ऐसे स्थलों में भी चैतन्य का व्यापार व्यक्त नहीं होता। ऐसी क्रियाओं में धात्वर्थ ही चैतन्य लक्षण वाला है। वह कर्त्ता और कर्म का अवच्छेदक है इसलिए उसके कारण चैतन्य अवगत होता है। प्रथम पुरुष के प्रयोग के कारण यहाँ चैतन्य नहीं झलकता। क्योंकि अनानार्थ धातुओं के साथ प्रथम पुरुष के प्रयोग होने से सर्वदा निश्चित रूप में चैतन्य की प्रतीति नहीं होती। जैसे 'काष्ठानि पचन्ति' इस वाक्य में प्रथम पुरुष से किसी प्रकार का चैतन्य नहीं झलकता। जिस तरह से युष्मद् और अस्मद् अर्थ के लिए मध्यम और उत्तम के विधान से चैतन्य उपाधि वाले कर्त्ता कर्म का बोध होता है वैसा प्रथम पुरुष से नहीं होता।

---

२ वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ॥

उसका विधान 'तप' में होने के कारण उसमें भाव उपाधि नियम का प्रभाव रहता है। युष्मद् पद में विहित मध्यम पुरुष सदा निश्चित रूप में चेतन का आधार होता है क्योंकि युष्मद् का चेतन के लिए ही प्रयोग होता है।

इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार का मत कुछ भिन्न जान पड़ता है। उन्होंने प्रवृत्ति के आधार पर कूल में भी चेतनता मानी है। कूल में स्वार्थ पड़ता है। उसका भाग विशीर्ण होता है और वह तट टूट कर (स्वार्थ) पर गिर कर चला जाता है। महाभाष्यकार, पतञ्जलि के अनुसार, कूल में प्रवृत्तिरूप इच्छा का योग है। उन्होंने वार्तिककार के सत्त्व चैतन्य मत का (सत्त्व का चेतनावत्त्व—वार्तिक १।१।७) समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उनके निम्नलिखित वाक्य उदाहरण के रूप में लिये हैं —

कूलानि पतन्ति,
शिरोऽप्यस्य स्वपिति,
सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति
अयस्कान्तमयः संक्रामति
ऋषि (वर्ण) पठति।[५]

इन सब उदाहरणों में अचेतन को चेतन के रूप में व्यक्त किया गया है। और सबके साथ प्रथम पुरुष का योग है। कैयट ने इस प्रसंग में यह विचार प्रकट किया है कि आत्मा सत्त्वज्ञान के अनुसार सर्वत्र चैतन्य है। वह सभी भावों में चैतन्य का प्रतिपादन करते हैं। पदार्थों की उपलब्धि विचित्र होती है। इसलिए कहीं चैतन्य प्रकट होता है और कहीं नहीं जान पड़ता है।[६] भर्तृहरि प्रथम पुरुष के सम्बन्ध में आरोपित चैतन्य मानने के पक्ष में भी रहे हैं। परन्तु पतञ्जलि ने महाभाष्य में इनको उपचार का उल्लेख किया है —

अचेतनेष्वपि चेतनावदुपचारो दृश्यते। तद् यथा अस्तारयस्या अयनानि, स्वपन्ते चास्या अयनानीति।[७]

इन उदाहरणों में भी प्रथम पुरुष है। लोक में भी प्रथम पुरुष का चैतन्य के रूप में अभिव्यक्ति देखी जाती है।

अचेतन की अपेक्षा तटस्थ के रूप में प्रथम पुरुष की अभिव्यक्ति कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

कुछ लोग उत्तम पुरुष को मध्यम और प्रथम पुरुष से विशेष मानते हैं। क्योंकि उत्तमपुरुष, उनके मत में सभी पुरुषों का विश्रान्ति धाम है। शैवागम के अनुसार इदं से वाच्य सभी वस्तु का अहम् में पर्यवसान होता है। देखा भी जाता है कि स पचति त्वं पचसि, अहं पचामि इन सब की विवक्षा में वयमेव पचामः प्रयोग उपपन्न

६ महाभाष्यप्रदीप ३।१।७
७ महाभाष्य ५।१ ७७

जाता है। अर्थात् सभी पुरुष का उत्तम पुरुष में पर्यवसान हो जाता है। परन्तु इस उदार मत में नि पद मा म सभी पुरुषों का ग्र रख है। उनमें मध्यम प्रथम पुरुष कल्पित है परन्तु विरूप का मान्य हैं भर्ति तत है

> व्याकरणप्रक्रियया उत्तमपुरुष प्रसमर्थे य स युष्म द्वेषाभ्यां मध्यमप्रथम पुरुषाभ्यां विनविनो मजातविनया स्ति । तस्य च सम्स्थपरामर्थात प्रथमपुरुषाद युष्मदर्थो मुख्यत्व मध्यमपुरुषादप विपय यन्नैवपुरुषाथपरत्व तत् विश्रान्तिधामत्यम । सतरवेन्ता विमर्श्यप्रद तायामेव विश्रान्त । स पचति, त्वं पचसि अहं पचामीति विज्ञ ताया ययमेव पचाम इत्यादौ प्रयाते प्रयमयाय इत्यास्ताम । त्व तु विविनयाणा प्रथममध्यमात्तम पुरुषाणां कल्पितानां अकल्पित विश्र धामय । ययोत्त प्रत्यभिज्ञायाम —बाह्यग्राहकस्वामिन्तावयी भात प्रमातरि।

कुछ लोगों के अनुसार मध्यम पुरुष म सम्बोधन का अर्थ प्रतीत होता है जिसपर जो पद (प्रकरण या भाव) निर्वाचित रहता है। जस गच्छ भुङ्क्ष्व आदि म। जो लोग सबोधन को पदार्थ आभिमुख्यकरण रूप में मानते हैं उनके मत में प्रथ के प्रभाव म भी मध्यम पुरुष म सम्बोधन का भाव रहता है। पचसि म इस मत के अनुसार सयोजन है। परन्तु कुछ लोग जैसे कि भर्तृहरि ने उल्लेख किया है इस मत को प्रश्रय नहीं देते। पचसि म सम्बोधन की प्रतीति नहीं होती। उनके अनुसार सिद्ध के अभिमुखीकरण का सम्बोधन कहते हैं। साध्य का विधीयमान का सम्बोधन नहीं होता। क्योंकि जिसका स्वरूप अभी नियत नहीं है जो अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं हुआ है वह अभिमुखीभाव के योग्य नहीं माना जाता। इन्द्रानु बधान ... गाना अर्थ ... म ... विधीयमान है इसलिये प्रथ के होने ... सम्बोधन विभक्ति नहीं है। युष्मद के साथ प्रथमा सबोधन विभक्ति मानने ... म ... स्वर सम्बन्धी नियम ... प्रथमान्त युष्मद की आदि उदात्त होना ... है जब कि वह वाक्य के आदि में रहता है अर्थात् किसी पद से पर जब नहीं होता है। ऐसा उसे सबोधन मान कर ही सभव है। जैसे

> त्वं ... वायव (ऋग्वेद ७।२१।१)
> त्वमग्ने द्युभिस्त्वमोशुशुक्षणि (ऋग्वेद २।१।१)

परन्तु किसी पद के पर रहने पर उसे आमंत्रित (सम्बोधन) मान कर अनुदात्त होता है। जैसे देवीराप शुद्धा यूयम।

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार आदि उदात्त और निघात वाली उक्ति सर्वत्र ठीक नहीं देखी जाती। अनेक ऐसे मंत्र हैं जिनमें युष्मद के आदि में होने पर भी वह अन्तोदात्त है और पद के उत्तर में होने पर भी अनुदात्त ही है —

---

८ शिवाद्वैतमञ्जरी प्रमाणतत्त्व विवृति भाग १, पृष्ठ १६

६ वाक्यपदीय ३ पुरुष समुद्देश ४,५

दृश्यते हि पाण्डावपि प्रत्तोदात्तत्व पदात् परत्वेऽप्यविघातश्च । तदयथा युव ह गभ जगतीषु धत्थ । यूय यात स्वस्तिभि । ■ ये देवा यूयमिन्द्रय स्थ इति ।[9]

भट्टोजि दीक्षित सम्बोधन को प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत मानते हैं (सम्बोधनस्य प्रातिपदिकार्थ एवान्तर्भावात्) । उनके मत में अलिंग और सम्बोधन—एक विषय युष्मद् का अर्थ है और सलिंग तथा सम्बोध्य और असम्बोध्यसाधारण भवत् का अर्थ है । फलत भवान् करोति' मध्यम पुरुष का विषय नहीं हो पाता है ।

> अलिंग सम्बोधनकविषयश्च युष्मदर्थ । सलिंग सम्बोध्यासम्बोध्यसाधारणश्च भवदर्थ —शब्द कौस्तुभ—१।४।१०७

अव व भवति 'वदभवति'—इस वाक्य में मध्यम प्रकृति विकृति की अभेद-विवक्षा में च्वि प्रत्यय हुआ है । यहा प्रकृति के आश्रय से प्रथम पुरुष और विकृति के आश्रय से मध्यम की प्राप्ति है । परन्तु मध्यम विकृति कर्ता नहीं है । प्रकृति ही त्रिकारान्वपार्पत में बना है । अत प्रथम पुरुष ही होता है । गौणमुख्यन्याय के आधार पर ऐसा सभव है । सखी भवति ब्राह्मणा इस वाक्य में बहुवचन इस बात का प्रमाण है कि च्व्यन्त में प्रकृति का ही कर्तृत्व माना जाता है

> यदग्ने स्यामह त्व त्व वा घा स्या अहम् ।
> स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥[11]

पुरुष व्यत्यय

महाभाष्यकार ने पुरुष व्यत्यय के उदाहरण में 'अधा स वीरै दशभिर्वियूया' कहा है । यहा वियूयात के स्थान पर वियूया पढा गया है । पुरुष व्यत्यय का एक उदाहरण मम्मट ने या दिया है—

> रे रे चञ्चल लोचनाञ्चितरुचे चेत प्रमुच्य स्थिरप्रेमाण महिमानमेणनयना मालोक्य कि नृत्यसि । कि मन्ये विहरिष्यसे बत हता मुञ्चान्तराशामिमामेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला ससारवारानिधौ ॥[12]

इस श्लोक में मन्यसे के स्थान पर मन्ये और विहरिष्ये के स्थान पर विहरिष्यसे कहा गया है अर्थात मध्यम के स्थान पर उत्तम पुरुष का और उत्तम के स्थान पर मध्यम पुरुष का व्यवहार कवि ने किया है और प्रहास के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए

---

१० शब्दकौस्तुभ १।४।१०८

११ ऋग्वेद ८।४४।२३ । इस मन्त्र में स्या के स्थान, त्व का अह या इस रूप में मध्यमाश्रय ही पुरुष है ।

१२ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १९९ ज्ञानमण्डल संस्करण

किया है। परिहास की अभिव्यक्ति में लिंग पुरुष व्यत्यय पाणिनि द्वारा समर्थित है।[13] और भर्तृहरि ने भी पुरुष व्यत्यय का समर्थन किया है—

> गुणप्रधानतामेव पुरुषादिविपर्यय ।
> निर्दिष्टस्यान्यथा शास्त्रे नियत्यान विरुध्यते ॥[14]

संख्या विचार

संख्या आख्यातार्थ का भी अर्थ है और साधन का भी अर्थ है। संख्या शब्द से एकत्व द्वित्व बहुत्व आदि का ग्रहण होता है। जिसके द्वारा सम्यान अथवा गणना सम्भव है। वह संख्या है (सङ्ख्यायतेऽनया सङ्ख्याति—मनाभाष्य १।१।२७) वचन संख्या है। वचन और संख्या पूर्वाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं। एकवचन और बहुवचन शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है

> एक वचनेन बहुवचन व्यवायाम।[1]
>
> द्विवचन शब्द का उल्लेख निरुक्त में है—अपि वा सदन्य पर्यान्व स्नातय द्विवचन स्यात।[2]

पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के आधार पर संख्या के अर्थ में एकवचन और बहुवचन का व्यवहार किया है। एक संख्या के भी पारिभाषिक रूप का बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३ के रूप में उल्लेख किया है।

वाक्यपदीय में संख्या समुद्देश में संख्या के साधन मात्र रूप का ही अधिक विवेचन है। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार संख्या आख्यातार्थ भी है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। यद्यपि क्रिया साध्यस्वभाव वाली होने के कारण निवृत्तभेद मानी जाती है, उसमें कोई भेद नहीं होता फिर भी साधन के आधारभूत द्रव्य के एकत्व द्वित्व आदि के आधार पर क्रिया में भी एकत्व द्वित्व आदि मान लिए जाते हैं। साधन भेद से कर्ता-कर्म के अभिधायक लकार में द्विवचन और बहुवचन होते हैं। फलत पचत पचन्ति पच्यते पच्यन्ते इस विशिष्ट क्रियारूप सिद्ध होते हैं। इन पदों में दो या दो से अधिक साधनों द्वारा क्रिया के साध्यत्व की प्रतीति होती है। साधन के आधारभूत द्रव्यगत संख्या से क्रिया का योग तो होना है परन्तु द्रव्यगत लिंग के साथ क्रिया का योग नहीं होता। क्योंकि आख्यात में लिंग विशेष की प्रतीति नहीं होती। शब्दों का अपने अर्थ का प्रत्यायन अथवा उनके अर्थ की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होती है, युक्तिगम्य नहीं होती है।

---

१३ प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च १।४।१०६
१४ वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ७
१ शतपथ ब्राह्मण १३।६।१।१८
२ निरुक्त ६।१६।२

एकत्वेऽपि क्रियाख्याते साधनाश्रयसख्यया ।
भिद्यते न तु लिङ्गाख्यो भेदस्तत्र तदाश्रित ॥[3]

पुण्यराज ने भी आख्यातवाच्य क्रिया म सम्बन्धभेद से भेद की प्रतीति का समथन किया है

यथाख्यातेषु धातुवाच्याया क्रियाया प्रत्ययवाच्य कत भेदे सति सम्बन्धात क्रियाया अपि भेद प्रतीयते पचत पचन्तीति ।[4]

इसी बात का हरदत्त न भी या व्यक्त किया है

कत भेदेपि नायदथ धात्वर्थो भिद्यते यत ।
एकामेव क्रियाव्यक्ति बहुपूत्पादयस्त्यपि ॥
दृष्टमेत पचन्तीति कमभेदोपि तादश ।
पच्यन्तस्या क्रियाव्यक्तौ पच्यन्त तण्डुला इति ॥
म कालभेदे शब्दद्वयमास्यासिष्यत आस्यते ।
पाको पाका इति त्वत्र शब्दवपादेकशेषता ॥[5]

इसके स्वारस्य से, साधनगत सख्या का क्रिया म आरोप होने के कारण तिङथ सख्या का प्रवृत्त्यथ म अन्वय होता है । इसका एक फल यह होता है कि भाव म एकवचन ही होता है, द्विवचन और बहुवचन नहीं होते। जस आस्यत भवता आस्यते भवदभ्याम, आस्यत भवदभि । अवश्य ही पाको पाका जसे स्थला म, जहा घञ स साधन का अभिधान नहीं होता, भाव म द्विवचन और बहुवचन देखे जाते हैं, एकपदवाच्यसाधनसख्याश्रय पक्ष म ऐसे स्थला म भी द्विवचन और बहुवचन नहीं होन चाहिए । इसका उत्तर यह है कि पाको पाका आदि म आश्रय भेद से द्विवचन और बहुवचन होते हैं । गुड तिल, ओदन आदि आश्रयभेद से आश्रित भी पाक भिन भिन मान लिया जाता है । घञ आदि से सत्वरूप अथ का अभिधान होता है । इस लिए द्रव्यधमसख्याभेद के आश्रय से वचनभेद होना अस्वाभाविक नहीं है ।

जहा पर प्रकारान्तर स तिङन्त वाच्य भाव म सख्या की प्रतीति होती है वहा भाव म भी बहुवचन देखा जाता है जसे उष्ट्रासिका आस्यन्त हतशायिका शय्यन्त । यहा पर उष्ट्र आश्रय है । उनके भेद स उनके अनक प्रकार क आसन भी भिन भिन हैं । उसके सामानाधिकरण्य स आख्यात वाच्य भाव भी भिन भिन जान पडता है । भाव भेद स आस्यन्त म बहुवचन का प्रयोग हुआ है । इव शब्द के प्रयोग के बिना भी इस वाक्य म इव क अथ की प्रतीति होती है । इसलिये 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते इस वाक्य से जिस तरह उष्ट्रा क अनक प्रकार के आसन होते है वसे ही देवदत्त आदि क द्वारा किए जा रहे है इस अथ की प्रतीति होती है । इसी तरह "हतशायिका शय्यन्त इस वाक्य मे हत व्यक्तियो की शयन क्रिया उत्तान, अवतान, विकीर्णकेश,

---

३ वाक्यपदीय ३ उपग्रह समुद्देश १६
४ पुण्यराज वाक्यपदीय २।८६ टीका
५ पदमञ्जरी ३।१।६७

इधर उधर सरके हुए वस्त्र आदि में रूप भिन्न भिन्न है। इस कारण आख्यात वाच्य भाव में भी स्वरूपगतभेद अवभासित होता है फलतः बहुवचन प्रयुक्त है। आहर्ता की गमन क्रिया की तरह देवदत्त आदि के द्वारा भी अनेक प्रकार की गमन क्रिया की जाती है यह अभिप्राय है। 'भवद्भिः आस्यते' इस वाक्य में आश्रय भेद से आश्रित भेद तो सम्भव है परन्तु पूर्व वाक्य में उष्ट्र और देवदत्त के आसन में साम्य दिखाना जैसा प्रयोजन था उस तरह का कोई प्रयोजन इस वाक्य में नहीं है। प्रयोजन के अभाव के कारण भावभेद भी नहीं माना जाता है। अतः इस वाक्य में एक वचन ही क्रिया में प्रयुक्त है। इसी आधार पर 'ताम्रः पलाशेषु बभूव रागः' इस वाक्य में भी पलाशरूप आश्रय के भिन्न भिन्न होने हुए भी राग शब्द में एक वचन का ही प्रयोग कवि ने किया है। वस्तुतः सर्वत्र आश्रय के भेद से आश्रित में भेद की प्रतीति नहीं होती। घटान् पचति जैसे वाक्यों में अभिन्न पाक का ही बोध होना है।

कुछ लोग 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते' इस वाक्य में कर्म में लकार मानते हैं। क्योंकि उष्ट्रासिका लक्षणभाव कर्म है। जैसे गोदोहं सुप्यते में कर्म है। जिस तरह गोदोह (गाय के दुहने का काल) का स्वाप में अन्वय होता है उसी तरह उष्ट्रासिका और हतशायिका का क्रमशः आसन और शयन में परिच्छेदक के रूप में अन्वय होता है। केवल अन्तर यह है कि गोदोह में परिच्छेदकत्व काल उपाधिक है जबकि आसिका आदि में सादृश्य रूप में है। इस मत के अनुसार आसिका और शायिका शब्द उपर्युक्त वाक्यों में प्रथमान्त बहुवचन हैं। पूर्व मत के अनुसार वे द्वितीयान्त बहुवचन है। क्योंकि क्रिया विशेषण के रूप में उनमें कर्मत्व है। यह कथन यहां उपयुक्त न होगा कि क्रिया विशेषण होने के कारण उन शब्दों में नपुंसक लिंग और एक वचन होना चाहिये क्योंकि 'स्त्रियां क्तिन्' ३।३।९४ सूत्र के अनुसार यहां स्त्रीत्व का अवधारण है। अतः सामान्ये नपुंसकम् (वार्तिक) की प्राप्ति यहां न होगी। और बहुत्व के बोध के कारण जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है एक वचन की प्राप्ति नहीं है।

भट्टोजि दीक्षित ने भाव में एक वचन की उपपत्ति एक दूसरे प्रकार से की है। उनके मत में सूत्रकार ने तिङ् और तिङ् निष्ठ संख्या का भी सर्वत्र कर्तृकर्मणी शब्द से किया है। कर्ता और कर्म का द्वित्व और बहुत्व द्विवचन और बहुवचन कहे जाते हैं। भाव में लकार असत्वावस्थापन्न धात्वर्थभूत क्रिया का ही अभिधान करता है अथवा द्योतन करता है। इसलिये वहां प्रथम पुरुष—एकवचन ही होना है। मध्यम और उत्तम पुरुष नहीं होते। क्योंकि युष्मदस्मद् का उसके साथ सामानाधिकरण्य नहीं है। द्वित्व और बहुत्व की प्रतीति न होने से द्विवचन और बहुवचन भी नहीं होते। एकवचन औत्सर्गिक होता है।[६]

परन्तु महाभाष्यकार ने भाव में भी ल विधान में बहुवचन दिखाया है जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसमें आख्यात वाच्य भाव असत्वावस्थापन्न होना है इस सिद्धान्त में बाधा न पड़ेगी क्योंकि असत्व अवस्था का अभिप्राय लिंग और कारक

६ शब्दकौस्तुभ ३।४।६७

के प्रयोग से है। अतएव पचति भवति, पच्यते भवति, पश्य मृगो धावति इत्यादि वाक्यों में वाक्यावयवभूत क्रिया का क्रियान्तर के साथ कर्ता के रूप में अथवा कर्म के रूप में अन्वित होने में कोई क्षति नहीं मानी जाती है। तिङभिहितभाव का कृदभिहितभाव (घञादि वाच्य) से वैषम्य में बाधा न पड़ेगी। क्योंकि कृत् अभिहितभाव सलिंग होता है और सकल कारकान्वित होता है जबकि तिङ् अभिहितभाव अलिंग होता है और सभी कारकों से सम्बन्ध नहीं रखता। इनके भेद दिखाते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि तिङ् अभिहित भाव का कर्ता के साथ योग होता है किन्तु कृदभिहित का कर्ता के साथ योग नहीं होता। (तिङभिहितो भाव कर्त्रा सम्प्रयुज्यते, कृदभिहित पुनर्न सम्प्रयुज्यते—महाभाष्य ३।१।६७)। यद्यपि कृद अभिहित भाव का भी कर्ता के साथ योग देखा जाता है जैसे ब्राह्मणाना प्रादुर्भाव, फिर भी एकपदवाच्य कर्ता के साथ उसका योग नहीं देखा जाता। पचति शब्द कहने मे जिस तरह कर्ता की अभिव्यक्ति होती है ठीक उसी तरह पाक शब्द कहने से नहीं होती। इससे केवल शुद्ध भाव का प्रत्यायन होता है। दूसरे शब्दों में तिङन्तवाच्य भाव सदा कर्तृ सापेक्ष होता है जबकि कृत् वाच्य सदा वैसा नहीं होता। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि घञादि के द्वारा भाव के सिद्ध रूप का अभिधान होता है इसलिए उस रूप से कर्ता का योग नहीं होता। धातु रूप के द्वारा भाव के साध्यरूप की अभिव्यक्ति होती है इसलिए साध्यरूप में कर्ता के साथ उसका योग होता है। अथवा "पाचक" जैसे शब्दों में भाव का कर्ता के साथ योग उपलक्षण (गौण) के रूप में होता है जबकि तिङ् के क्षेत्र में पचति जैसे शब्दों में साध्य होने के कारण कर्ता के साथ प्रधान रूप में योग होता है।

सर्वथा क्रिया में संख्या का अन्वय मानना उचित है। महाभाष्यकार के कई वाक्य क्रिया में संख्या की सम्भावना के पोषक हैं। जैसे भवति पुनर्वर्तमानकाल एकत्वं च।[7] इस वाक्य का एकत्व शब्द स्पष्ट रूप में क्रिया का संख्या के साथ सबध जोड़ रहा है। इसी तरह करोति पचादीनां सर्वान् कालान् सर्वान् पुरुषान् सर्वाणि वचनानि अनुवर्तते[8]—इस वाक्य का सर्वाणि वचनानि शब्द क्रिया में संख्या के समर्थन कर रहे है। संख्या का नाम वचन है।

'तद्धितश्चासर्व विभक्तौ' १।१।३८ सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार ने यह लिखा है कि कुछ अव्यय विभक्त्यर्थ प्रधान होते है। कुछ क्रिया प्रधान होते है। उच्च नीच ये विभक्त्यर्थ प्रधान है। हिरुक् पृथक् ये क्रियाप्रधान हैं। इनके साथ लिंग और संख्या का योग नहीं होता। परन्तु यहाँ भाष्यकार का क्रिया के साथ संख्या के प्रयोग दिखाने का अभिप्राय यह है कि अव्यय वाच्य इनके साथ संख्या का योग नहीं होता।

अतः संख्या का आख्यातार्थत्व उपपन्न होता है।

---

७ महाभाष्य १।३।१
८ वही १।३।१

संख्या द्रव्याश्रित

भर्तृहरि के अनुसार सभी सत्वभावापन्न पदार्थ संख्यावान् कहे जाते हैं। लोक में संख्या का आधार भेदाभेद विभाग है। संख्या भेद के आधार पर खड़ी है। उसे भेद ग्रपोद्धार लक्षण वाली कहा जा सकता है। क्योंकि एक से परार्ध तक जितनी संख्याएं हैं वे सब भेद के आधार पर ही अस्तित्व पाती हैं 'यह वह (इदं तत्) जैसे सर्वनाम से प्रत्यक्षमात्र योग्य वस्तुगत भेद होता है। फलतः सभी द्रव्यात्मा (वस्तु) में भेद होता है और उसका व्यवहार एक दो बहुत आदि संख्याओं से युक्त रहता है। सुविधा की दृष्टि से एकत्व में संख्या का व्यवहार अभेदाश्रय के रूप में होता है और दो, तीन आदि संख्याओं का व्यवहार भेद का प्रतिपादक है। इस तरह सत्वभूत (द्रव्यात्मक) अर्थ का एक अथवा अनेक रूप में भेद संख्याश्रित है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार संख्या एक गुण है और द्रव्याश्रित है। कुछ लोग मानते हैं कि पदार्थ असहाय अवस्था में एक और ससहाय अवस्था में दो बहुत आदि संख्याओं से व्यक्त किया जाता है। सहाय या विरह वस्तु के धर्म नहीं हैं। इसलिये द्रव्य से अतिरिक्तसंख्या लक्षण कोई गुण नहीं है। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती। क्योंकि ससहाय ज्ञान और दो तीन आदि का ज्ञान समान नहीं है वह भिन्न भिन्न रूप में जान पड़ता है। अतः ज्ञान भेद के कारण उनकी एकता नहीं सिद्ध की जा सकती है। साथ ही ससहाय अवस्था में भी एकत्व का भान होता है अतः सहायता रहित होना ही एकत्व नहीं है। कुछ लोग संख्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं। संख्या और द्रव्य का भेद तिरोहित रहता है द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप में संख्या की उपलब्धि नहीं होती इसलिये संख्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानना चाहिये। व्याकरण दर्शन जैसा कि हेलाराज ने कहा है वैशेषिकों की तरह पदार्थ विचार में रस नहीं लेता (अस्माकं तु शब्दप्रमाणकानां पदार्थविचारानादरात् यथायथं पदार्थकल्पना लौकिकी कृता)।[9] इसलिये भर्तृहरि का कहना है कि संख्या द्रव्य से अभिन्न हो अथवा व्यतिरिक्त हो व्यवहार में एक दो बहुत आदि शब्दों से भेद की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का कोई न कोई हेतु भूत धर्म होना चाहिये। उसी भेदक धर्म को संख्या नाम से व्यक्त किया जाता है —

> स धर्मो व्यतिरिक्तो वा तेषामात्मैव वा तथा।
> भेदहेतुत्वमाश्रित्य संख्येति व्यपदिश्यते ॥[10]

संख्या मूर्त और अमूर्त सब का भेदक है (संख्या सर्वस्य भेदिका)।[11] जैसे घट। अनेक आत्मा। दो क्रिया। एक वीता (वितस्ति)। दो हाथ। चार प्रस्थ। पांच पल। संख्या संख्या का भी भेदक है जैसे, दो बीस पांच पचास। द्रव्यगत संख्या का रूप रस आदि में आरोप कर चौबीस गुण कहे जाते हैं। इसी तरह अभाव यद्यपि

---

९ हेलाराज, वाक्यपदीय ३ संख्यासमुद्देश २
१० वाक्यपदीय ३, संख्यासमुद्देश २
११ वही काल समुद्देश २

निरपाय है फिर भी औपाधिकभेद से चार अभाव कहे जाते हैं। सख्या शब्द पदार्थों के वलक्षण्य का प्रतिपादन है। एक घट में भी दो तीन आदि के निगम (अलग करना) के रूप में भेद की प्रतीति होती है (यच्चेयौकान्त यच्चापरिमाण तस्य सवस्य सख्या भेदमात्र ब्रवीति महाभाष्य ५।१।१६)। महाभाष्यकार का इयीवान्त शब्द परिमाण का उपलक्षण है। जो महत परिमाण वाले हैं वे भी सख्या से गिने या व्यक्त किये जा सकते हैं जसे सात पवत (सप्त कुलाचला)। जो अल्प परिमाण या अपचितपरिमाण वाले हैं वे भी सख्या से भेद्य हैं जसे तीन परिमाणु (त्रय परिमाणव)। अत सवत्र सख्या भेदक के रूप मे ग्राह्य है।

गुण द्रव्याश्रित है। स्वतन्त्र नहीं है। फिर भी पटस्य रूपम् जसे वाक्यों में वह द्रव्यधर्म से स्वतन्त्र रूप मे व्यवहृत होता है वैसे ही पटस्वदपर चित्र रूपम जसे वाक्यो में शब्द शक्ति के आधार पर सख्या का स्वतन्त्र रूप में प्रतिपादन होता है। जहा पर ऐसा सभव नहा है वहा अध्यारोप से काम चल सकता है। वस्तुत भतृहरि के अनुसार अध्यारोप के लिए वस्तु की सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजक नहीं होती। अत्यन्त अविद्यमान अथ में भी काल्पनिक आरोप देखा जाता है जैसे समुद्र कुण्डिका (कुण्डिका में समुद्र का आरोप)। व्याकरणदर्शन आम्नाय में भी सामान्य में विशेष में विशेष लिंग में लिंग और सख्या में सख्या मानता है।[12] इसी आधार पर शत शतं शतानि आदि व्यवहार होते हैं।

सख्या का स्वरूपगत विवेचन

सभी भावो की सहज सख्या एकत्व है। एकत्व द्वित्व आदि का मूल रूप है। क्योंकि भेद अभेद पूवक होता है। द्वित्व आदि भेद मूलक है, एकत्व अभेदाश्रित है। बिना एकत्व के द्वित्व बहुत्व आदि का परिज्ञान सभव नहीं है।[13] द्वित्व ज्ञान की प्रक्रिया में मतभेद है। कुछ लोग मानते हैं कि बुद्धि सहित एकत्व और एकत्व (दो एकत्व) द्वित्व के ज्ञान में निमित्त हैं। अथवा बुद्धि निरपेक्ष दो एकत्व से द्वित्व का परिज्ञान होता है। कणाद दर्शन द्वित्व के ज्ञान में तीन कारणों का उपन्यास करता है। दो द्रव्यों में सब प्रथम उनके सामान्य का ज्ञान होता है तब उनके गुण का ज्ञान होता है इसके बाद उससे विशिष्ट दो द्रव्यों का ज्ञान होता है। कणाददर्शन की इस मान्यता का मूल आधार वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार बिना विशेषण के ज्ञान किये विशेष्य बुद्धि नहीं होती है (नागृहीतविशेषणा हि विशेष्य-बुद्धि)।

द्वित्व के स्वरूप में भी मतभेद है। कुछ आचाय मानते हैं कि द्वित्व एकत्व का समुदाय मात्र है। वह तो एकत्व से भिन्न नहीं है। एकत्व के समुदाय को द्वित्व इस एक नये शब्द से उसी तरह कहा जाता है जिस तरह वृक्ष के समुदाय को वन जैसे एक नये शब्द से व्यक्त किया जाता है। इस मत में समुदाय—अथ का प्राधान्य

---

१२ वही सख्यासमुद्देश ११
१३ वाक्यपदीय ३ सख्या समुद्देश १५

है। कुछ लोगों के अनुसार दो एकत्व निरपेक्ष रूप में तो एकत्व है परन्तु परस्पर सापेक्ष होकर वे ही द्वित्व कहे जाते हैं। इस मत में अवयवप्राधान्य की विवक्षा है। इन दोनों मतों के अनुसार द्वित्व एकत्व से अव्यतिरिक्त है। परन्तु ये मत समीचीन नहीं हैं। पाणिनि ने द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) सूत्र के द्वारा द्वित्व में द्विवचन का विधान किया है। अब अव्यतिरिक्त पक्ष में द्वित्व के एकत्व से अव्यतिरिक्त होने से द्विवचन दो एकत्व में होगा। फलतः द्वयेकयोः शब्द से तीन एकत्व (दो+एक) का ग्रहण होने लगेगा और बहुवचन की प्राप्ति होने लगेगी। अतः दो एकत्व से जनित द्वित्व को उनसे व्यतिरिक्त मानना उचित है।[१४] तीन से लेकर दस तक की संख्याओं के बारे में इसी तरह के विचार व्यक्त किये जाते हैं।

बीस (विंशति) और तीस के बारे की संख्याओं के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने महाभाष्य के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन संख्याओं के सम्बन्ध में मूल विचार दो हैं। एक तो इनके व्युत्पन्न अथवा अव्युत्पन्न होने के विषय में है। और दूसरा इनके स्वार्थ रूप से सम्बन्ध रखता है। व्युत्पन्न पक्ष में विंशति शब्द दशद्वयार्थाभिधायी द्वि शब्द से शतिच् प्रत्यय निपातन कर सिद्ध किया जाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण शब्द ही निपातन के द्वारा सिद्ध किया जाता है। केवल साधुत्व के लिये विंशति शब्द के प्रकृति प्रत्यय का अन्वाख्यान किया जाता है। शतिच् प्रत्यय स्वार्थ में होता है। स्वार्थ का अभिप्राय अनतिप्रकृति के अर्थ से है।[१५] लोक में विंशति आदि शब्द संख्या और संख्येय दोनों अर्थ में व्यवहृत होते हैं। जैसे बीस गाय के लिये संस्कृत में 'गवां विंशतिः' और 'विंशतिर्गावः' दोनों रूप में कहा जाता है। अब यदि दो दश के अर्थ में (स्वार्थ में) विंशति शब्द का निपातन किया जायगा तो विंशतिर्गावः यह समस्त रूप सम्भव न हो सकेगा। इसी तरह त्रिंशत् शब्द के भी उपर्युक्त विधि से निपातन करने पर त्रिंशत्पूली जैसे शब्द में द्विगु समास न हो सकेगा। क्योंकि इन शब्दों में द्विगु समास के लिए आवश्यक सामानाधिकरण्य न मिल सकेगा। विंशति शब्द से दो दस का अभिधान होगा न कि दस सम्बन्धी द्रव्य का अभिधान होगा।

---

१४. कैयट ने इस पर टिप्पणी दी है कि द्वयेक शब्द द्वित्व और एकत्व के अर्थ में है और इसीलिये द्विवचन के रूप में व्यवहृत है—द्वयेकयोरित्यत्र संख्यावादिना द्विशब्देन सापेक्षयादेकशब्दस्यापि संख्यावाचिनो ग्रहणम्। द्वित्वैकत्वयोरेव द्वयेकशब्दौ वर्तते इति द्विवचनेन निर्देशः। अन्यथा बहुवचनं स्यात्। प्रसिद्ध या च संख्यार्थं वमेकादीनामष्टादशान्तानामुच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

एक शब्द जब संख्यावाची होता है वह गुणवचन होता है। जब वह असहायवाची होता है गुणवचन नहीं होता। (महाभाष्यप्रदीप ६।३।६२)। नागेश इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत में संख्या शब्द गुणवचन नहीं होते (संख्याशब्दानां गुणवचनत्वाभावात्—वही)। परन्तु पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र में एक शब्द का संख्या के अर्थ में ही व्यवहार किया है। भाष्यकार का भी यही मत है (अत्र एक शब्दः संख्यायामवप्रयुक्तः, न संख्येये द्रव्ये—भाष्य ६।३।६२)।

१५. स्वार्थ इति। प्रत्ययस्य स्वार्थः या प्रकृतिस्तस्या अर्थ इत्यर्थः। अथवा स प्रकृत्यर्थः स एव प्रत्ययस्य स्वार्थः स्वभिन्नार्थमिव पुत्रस्य। तत्रैवार्थे प्रत्ययात् या अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति इति न्याय्यम्।

महाभाष्यप्रदीप ५।१।५९

फलत बीस गाय व अर्थ म सदा गवा विंशति यह षष्ठी विभक्ति वाला रूप ही होगा क्योंकि गायों के दा दस (गवा द्वौ दशतौ) के रूप म अर्थ की उपस्थिति हो स व्यतिरेक उपस्थित हो जाने के कारण षष्ठी विभक्ति ही गो शब्द म होगी। षष्ठ्यन्त गो शब्द के साथ विंशति शब्द का समानाधिकरण न होने से द्विगु समास संभव न हो सकेगा। साथ ही इस शब्द म एक वचन का प्रयोग भी उपपन्न न हो सकेगा। वस्तुत कवल समास या केवल वचन की अनुपपत्ति न होकर समास वचन की उपपत्ति न हो सकेगी। गवा विंशति से गोविंशति ऐसा समास होता है। यद्यपि 'पूरणगुणसुहितार्थ २।२।११ सूत्र के अनुसार गुण के साथ षष्ठी समास नहीं होता फिर भी यह निषेध अनित्य माना जाता है और सख्या शब्द के साथ समास देखा जाता है। स्वयं पाणिनि ने शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् (५।२।११९) म सख्या शब्द क साथ समास किया है। गुणनिषेध अनित्य द्योतक वाक्य कात्यायन और पतञ्जलि ने भी कहे हैं जस क्रोशशतयोजनशतयोरुपसख्यानम् (वार्तिक ४।१।७४) 'नारीशतमपि न ददाति (महाभाष्य, पस्पशाह्निक) आदि। अथवा गुण के साथ निषेध वाला नियम तत्स्थ गुणा के साथ लागू होता है जस वाक्यस्य काण्ठ्यम्' म। गुणात्मा रूप म अवस्थित के साथ वह नियम नहीं लगता। फलत गोविंशति यह समस्त पद बनता है। परन्तु व्युत्पन्न पक्ष म सामानाधिकरण्य के अभाव म समस्त पद न बन सकेगा। साथ ही दो दस का भाव होने से द्विवचन की भी प्राप्ति होन लगेगी। स्वार्थिक प्रत्यय लिंग का व्यतिक्रमण कर सकते हैं परन्तु सख्या का व्यतिक्रमण नहीं करते। लिंग का तो प्रतिवस्तु के साथ—इय व्यक्ति अयम पदार्थ इद वस्तु—इस रूप म तीनों लिंगों का व्यवहार देखा जाता है इसलिये लिंग भेद होने पर उतना विरोध संभव नहीं है परन्तु सख्या के क्षेत्र म सख्या तरयुक्त का सख्यान्तर म विरोध है। यदि परिमाणी अर्थ म स्वार्थ म प्रत्यय का विधान हो, तो इस दोष से बचा जा सकता है। परिमाणी दो तरह का होता है द्रव्य का सघात अथवा भिन्न भिन्न द्रव्य। तो सघ के एक होने से विंशति शब्द म एकवचन साधु मान लिया जायगा। द्रव्य को परिमाणी के रूप म लेने पर विंशतिपद, त्रिंशत्पुली आदि म समानाधिकरण समास की भी सिद्धि हो सकती है। परन्तु दूसरी कठिनाइयाँ आ खड़ी होंगी। जब सघ के परिमाणी अर्थ म विंशति शब्द का निपातन होगा तब विंशति शब्द से भी सघ का ग्रहण होन लगेगा पर ऐसा इष्ट नहीं है और न लोक म ऐसा देखा ही जाता है। भिन्न द्रव्य परिमाणी म प्रत्यय की उत्पत्ति मानने पर विंशति शब्द से द्रव्य का अभिधान होगा, फलत व्यतिरेक न होने के कारण गवा (गवा विंशति) म षष्ठी विभक्ति न हो सकेगी। और द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य होने से बहुवचन की भी प्राप्ति होन लगेगी।

वार्तिककार ने उपयुक्त दोषों से बचने के लिए विंशति आदि शब्दों को अव्युत्पन्न मान लिया है। जिस तरह सहस्र अयुत अर्बुद आदि शब्द अव्युत्पन्न है उसी तरह विंशति आदि शब्द भी अव्युत्पन्न है। इनकी प्रातिपदिक संज्ञा अर्थवत्० १।२।४५ सूत्र से हो जायगी। अर्थवत् सूत्र के द्वारा अव्युत्पन्न शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती

है यह बात पहले कही जा चुकी है। जिस तरह अक्ष आदि शब्द अनेकार्थ होते हैं उसी तरह विंशति आदि शब्द भी संख्या और संख्येय के अर्थ में स्वभावतः व्यवहृत होते हैं। वे रूढ़ि शब्द हैं और रूढ़ि शब्द होने के कारण उनके लिंग और उनकी संख्या नियत होती है। जैसे, आप दारा आदि रूढ़ि शब्दों में नियत लिंग—संख्या देखे जाते हैं।

परन्तु महाभाष्यकार ने व्युत्पत्ति—पक्ष का समर्थन किया है। विंशति आदि शब्द पूर्ण रूप में रूढ़ि शब्द नहीं है। अक्ष जैसे शब्द अनेक अर्थ जब कहते हैं उनमें कोई अन्वय नहीं होता। वे भिन्न भिन्न जातियों में रूढ होते हैं। वे यौगिक शब्द नहीं हैं। विंशति सहस्र आदि शब्द जब गुणी के अर्थ में व्यवहृत होते हैं यौगिक शब्द ही माने जाते हैं। ये शब्द संख्या से निरपेक्ष सम्बन्ध विशेष की अभिव्यक्ति नहीं करते। इसलिए इन्हें रूढ़ि शब्द नहीं कहा जा सकता।

विंशति आदि शब्दों में समास और वचन की अनुपपत्ति भी न हो सकेगी। संघ का अर्थ समुदाय भी है। संघ समूह समुदाय ये एकार्थक हैं। संघ केवल प्राणियों के समुदाय को ही नहीं कहते अप्राणियों के भी समूह को कहते हैं। इसी से बीस वृक्ष के लिए वृक्षाणां विंशतिः भी प्रयुक्त होता है। ये विंशति आदि शब्द समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होकर भाववचन माने जाते हैं। भाववचन होने से गुण वचन हैं। गुणवचन होने से दूसरे गुणवचन शब्दों के सदृश हो जाते हैं। अन्य गुणवचन शब्दों में देखा जाता है कि कभी गुण गुणी का विशेषक होता है जैसे 'पटः शुक्लः'। कभी गुणी गुण का विशेषक होता है जैसे 'पटस्य शुक्लः'। अस्तु पट शुक्ल में जिस तरह गुण गुणी के अव्यतिरेक की विवक्षा से अथवा मतुप लोप से सामानाधिकरण्य है उसी तरह विंशति आदि का भी द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य संभव है। फलतः समास होने में कोई आपत्ति नहीं है।

परिमाणी वाले पक्ष में भी दोष का परिहार संभव है। परिमाण संख्या के विशेषण रूप में यहां गृहीत होता है। क्योंकि शब्द किसी वस्तु का परिमाण नहीं होता। परिमाण शब्द भी यहां प्रसिद्ध (रूढ़) परिमाण अर्थ में नहीं है अपितु क्रिया शब्द है (परिमीयते अनेन इति परिमाणम्)। परिच्छेदक होने के कारण संख्या भी परिमाण है। परिमाणी पक्ष में संघ शब्द से समुदाय अर्थ और संख्यानसंघ दोनों का ग्रहण होगा। अर्थात् एक द्रव्यसंघ होगा और दूसरा संख्या वाला संघ होगा। [illegible] परिमाणी रूपतः संघ में प्रत्यय होगा। [illegible] कि [illegible] संघ का विंशति शब्द से अभिधान होगा और बीस गायें के परिमाण वाले [illegible] विवक्षा में विंशतिः गावः प्रयोग हो सकेगा। विंशतिः गावः न हो सकेगा और [illegible] विंशति के लिए [illegible] हो सकेगा। [illegible] विंशति परिमाण [illegible] के साथ [illegible] परिमाण के [illegible] में [illegible] की सिद्धि के लिए [illegible] में [illegible] प्रत्यय करने की आवश्यकता पड़ गई थी। संघ [illegible] से संख्यान और संख्येय दोनों अर्थ के ग्रहण करने के कारण [illegible] के लिए प्रसिद्ध विंशति शब्द परिमाण [illegible] के लिए भी [illegible]। यद्यपि विंशति शब्द कभी गावः का अर्थ नहीं करता परन्तु पदार्थों

मिधान वत्ति यहा विवक्षित है और इसलिये वह प्रत्यय उत्पादन करने में समथ हो सकेगा। यहा यह बात ध्यान दन की है कि द्रव्या का द्रव्यसघ से और दगाता का दशनसघ से काई तात्त्विक भेद नही है। उनमें भेद बुद्धि-परिकल्पित है। शाद बुद्धि व्यवस्थापित ग्रथ वाले होते ह। बुद्धि को ही वे ग्रर्थाकार के रूप में ग्रभिव्यक्त करत हैं। बाह्य ग्रथ क ग्रभिधान से उनका साक्षात प्रयोजन नहीं होता। इसलिय वास्तविक भेद न होन पर भी भेद की प्रतीति वे कराते हैं। गुणी (गाय ग्रादि) का भेद वे रूप में व्यवहार करने पर षष्ठी विभक्ति (गवा विंशति) भी सिद्ध हो जायगी। यद्यपि विंशति शब्द से दसा का सघ (दशत सघ) वाच्य है इसलिय उसका गुणी गाय ग्रादि नही होत, दो दस ही उसके गुणी (सख्येय) हैं फिर भी गाय ग्रौर दससघ में किसी तात्त्विक भेद क न होने के कारण गाय भी विंशति शब्द क गुणी हैं। कवल ग्रन्तर यह है कि दस सघ स विंशति के सम्बन्ध म कोई व्यभिचार नही है इसलिय कभी दशत स विंशति की विशेष्यता नही व्यक्त की जाती, कोई दशतो विंशति' नही कहता। कभी भी 'कृष्णस्य काष्ण्यम, "शुक्लस्य शौक्ल्यम' प्रयोग की ग्रावश्यकता नही होती, इनमें व्यभिचार सम्भव नही है। परन्तु ग्रश्व ग्रादि की व्यावृत्ति के लिय विंशति शब्द का गो शब्द क द्वारा विशेष रूप व्यक्त किया जाता है। ग्रौर कहा जाता है गवा विंशति'। ग्रन्यथा ग्रश्व ग्रादि भी बीस सख्या स गृहीत हो सकत हैं। गाया का विंशति स सम्बन्ध भावानयन द्रव्यानयनम् न्याय के ग्राधार पर हो जाता है।

वचनवाला दोष भी दोना पक्षा म वस्तुत दोष नहीं है। समुदाय ग्रभिधान के पक्ष म समुदाय के एक होने से एक वचन सिद्ध ही है। गुणी ग्रभिधान पक्ष म भी दोष नही है। यह ठीक है कि गुणवचन शब्द द्रव्य क लिंग ग्रौर उसकी सख्या का ग्रनुवतन करत हैं। परन्तु सवत्र यह नियम नही देखा जाता। लोक मे कहा जाता है— गावो धनम पुत्रा ग्रपत्यम इन्द्राग्नी दवता वदा प्रमाणम ग्रादि। इन वाक्या म गुण ग्रौर गुणी म लिंग ग्रौर सख्या का साम्य नही है फिर भी य प्रयाग शुद्ध हैं। गाव म बहुवचन है ग्रौर धनम म एक वचन है। धन गुण है ग्रौर गाय गुणी है क्याकि धन साकाक्ष है भेदक है ग्रौर क्रिया पारतत्र्य है। जिस तरह शुक्ल शब्द कहन से द्रव्य की ग्राकाक्षा होती है उसी तरह धन शब्द कहने स कौन से धन की जिज्ञासा म गाय ग्रादि की ग्राकाक्षा होती है। जिस तरह शुक्ल वस्त्र म शुक्ल शब्द द्रव्य का भेदक है उसी तरह गावा धनम म धन शब्द गाय का भेदक है ग्रथात दूसरे दूसरे प्रकार क धन स गाय धन ग्रधिक प्रीतिकर है इस रूप म भेदक है। जिस तरह शुक्लमानय इसम द्रव्य ले ग्रान म ही शुक्ल के लाने की सभावना है ग्रत क्रिया म द्रव्यपरतत्रता के कारण शुक्ल गुण है उसी तरह धनमानय जस वाक्य म गाय ग्रादि द्रव्य की ग्रानयन क्रिया म पारतत्र्य क कारण धन गुण है। ग्रत जिस तरह 'गावा धनम ग्रादि म गुण-गुणी म भिन्न भिन्न वचन हैं—एकवचन ग्रौर बहुवचन साथ-साथ हैं वस ही विंशतिगाव विंशतिर्बलीवर्दा विंशतिर्गोकुलानि ग्रादि म भी विभिन्न वचन ग्रौर लिंग साथ-साथ सम्भव हैं। विंशति शब्द नित्य एकवचन ग्रौर स्त्रीलिंग है। इस एक वचन की पीठिका म भी एक दशन है। जहा कहीं एसा होता है वहा कुछ न कुछ रहस्य

होना चाहिये । महाभाष्यकार ने कहा है कि एक गोपिण्ड धन नहीं है अपितु गायों का समुदाय धन है और प्रीति हेतु होने के कारण धन गुण एक है । उसी एकत्व की प्राधान्य विवक्षा से धनम् शब्द में एक वचन होता है । इसी तरह पुत्र अपत्यम में अपत्य शब्द से अपतन एक गुण प्रधान रूप से विवक्षित है और उसी आधार पर इसमें एकवचन है । लिंग के लोकाश्रय होने के कारण अपत्य शब्द का व्यवहार नपुंसकलिंग में होता है । वस्तुतः इसमें भी एकत्व की तरह ही रहस्य है । इसी तरह इन्द्राग्नी देवता में देवत्व (देवत्व) एक गुण ही प्रधानतः विवक्षित है इसलिये देवता में द्विवचन न होकर एकवचन है । विंशति आदि में भी विंशति संख्या समुदित द्रव्यसमूह में समवाय रूप में रहने के कारण एक है । इस एकत्व गुण के कारण विंशति शब्द का प्रयोग एकवचन में होता है । वह गुणत्व की तरह प्रत्येक में परिसमाप्त नहीं है । अतः शब्द द्रव्यगत लिंग संख्या का अनुवर्तन नहीं करता । पंच सप्त आदि नित्य संख्येय वचन हैं इसलिये वे संख्येय लिंग-वचन का अनुगमन करते हैं । उनमें उपयुक्त आधार पर एकवचन नहीं होता ।[16] अतः व्युत्पत्ति पक्ष में भी दोष नहीं है । पर वैयाकरणों का झुकाव विंशति आदि शब्द को अव्युत्पन्न मानने की ओर ही अधिक रहा है । जैसाकि वार्तिककार ने कहा है —

विंशत्यादयो गुणवचनास्ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः ।
नात्रावयवार्थोऽभिनिवेष्टव्यम् । या चैषा विग्रहभेदेन गुणमात्रे
गुणिनि च वृत्तिः स्वलिंगसंख्यानुविधानं च एतदपि सर्वं स्वाभाविकमेव ।[17]

विंशति की तरह ही एकविंशति आदि संख्याओं को समझना चाहिये । उनमें भी अवयवार्थ कुछ नहीं है । एक संख्या और बीस संख्या के योग से एक्कीस (एक विंशति) संख्या बनी है । यह एक तरह का काल्पनिक रूप है यथार्थ नहीं । नव और बारह दस और ग्यारह के द्वारा भी एक विंशति का विवरण किया जा सकता है परन्तु ये सब विभाग भर्तृहरि के अनुसार काल्पनिक हैं । एकविंशति आदि संख्याओं में कोई अवयव नहीं है । वे अन्य ही संख्या हैं । नरसिंह की तरह उनमें अन्य ही बुद्धि होती है । केवल समझने के लिये नर और सिंह के रूप में जैसे अपोद्धार किया जाता है वैसे केवल अन्वाख्यान के लिए एकश्च विंशतिश्च इस वाक्य एक विंशति के लिये कहे जाते हैं

एकविंशति संख्यायां संख्यान्तरसरूपयोः ।
एकस्यां बुद्ध्यवस्थायां भागयोरिव कल्पना ॥[18]

यह मान्यता कुछ व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण है । एकविंशति जैसी संख्याओं को दो संख्याओं का योग मान लेने पर और उन्हें निरवयव न मानने पर व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयां पड़ेंगी । दस आदि की तरह उन्हें अखण्ड

---

१६ महाभाष्य तथा महाभाष्यप्रदीप ५।१।५९
१७ कारिका ५।१।५९
१८ वाक्यपदीय ३ संख्या समुद्देश २०

एकवचन, द्विवचन और बहुवचन

यद्यपि ये शब्द अन्वर्थक हैं फिर भी पारिभाषिक रूप में व्यवहृत होते हैं। पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत संज्ञाओं की पाणिनि ने प्रायः परिभाषा नहीं दी है परन्तु उन्होंने एकवचन आदि की परिभाषा दी है। महाभाष्यकार ने इन्हें संज्ञा माना है—एकवचनं द्विवचनं बहुवचनमिति स्वकृताः संज्ञाः कृताः।[20] द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ सूत्र के द्वारा एकत्व के अर्थ में एकवचन और द्वित्व के अर्थ में द्विवचन का प्रयोग होता है। एक शब्द का कई अर्थों में प्रयोग होता है। एक, दो, बहु आदि शब्दों के साथ यह संख्या के अर्थ में व्यवहृत होता है। 'एकाकी' जैसे वाक्यों में यह असहायवाची है। 'सपत्नान् कुरुते एकः' जैसे वाक्यों में यह अन्य अर्थ पाता है। जब यह संख्यावाची होता है तभी उससे एकवचन होता है। पाणिनि ने उक्त सूत्र में संख्या के अर्थ में ही एक शब्द का व्यवहार किया है। यदि एक का अन्य अर्थ विवक्षित होता द्व्येकयोः में द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग उचित होता, क्योंकि दो और एक मिल कर तीन का अर्थ व्यक्त करते। संख्या के लिये एक आदि शब्दों का व्यवहार लोक प्रसिद्धि के आधार पर किया जाता है (प्रसिद्धश्च संख्येयपरत्वमकारादीनाम् अष्टादशान्तानाम् उच्यते)।[21] जहाँ एक शब्द अन्यार्थक होता है वहाँ उसकी गणना संख्या में नहीं होती। अतः उससे बहुवचन भी होता है। जैसे 'एके मन्यन्ते'। वस्तुतः एकवचन में एक के संख्यार्थक होने के कारण एकवचन वस्तु की एक इकाई का द्योतक है और वस्तु में भेद प्रभेद सूचक होने के कारण अभेद सूचक एकत्व ही वस्तु का स्वाभाविक रूप है। फलतः संस्कृत के वैयाकरण एकवचन को औत्सर्गिक मानते हैं।

द्विवचन कभी कभी अपनी स्वाभाविक सीमा के परे भी चला जाता है। संस्कृत में शरीर के वे अवयव प्रायः द्विवचन द्वारा प्रकट किये जाते हैं जो जोड़े हैं जैसे—आँख, कान आदि। परन्तु 'अक्षीणि मे दर्शनीयानि', 'पादा मे सुकुमाराः' जैसे बहुवचनान्त प्रयोग भी लोक में देखे जाते हैं।

बहुत्व के अर्थ में बहुवचन का विधान पाणिनि ने 'बहुषु बहुवचनम्' १।४।२१ के द्वारा किया है। बहुत्व तीन से लेकर परार्ध तक की संख्याओं में व्याप्त धर्म है। संस्कृत में दारा शब्द बहुवचनान्त है। एक दारा के लिये भी 'दाराः' पद का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग इसकी उपपत्ति बताते हुए कहते हैं कि अवयवगत बहुत्व का अवयवी में यहाँ आरोप किया गया है। अतः यहाँ बहुवचन आरोपजन्य है। (अवयवबहुत्वस्यावयविनि आरोपाद् भविष्यति)[22]। एक वृक्ष में मूल, शाखा आदि अवयव के आरोप से बहुवचन नहीं होता क्योंकि कोश अथवा वृद्ध-व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। दारा शब्द में प्रति अवयव में भ्रम के कारण दारत्व का आरोप

---

२० महाभाष्य १।४।२१

२१ महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

२२ शब्दकौस्तुभ १।४।२१

सम्भव है। जहा कोश आदि बाधा नही देते एकत्व या बहुत्व के प्रयोग वक्ता की इच्छा पर है। जैसे "आचाया आगता" भी कहते हैं और 'आचार्य आगत' भी कहा जाता है। कुछ लोगो के अनुसार दारा शब्द मे बहुवचन साधुत्व के लिये है। परन्तु बहुवचन विधान सूचक कोई उल्लेख नही है उसका अनुशासन नही हो पाया है। आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार दारा सिकता आदि शब्दो मे बहुवचन वक्ता के इच्छा स्वातन्त्र्य के कारण है वस्तु के आधार पर नही

तस्मादय नियमो निवस्तुक क्रियमाण शब्दप्रयोगे इच्छास्वातत्र्य स्यापयति।

—प्रमाणवार्तिक पृष्ठ १६०

महाभाष्यकार ने सिकता शब्द का प्रयोग एकवचन म किया है। जैसे **एका च सिकता तलदानेऽसमर्था, तत्समुदायश्च खारीशतमपि असमयम्'** । इस पर कैयट ने टिप्पणी दी है कि **"एका सिकतेति भाष्यप्रयोगादेव सिकता शब्दस्यैकवचना न्तमपि ।**[२३]

एकवचन आदि प्रत्ययनियम और अर्थनियम दोना रूप म गृहीत होते हैं अर्थात एक अर्थ म ही एकवचन अथवा एक म एक वचन ही होता है। इन दोनो रूपो म इनकी व्याख्या की जाती है। 'बहु सूप' जसे वाक्यो म बहु शब्द वैपुल्यवाची है। बहु शब्द भिन्न वस्तुओ के आधाराधेय के रूप म ही सख्यावाचक होता है।

सख्या विभक्ति से वाच्य अथवा द्योत्य

निम्न प्रातिपदिकार्थ पक्ष मे कम आदि की तरह एकत्व आदि सख्या विभक्त्यर्थ मानी जाती है। पञ्च प्रातिपदिकार्थपक्ष मे विभक्तिया सख्या के द्योतक है। कुछ लोग मानते हैं कि सख्या का अभिधान प्रत्यय के द्वारा होता है और कम आदि का अभिधान प्रातिपदिक के द्वारा होता है। इस मत का आधार अन्वय व्यतिरेक पद्धति है। वक्षी वक्षान जसे शब्दो म प्रत्यय के भेद से सख्या म भेद देखा जाता है परन्तु साधन म भेद नही देखा जाता। इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि कम आदि का अभिधान प्रत्यय द्वारा होता है और सख्या प्रातिपदिक के द्वारा अभिव्यक्त होती है। क्योकि अनिश्चित जसे शब्दो म प्रत्यय के बिना भी एकत्व का परिज्ञान होता है परन्तु विभक्ति के बिना कम आदि का ज्ञान नही होता। कुछ लोगो के अनुसार प्रातिपदिक से ही सख्या और कर्मादि दोनो का अभिधान होता है। चम पदय जैसे वाक्यो म विभक्ति के बिना भी दोनो का परिज्ञान देखा जाता है। वस्तुत ये सब पक्ष भेद पुरुष विकल्पाधीन है। और व्याकरणदशन म प्रसगानुसार सभी पक्ष यथावसर ग्राह्य है। महाभाष्यकार ने अनभिहित (२।३।१) इस सूत्र की स्थापना सख्या विभक्त्यर्थ दशन के आधार पर की है (तदेव सख्याविभक्त्यर्थ इति दर्शनाश्रयेण सूत्र स्थापितम —महाभाष्यप्रदीप २।३।१)। इसी तरह पाणिनि सूत्र ४।१।५० के भाष्य म विभक्तियो के कर्मादि के द्योतक होने का सकेत है और नागेश के अनुसार यही सिद्धान्त

---

२३ महाभाष्य और महाभाष्यप्रदीप, इयवरट् सूत्र पर पृ० १४०, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

गया है—

(तस्माद् भाष्याद् द्योतकत्व पक्ष एव सिद्धान्त इति ज्ञायते—

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४।१।५०)।

संख्या प्रत्ययार्थ और प्रकृत्यर्थ दोनों का परिच्छेदक है। पचति आदि में संख्या प्रत्ययार्थ का परिच्छेदक है। घट गाव अश्व वा न अश्व इन शब्दों में प्रकृत्यर्थ का परिच्छेदक है।

वृत्ति में संख्या

वृत्ति में संख्याभेद की निवृत्ति हो जाती है। विग्रह वाक्य में संख्या विशेष की प्रतीति होती है। राज्ञ पुरुष में राजन् शब्द से एकत्व का ज्ञान होता है परन्तु राजपुरुष शब्द में उपसर्जन शब्द से किसी संख्या विशेष का बोध नहीं होता। किसी संख्यान्तर के न होने से वृत्ति में संख्याविशेष का स्थान नहीं है इसका अनुमान कर लिया जाता है।

वृत्ति में अभेदैकत्वसंख्या

अथवा वृत्ति में अभेदैकत्वसंख्या होती है। भर्तृहरि ने अभेदैकत्वसंख्या को दो रूपों में व्यक्त किया है। विशेष संख्याओं का अविभाग रूप में अवस्थिति का नाम अभेदैकत्व संख्या है। इस दर्शन के अनुसार वृत्ति में उपसर्जन पदार्थों में भी संख्यायोग होना चाहिये। प्रधान की तरह सर्वथा संख्यारहित उपसर्जन पदार्थ की सत्ता उपयुक्त नहीं है। इसलिये वृत्ति में भी संख्या का एक सामान्य रूप रहता है जो सभी संख्या विशेषों का संसर्ग रूप सा है। उसमें संख्याओं का विभाग दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण में भर्तृहरि ने मधु का उदाहरण दिया है। मधु में सभी प्रकार की औषधियों के रस अविभाग रूप में सन्निविष्ट रहते हैं। मधु में औषधि रसों की अलग अलग पहचान दुष्कर है फिर भी वे वहाँ हैं। कार्य में रस कारण गुण—रस से ही संभव है। इसी तरह यद्यपि वृत्ति में उपसर्जन पदार्थ में संख्या विशेष की प्रतिपत्ति नहीं होती, फिर भी उसमें सभी संख्याएं अविभक्त रूप में हैं। इसी को अभेदैकत्व संख्या शब्द से व्यक्त किया जाता है।[२४]

अथवा अभेदैकत्वसंख्या से अभिप्राय उस संख्या सामान्य से है जिसमें विशेष परित्यक्त है (परित्यक्तविशेष संख्यासामान्य अभेदैकत्वसंख्या)। अभेदैकत्व स्वभाव वाली संख्या में व्यक्तिभेद सर्वथा तिरोहित रहता है और संख्या केवल जाति रूप में अवस्थित रहती है। संख्या का जातिरूप भेदापोहलक्षण है अर्थात भेदों का व्यावर्तन अथवा हटाना ही संख्या का जातिरूप है। एकत्व द्वित्व का व्यावर्तन करता है, द्वित्व त्रित्व को हटाता है। इसी तरह अभेदैकत्व के अन्य सभी संख्याओं के व्यावर्तक होने के कारण उसमें भेदापोह लक्षण संख्यात्व है। पहले मत

---

२४ वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ६६, १००

से इस मत म यह भेद है कि पहले के अनुसार अभेदकत्व समस्त भेद का ससग मात्र था फलत समस्त भेदात्मक था। दूसरे मत के अनुसार अभेदकत्व समस्त भेद मे अनुगत सामान्य रूप और अन्य व्यावतक स्वभाव वाला है। समास म द्वित्व और बहुत्व सख्या का भान नहीं होता। केवल अभेदकत्व का परिज्ञान होता है। अत सख्या विशेष का परित्याग कर सख्या के सामान्य रूप का अभेदकत्व सख्या मानना चाहिए। जिस तरह से अधेरे मे किसी वस्तु के केवल आकार का ही बोध हो पाता है उसके विशेष गुण शुक्ल, नील पीत आदि का आभास नहीं होता उसी तरह राज पुरुष आदि वृत्तिस्थलों मे आकार या रूप की तरह केवल सख्यावान राज के अर्थ का ग्रहण होता है पर विशेष रंग की तरह विशेष सख्या का ग्रहण नहीं होता। अत वृत्ति म अभेदकत्व सख्या की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

कभी कभी वृत्ति म भी सख्या का बोध होता है। परन्तु इससे अभेदकत्व सख्या पक्ष की हानि नहीं होती। द्विपुत्र पचपुत्र जसे शब्दो मे समास म भी सख्या विशेष की अभिव्यक्ति अवश्य होती है परन्तु यहा प्रातिपदिकार्थ ही सख्या विशेष है। इस विग्रह वाक्य से जिस द्वित्व सख्या की प्रतीति होती थी समास होने पर वह तिरोहित हो जाती है और अभेदकत्व सख्या का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु द्विशब्द का प्रातिपदिकार्थ जो द्वित्व है वह वृत्ति होने पर भी तिरोहित नहीं होता। जहत स्वार्थावृत्ति पक्ष म भी उपसजन का अर्थ होता है। भाव प्रत्यय के बिना भी वृत्तिविषय म द्वि और बहु शब्द द्वित्व और बहुत्व के अर्थ म देखे जाते हैं जसे द्व्यक्योर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ के द्व्येकयो शब्द मे।

अन्यत्र भी वृत्ति म सख्याविशेष की झलक मिलती है। जसे 'तावकीन म एकत्व की। परन्तु यहा भी एकत्व की प्रतीति आदेश के प्रयोग से है।

मासजात शौर्पिक जसे स्थलो म एकत्व का भान यहा प्रातिपदिक के ही विशेष अर्थ के अभिधायक होने के कारण है। विशिष्ट काल का अवबोध ही यहा मुख्य है। परिमय—विशेष के अवधारण के लिये ही परिमाण शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कुण्डश ददाति, प्रस्थश ददाति वनश प्रविशति जसे वाक्यो म एकत्व का अवधारण प्रकरण के बल पर होता है।

विग्रह वाक्य मे स्तोकाभ्या मुक्त स्तोकेभ्य मुक्त ऐसा भी कहा जाता है किन्तु समास म सदा 'स्तोकान मुक्त" ही होता है। यह अलुक समास है और समस्त पद होने के कारण इसमें एक ही उदात्त है। स्तोकाभ्या मुक्त मे समास अन भिधान के कारण नहीं होता। लोक म समस्त शब्द के रूप म इसका प्रयोग नहीं देखा जाता। स्तोकान मुक्त म अलुक का एकवद्भाव माना जाता है। फलत वृत्ति म अभेदकत्वसख्या का व्याघात यहा भी नहीं है। गोपुचर, वर्षापुज जसे आपातत बहुवचनान्त समास म भी अभेदकत्वसख्या है क्योंकि इनम व्यक्ति बहुत्व के अथम बहुवचन नहीं है अपितु जाति बोध के कारण एक के अर्थ म है। इसलिये एक व्यक्ति के लिये भी गोपुचर (कयट के अनुसार कुक्कुट, हलाराज के अनुसार इन्द्रगोप) शब्द का

प्रयोग होता है। इसी तरह वर्षाशुज में वर्षा शब्द बहुवचन में ही ऋतु विशेष का वाचक है। इसलिए वृत्तिगत अभेदैकसंख्या की प्रतीति यहाँ भी है। इस तरह वृत्ति में अभेदैकसंख्या भर्तृहरि के अनुसार माननी चाहिए। पर यह अभेदैकत्व पारिभाषिक रूप में ही है। व्यवहारतः वृत्ति से संख्याविशेष का भान नहीं होता। यदि कुछ स्थलों पर किसी विशेष कारण से वृत्ति में संख्या का अवरोध हो भी तो भी सामान्य लक्षण के रूप में यही कहना उचित है कि वृत्ति में संख्याभेद का अवगम नहीं होता—

भेदः संख्याविशेषो वा व्याख्यातो वृत्तिवाक्ययोः ।
सम्बन्धस्य विशेषस्तु नायन्यः तादृशो भवेत् ॥

—वाक्यपदीय वृत्ति समुद्देश १३२

जाति में संख्या

व्याकरण दर्शन जाति में भी संख्या मानता है। क्योंकि संख्या इस दर्शन में भेदक के रूप में भी गृहीत है। गुण पद से सदा वैशेषिक प्रसिद्ध ही गुण नहीं लिया जाता गुण भेदक भी होता है

ननु च जाते संख्या न विद्यते संख्याया द्रव्यधर्मत्वात्। यद्यपि वैशेषिकसिद्धान्तप्रसिद्धा गुणपदार्थसंगृहीता या संख्या सा न विद्यते तथापि भेदका गुणा इत्यस्माद् दर्शने भेदमाना या संख्या सा विद्यत एव—

—न्यास १।२।५८

७

कारक (साधन) विचार

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे ।
क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥[1]

क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्य शक्ति को साधन कहते हैं । इसे कारक भी कहते हैं । साधन शब्द की व्युत्पत्ति 'साध्यते अनेन क्रिया' के रूप में की जाती है । महाभाष्यकार ने साधन को गुण माना है । शक्ति स्वयं आधार के परतन्त्र है साथ ही अन्य आश्रयों से अपने आश्रय का भेदक है । भेदक होने के कारण "भेदका गुणाः" इस दर्शन के आधार पर उसे गुण कहते हैं । महाभाष्यकार ने 'यदि तावद् गुणसमुदाय साधनं, साधनमपि अनुमानगम्यम्' (महाभाष्य ३। २।११५)—यह वाक्य व्यवहृत किया है । गुणसमुदाय से अभिप्राय शक्ति समुदाय से है । गुणसमुदाय शब्द में समुदाय शब्द करण आदि सभी शक्तियों का प्रतीक है । करण आदि शक्तियां क्रिया की सिद्धि में अविशेषरूप से निमित्त हैं अतः वे सभी साधन हैं । इसीलिये 'सर्वाः शक्तयः साधनम्'[2] यह उक्ति प्रसिद्ध है । कभी कभी द्रव्य के लिये भी साधन शब्द का व्यवहार मिलता है जैसे, 'साधनं वै द्रव्यम्' । ऐसे स्थलों में शक्ति और शक्तिमान के अभेद की विवक्षा से साधन शब्द से द्रव्य का अभिधान होता है (शक्तिशक्तिमतोरभेदविवक्षया साधनशब्देन शक्तिमन्ति द्रव्याण्युच्यन्ते) ।[3]

साधन के शक्ति रूप में होने के कारण क्रिया की तरह वह भी अनुमेय है । शक्तियां सदा अनुमेय ही होती हैं । शक्तिमान को शक्ति से अतिरिक्त मानने पर साधन का प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व द्रव्य के आधार पर होता है । लोक में द्रव्य के प्रत्यक्ष होने पर क्रिया को भी प्रत्यक्ष समझा जाता है और द्रव्य के परोक्ष होने पर क्रिया को भी परोक्ष माना जाता है वैसे ही साधन को भी समझना चाहिए ।

भर्तृहरि ने साधन पर विचार द्रव्यव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन और द्रव्य अव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन इन दोनों पक्षों की मान्यताओं के आधार पर किया है ।

---

१ वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश १
२ कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३। २। ११५ पृ० २८३
३ वही, पृष्ठ २८२

द्रव्यव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

भर्तृहरि के अनुसार विश्व शक्तियों का समूह है। विश्व की प्रत्येक वस्तु एक तरह का शक्ति पुंज है। घट जैसे भाव (पदार्थ) जल ले आना, जल रखना आदि जिन कार्यों के साधक शक्तियों के समूह हैं। ये शक्तियां, हेलाराज के अनुसार कई प्रकार की होती हैं। कुछ अपने हेतुओं से ही स्वाभाविक रूप में उद्बुद्ध होती हैं जैसे दीप में प्रकाश की शक्ति। कुछ शक्तियां अपने आश्रय के अन्तःस्थित होती हैं जैसे बाधा आदि शक्तियां। विष की मारण शक्ति और बीज की अंकुर जनन शक्ति भी शक्ति विशेष ही हैं। योगियों की शक्ति भी एक विशेष शक्ति है। यह उपर्युक्त भाव हेलाराज ने भर्तृहरि के 'शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः' वाक्य का व्यक्त किया है। परन्तु इसका भाव भर्तृहरि के शक्ति दर्शन के अनुरूप भी हो सकता है। भर्तृहरि शक्ति-पदार्थ के समर्थक हैं। विश्व की मूल सत्ता शक्त्यात्मक है। विश्व की सभी वस्तुएं उसी मूल शक्ति की मात्राएं हैं उसके अवयव हैं। इसलिये विश्व को शक्तिमात्राओं का समूह कहना उनके दर्शन के अनुकूल है। उस शक्ति की सर्वत्र सदा सत्ता है। फिर भी वहीं किसी शक्ति विशेष की विवक्षा होती है और इस तरह वस्तु वैचित्र्य बना रहता है। घट देखो, घट द्वारा जल लाओ, घट में जल रखो आदि वाक्यों में कर्म, करण आदि शक्तियाँ विवक्षा वश उद्भूत होती हैं। इसलिये कारक-सांकर्य भी नहीं होने पाता है। शक्ति को साधन मानने पर ही इस वैचित्र्य की मीमांसा ठीक ठीक हो पाती है। द्रव्य को साधन मानने पर कर्म, करण आदि की व्यवस्था समुचित रूप में नहीं की जा सकती क्योंकि द्रव्य एकस्वभाव वाला है।

शक्ति को साधन मानने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। जहां पर शक्तियाँ हैं वहां विवक्षा भले हो जहां उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है वहाँ किस तरह व्यवस्था की जायगी। जैसे 'शक्तिः प्राप्नोति' 'शक्त्या साधयति' जैसे वाक्यों में शक्ति शब्द के रहने से किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक शक्ति का किसी अन्य शक्ति के साथ योग अनिवार्य मानने पर अनवस्था दोष आ जायगा। इसके अतिरिक्त अभाववाचक वाक्यों में कैसे शक्ति की मीमांसा होगी। धनाभावो न युक्तः जैसे वाक्यों में अभाव में कैसे किसी शक्ति का स्थान होगा, अभाव तो निरुपाख्य है। इस तरह की आशंकाओं के समाधान में भर्तृहरि ने कहा है कि साधन-व्यवहार बुद्धि अवस्था निबन्धन है बौद्धिक है। बौद्धिक सत्ता के लिये किसी वस्तु की बाह्य सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजक नहीं। सत् अथवा असत् वस्तु के भेद बुद्धि द्वारा बाह्य हैं। बाह्य जगत् में वस्तु की यथार्थ सत्ता होते हुए भी जब तक बुद्धि द्वारा उसका निरूपण नहीं होता उसके लिये किसी शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता। अभाव का भी बुद्धि द्वारा भासन होता है तभी वह शब्द द्वारा अभिहित होता है। इसी तरह स्थाली पचति, स्थाल्यां पचति और स्थाल्या पचति इन वाक्यों में एक ही स्थाली कर्ता, करण और अधिकरण कैसे हो सकती क्योंकि उसमें भेद करना कठिन है। इसका समाधान भी स्थाली में भी साधकतमत्व की विवक्षा में करण, वास्तविक आधार की

विवक्षा में अधिकरण आदि मान कर हो जाता है। महाभाष्यकार ने बौद्धिक आधार लेकर पाणिनि के अपादानविधायक कई सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। कंस घातयति, बलिं बन्धयति जैसे वाक्यों में वर्तमान का निर्देश भी नटों और कृपकों द्वारा प्रतीत की घटना को बुद्धि अवस्थित रूप में प्रत्यक्ष सा दिखाने के रूप में उपयुक्त माना गया है। इसलिये साधन व्यवहार का बौद्धिक धरातल मान लेने पर शक्ति का नानात्व भी बौद्धिक रूप में सिद्ध हो जाता है। बाह्य वस्तु में जिस बौद्धिक-वस्तु का समारोप होता है उसके लिये भर्तृहरि ने 'बुद्धिप्रवृत्तिरूप' शब्द का व्यवहार किया है। वक्ता बुद्धिप्रवृत्तिरूप का—बुद्धि में आभासमान विषय का बाह्य अर्थ में आरोप कर शक्ति के भेद की कल्पना करता है। आरोप का आधार दृश्य और कल्पित में अभेद का अध्यवसाय है। हेलाराज के अनुसार बाह्य अर्थ में भी शब्द प्रमाण है। बुद्धि प्रतिभास अपने आप में अवस्थित नहीं होता। क्रियाभेद के आधार पर विवक्षाजन्य शक्ति भेद की कल्पना कर वस्तु को ही अनेक शक्तिमयी मान लिया जाता है। इस सम्बन्ध में हेलाराज ने बौद्धों और वैयाकरणों के मतभेद का उल्लेख किया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार विकल्प प्रतिबिम्ब भेद अध्यवसाय से जन्य होता है इसलिये बाह्य प्रवृत्ति होती है किन्तु शब्द की प्रवृत्ति अपोह रूप में अन्य व्यावर्तनरूप में—बाह्य होती है अपोह के अतिरिक्त शब्द की बाह्य प्रवृत्ति मानने पर व्यभिचार दोष आ जायगा—शब्द का यथार्थ संकेत जानना दुष्कर होगा। अतः प्रामाण्य वक्ता के अभिप्राय में है। व्याकरण दर्शन के अनुसार बाह्य अर्थ में प्रामाण्य अध्यवसाय के बल पर होता है

> सौगतानां तु विकल्पप्रतिबिम्बस्य भेदाध्यवसायात् बहिःप्रवृत्तिः। प्रामाण्यं तु वक्त्रभिप्राय एव शब्दानां न बाह्ये व्यभिचारदर्शनादन्यव्यावृत्तिमात्रनिष्ठता तु बहिः। वैयाकरणानां तु व्यावसवस्तुविषयता तथाध्यवसायात् तत्रैव च प्रामाण्यं इति विवेचनमेतत्।[४]

शक्ति के नानात्व मानने पर भी उपाधियां नियत हैं फलतः परस्पर सांकर्य नहीं होने पाता है और साधन में भेद परिलक्षित होता है।

एक दर्शन के अनुसार सभी भाव निरीह हैं चेष्टा रहित हैं। फिर भी उनमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि की कल्पना होती ही है। स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य लक्षण कर्तृकरण आदि कारक हैं। क्रिया क्रमलक्षण वाली है। ये सब क्रिया कारक भाव आदि मिथ्याभ्यास वासना से सर्वथा निश्चेष्ट पदार्थ में भी बौद्धिक-कल्पना द्वारा माने जाते हैं। क्योंकि शब्द व्यवहार विकल्प के आश्रित होता है। हेलाराज के अनुसार यह मत अद्वैतवाद के अनुसार है और महाभाष्यकार ने अद्वैतवाद का अनुगमन किया है (?)

> दर्शितमित्यद्वैतनयावलम्बिभिः भाष्यकारप्रभृतिभिः कृत्स्न
> पिपतिषतीत्यादिप्रयोगसिद्धयर्थमाख्यातमित्यर्थः।[५]

---

४ हेलाराज, वाक्यपदीय ३ साधनसमुद्देश ६

५ वाक्यपदीय ३ साधनसमुद्देश ४३, तथा हेलाराज की इस पर टीका

परन्तु "कूल पिपतिषति" के प्रसंग में भाष्यकार ने सभी भावों को चेतन माना है, निश्चेष्ट नहीं माना है। हां, अद्वैतवाद की गंध वहां अवश्य है।

द्रव्य में व्यतिरिक्त शक्तिरूपसाधन की सिद्धि का आधार अन्वयव्यतिरेक भी है। जैसे, "स्थाल्यां पचति" जैसे वाक्य में विभक्त्यर्थ का (साधन का) व्यतिरेक स्पष्ट है। प्रकृति तो "वृक्ष" एक ही है परन्तु प्रत्ययार्थ भिन्न भिन्न है। इसलिए प्रत्ययार्थ की सत्ता मानने पर साधन की सिद्धि हो ही जाती है।

महाभाष्यकार ने भी कहा है— किसे साधन मानना उचित है—द्रव्य को या गुण को। गुण को साधन मानना उपयुक्त है। देखा जाता जाता है कि कोई किसी से पूछता है देवदत्त कहां है। वह उत्तर देता है— 'देवदत्त कक्ष पर है'। किस कक्ष पर ? जो सामने है (य तिष्ठति)। इस वार्तालाप में वृक्ष पहले अधिकरण के रूप में और बाद में कर्ता (तिष्ठति क्रिया) के रूप में व्यक्त हुआ है। द्रव्य के साधन मानने पर जो कर्म होगा। वह कर्म ही होगा जो करण होगा वह करण ही होगा, जो अधिकरण होगा वह अधिकरण ही रहेगा। (महाभाष्य २। ३। १)। गुण को (शक्ति को) साधन मानने पर अनेक अर्थ क्रिया के कारण अनेक व्यपदेश संभव है। फलतः शक्ति नानात्व भी सिद्ध होता है

> यदि द्रव्यं साधनं स्यात् तदा तस्यैकरूपत्वात्
> नियन्तत्वाबाधितप्रत्यभिज्ञाविषयत्वात् नानात्व—
> क्रियाकारणनिबन्धनो व्यपदेशभेदो न स्यात्। दृश्यते चासाविति
> नानाशक्तिसद्भावावगमः सिद्धः।
>
> —महाभाष्यप्रदीप २।३।१

द्रव्य-अव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

कुछ लोग शक्ति को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं। हेलाराज के अनुसार यह मत समयवादी वैनायिकों का है। समयवादियों के अनुसार शक्ति और शक्तिमान सभी भाव हैं। और भावों का स्वरूप स्वकार्य के उत्पन्न करने में शक्ति है। अतः भाव ही शक्ति है। भावों का साधनत्व अपादान आदि शब्दों द्वारा व्यक्त न होकर प्रत्ययों द्वारा व्यक्त होता है। "घटं पश्यति" इस वाक्य में घट दर्शनक्रिया का विषय है वही कर्म है उसका द्रव्यत्व रूप अपनी शक्तियों से समन्वित होकर साधन होता है और कर्म कारक के रूप में व्यवहृत होता है। इसी तरह "रूपं पश्यति" इस वाक्य में दर्शन क्रिया में रूपत्व साधन है। एक ही वस्तु शक्ति और शक्तिमान दोनों कैसे है इसके समाधान में समयवादी कहते हैं कि एक ही वस्तु उपकारक अवस्था में शक्ति और उपकार्य अवस्था में शक्तिमान हो सकता है। शक्ति अवस्था में किसी अन्य शक्ति से योग न होने के कारण अनवस्था दोष भी न होगा और अभाव के सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के कारण उसमें भी शक्ति संभव हो सकेगी। शक्ति के उपकारक धर्म का नाम साधन है। क्रिया साध्य स्वभाववाली होती है। फलतः सिद्ध स्वभाव वाले भाव (कारक) साध्यस्वभाववाली क्रिया की सिद्धि में सहायक होने के कारण उसका उपकारक मान

लिए जाते हैं। इसलिए सिद्धभाव (कारक) ही साधन हैं। अपने आश्रय में शक्ति भेद व्यंजित होती है इसका निरूपण भर्तृहरि ने रस के दृष्टान्त से किया है। रस आदि का रसनादि क्रिया साधन है और वे सभी नियत ग्रहण वाले हैं अर्थात् अपने जाति बल के आधार पर ग्राह्य हैं। द्रव्य का ग्रहण कभी द्रव्य रूप में होता है कभी गुण रूप में और कभी क्रिया रूप में इस तरह उसका ग्रहण नियत नहीं है। परन्तु रस का आधार ही उसके स्वरूप ग्रहण में हेतु है और वह नियत है। रसत्व में रस का रस में उसके आश्रय का आक्षेप हो जाया करता है। इस तरह भाव परस्पर शक्तिमान होते हैं। परस्पर समग ही शक्ति है। शक्ति नाम की कोई नियत अन्य वस्तु नहीं है। परस्पर ससग कभी सयोग से होता है। जैसे, मन और इन्द्रिय के अन्य के साथ सन्निकर्ष किसी वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) में साधन होता है। सुख की अनुभूति में आत्मा का अन्तःकरण से सयोग साधन है। इस तरह जो जिसका जिस रूप में अनुग्रह करता है वह उसका उसी रूप में साधन है।[६] अस्तु सभी भावों की प्रतीति इन शक्तियों हैं। भाव सहकारी के रूप में स्वरूप से ही कार्यजनक है भावों की आत्मा ही शक्ति है। विशेष सहकारी के सबन्ध से विशेष कार्य जनकता शक्ति भाव में स्वाभाविक है। अतः भाव से व्यतिरिक्त किसी अदृष्ट शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं है।

सभी द्रव्य में सहज रूप में शक्ति विराजमान है। समय पर उसकी अभिव्यक्ति होती है। कुड्य में आवरण की शक्ति और शस्त्र में छेदन की शक्ति सन्निहित है परन्तु क्रियाकाल में अपने कार्य निष्पादन के समय में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। द्रव्य में क्रिया काल के पूर्वकाल में भी शक्ति है और क्रिया काल के उत्तर काल में भी है। इस विषय में आचार्यों में विकल्प है। कुछ लोग शक्ति और भाव (द्रव्य) की साथ साथ सत्ता मानते हैं। कुछ लोग शक्ति के पूर्व में भाव मानते हैं और कुछ लोग शक्ति के उत्तरकाल में भाव मानते हैं।

व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त पक्षों में चाहे सत्य जो हो व्याकरण दर्शन व्यतिरिक्त पक्ष को प्रश्रय देता है। वह शब्दप्रमाणवादी है। शब्द से जो अभिव्यक्त होता है वही उसके लिए प्रमाण है। शब्द पदार्थों का साधनरूप व्यतिरिक्त रूप में ही व्यक्त करता है। लोक में भी शक्ति व्यतिरिक्त रूप में ही समझी जाती है। अव्यतिरिक्त मानने पर सतत क्रिया निष्पत्ति होने की सभावना होने लगेगी।

> एवं च वैयाकरणनयानुसारिभिः अस्माभिः तत्सामर्थ्यं व्यतिरिक्तमेवोच्यते।
>
> लोकश्च शब्दक्रिया निमित्ताया शक्तेः व्यतिरेकमेवानुगच्छति।
>
> अव्यतिरेके हि सततं क्रियानिष्पत्तिप्रसङ्ग।[७]

शक्ति एक अथवा अनेक

शक्ति साधन है। वह शक्ति एक है अथवा अनेक इस विषय में भी दार्शनिक

---

६ वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश ६—१४
७ हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ८८

प्रवाद हैं। कुछ लोगों के अनुसार साधन शक्तियां छः (षट्) हैं, नित्य हैं, अन्वभेद समन्वित हैं। जिस तरह द्रव्य में जाति की सत्ता रहती है उसी तरह वे भी उसमें क्रिया की सिद्धि के लिए रहती हैं। यद्यपि द्रव्यभेद से भिन्न भिन्न अनेक शक्तियां हो सकती हैं फिर भी उन सबका समावेश छः शक्तियों में हो जाता है। इसलिए मूल शक्तियां छः ही हैं। वे ही छः शक्तियां, छः साधन अथवा छः कारक नाम से विख्यात हैं।

कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि शक्ति मूल रूप में एक ही है। निमित्तभेद से एक ही साधन शक्ति कई रूप में (छः रूप में) व्यक्त होता है और वही निमित्त भेद साधन भेद का हेतु है। इस मत के अनुसार मूल रूप में वह शक्ति कर्तृत्व शक्ति है। कर्तृत्व शक्ति ही अवान्तर व्यापार की विवक्षा से करण सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त करता है और छः प्रकार की कही जाती है।[8] क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारक सहायक हैं। अतः कर्तृत्व किसी न किसी रूप में सभी कारकों में है। पुत्र के जन्म में माता पिता दोनों का कर्तृत्व है। विवक्षावश पिता में कर्तृत्व और माता में अधिकरणत्व कभी माता में कर्तृत्व और पिता में अपादानत्व मान लिया जाता है। साध्य के रूप में क्रिया सभी कारकों के लिए साधारण है। अतः उस क्रिया के प्रति सभी कारकों में कर्तृत्व है। प्रधान क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारण अपने अपने व्यापार में स्वतन्त्र हैं, कर्ता के सान्निध्य में भी दूसरे कारकों का व्यापार बन्द नहीं होता। अतः कर्ता के सान्निध्य में पारतन्त्र्य अवस्था में भी उनमें कारकत्व बना रहता है। जहां स्वतः स्वातन्त्र्य है वहां कर्तृ संज्ञा होती है और जहां पारतन्त्र्यसहित स्वातन्त्र्य है वहां कर्तृ संज्ञा न होकर करण आदि का विधान होता है। कर्ता की प्रधानता इसलिए मानी जाती है कि करण आदि की प्रवृत्ति निवृत्ति उसी के अधीन होती है दूसरों से पहले उसीको शक्तिलाभ होता है उसका कोई प्रतिनिधि नहीं होता। काष्ठ से जैसे स्थलों में जहां करण आदि का अभाव है केवल वही दिखाई देता है और बिना कर्ता के करण आदि के दर्शन नहीं होते। इसलिए कर्तृत्व शक्ति ही इस मत के अनुसार प्रधान शक्ति है।

क्रिया साधन रूप में

महाभाष्यकार ने क्रिया को भी साधन के रूप में व्यक्त किया है। उनके अनुसार क्रिया भी कृत्रिम कर्म है। क्रिया किस तरह क्रिया से ईप्सिततम हो सकती है इसके लिए उन्होंने सदर्शन आदि क्रियाओं का उल्लेख किया है। बुद्धिशाली मनुष्य पहले किसी वस्तु को बुद्धि से देखता है। देखने पर उस बात की इच्छा उसके मन में जगती है। इच्छा (प्रार्थना) होने पर वह उसके लिए अध्यवसाय करता है। अध्यवसाय से आरंभ, आरंभ से निर्वृत्ति और निवृत्ति से फल की प्राप्ति होती है। इसमें सन्दर्शन क्रिया का साध्य प्रार्थना क्रिया है और प्रार्थना क्रिया का साधन सन्दर्शन क्रिया है। इसी तरह प्रार्थना क्रिया अध्यवसाय क्रिया का साधन है। इस तरह पहले जो क्रिया साध्य है वही आगे वाली

---

8. वाक्यपदीय साधन समुद्देश ३.३७

क्रिया का साधन बन गई है। भर्तृहरि के अनुसार सदर्शन क्रिया का साधन चैतन्य है (सदर्शने तु चैतन्य विशिष्ट साधन विदु)।[९] कैयट के अनुसार 'कारके' १।४।२३ इस सूत्र में कारक पद से क्रिया विवक्षित है (क्रियाऽत्र सूत्रे कारकशब्देनोच्यते। सा हि कर्त्रादीनि विशिष्टव्यपदेश युक्तानिकरोति-महाभाष्यप्रदीप १।४।२३)। पाणिनि सूत्र १।१।११८ के भाष्य में भी पतञ्जलि ने "क पुन धातुकृतोऽर्थ। साधनम्।" कहा है। कैयट के अनुसार यहा धातु शब्द का अभिप्राय धात्वर्थ क्रिया है। वही साधन है। हेलाराज के अनुसार 'क्रिया साधन है' यह मत वार्तिककार का है (शक्तिव्यतिरेका क्रियोपकारायमाश्रिता साधनमिति सामान्येनोच्यत इति वार्तिककारमतम्)।[१०]

अपूर्व, कालशक्ति प्रकृति आदि साधन के रूप में

भर्तृहरि ने साधन दर्शन के प्रसग में विभिन्न तन्त्रों के मतों का भी उल्लेख किया है जैसा कि उनकी पद्धति है। कुछ दार्शनिक (मीमांसक) 'अपूर्व' को ही साधन मानते हैं। (मीमांसक यागजन्य अदृष्ट शक्ति विशेष को अपूर्व मानते हैं)। कुछ विचारक ब्रह्म की काल शक्ति को ही साधन मानते हैं। काल-द्रव्यवादी केवल काल को साधन मानते हैं। सांख्यदर्शन राजसी क्रिया अथवा प्रकृति को ही साधन मानता है। विज्ञानवादी बुद्धि प्रकल्पितरूप को और ससर्गवादी ससर्गरूप का साधन मानते हैं इनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। व्याकरण दर्शन लोकप्रसिद्ध पदार्थ सामर्थ्य को साधन मानता है। हेलाराज ने इन सब मतों का सग्रह निम्नलिखित पक्तियों में कर दिया है जो महत्त्वपूर्ण है

> तदेव पदार्थसामर्थ्य वैयाकरणमतेन साधनम्। अथवा बुद्धि प्रकल्पनारूप विज्ञानवादाभिप्रायेण ससर्गरूप वा पदार्थान्तरभूत ससर्गवादानुसारेण, अदृष्टलक्षणम् अपूर्वशब्दवाच्य वा मीमांसकदृष्ट्या ब्रह्मसम्बन्धिनी वा काल शक्ति अद्वैतदर्शनेन क्रिया राजसी प्रकृतिरूपा वा सांख्यदर्शनानुसारेण, नियामक द्रव्यलक्षण वा कालरूप द्रव्यकालवादिना मतेन विज्ञेयम्।[११]

अब शक्ति शब्द से वाच्य साधन का व्याकरणदर्शन में स्थान है। उसी का कारक सामान्य रूप है। कारक के सात भेद माने जाते हैं। छ कर्ता कर्म आदि के रूप में और एक शेष में। कुल मिला कर सात होते हैं—

> सामान्य कारक तस्य सप्ताद्या भेदयोनय
> षट् कर्माख्यादिभेदेन शेषभेदस्तु सप्तमी ॥
>
> [वाक्यपदीय ३ साधन ४४]

---

९ महाभाष्य १।४।२३ तथा वाक्यपदीय, साधन समुद्देश १६ १७

१० हेलाराज वाक्यपदीय, साधन समुद्देश १७

११ हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ४२

कर्ता कारक

पाणिनि ने स्वतन्त्र को कर्ता माना है। जिसका स्व (आत्मा) तन्त्र (प्रधान) हो वह स्वतन्त्र है। यद्यपि क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारकों का हाथ रहता है क्रिया के द्वारा जिसका व्यापार प्रमुख रूप में व्यक्त होता है, उसे स्वतन्त्र कहा जाता है। जिसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वेच्छाधीन हो वह भी स्वतन्त्र है। कुछ-न-कुछ स्वातन्त्र्य सभी कारकों में होता है सभी कारक अपने अपने व्यापार में स्वतन्त्र होते हैं फिर भी कर्ता को ही स्वतन्त्र माना जाता है। भर्तृहरि ने कर्ता में स्वातन्त्र्य के कई हेतु गिनाए हैं। कर्ता स्वतन्त्र इसलिए माना जाता है कि वह दूसरे कारकों की अपेक्षा पूर्व शक्ति लाभ करता है। करण आदि में स्वातन्त्र्य कर्ता के द्वारा आता है। कर्ता अन्य कारकों के उपकारक होने के कारण उन्हें अपने से नीचे करने में समर्थ होता है। कर्ता की अधीनता में दूसरे कारक क्रियाशील होते हैं। जब कर्ता विरत हो जाता है वे भी निवृत्त हो जाते हैं। कर्ता अन्य कारकों को निवृत्त करता है पर अन्य कारक उसे नहीं निवृत्त करते, वह स्वयं निवृत्त होता है। दूसरे कारकों के प्रतिनिधि होते हैं आवश्यकता पड़ने पर उनके स्थान पर दूसरा का उपादान किया जा सकता है। कर्ता का प्रतिनिधि नहीं होता। कर्ता अधिकारी होता है अधिकारी वह होता है जो अर्थी हो समर्थ हो और शास्त्र से अपर्युदस्त हो। जहां दूसरे कारक नहीं हैं वहां भी कर्ता रह सकता है। अस्ति क्रिया के साथ कोई अन्य कारक नहीं है, यहां अविवेक है किन्तु यहां कर्ता है। यद्यपि अस्ति क्रिया के साथ अधिकरण कारक आदि सम्भव हैं किन्तु उनकी स्थिति नान्तरीयक रूप में है। शब्द व्यापार से उनका उन्मीलन नहीं होता है। कर्ता दूर से भी उपकारी होता है, दूसरे कारकों में यह शक्ति नहीं है। बिना कर्ता के क्रिया नहीं होती, अन्य कारकों के मिलित रूप से भी कर्ता की विशेषता सिद्ध होती है। इन सब कारणों से कर्ता में स्वातन्त्र्य माना जाता है।

उपर्युक्त कथन शास्त्रीय हैं। शब्द से जहां इसकी अभिव्यक्ति हो वहां कर्तृत्व रहता है। इसलिए चेतन अचेतन सब में शब्दोपात्त रूप में कर्तृत्व सम्भव है। हेलाराज ने इस प्रसंग में किसी अन्य व्याकरण के दो सूत्र उद्धृत किए हैं

अर्थोक्तौ तथा युक्तश्च

(हेलाराज वाक्यपदीय ३ साधन समुद्देश १०२)

ये दोनों सूत्र पाणिनि के स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४ और तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५ के समान अनुकरण हैं। किन्तु हेलाराज ने इनका प्रणयन चेतन और अचेतन की दृष्टि से माना है।

कर्तृत्व के शाब्द स्वरूप मानने पर ही एक कारक में विवक्षानुसार कभी कर्तृत्व कभी कर्मत्व और कभी करणत्व सम्भव है। प्रयोज्य कर्ता में भी स्वातन्त्र्य है। यदि कोई क्रिया में प्रवृत्त नहीं है उसे यदि क्रिया में प्रवृत्त किया जाता है उसके सामर्थ्य का ज्ञान कर ही किया जाता है। अशक्त व्यक्ति किसी द्वारा किसी व्यापार में नियुक्त नहीं किया जाता। इसलिए क्रिया की सिद्धि में समाविष्ट शक्ति के रूप में

प्रयोज्य में भी कर्तृत्व रहता है। वह आत्मसाध्य क्रिया में अन्य कारकों का प्रयोजक होता है। दूसरे द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उसके स्वातन्त्र्य में बाधा नहीं पड़ती। विषयभेद से प्रयुक्त दशा में उसमें पारतन्त्र्य और स्व व्यापार में स्वातन्त्र्य है। अपने व्यापार में अनन्यप्रयोज्य के रूप में वह अन्य कर्ता की तरह ही स्वतन्त्र माना जाता है।

कर्ता ही प्रयोजक के रूप में हेतु भी कहा जाता है। प्रेक्षण अध्येषण और प्रयोज्यक्रिया के अनुकूल चेष्टा करता हुआ कर्ता ही व्याकरणशास्त्र में हेतु नाम से व्यक्त किया जाता है। स्वातन्त्र्य को न छोड़ते हुए प्रयोजक व्यापार में प्रयोज्य रूप में कभी पराधीनता का भी अनुभव करता है।

प्रयोजक दो तरह का होता है—मुख्य और अमुख्य (गुणभूत)। देवदत्त कट कारयति वाक्य में प्रयोजक मुख्य है। भिक्षा वासयति इस वाक्य में भिक्षा के काम हेतु होने के कारण प्रयोजकत्व उपचरित माना जाता है।

न्यासकार ने कर्ता का सान्निध्य शास्त्र में तीन प्रकार से दिखाया है। निर्देश के द्वारा प्रकरण के द्वारा और सामर्थ्य के द्वारा।

कर्म

क्रिया के माध्यम से कर्ता का ईप्सिततम कर्म माना जाता है। जहां पर कर्म के लिए क्रिया होती है निष्पत्ति संस्कार अथवा प्रतिपत्ति होती है वहां कर्म ईप्सित होता है। अन्यत्र क्रिया ही प्रतीयमान सन्दर्शन आदि क्रिया की अपेक्षा ईप्सित होती है। ईप्सित के साथ अनीप्सित भी कर्म होता है। अनीप्सित शब्द से जो ईप्सित से अन्य है उन सबका ग्रहण होता है। अकथित भी कर्म है। कुछ कर्म विशेष नियम द्वारा निबद्ध हैं।

भर्तृहरि ने ईप्सित कर्म के तीन भेद किए हैं निर्वर्त्य विकार्य और प्राप्य। तथा अन्य प्रकार के कर्मों को चार प्रकार का दिखाया है—औदासीन्य रूप से प्राप्य अनीप्सित, सज्ञान्तर से अनाख्यात और अन्यपूर्वक। इस तरह कर्म सात प्रकार के होते हैं।

ईप्सित के तीन भेदों में से दो के निर्वर्त्य और विकार्य का उल्लेख कात्यायन ने किए हैं। जिसकी प्रकृति चाहे वह सत हो अथवा असत अभेद रूप से आश्रित नहीं होती है वह निर्वर्त्य कर्म माना जाता है।

अथवा जो असत से उत्पन्न होता है अथवा सत होते हुए भी जन्म के द्वारा व्यक्त होता है वह निर्वर्त्य कर्म है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार असत से सत की उत्पत्ति होती है। सत्कार्यवाद के अनुसार सत से सत की उत्पत्ति होती है। दोनों रूपों में, जन्म के द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह निर्वर्त्य है —

> यस्योपादान कारणं नास्ति तत् निर्वर्त्यम्। यथा सयोगं करोतीति। सदप्युपादानं कारणं न विवक्ष्यते तत् निर्वर्त्यम्।
>
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप।

यदि प्रकृति सत अथवा असत परिणामी रूप में विवक्षित रहती है विकार्य कर्म होता है। विठ्ठल ने निर्वर्त्य का सम्बन्ध असत से और विकार्य का सम्बन्ध सत से जोड़ा है

> तत्र निर्वर्त्यं यदसदेव जायते। यथा घटं करोतीति। विकार्यं लब्धसत्ताकमेवा वस्थान्तरमापद्यते।
>
> —प्रक्रियाकौमुदी भाग १ पृ० ३८३

विकार्य कर्म दो प्रकार का माना जाता है। प्रकृति के उच्छेद से सम्भूत और गुणान्तर उत्पत्ति से सम्भूत। प्रकृति के उच्छेद से अभिप्राय अपनी प्रकृति के नाश में सर्वात्मना विनाश से है। जैसे काष्ठं भस्म करोति। हेलाराज के अनुसार यह वाक्य निर्वर्त्य का भी उदाहरण है यदि प्रकृति की अविवक्षा हो। प्रकृति की विवक्षा में यह विकार्य का उदाहरण है

> काष्ठानि भस्म करोति। पूर्ववत् प्रकृति विकारयोः क्रियासम्बन्धो योज्य पूर्वेण तु लक्षणेन निर्वर्त्यमेतत् कर्म प्रकृतेरविवक्षायाम्। विवक्षायाम् तु विकार्यम्।
>
> —हेलाराज साधन समुद्देश ४

काष्ठानि दहति इस वाक्य में विकार्य सामर्थ्य गम्य है। जब प्रकृति अपने स्वरूप को न छोड़ती हुई किसी गुणान्तर के सन्निधान से विकृत जान पड़ती है उससे उपलक्षित भी विकार्य कर्म होता है। जैसे सुवर्णं कुण्डलं करोति। यद्यपि सांख्यमत के अनुसार इस वाक्य में भी विकार्य अपूर्व है किन्तु प्रत्यभिज्ञान के बल पर। लोक में उसे एक मानकर केवल गुणान्तर का भेद माना जाता है। अतः गुणान्तर के आधान से जहाँ दूसरा व्यपदेश हो वह भी विकार्य कर्म है।

निर्वर्त्य और विकार्य सम्बन्धी विशेष जहाँ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं लक्षित होते हैं वह प्राप्य कर्म कहलाता है। जैसे आदित्यं पश्यति। इस वाक्य से आदित्य में दर्शन क्रिया द्वारा कोई विशेष या विकार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जान पड़ता है।

कुछ लोगों के अनुसार प्राप्य कर्म नहीं है। क्योंकि क्रियाकृत विशेष सर्वत्र उपलब्ध होता है। कहीं वह दृश्य होता है और कहीं सूक्ष्मता के कारण अदृश्य होता है। इसके विपरीत कैयट की मान्यता है कि प्राप्यत्व सभी कर्म में है। सभी कर्म क्रिया से प्राप्यमाण होते हैं। केवल मतान्तर की विवक्षा से कर्म तीन प्रकार के कहे जाते हैं

> तत्र प्राप्यत्वं सर्वस्य कर्मणोऽस्ति क्रियया प्राप्यमाणत्वात्। मतान्तरविवक्षायां तु त्रैविध्यमुच्यते।
>
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप १।४।४९

> प्राप्यमाण कर्म का क्रियासिद्धि में निम्नलिखित साधनभाव माना जाता है
>
> आम्नाभोपगमो व्यक्ति साङ्गत्वमिति कर्मण।
>
> विनापि प्राप्यमाणस्य क्रियासिद्धौ व्यवस्थिता॥—वाक्यपदीय ३ साधन, ५३

आभास का उपगम, योग्यदेश में प्रकाश की उपलब्धि प्राप्य कर्म के दर्शन में साधन होती है। अथवा प्रदीप आदि के द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति) उसका अंग बनती है। अथवा सात्त्व बोधरूपता आदि प्राप्य कर्म के साधन होते हैं। ये सब दर्शन क्रिया के हेतु हैं। आदित्य पश्यति इस वाक्य से आदित्य आभास प्राप्त होता है क्योंकि देखा जाता है अभिव्यक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है दर्शन क्रिया की सहनशक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि सहता है।

निर्वर्त्य में विकार्य और प्राप्य के धर्म और स्वधर्म होते हैं विकार्य में प्राप्यधर्म और स्वधर्म होता है प्राप्य में केवल स्वधर्म होता है (शृंगारप्रकाश पृ० १४७)।

शेष श्रीकृष्ण ने ईप्सित अनीप्सित और औदासीन्य रूप से प्राप्य इन तीनों के निर्वर्त्य विकार्य और प्राप्य रूप से तीन-तीन भेद किए हैं। इस तरह से नव भेद होते हैं। इनमें अकथित और अन्यपूर्वक ये दो भेद मिलाकर कुल ग्यारह भेद हो जाते हैं।

एवञ्चेप्सितादीनां त्रयाणां निर्वर्त्यादिभेदात् त्रित्वे नवविधत्वम्। अकथितान्यपूर्वकभेदाभ्यां सहैकादशत्वं प्रतिभाति।

—पदचन्द्रिका विवरण पृ० १६१ हस्तलेख।

अभिनवगुप्त ने विकार्य आदि को क्रमशः कार्यपरिणाम, धर्मपरिणाम और वृत्तिपरिणाम कहा है

पूर्वं रूपं हि तिरोदधत् कश्चित् परिणामः काष्ठभस्मवत् स कार्यपरिणाम उच्यते। यस्तु अतिरोदधत् स धर्मपरिणामः य सिद्धाकारतया भाति सुवर्णस्येव कुण्डलता। यस्तु अतिरोदधत् साध्याकारत्वेन गच्छति बुध्यते इति यथा स वृत्तिपरिणामः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग १ पृ० १४५

कर्म के इस विवेचन में भर्तृहरि का मत और परिणाम की चर्चा आ जाने से उन दिनों दर्शन के क्षेत्र में इसकी पर्याप्त चर्चा थी और भर्तृहरि की मान्यता के विरोध में कुछ लोगों ने कई तर्क उपस्थित किए थे। एक आक्षेप नीचे लिखी कारिकाओं में है

निर्वर्त्यं कारकं नैव क्रिया तस्य हि साधिका।
विकार्यमपि भावेन विरोधान्नैव कारकम्॥
प्राप्यत्वात् पूर्विकावस्था न सा कर्मबुधैर्मता।
प्राप्यावस्था क्रियासाध्या साध्यत्वात् साधनं नहि।

—पुरुषोत्तमदेव द्वारा कारक चक्र में उद्धृत पृ० १०६

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त कर्म भेद कारक कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। निर्वर्त्य असत से उत्पन्न है वह स्वयं क्रियाकृत। क्रिया के पूर्व उसकी सत्ता नहीं थी। विकार्य और प्राप्य क्रिया के साध्य हैं अतः वे साधन (कारक) नहीं हो सकते। पुरुषोत्तम देव के अनुसार इस आक्षेप का उत्तर है कि निर्वर्त्य आदि में स्वगत भी व्यापार होता है। उस व्यापार के आधार पर कर्म को कारक माना जाता है (कारक चक्र पृ० १०६)।

विकार में धातु से उपात्त फलाश्रयता के न होने का प्रश्न भी उठाया गया था। भट्टोजि दीक्षित ने इसका समाधान प्रकृति और विकृति में अभेद विवक्षा के आधार पर फल की आश्रयता मानकर किया है। अथवा 'काष्ठानि विकुर्वन् भस्म उत्पादयति' इस रूप में अर्थ कर आश्रयता सिद्ध होती है (शब्द कौस्तुभ १।४।४६)।

ईप्सित कर्म का उदाहरण पयः पिबति। अनीप्सित का विषं भक्षयति। औदासीन्य अथवा तटस्थता से प्राप्य का उदाहरण, हेलाराज के अनुसार 'ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलानि स्पृशति' होना चाहिए (औदासीन्येन ताटस्थ्येन यत् प्राप्यम्, यथा ग्रामं गन्तुं वृक्षमूलादि—हेलाराज साधन समुद्देश ४६) किन्तु महाभाष्य काशिका आदि के आधार पर यह उदाहरण अनीप्सित का होना चाहिए। वस्तुतः इसका उदाहरण है 'ग्रामं गच्छति नदीं तरति'। यह आस्थित कर्म है इसका ईप्सित अनीप्सित से भेद इस रूप में किया है कि आस्थित में क्रिया के दो रूप होते हैं। सन्नान्तर से अनाख्यात कर्म से अभिप्राय अकथित से है। अकथित संस्कृत व्याकरण में परिगणित है। अन्यपूर्वक का उदाहरण अभ्यान जी यति है।

करण

साधकतम का नाम करण है। जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की निष्पत्ति विवक्षित होती है वह करण माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार करण अनिर्देश्य है उसका कोई नियत रूप नहीं है। अधिकरण भी विशेष अर्थ की दृष्टि से करण रूप में विवक्षित हो सकता है। क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण पाणिनि ने इसे साधकतम माना था। प्रकृष्ट उपकारकता अन्य कारकों की दृष्टि से है। कर्ता क्रिया की सिद्धि के लिए करण का आश्रय लेता है फिर भी स्वातन्त्र्य के कारण वह प्रधान होता है। परायत्तवृत्ति के कारण करण अप्रधान होता है। बिना कर्ता के करण व्यापारशील नहीं होता। कर्ता निरपेक्ष है। करण सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त धातु से कर्ता का व्यापार उक्त होता है, करण क्रिया धातु से अभिहित नहीं होती। 'साधु असिः छिनत्ति' जैसे प्रयोग विवक्षा के आधार पर होते हैं। वक्ता विवक्षा में स्वतन्त्र है

> न हि शब्दाः दाण्डपाशिका इव वक्तारमस्वतन्त्रयन्ति। किं तर्हि। सत्याशक्तौ वक्तुं विवक्षामनुविधीयते।
>
> चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्ति पृ० २४

मण्डन मिश्र ने भी विशेष स्थल पर अभिधान के आधार पर करण की प्रधानता स्वीकार की है

> करणं नाम सर्वत्र कर्तृव्यापारगोचरं।
> तिरोदधाति कर्तारं प्रधानं तन्निबन्धनम्॥[1]

जो निमित्त व्यापाराश्रित नहीं होता और द्रव्य गुण क्रिया विषयक होता है

---

[1] भावनाविवेक, पृ० ७२।

उसे हेतु कहा जाता है।

सम्प्रदान

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२

करणरूप कर्म के द्वारा जिससे अभिसम्बन्ध चाहा जाता है वह सम्प्रदान है। यह तीन प्रकार का माना जाता है

प्रेरक, अनुमन्तक अनिराकर्तृक। प्रेरक, जैसे ब्राह्मणाय गां ददाति। इस वाक्य का अर्थ यह है कि ब्राह्मण यजमान को गाय दान देने के लिए प्रेरित करता है। और तब यजमान उसे गाय देता है। अनुमन्तक जैसे उपाध्यायाय गां ददाति। उपाध्याय गाय के लिए उसे प्रेरित तो नहीं करता किन्तु गाय के मिलने पर उसे साधुवाद देता है देने वाले के व्यापार का अनुमोदन करता है। अनिराकर्तृक, जैसे आदित्याय पुष्पं ददाति। आदित्य न तो फूल के लिए प्रार्थना करता है और न अनुमोदन करता है।

भोज ने सम्प्रदान के तीन भेद को दूसरे रूप से भी दिखाया है —

ददाति कर्माप्य, कर्ममात्राप्य और क्रियाप्य।

—शृंगार प्रकाश पृ० १५१

अपादान

कायससर्ग अथवा बौद्धिकससर्ग पूर्वक अपाय की विवक्षा होने पर अवधिभूत ध्रुव अपादान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—निर्दिष्ट विषय उपात्तविषय और अपेक्षितक्रिय। जहां धातु के द्वारा अपायलक्षण विषय निर्दिष्ट रहता है उसे निर्दिष्टविषय कहते हैं जैसे ग्रामात् आगच्छति। यहाँ क्रिया के द्वारा अपाय ग्राम शब्द निर्दिष्ट है। उपात्त विषय वहां माना जाता है जहाँ क्रिया अन्य क्रिया के अर्थ के अंग रूप में स्वार्थ को व्यक्त करती है जैसे बलाहकात् विद्योतते यहां द्योतन क्रिया का अर्थ नि सरण है। हेलाराज ने गुणभाव और प्रधानभाव दोनों रूप में यहां क्रियार्थ को लिया है। उनके अनुसार बलाहकात् विद्योतन का दो रूप में कहा जा सकता है—बलाहकात् नि सृत्य ज्योति विद्योतते। अथवा बलाहकात् विद्योतमान नि सरति। जहां क्रियापद की प्रतीति होती है किन्तु प्रयोग नहीं हुआ रहता वह अपेक्षितक्रिय है।

जैसे साङ्काश्यकेभ्य पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा।

अश्वात् त्रस्तात् पतित —इस वाक्य में वार्तिककार ने ध्रौव्य अविवक्षित माना है। ध्रुव एकरूपता का नाम है। अपायविषयक ध्रौव्य आश्रित होता है निरपेक्ष (अनवच्छिन्न) नहीं। इसलिए अपाय में जो अनाविष्ट है वह अपाय में ध्रुव होता है। दौड़ते हुए घोड़े से गिरने में देवदत्त का न के पतन में त्रस्त अश्व ध्रुव है क्योंकि वह अपाय से अनाविष्ट है। किन्तु देवदत्त अध्रुव है। उसमें अपाय का आवेश है। अथवा त्रस्त अश्व का ध्रौव्य अविवक्षित है। क्योंकि कारक का पतन क्रिया में अन्वय होता है। वह श्रुतिप्रापित कहलाता है। बाद में विशेषण से वाक्यीय सम्बन्ध होता है। अत अश्वात् पतित इस सम्बन्ध में अश्व का अध्रुवत्व नहीं है। बाद में त्रस्त के

साथ सम्बन्ध होने पर भी ध्रौव्य में अन्तरंग सत्ता का नियतन नहीं होता। विशेषण के अपादान न होने पर भी सामयिकी विभक्ति होती है। वह विशेष्य के अनुरोध पर होती है न कि अनियम से। अथवा ग्रस्त शब्द भी अपादान है। क्योंकि वह भाग की अपेक्षा से तो अध्रौव्य है किन्तु पतन की अपेक्षा में उसमें ध्रौव्य है—(कैयट, महाभाष्य प्रदीप १।४।२५)।

भोज ने अपादान के तीन भेदों को पाणिनि के सूत्रों में दिखाया है। उनके अनुसार ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ निर्दिष्ट विषय है। भीत्रार्थानां भयहेतुः १।४।२५, पराजेरसोढः १।४।२६ आदि उपात्तविषय है। पञ्चमीविभक्ते २।३।४२ आदि अपेक्षित क्रिय हैं। (शृंगार प्रकाश, पृ० ५५३)।

उपाध्यायात अधीते इस वाक्य के विश्लेषण में महाभाष्यकार ने सन्ततत्व और ज्योतिवद ज्ञान का उल्लेख किया है। जैसे फल वृक्ष से च्युत होकर पुनः वृक्ष पर नहीं होता इसी तरह शब्द भी उपाध्याय के मुख से निःसृत होकर पुनः वहां नहीं होता। वे ही शब्द पुनः जान पड़ते हैं सन्ततत्व के कारण। शब्दों का पुनः पुनः उत्पादन सन्ततत्व है। कैयट के अनुसार उपाध्याय के द्वारा व्यक्त की जाती हुई ध्वनियां भिन्न भिन्न होती हैं किन्तु सादृश्य के कारण वे ही जान पड़ती हैं। वे ध्वनियां सुनने वाले के श्रोत्रेन्द्रिय में पहुंच कर व्यक्तिस्फोट के रूप में अथवा जातिस्फोट के रूप में शब्द की अभिव्यक्ति करती हैं। अथवा ज्वालामयी ज्योति लगातार प्रवाहित होती हुई सादृश्य के कारण वही समझी जाती है यद्यपि वह भिन्न भिन्न है। उसका अनवरत प्रवाह सन्तत कहा जाता है। उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भिन्न भिन्न हैं। वे विभिन्न शब्द के रूप में ढलकर सन्तत जान पड़ते हैं। महाभाष्यकार का अभिप्राय ज्ञान का शब्दत्वापत्तिवाद से है—(महाभाष्य प्रदीप १।४।२६)।

पाणिनि ने जनिकर्तुः प्रकृतिः १।४।३० को भी अपादान माना था। पतञ्जलि ने इसका प्रत्याख्यान किया है। गोमयात् वृश्चिको जायते जैसे वाक्यों में अपक्रमण रूप में अपाय रूप में अपादान है। कैयट के अनुसार पतञ्जलि का मत लोक आधार पर है। लोक की मान्यता में जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह उससे निकलती है। दर्शन के क्षेत्र में भिन्न विचार हैं। वैशेषिक दर्शन में परमाणु समवायी कारण से अपृथक् देश में उत्पन्न होता है। इसलिए कार्य का अपक्रमण नहीं होता। सांख्यदर्शन के अनुसार भी अपक्रमण नहीं है। जन्म और नाश आविर्भाव और तिरोभाव के रूप में परिणामविशेष हैं। क्षणिक दर्शन द्रव्यान्तर आरम्भ दर्शन अथवा परिणामदर्शन के आधार पर पतञ्जलि ने उपर्युक्त वाक्य में सन्ततत्व माना है। जो सत् है उसका जन्ययोग सम्भव नहीं है जो असत् है उसका कर्तृत्व असम्भव है। कोई तीसरा पक्ष भी नहीं है ऐसी दशा में अंकुर जायते जैसे प्रयोग कैसे उपपन्न होते हैं। इसका समाधान बौद्धिक स्वरूप मानकर किया जाता है। अथ बुद्धि व्यवस्थापित हैं। उसका क्रिया में कारकत्व उपपन्न हो जाता है—कैयट महाभाष्यप्रदीप १।४।३०। ग्रामात् नागच्छति जैसे निषेध वाक्यों में अपादान संज्ञा प्राप्ति पूर्वक प्रतिषेधदर्शन के आधार पर की जाती है। हेलाराज का भी यही मत है

तथाह इन्दुमिश्र, अथ कट न करोति परशुना न छिनत्ति, ब्राह्मणाय गा न ददाति ग्रामात नागच्छति, राज्ञ नाय पुरुष, गहे नास्तीत्यादौ द्वितीयादिभि न भवितव्यम। नञा निषेधात। उच्यते, प्राप्तिपूर्वका हि प्रतिषेधा भवन्ति।[1]

—कारकचक्र, पृ० ११७ म उद्धृत।[1]

अधिकरण

पाणिनि के अनुसार आधार अधिकरण है। कारक क्रिया सापेक्ष है। अत क्रिया के आधार का नाम अधिकरण है। क्रिया प्राय कर्त्ता म अथवा कर्म म अवस्थित रहती है इसलिए अधिकरण को भी कर्मस्थक्रियाविषयक अथवा कर्तृस्थक्रियाविषयक ही माना जाय तो स्थाली आदि म अधिकरण की उपपत्ति ठीक स नही हो पाती है। इसलिए कर्ता और कर्म से व्यवहित क्रिया क आधार को भी अधिकरण माना जाता है। अधिकरण तीन प्रकार का होता है औपश्लेषिक वैषयिक और अभिव्यापक। आधार और आधेय का जहा उपश्लेष होता है उसे औपश्लेषिक अधिकरण माना जाता है। जसे कटे आस्ते। वैषयिक का उदाहरण गुरौ वसति। जिस तरह चक्षु आदि का रूप आदि विषय माने जाते है वसे ही शिष्य का गुरु म अनन्य भाव रहता है। उस अनन्यभाव का विषय गुरु है। बिना सयोग के भी एक दूसरे पर निर्भरता देखी जाती है, जसे राज पुरुष म। अत गुरु भाव का आश्रय हो सकता है। अथवा यहा बौद्धिक उपश्लेष है। तिलेषु तल म अभिव्यापक आधार है। तिल और तल का सयोग तो सभव है किन्तु देशविभाग न होने स सश्लेष नही माना जा सकता। अत अभिव्यापक माना जाता है। रामचन्द्र ने चार प्रकार के आधार माने हैं—

औपश्लेषिक सामीपिक विषयो व्याप्त इति।

—प्रक्रिया कौमुदी, पृ० ४४५

भर्तृहरि दर्शन मे सपूर्ण विश्व भूतविवर्त और क्रियाविवर्त के रूप म अवस्थित है। भूतविवर्त का आधार आकाश है। क्रियाविवर्त का आधार काल है

कालात क्रिया विभज्यन्ते आकाशात सवमूतय।
एतावाश्चव भेदोऽयमभेदोपनिबन्धन।

—वाक्यपदीय, गाथा, ?/?

सम्बन्ध

सम्बन्ध कारक स भिन्न किन्तु कारक के शेष रूप म स्वीकृत है। जैसे [illegible] का क्रिया से सीधा सम्बन्ध होता है वसा सम्बन्ध कारक का नहीं होता। [illegible]

---

1 सार्थात् हीयते में अपादान क प्रसग में इन्दु [illegible] का [illegible]
भी किया है—अज्ञान कर्तस्थक्रियत्वात कर्मत्वं [illegible] लकार [illegible]
कौस्तुभ १।४।२४, पृ० ११७

शेष रूप में माना जाता है। कारकों की अविवक्षा का नाम शेष है। कर्म, करण आदि षट् कारकों से अन्य सम्बन्ध शेष है।

राजः पुरुषः जैसे सम्बन्ध विशेष में, स्वस्वामिभाव में ददाति क्रिया का अर्थ देना है। राजा पुरुष को देता है। पूर्व अवस्था की दान क्रिया शेष अवस्था में भी अव्यक्त रूप से काम करती है। ऐसे स्थलों में क्रिया कारक सम्बन्ध कारणभूत होता है शेष सम्बन्ध फलभूत होता है। इसलिए शेष में भी क्रियाकारक सम्बन्ध अश्रूयमाण क्रिया के आधार पर हो जाता है। कहीं कहीं क्रिया श्रूयमाण भी रहती है जैसे नटस्य शृणोति। यहाँ श्रवण केवल नटों का विवक्षित है। किसी निमित्त के न होने से करण आदि कारक की यहां प्रवृत्ति नहीं है। अतः शेष कारक है। क्रिया के श्रुत और अश्रुत रूप के आधार पर संग्रहकार ने संबंध दो प्रकार के माने थे—तिरोभूत क्रियापद और संनिहित क्रियापद। तिरोभूतक्रियापद का उदाहरण राज्ञः पुरुषः है। संनिहित क्रिया पद का उदाहरण मातुः स्मरति है। मातुः स्मरति पर कुछ विवाद था। इसका उल्लेख कर्मप्रवचनीय के प्रसंग में भी किया जा चुका है। कैयट ने सारांश इस रूप में दिया है

मातुः स्मरणयोः अवस्थानादि क्रियानिमित्त सम्बन्ध इति केचिदाहुः। अन्ये तु स्मरणस्य क्रियारूपत्वात् क्रिया तरमन्तरेणैव अन्येन सम्बन्धोपपत्तिमाहुः। यथा द्वयोः काष्ठयोः जतुकृत संश्लेषः जतुनस्तु काष्ठेन स्वत एव न जत्वन्तर कृत।

—महाभाष्य प्रदीप २।३।५२[1]

क्रिया के श्रवण अथवा अश्रवण के रूप में भी कर्म आदि की अविवक्षा में शेष सम्बन्ध उत्पन्न होता है। सम्बन्ध सम्बन्धी के भेद से अनेक प्रकार का होता है स्वस्वामिसम्बन्ध जन्यजनकसम्बन्ध अवयवावयविसम्बन्ध स्थान्यादेशसम्बन्ध आगमागमिसम्बन्ध, क्रियाकारकसम्बन्ध आदि। सम्बन्ध की इयत्ता नहीं है। एक स्थान षष्ठ्यर्थ कहा जाता है। परमार्थ रूप में सम्बन्ध एक है

यद्यपि द्विनिष्ठोभयाश्रितक सम्बन्ध इति कज्जटीय (कयटीय) सम्बन्धलक्षणात् संयोगसमवायौ एव सम्बन्धौ तथापि विशेषणविशेष्यादीनामुपचरितः स्वीकृत भाष्ये। अतः सोऽपि स्वीकृत अ एवास्माभिः। सवत्र सम्बन्धिभेद एव सम्बन्धस्यानेकत्वं द्रष्टव्य। परमार्थस्तु सम्बन्ध एक एव।

—पुरुषोत्तमदेव कारक चक्र पृ० ११३

सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। पाणिनि ने शेष में षष्ठी का विधान किया है (शेषे षष्ठी २।३।५०)। इस पर विवाद था कि षष्ठी विभक्ति राजा के पुरुष अर्थ में राजन् शब्द से होती है पुरुष शब्द से भी होनी चाहिए। सम्बन्ध दोनों में है वह द्विष्ठ है। किसी प्राचीन व्याकरण में गुणे षष्ठी सूत्र था। इस नियम के अनुसार आपत्ति नहीं है (व्याकरणान्तरे [illegible] गुणे षष्ठी—इति वचनात् नास्ति दोष—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०)। पाणिनि सम्प्रदाय में इस आपत्ति का परिहार अर्थप्राधान्य

---

१ द्रष्टव्य हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।१६६

मानकर किया जाता है (न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम् अर्थकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम —महाभाष्य २।३।५०)। लोक में परोपकारी रूप में राजा विवक्षित है। वह परार्थ है। पुरुष उपकार्य है। वह स्वनिष्ठ है। प्रधान है। षष्ठी एक में होती है और गुणभूत में होती है—

न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियते। किं तर्हि। अर्थस्य प्रतिपादयिषया विषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावाविष्येते। तत्र परोपकारित्वेन राज्ञो विवक्षितत्वात् षष्ठी भवति। पुरुषस्य तूपकार्यतया स्वनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा।

—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०

विशेषण विशेष्यभाव के स्वेच्छा पर निर्भर होने से पुरुष के राजा की विवक्षा में पुरुषस्य राजा प्रयोग होता है। इसलिए इस सम्बन्ध में भर्तृहरि की यह कारिका प्रसिद्ध है—

द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद्गुणेषु व्यतिरिच्यते।
तत्राभिधीयमानः सन् प्रधानेऽप्युपभुज्यते॥

—वाक्यपदीय ३, साधन १५७

सम्बोधन

अभिमुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है। सिद्ध पदार्थ का क्रिया के प्रति विनियोग के लिए संबोधन का आश्रय लिया जाता है। व्याकरणागम परंपरा में इसे वाक्यार्थ नहीं माना जाता। संबोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति आमन्त्रित विभक्ति भी कही जाती है—

यो यः स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मान्तर सम्बन्ध प्रत्यभिमुखी नियते तत्रामन्त्रित—विभक्ति। यथा देवदत्त क्रियान्तरसम्बन्ध प्रत्यभिमुखी करोति देवदत्त अधीष्व भुङ्क्ष्वेति।

—महाभाष्यदीपिका, पृ० १०

पाणिनि ने प्रथमा द्वितीया तृतीया, चतुर्थी पंचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्ति का व्यवहार किया है। इनके अर्थ विभक्त्यर्थ कहलाते हैं। पाणिनि ने सूत्र रूप में इन सबके अर्थ बतला दिए हैं। जैसे प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६ आदि। विभक्त्यर्थ प्रातिपदिकार्थ से भिन्न माना जाता है। पाणिनि ने अव्यय विभक्ति २।१।६ सूत्र में विभक्ति शब्द का प्रयोग किया है इससे अनुमान किया जाता है कि उक्त विभक्त्यर्थ द्रव्य से अतिरिक्त रूप में अभिप्रेत है। भोज ने स्वार्थ, द्रव्य और लिंग को प्रातिपदिकार्थ और संख्या कारक तथा शेष को विभक्त्यर्थ माना है (शृंगारप्रकाश, पृ० १८३, १९०)। विभक्त्यर्थ पर विचार नव्य न्यायिकों ने अधिक किया है। कौण्डभट्ट नागेश आदि ने सूक्ष्म विचार न्याय और व्याकरण परम्परा के भिन्न-भिन्न रूप में किया है।

८

लिङ्ग-विचार

लिङ्ग के विषय में श्लोकवार्तिककार और कात्यायन के वक्तव्य महत्त्वपूर्ण हैं। शायद ही विश्व के किसी वाङ्मय में लिंग पर इतने प्राचीन काल में इतने सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किये गये हों।

स्त्रियाम् ४।१।३ सूत्र पर निम्नलिखित श्लोकवार्तिक हैं—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥
लिंगात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप् प्रसज्यते।
नत्वं खरकुटी पश्य खट्वावृक्षौ न सिध्यतः॥
नापुंसकं भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम्॥
असत्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा॥
आदित्यगतिवत्सन्न वस्त्रान्तर्हितवच्च तत्।
तयोस्तु तत्कृतं दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिषः॥
अन्योन्यसंश्रयं त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते।
तटे च सर्वलिंगानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति॥
संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्॥
तस्योक्तौ लोकतो नाम गुणो वा लुपि युक्तवत्।

प्रारम्भ में भाषा में लिंग विकास लौकिक लिंग के आधार पर हुआ होगा। यौन चिह्न स्त्री पुरुष के भेदक हैं। कुछ शारीरिक विशेषताओं के कारण किसी व्यक्ति को स्त्री और किसी व्यक्ति को पुरुष कहते हैं। ये विशेषताएं भाषा में लिंग भेद के कारण मानी जा सकती हैं। स्तन केश आदि स्त्रीत्व के प्रतीक हैं।[1] रोम आदि पुंस्त्व के प्रतीक हैं। *इन दोनों के सादृश्य का अभाव नपुंसकत्व का लक्षण माना जा सकता* है। श्लोकवार्तिक में उभयोरन्तरं शब्द साभिप्राय है। इसके कारण अव्यय और

---

१ कुछ लोग, जिनमें नागेश भी हैं, केश का अर्थ भग करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इस अर्थ में वह प्रयुक्त भी है जैसे— अट्टशूला जनपदा शिवशूला द्विजातयः। केशशूलाश्च कामिन्यः

तिङन्तपदों में लिंगयोग संभव नहीं है। क्योंकि लिंग सत्वधर्म है। अव्यय और आख्यात असत्वभूत हैं। 'तदभावे' शब्द भी साधक है। इसके कारण मयूरी, कुक्कुट आदि के समुदाय में नपुंसक लिंग नहीं हो सकता। समुदाय समुदायी के सदृश होता है मान कर ऐसे स्थलों में नपुंसक लिंग की प्राप्ति हो जाती।

किन्तु स्त्री और पुरुष के विशेष शारीरिक चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था का भाषा में सर्वथा निर्वाह कठिन है। भ्रूकुंस (स्त्री वेषधारी नट) में स्तन आदि देखे जाते हैं। इस आधार पर उसमें स्त्रीत्व मानकर स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय टाप् आदि होने चाहिये। यद्यपि भ्रकुंस के साथ स्त्रीत्व चिह्नों का नित्य सम्बन्ध नहीं है फिर भी देखने वालों को तो वे सदा भासित होते ही हैं। अतः इस प्रतिभास के आधार पर उसमें स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय होना चाहिये। इसी तरह खरकुटी (नापित गृह) में लोम सम्बन्ध के कारण पुंस्त्व बोधक प्रत्यय होने चाहिये।

इसके अतिरिक्त लौकिक स्त्री-पुरुषगत विशेष चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने पर अचेतन पदार्थों में लिंग व्यवहार का कोई रास्ता नहीं रह जाता है। खट्वा में स्त्रीगत कौन सी विशेषता है कि इसमें स्त्रीत्व माना जाय। उपर्युक्त लौकिक आधार पर तो अचेतन पदार्थों में स्त्रीत्व-पुंस्त्व की अनभिव्यक्ति के कारण नपुंसकत्व मानना ही उचित होगा। कुछ लोग मानते हैं कि असत् वस्तु में भी कभी कभी प्रतीतिभावना होती है। मृगतृष्णा में जल नहीं है, फिर भी जल का आभास होता है। इसी तरह खट्वा आदि में लिंग नहीं है फिर भी लिंग का आभास होता है। दारा, पुष्य नक्षत्र जैसे विभिन्न लिंगी शब्द एक ही वस्तु के लिये प्रयुक्त होते हैं। उनमें वास्तव लिंग नहीं है किन्तु जिस तरह मृगमरीचिका में जल की सत्ता न रहते हुए भी जल का अध्यास हो जाता है उसी तरह अचेतन पदार्थों में लिंग चिह्न न रहते हुए भी चेतनगत लिंग का अध्यास हो जाता है। अवश्य ही मृगमरीचिका में सादृश्य के आधार पर जल का आरोप होता है। खट्वा आदि में स्त्री पुरुष गत लिंग का कोई सादृश्य नहीं है। अतः किस आधार पर आरोप संभव है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि विषय भाव में की उपमा करके भी अनादि मिथ्याभ्यास-वासनावश भ्रान्तियां देखी जाती हैं। गन्धर्वनगर की सत्ता नहीं है फिर भी उसकी चर्चा होती है। वह दूर से दिखाई देता है पास पहुँचने पर नहीं दीखता। शब्द में यथार्थ अथवा मिथ्या ज्ञान की अभिव्यक्ति की क्षमता समान है।

अथवा खट्वा वृक्ष आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग है किन्तु उसका ज्ञान उसी तरह नहीं होता जिस तरह सूर्य की गति की सत्ता होने पर भी सूर्य की गति का भान नहीं होता। अथवा जिस तरह से वस्त्र में ढकी वस्तु का ज्ञान नहीं होता उसी

प्राप्ते कलियुगं नयाम्॥ कृष्णं नमति प्रोक्तं शूद्रो विरच्यते। शक्तु वेदो द्विजः शो भग इति स्मृत॥ (पुराण वाक्य)—डा० गयनन्दन द्वारा साइन्स आफ दि शब्द' पृ० ४३७ पर उद्धृत।

तरह खट्वा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग का प्रत्यक्ष नहीं होता। पतंजलि ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि वस्त्र के हटा देने पर वस्त्र से आवृत वस्तु का भान होता है किन्तु खट्वा आदि में इस तरह का कोई भान नहीं होता। बढ़ई हाथ में बसूला और रुखानी लेकर खट्वा के खण्ड खण्ड भी कर डालें तो भी उसमें कोई लिंग नहीं मिलेगा। इसके उत्तर में स्वयं पतंजलि का निवेदन है कि वस्तु की सत्ता होते हुए भी उसकी अनुपलब्धि सम्भव है। प्रायः छः कारणों से वस्तुविशेष की सत्ता रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नहीं होती।

(१) अति संनिकर्ष से जैसे अपनी आँखों का अंजन अपनी आँखों से नहीं दीखता।

(२) अति विप्रकर्ष से जैसे बहुत ऊँचाई पर उड़ते हुए पक्षी आदि नहीं दिखाई देते।

(३) मूर्त्यन्तर व्यवधान से, जैसे बीच में दिवाल आदि के कारण पार की वस्तु नहीं दीखती।

(४) तमसावृत से जैसे अन्धकार के कारण गड्ढे आदि का भान नहीं होता।

(५) इन्द्रिय दौर्बल्य से—आँख की शक्ति क्षीण होने पर उपस्थित वस्तु भी नहीं दिखाई देती।

(६) अति प्रमाद से—किसी विषयान्तर में आसक्त चित्त वाले व्यक्ति को सामने स्थित का भान नहीं होता।[२]

अति समीप अति दूर आदि अनुपलब्धि के कारण माने जा सकते हैं, किन्तु अनुपलब्धि के कारण प्रमाणसिद्ध वस्तु के ही होते हैं। किन्तु खट्वा आदि में लिंग प्रमाणसिद्ध सत्यभूत वस्तुधर्म नहीं है। इसके अतिरिक्त इस पक्ष में प्रत्यक्ष विरोध भी होता है। क्योंकि दृश्य स्वभाव वस्तु का कभी भी प्रत्यक्ष से ग्रहण न होना फिर भी उसकी सत्ता स्वीकार करना अवश्य ही प्रत्यक्ष विरोध है।

कुछ लोग अनुमान के आधार पर खट्वा वृक्ष आदि में लिंग की सत्ता मानते हैं। जैसे प्रकाश देखकर आकाश में मेघ से आच्छादित ज्योति की सत्ता का अनुमान किया जाता है उसी तरह खट्वा वृक्ष आदि में स्त्रीत्व पुंस्त्व बोधक प्रत्यय देखकर उनमें स्त्रीत्व पुंस्त्व की कल्पना कर ली जाती है। परन्तु इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष है। लिंग ज्ञान के बाद शब्द प्रयोग और शब्द प्रयोग के बाद लिंग का अवगम यह अन्योन्याश्रय है। ज्योति और प्रकाश में प्रत्यक्षतः कार्यकारण ज्ञान के आधार पर कार्य से कारण का अनुमान सम्भव है खट्वा आदि में तो कभी भी प्रत्यक्षतः लिंग ज्ञान न होने से कार्यकारण भाव सम्भव नहीं है फलतः अनुमान भी सम्भव नहीं है। पुनः तटः तटी तटम् जैसे एक ही वस्तु में सब लिंग विरोध के कारण नहीं हो सकते। यदि तट में स्त्री-पुंस्त्व हो तो नपुंसकत्व नहीं हो सकता। वह उनके अभाव में हो होता है।

---

२ तुलना कीजिए सांख्यकारिका—७

लौकिक निगम्यजक विह्ना के आधार पर 'दारा' 'कलत्र' जैसे शब्दों को पुल्लिंग और नपुंसकलिंग में नहीं रखा जा सकता।

अतः वैयाकरण लौकिक स्त्री-पुरुषगत लिंग बोधक व्यंजना के आधार पर शास्त्रीय लिंग की व्यवस्था नहीं स्वीकार करते, यद्यपि कुछ दूर तक उसे अपरिहार्य मानते हैं। फलतः लिंग की उनकी अपनी शास्त्रीय परिभाषा है और वह है

सस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः ।

सस्त्याने स्त्यायतेड्रट् स्त्री सूते सप् प्रसवे पुमान् ॥

एक तरह से इस कारिका में स्त्री और पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। सस्त्यान के अर्थ में स्त्य धातु से ड्रट प्रत्यय से स्त्री शब्द निष्पन्न होता है। प्रसव अर्थ में षूङ् धातु के षकार के स्थान में पकार कर पुमान् शब्द बनता है। प्रसूति अर्थ में पा धातु से डुमसुन प्रत्यय द्वारा पुमान शब्द की निष्पत्ति भी प्रसिद्ध है। कुछ आचार्य पूञ् से पुमान की सिद्धि बतलाते हैं। भट्टोजि दीक्षित इस मत के विरुद्ध हैं ('पूङो डुमसुनिति माधव। यच्च उज्ज्वलदत्तेन पातेडमसुनित्युक्तम्, यच्च पुंसोऽसुङ् (७।१।८९) इति सूत्रे वामनरक्षिताभ्यां पुनातेमक्सुन् ह्रस्वश्च इति सूत्र पठितं तदुभयमपि भाष्याननुगुणम् —शब्दकौस्तुभ १।२।६४) परन्तु भाष्यकार ने और उनके अनुयायी भर्तृहरि आदि ने इस कारिका के आधार पर एक दार्शनिक बात कह दिया है। महाभाष्यकार के अनुसार लौकिक स्त्री का सम्बन्ध स्त्यायति से है और शास्त्रीय स्त्री का सम्बन्ध भी उसी से है। लौकिक पुरुष का सम्बन्ध सूत से है और शास्त्रीय पुरुष का भी उसी से सम्बन्ध है। परन्तु लोक में स्त्री अधिकरण है उसमें गर्भ का सस्त्यान होता है। और पुरुष कर्ता है वह उत्पन्न करता है। जबकि शास्त्रीय अर्थ में दोनों भावसाधन हैं—सस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है। गुणों का सस्त्यान स्त्री है। गुणों की प्रवृत्ति पुमान है। गुण से अभिप्राय शब्द स्पर्श रूप, रस और गन्ध से है। कैयट ने भर्तृहरि के आधार पर भाष्यकार के मन्तव्य की व्याख्या साङ्ख्य-दर्शन के सहारे की है। उनके अनुसार गुण से अभिप्राय सत्त्व, रजस और तमोगुण से है। सस्त्यान का अर्थ तिरोभाव है। प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव है। गुणों का तिरोभाव स्त्री है। गुणों का आविर्भाव पुरुष है। गुणों की साम्यावस्था नपुंसक है। गुणों की ये अवस्थाएं केवल शब्दगोचर हैं। साङ्ख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। गुण सदा सक्रिय रहते हैं। उनके संयोग से और उनमें किसी एक की कमी या आधिक्य के आधार पर विचित्र विश्व की सृष्टि होती है। चेतन और अचेतन सब पदार्थों में गुणों की सत्ता है। अतः गुणों के आधार पर सर्वत्र लिंग व्यवहार सम्भव है। गुणों की प्रवृत्ति अथवा उपचय पुंस्त्व का प्रतीक है। गुणों का सस्त्यान अथवा अपचय स्त्रीत्व का प्रतीक है। गुणों की स्थिति अथवा साम्यावस्था नपुंसकत्व का द्योतक है। उपचय और अपचय सापेक्ष हैं। प्रकाश प्रसव, आविर्भाव सत्त्व के धर्म हैं। प्रवृत्ति क्रिया रजस के धर्म हैं। आवरण तिरोभाव स्थिति तमस के धर्म हैं। ये ही धर्म लिंग हैं। रजोधर्म लक्षण प्रवृत्ति क्रिया का विशेष अथवा आधिक्य पुंस्त्व है पर इनमें प्रकाशनियम रूप सत्त्व का धर्म और आवरण रूप तम का धर्म भी अनुगत रहता है। दूसरे शब्दों

म, सत्त्व और तमधर्मानुगत रजोगुण का आविर्भाव पुंस्त्व है। तिरोभाव स्त्रीत्व है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप नपुंसकत्व है। कोई कोई आचार्य सत्त्व के आधिक्य में पुंस्त्व, रजस के आधिक्य में स्त्रीत्व और तमोगुण के आधिक्य में नपुंसकत्व मानते है।[3] रूप, रस आदि के समुदाय से युक्त पदार्थ में तीनों गुणों का योग तो ठीक है किन्तु केवल रूप केवल रस केवल शब्द में गुणत्रय किस तरह है? इसके उत्तर में भर्तृहरि की मान्यता है कि रूप भी अवस्था विशेष के क्रम रूप में परिणमित होता है। वह भी सत्त्वादि गुणात्मक है। क्षण क्षण नये नये अवस्था ग्रहण के कारण रूप में भी किसी अवस्था का आविर्भाव किसी का अपचय होता है। परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उनका आकलन स्थूल दृष्टि से नहीं हो पाता है। फल आदि में रूपों के परिवर्तन देखे भी जाते है। महाभाष्यकार ने स्वयं माना है कि कोई वस्तु अपने आप में क्षण भर स्थित नहीं है। या तो वह बढ़ती है या घटती है स्थिर नहीं रहती।[4] अतः गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव के आधार पर लिंग व्यवस्था सम्भव है। हेलाराज ने संग्रहकार का एक वक्तव्य उद्धृत किया है। उसमें भी उपयुक्त मत की पुष्टि होती है —

> तथाहि संग्रहकारः पठति—सत्त्यानं सहननं तमोनिवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्तिः प्रतिबन्धनिवृत्तिस्तिरोभावः स्त्रीत्वं प्रसवो वित्तागमादो वृद्धिर्नित्यत्व-स्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम् अविवक्षातः साम्यं स्थितिः रौत्सुक्यनिवृत्तिरपरायत्तत्वमङ्गाङ्गिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकत्व मिति।—हेलाराज वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष गुणातीत है इसलिए गुणदर्शन के आधार पर पुरुष शब्द में लिंग योग कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित भोग्यभाव शबलित चैतन्य का ही व्यवहार में बोध होता है। अतः प्रतिबिम्बित रूप में सत्त्व धर्म की स्वच्छता आदि से उसका योग सम्भव है। फलतः उसमें पुंस्त्व आदि की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। पुरुष चिति चैतन्य—इन तीनों रूपों में तीनों लिंगों का अध्यारोप सम्भव है।[5]

सर्वत्र सभी शब्दों में तीनों लिंगों की सत्ता होते हुए भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिंग की अभिव्यक्ति शिष्ट समाचारवश है। इसे लोकव्यवहारानुवा-र्तिनी विवक्षा कह सकते हैं जो लौकिक स्वेच्छारूपा विवक्षा से भिन्न है। गुणों के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने में स्थिति का प्रश्न कुछ जटिल हो जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि गुणों की स्थिति का सम्बन्ध नपुंसक लिंग से है। किन्तु गुणों की स्थिति कब सम्भव है? गुण सदा परिणमित होते रहते है। क्षणभर के लिए भी वे स्थिर नहीं रह सकते। पुनः गुणों की साम्यावस्था केवल मूल प्रकृति में ही सम्भव है। विश्व की किसी भी वस्तु में गुणों का साम्य सांख्यदर्शन के अनुसार असम्भव

---

३ महार्णवनाकर कविलनाथ की टीका पृष्ठ २६८ (आनन्दाश्रम)
४ महाभाष्य ४।१।३ और १।३।६४
५ वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२३—३२५

है। अत कोई भी वस्तु नपुसकलिंग के द्वारा कैसे अभिव्यक्त की जा सकती है? इस समस्या का समाधान भर्तृहरि ने कई ढग से करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार प्रवृत्ति की एकरूपता स्थिति है। प्रत्येक पदार्थ की दो अवस्थाएं हैं। या तो वह बढ़ता है अथवा घटता है। उसके बढ़ने की क्रिया अथवा उपचय प्रवाह मे एक प्रवृत्ति है जिसे हम वृद्ध्याख्याप्रवृत्ति कह सकते हैं। इसी तरह उसके अपचय प्रवाह मे भी एक प्रवृत्ति है जिसे अपायलक्षणा प्रवृत्ति कह सकते हैं। इन दोनो की प्रवृत्ति म अभेद है और इस अभेद के आधार पर प्रवृत्ति की एकरूपता को स्थिति कहते है। अथवा प्रवृत्ति का साम्य स्थिति है। उपचय और अपचय इन दोनो प्रवाहो म भेद मानकर भी उनमे प्रवृत्तिरूप साम्य है। बढ़ने और घटने की क्रिया म प्रवृत्ति समान है और यही साम्य स्थिति है। अथवा आविर्भाव और तिरोभाव के बीच किसी प्रवृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है जिसके कारण किसी वस्तु की किसी कला का तिरोभाव होते-होते किसी दूसरी कला का आविर्भाव होने लगता है और उस हेतुभूत प्रवृत्ति को स्थिति मान सकते ह। अथवा गुणो का सामान्य रूप स्थिति है। जिस कारण से ये गुण है ऐसी बुद्धि होती है वही गुण सामान्य है। सत्त्व आदि गुण विचित्र विश्व म बदलते हुए अपनी जाति को नही छोड़ते है। गुणरूपता ही उनकी जाति है। सामान्य म सभी विशेषताओ के आविर्भाव होने के कारण आविर्भाव और तिरोभाव भी उसके भीतर आ जाते है। इसलिए गुण सामान्य ही स्थिति है। इस दृष्टि से स्त्री पुंल्लिंगभेद का स्थिति नपुसक लिंग हुआ। जिस तरह से इद तत सर्वनाम वस्तु मात्र का स्पर्श कर सकता ह उसी तरह नपुसक लिंग भी विशेष की अविवक्षा म सर्वलिंग का परामर्श करता ह और अव्यक्त लिंग के स्थान म व्यवहृत भी होता है। इस दृष्टि से स्थिति सस्त्यान और प्रसव इन दोनो अवस्थाओ मे व्याप्त ह और इस तरह सर्वनाम की तरह नपुसक लिंग व्यापक महत्त्व पा लेता है (वाक्यपदीय ३ लिंग समुद्देश १७ १८)। कैयट क अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव के बीच की अवस्था स्थिति है। (आविर्भावतिरोभावा तरालावस्था स्थितिरुच्यते—प्रदीप महाभाष्य ४।१।३)।

कुछ लोग प्रवृत्ति (गुणो के नित्य परिणाम) को लिंग का सामान्य लक्षण मानते है। वह प्रवृत्ति ही आविर्भाव तिरोभाव और स्थितिरूप म अलग जान पड़ती है। इन तीनो प्रवृत्तियो स सभी पदार्थ प्रवृत्ति वाले है। प्रवृत्तियुक्त पदार्थ ही शब्द के अभिधेय ह। आकार युक्त पदार्थ ही शब्द द्वारा सकेतित होते है। शुद्ध वस्तुतत्त्व शब्द क अभिधान का विषय नही होता। शशविषाण आदि अत्यन्त असत पदार्थ म लिंग योग उनकी बौद्धिक सत्ता के आधार पर हो जाता ह। अपरिणामी पुरुष म भोक्तृत्वधर्म के आरोप से लिंग योग सभव है। स्त्रीत्व स्त्रीता जस सस्त्यान आदि म भी प्रवृत्तिलक्षणलिंगयोग है। साम्यदर्शन के आधार पर लिंग का उपयुक्त विवेचन चिन्त्य है। गुण शब्द स भाष्यकार का अभिप्राय साम्य दर्शन के गुणो स नही जान पड़ता। भाष्यकार ने सस्त्यान और प्रवृत्ति का विवेचन यो किया है— किस का सस्त्यान स्त्री है और किसकी प्रवृत्ति पुमान है? गुणो की। किनकी? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

गंध की। सभी मूर्तियां ऐसी होती हैं, उनमें संस्त्यान और प्रसवगुण होते हैं और वे शब्द स्पर्श, रूप रस गंध वाली होती है। जहां अल्प गुण होते हैं उनमें शब्द स्पर्श, और रूप होते हैं। रस और गंध सर्वत्र नहीं होते। प्रवृत्ति भी नित्य है। कोई भी इस संसार में क्षण भर भी अपने आप में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बढ़ता है जितना कि उसे बढ़ना चाहिए अथवा विनाश की ओर अग्रसर होता है। ये दोनों (संस्त्यान और प्रवृत्ति) सर्वत्र हैं। यदि सर्वत्र हैं तो (लिंग की) व्यवस्था कैसे सम्भव है? विवक्षा से। संस्त्यान की विवक्षा में स्त्री। प्रसव की विवक्षा में पुमान्। दोनों की अविवक्षा में नपुंसक —महाभाष्य ४।१।३

गुणों के संस्त्यान या गुणों की प्रवृत्ति में गुण शब्द सांख्यप्रसिद्ध गुण के अर्थ में महाभाष्यकार द्वारा प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। सांख्य दर्शन में प्रसिद्ध गुण के अर्थ में गुण शब्द का व्यवहार महाभाष्य में कहीं नहीं है। दार्शनिक विचार रूप में जब कभी गुण शब्द का व्यवहार महाभाष्य में हुआ है सदा शब्द स्पर्श रूप आदि अर्थों में ही हुआ है सत्त्व रज या तमोगुण के अर्थ में नहीं। तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९ सूत्र के भाष्य का कुछ अंश निम्नलिखित है—

किं पुनर्द्रव्यं के गुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणाः। ततोऽन्यद् द्रव्यम्। गुण शब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव समेष्ववयवेषु वर्तते। तद्यथा द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति। अस्ति द्रव्यपदार्थकः। तद् यथा गुणवानयं देशः इत्युच्यते यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्तन्ते। अस्त्यप्राधान्ये वर्तते। तद् यथा यो यत्राप्रधानं भवति स आह गुणभूता वयमत्रेति। अस्त्याचारे वर्तते। तद्यथा गुणवानयं ब्राह्मणः इत्युच्यते यः सम्यगाचारं करोति। अस्ति संस्कारे वर्तते। तद् यथा संस्कृतमन्नं गुणवदित्युच्यते।

गुण शब्द के जितने अर्थ यहाँ पतंजलि ने दिए हैं उनमें सत्त्व रजस आदि अर्थों का उल्लेख नहीं है। सत्त्व रजस और तमस शब्दों का भी गुण के अर्थ में महाभाष्य में प्रयोग नहीं है। सत्त्व शब्द का प्रयोग महाभाष्य में केवल एक बार है और वह द्रव्य और क्रियाशब्द के अर्थ में प्रयुक्त है[1] (कैयट का तर्क है कि सत्त्व रजस और तमस ये गुण हैं शब्द आदि पांच गुण उन्हीं के परिणाम होने से तन्मात्र हैं सत्त्वरजस्तमांसि गुणास्तत्परिणामरूपाश्च तन्मात्रकाः एव शब्दादयः पञ्चगुणाः — (महाभाष्य प्रदीप ४।१।३)। किन्तु यह तर्क सबल है। इस आधार पर तो किसी भी वस्तु को गुण कहा जा सकता है क्योंकि सांख्य के अनुसार प्रत्येक वस्तु गुणों का परिणाम है। हेलाराज ने शब्द आदि का सम्बन्ध सत्त्व आदि से दूसरे रूप में किया है। उनके अनुसार सूक्ष्म सम गुण व्यवहारयोग्य नहीं हो पाते इसलिए उनके परिणामभूत शब्द स्पर्श आदि का दर्शन लिंग की व्याख्या में किया गया है (सूक्ष्मतमा गुणा व्यवहार न साधारणत्वात् तत्र परिणामरूपाणां शब्दादीनामाविर्भावात् मूर्त्या लिङ्गव्याख्यानं भाष्ये—

---

[1] [illegible] —महाभाष्य ५।१।५७

हेलाराज वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २४)। परन्तु यह तब भी आपातरमणीय है। गुणों की जो आविर्भाव आदि अवस्था है वह भी विवक्षाधीन है कल्पित है। व्यवहार योग्य नहीं है। पुनः विचार के क्षेत्र में रूप आदि भी सत्त्व आदि की तरह सूक्ष्म ही मान जायेंगे। वस्तुतः यदि शब्द आदि से पतंजलि का अभिप्राय सत्त्व आदि गुणों से होता है तो वे सत्त्व आदि शब्दों से ही उल्लेख करते हैं। उनकी शैली अस्पष्ट और दूरारूढ कल्पनामयी नहीं है। अतः भाष्यकार के शब्द स्पर्श आदि गुण सांख्य के गुण न होकर वैशेषिकादि दर्शन में गृहीत गुण हैं।

सस्त्यान शब्द का अर्थ कयट आदि ने तिरोधान अथवा अपचय किया है। यह अर्थ भी चिन्त्य है। लोक या व्यवहार में सस्त्यान शब्द का यह अर्थ नहीं मिलता। पाणिनिधातुपाठ में स्त्य धातु के दो अर्थ दिए हैं—शब्द और सघात (स्त्य शब्द सघातयो —पाणिनि धातुपाठ १।६१८)। यास्क ने स्त्यै का अर्थ लजाना भी दिया है (स्त्यायतेरपत्रपणकर्मण —निरुक्त ।२६)। स्वयं महाभाष्यकार ने स्त्य धातु का प्रयोग सघात अर्थ में किया है (स्त्यायतेऽस्यां गर्भ इति स्त्री —महाभाष्य ४।१।३)।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। पतंजलि ने प्रवृत्ति शब्द का व्यवहार अनवरत गतिशील अथवा क्रियाशील के अर्थ में किया है और प्रवृत्ति को नित्य माना है (प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यव तिष्ठते—महाभाष्य ४।१।३)। किन्तु कयट आदि ने प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव माना है। भर्तृहरि प्रवृत्ति को लिंग का सामान्य लक्षण मानते हैं और आविर्भाव तिरोभाव तथा स्थिति के आधार पर प्रवृत्ति के तीन भेद मानते हैं। भाष्यकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल पुल्लिङ्ग से जोड़ते हैं जबकि भर्तृहरि उसका सम्बन्ध तीनों लिंगों से जोड़ते हैं। यही भेद है। एक भेद और है। पतंजलि ने स्थिति की चर्चा नहीं की है जबकि भर्तृहरि ने स्थिति पर विचार किया है।

कयट ने भर्तृहरि के आधार पर प्रवृत्ति के एक भेद तिरोधान का सम्बन्ध सस्त्यान से जोड़ दिया है और गुणों के तिरोधान अथवा अपचय से स्त्रीत्व की आविर्भाव अथवा उपचय से पुंस्त्व की तथा स्थिति अथवा अन्तरालावस्था से नपुंसक की अभिव्यक्ति माना है किन्तु कयट ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि गुणों के उपचय या अपचय मापने का स्थिर बिन्दु क्या है ? उपचय और अपचय निरपेक्ष नहीं हो सकते। पुनः तीनों गुणों का एक साथ आविर्भाव या तिरोभाव कैसे सम्भव है ? गुणों की साम्यावस्था भी व्यक्त प्रकृति में असम्भव है।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि पतंजलि और श्लोक वार्तिककार के पूर्व भी शब्द आदि गुणों का स्त्री से सम्बन्ध विचार के क्षेत्र में आ चुका था जैसा कि यास्क के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है—स्त्रिय एव एताः शब्द स्पर्शरूपरसगन्धहारिण्य —निरुक्त १४।२०। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

---

७ प्रवृत्तिरिति सामान्य लक्षण तस्य कथ्यते।
आविर्भावस्तिरोभाव स्थितिश्चेत्यस्य भिद्यते॥—वा यपदीय ३ वे लसमुद्देश २१।

शब्द आदि गुणों के संस्त्यान का अभिप्राय इन गुणों में अधिष्ठान, एकत्र संग्रह में है न कि उनके तिरोधान अथवा अपचय से।

अतः संस्त्यान का अर्थ संघात और प्रवृत्ति का अर्थ गतिशीलता समझना उपयुक्त जान पड़ता है। इस दृष्टि से शब्द आदि गुणों के संघात से स्त्रीत्व की उनकी प्रसवधर्मिता से पुंस्त्व की और दोनों की अविवक्षा में नपुंसकत्व की व्यंजना माननी चाहिए।

प्राचीन काल में ही सांख्य के गुणदर्शन वाली लिंग व्याख्या सबको मान्य नहीं थी। अतः भर्तृहरि ने दूसरी व्याख्याएं भी प्रस्तुत की हैं। कुछ लोगों ने वैशेषिक दर्शन के आधार पर संस्त्यान का अर्थ नाश और प्रसव का अर्थ उत्पत्ति माना था। भावों का अनौपाधिक स्वरूप ही उनके अनुसार स्थिति है। इस वाद के अनुसार पुरुष चिति आदि नित्य पदार्थों में उत्पत्ति विनाश शरीर आदि उपाधिसंग के सहारे कल्पित हैं :

उत्पत्तिः प्रसवोऽपेया नाशः संस्त्यानमित्यपि।
आत्मरूपं तु भावानां स्थितिरित्यभिधीयते ॥

—वाक्यपदीय ३ लिंग समुद्देश २७

स्वयं वैशेषिकों ने लिंग को जातिरूप माना है। स्तनादि व्यंजनविशेष से अभिव्यक्त स्त्रीत्व पुंस्त्व और नपुंसकत्व के रूप में लिंगजाति की सत्ता है। सर्वत्र अभिन्नप्रत्यय जाति के सद्भाव में प्रमाण है। स्त्रीत्व आदि गोत्व आदि के सदृश ही है। खट्वा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंगजाति है जिसके कारण खट्वा आदि में स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय करने की इच्छा होती है। अर्थ शब्द पुंलिङ्ग है। व्यक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। वस्तु शब्द नपुंसकलिंग है। इन तीनों विभिन्न लिंग वाले शब्दों में से प्रत्येक से संसार की किसी भी वस्तु का निर्देश किया जा सकता है। अयं अर्थः इयं व्यक्तिः इदं वस्तु इस रूप में। अब यदि प्रत्येक वस्तु में तीनों लिंगों की सत्ता नहीं होती तो वे उपर्युक्त तीनों लिंगों वाले शब्दों से गृहीत न होते। एक ही में उनके परस्पर विरोध को दूर करने के लिए जातिपक्ष का आश्रय लेना पड़ता है। जाति सर्वगत होती है। बहुत जातियां भी एक में समवाय सम्बन्ध से रह सकती हैं। हस्तिनी और वडवा दोनों में स्त्रीत्व बुद्धि होती है। स्त्रीत्व और गोत्व साथ साथ रह सकते हैं। स्त्रीत्व और स्तनादि व्यंजन में गोत्व की तरह सामान्यविशेष भाव है। वैयाकरण शब्दार्थ को अर्थ मानते हैं। इसलिए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि में भी लिंगजाति का योग सम्भव है। इसी दृष्टि से भाव शब्द से पुंस्त्वोपाधिक सत्ता का बोध होता है। सत्ता शब्द से स्त्रीत्वोपाधिक सत्ता का परिज्ञान होता है और सामान्य शब्द से नपुंसकोपाधिक सत्ता लक्षित होती है। तट, तटी, तटम् आदि में भी इसी तरह लिंगजाति की सत्ता है। लिंग में भी दूसरा लिंग योग इस दृष्टि से सम्भव है। शब्द जब कभी वस्तुरूप में अपने आपको व्यक्त करेंगे उसके लिंगोपाधिसहित ही व्यक्त करेंगे। इसीलिए स्त्री से स्त्रीत्व, स्त्रीता और स्त्रीभाव तीनों लिंग सम्भव हैं। कात्यायन का भावस्य च भाव युक्तत्वात् (वार्तिक ४।१।३ ७) भी इस मत का पोषक है। स्त्री शब्द से अभिहित

स्त्रीत्वविशिष्ट द्रव्य में भाव प्रत्यय के द्वारा नपुंसकलिंग आदि की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है[८]। किन्तु कयट लिंगसामान्य के पक्षपाती नहीं हैं (लिंगादिसामान्य-सद्भाव प्रमाणाभावात्—कयट १।१।३७)।

कुछ आचार्य मानते हैं कि लिंग स्वभावतः शब्दाभिधेय है। बाह्य लिंग की सत्ता नहीं है। शब्द के द्वारा असत् लिंग की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए एक ही वस्तु को अर्थ व्यक्ति अथवा वस्तु रूप में विभिन्न लिंगों से व्यक्त करते हैं। इस पक्ष को भर्तृहरि ने शब्दोपजनितोऽर्थात्मा कहा है।

कुछ लोग लिंग को केवल शब्दसंस्कार के रूप में मानते हैं। लिंग शब्द का धर्म न होकर शब्द का संस्कारक है। उदात्त अनुदात्त आदि स्वर शब्द के धर्म हैं परन्तु लिंग शब्द का संस्कारक मात्र है। क्योंकि शब्द के अन्वाख्यान के लिए उसका ग्रहण प्रक्रिया वाक्य में नातरीयक रूप में होता है। पाणिनि के पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।३।४२ सूत्र पर वार्तिककार ने एक वार्तिक पुंवत् भाव के पक्ष में लिखा—कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु पुंवद्वचनम्। कुक्कुटी आदि का अण्ड आदि के साथ वृत्ति में पुंवद्भाव हो जाना चाहिए जैसे कुक्कुट्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्। मृग्या पदं मृगपदम्। काक्या शावः काकशावः। पुनः वार्तिककार ने इसका प्रत्याख्यान किया—न वास्त्रीपूर्वपद विवक्षितत्वात्। कुक्कुटाण्डम् जैसे पदों में पूर्व पद में स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है। अण्ड आदि के विशेषण के रूप में जो कुक्कुट आदि पद हैं उनमें जातिमात्र की विवक्षा है इसलिए स्त्रीत्व अविवक्षित है। पुंवद्भाव करने पर भी पूर्वपद से वाच्य जब स्त्रीत्व की विवक्षा नहीं है तो पुंवद्भाव करना भी निष्प्रयोजन है। मृग्याः क्षीरं मृगक्षीरं जैसे स्थलों में भी पूर्वपद में स्त्रीत्व अविवक्षित है। सत् वस्तु की भी अविवक्षा देखी जाती है और असत् वस्तु की भी विवक्षा की जाती है जैसे अनुदरा कन्या विन्ध्यो वर्द्धितकम् में क्रमशः सत् की अविवक्षा और असत् की विवक्षा है। कुछ लोग प्रक्रिया वाक्य में

---

८ प्रक्रियाप्रसाद के लेखक ने इस मत का समर्थन किया है और पाणिनीयमतदर्पणकार की भी इस पक्ष में अभिमति व्यक्त की है—

कश्चिदेवं इयमिति लाभः सप्रत्ययं मे धर्म स्त्रीत्वम्। न च गोत्वादिवत् सामान्य विशेष। तथा च पाणिनीयमतदर्पणे उक्तम्—

इत्यमयमिदमिति येषु व्यपदेशो दृश्यते लोके।

स्त्रीपुंनपुंसकानि प्रोच्यन्ते तानि लोकेन॥

गोत्वादि स्वाश्रयैस्तत्र सामान्यमुपलभ्यते।

व्यक्तवस्तुनस्तत्वात् स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकं तथा॥

भावानां शश्वतीनां लोके प्रतिनियतविषयत्वात्।

विचित्र केनचिदेवाश्रयेण सामान्यमुपैति॥

ततो व्यक्तवैचित्र्यान्नात्र स्त्रीत्वमेव हि।

यथा न तु पुंस्त्वादि सोऽस्य न्यायमिदेव हि॥

पुमान् नपुंसकं नैव द्विलिंगं त्रिलिंग तथैव च।

यथा गौरी गिरिर्हिमवन्तं सम्भवः लिंगम॥

—वोपदेव, पाणिनीयमतदर्पण, प्रक्रियाप्रसाद में उद्धृत पृ० ३१८।१८ भाग १

भी गुणत्रयस्य पण्ड मृगस्य स्त्रीर इस रूप में पुल्लिङ्गरूप में ही निर्देश करते हैं क्योंकि सत्त्वभूत अर्थ का लिंग नान्तरीयक है। इसी तरह इन्द्र वस्तु इव यदि, समय इस रूप में सभी पदार्थों का निर्देश उनके बाह्य लिंग से विशेष रूप में हो जाता है। अतः लिंग वचन शब्द प्रत्याख्यान के लिए है। शब्दसंस्कार का निमित्त प्रायः वर्णित होता है। यदि शब्द प्रत्याख्यान का निमित्त व्याकरण से लिया जाय तो स्त्री लिंग स्तन केश आदि स्त्रीत्व में व्यतिरेक विभक्ति कैसे हो जाती है? टावृषि ४।१।६ सूत्र में वृत्तिकार ने स्त्रीत्व का अभिप्राय के रूप में निर्देश किया है जो शब्दा-ख्यान के संस्कार के आधार पर ही उपयुक्त है। शब्दार्थोंपत्ति प्रक्रिया और शब्द-संस्कार इन दोनों पक्षों में भेद यह है कि शब्दोत्पत्ति पक्ष में प्रायः इन्द्र लिंग का प्रयत्न अध्यास किया जाता है जबकि शब्द संस्कार पक्ष में लिंग शब्द के साधुत्व का निमित्तमात्र होता है।

भोज ने शब्दसंस्कार के हेतु रूप में लिंग के छः भेद माने हैं—शुद्ध मिश्र सकीर्ण उपसर्जन आविष्ट और अव्यक्त। जिसमें एक संस्कार प्रसिद्ध हो वह शुद्ध है जैसे—खट्वा घट कुण्डम् स्त्री कुमार नपुंसकम्। जिसमें दो संस्कार हों वह मिश्र है जैसे—मरीचि ऊर्मि अर्चि छर्दि कषाय। जिसमें तीन संस्कार होते हैं वह सकीर्ण होते हैं जैसे तटी तट तटम् शृङ्खला शृङ्खल शृङ्खलम्। विशेष्यगत लिंग से प्रभावित विशेषणस्वरूप उपसर्जन है जैसे शुक्ला शुक्ल शुक्लम्। विशेषण होने पर भी नियतशब्दसंस्काराह आविष्ट है जैसे प्रकृति विषय प्रधानम् भार्या दारा कलत्रम्। जिसमें लिंग निमित्त शब्दसंस्कार न हो वह अव्यक्त है जैसे पञ्च षट् कति उच्चै। (शृंगारप्रकाश पृष्ठ १८३, १८४)। ये सभी मत उपर्युक्त श्लोकवार्तिकों में ध्वनित हैं और इसके भी भर्तृहरि ने लिंग के सात विकल्प माने हैं

> स्तनकेशादिसम्बन्धो विशिष्टा वा स्तनादयः।
> तदुपव्यञ्जना जातिर्गुणावस्था गुणास्तथा॥
> शब्दोपजनितोऽर्थात्मा शब्दसंस्कार इत्यपि।
> लिंगानां लिंगतत्त्वज्ञैर्विकल्पाः सप्त दर्शिताः॥
>
> —वाक्यपदीय ३ लिंग समुद्देश १ २

उपर्युक्त मतों में गुणवाद के आधार पर लिंग का विवेचन बाद के वैयाकरणों ने अधिकतर अपनाया है। हेलाराज ने इसे ही सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है

> सिद्धान्तस्तु यथाभाष्यं गुणावस्थारूपं लिंगमित्यस्माभिर्वार्तिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यातं तत एवावधार्यम्। गुणधर्मरूपे हि लिंगे धर्मशून्यस्य सर्वथावाच्य-स्याभावाद्वस्तुत्वेऽपि वस्तुत्वाभिमानाल्लौकिकानां लोकसंप्रत्ययसमारूढ-स्यवस्त्वाध्यत्वादात्मादीनां रूपादीनां तमश्छायाप्रभृतीनां च सर्वेषां लिंगयोग उपपन्नः। अभावशशविषाणादीनामपि वस्तुभूतोत्तरपदाश्रयं लिंगं न चान्यथा भावोपाश्रयत्वादभावो व्यवह्रियत इति व्यापकमिदं सत्त्वानप्रसवौ स्थिति-श्चेति लिंगत्रयं सिद्धान्ततमवगन्तव्यम्।
>
> —वाक्यपदीय ३ लिंग समुद्देश ३१।

लिंग के सम्बन्ध में वैयाकरणों के उपचयापचयवाद पर आक्षेप करते हुए पक्षधर मिश्र ने लिखा है—पुंलिंग आदि शब्द से उपचय अपचय आदि की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि उपचय अपचय आदि का स्वरूप निर्धारित नहीं है। वक्ष शब्द से वक्षगत किसी प्रकार के उपचय का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह गंगा शब्द से गंगागत किसी तरह के अपचय का आभास नहीं होता। यदि ऐसा माना जायगा तो वक्ष या गंगा की अवधि का ज्ञान आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त यदि पुंस्त्व का सम्बन्ध उपचय से स्त्रीत्व का अपचय से और नपुंसकत्व का सम्बन्ध दोनों से माना जायगा तो नपुंसक शब्द की स्थिति पहेली बन जायगी। क्योंकि एक ही वस्तु में उपचय अपचय जैसे दो विरोधी धर्म कैसे झलकेंगे। साथ ही, पृथिवी, सुमेरु, कुल जैसे निश्चित लिंग वाले शब्द सदा एक सा अर्थ व्यक्त करते हैं, विशेष (उपचयादि सहित) नहीं। (प्रशस्तपाद भाष्य-सेतुटीका पृ० ८४, ८५)। वैयाकरण इस आक्षेप का समाधान उपचय अपचय को विवक्षाधीन मानकर देते हैं। उपचय अपचय दोनों से रहित दशा का सम्बन्ध नपुंसक से मानने पर पक्षधर मिश्र का नपुंसक शब्द के विषय में उपयुक्त आरोप निराधार हो जाता है (उपचयापचयरहितावस्था तदात्मिका स्थितिः नपुंसकत्वम—न्यास ४।१।३, पृष्ठ ८०६)। भर्तृहरि के अनुसार ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिससे लिंग का योग न हो सके। जो गुणातीत पदार्थ हैं उनमें भी लिंग व्यवहार होता है जैसे आत्मा (पुंलिंग) चिति (स्त्रीलिंग) चैतन्य (नपुंसकलिंग)। भर्तृहरि ने संभवतः पंचशिख आचार्य के आधार पर चिति जैसे शब्दों में लिंगयोग के लिए प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया है। चिति शक्ति बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धिसन्नान्त होने से चिति में बुद्धिगत (भोग्यगत) धर्म आभासित होते हैं। ये ही धर्म शब्दाधार हैं। सङ्घात दशा में भोक्तृशक्ति और भोग्य शक्ति में भेद जान पड़ता है। चितिशक्ति स्वयं अपरिणामिनी है किन्तु सङ्घात दशा में अचेतन में भी चैतन्य की छाया ला देती है

> यश्चाप्रवृत्तिधर्मायश्चितिरूपेण गृह्यते।
> अनुयातीव सोऽप्येषा प्रवृत्तीर्लिङ्गगाश्रया॥
> तेनास्य चितिरूपं च चितिश्चात्मश्च भिद्यते।
> तस्य स्वरूपभेदस्तु न कश्चिदपि विद्यते॥
> अचेतनेषु सङ्घात चैतन्यमिव दृश्यते।
> प्रतिबिम्बकधर्मेण यत्सच्छन्दनिबन्धनम॥

—वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ३२३ ३२४

गोत्व आदि सामान्य (जाति) भी प्रवृत्तिधर्म की चपेट में आ जाता है। क्योंकि वह व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं है

> सामान्यमपि गोत्वादिकं व्यक्तेरव्यतिरिक्तत्वात् प्रवृत्तिधर्म —

—कैयट महाभाष्य प्रदीप ४।१।३

नागेश के अनुसार यहाँ व्यक्ति को जाति से अव्यतिरिक्त मानना व्यक्ति अनुगत ब्रह्म की सत्ता वाले वाद के आधार पर है। नागेश के अनुसार सामान्य भी प्रकृति का

विरोधी नियम दिखाए हैं। कैयट के अनुसार विवक्षा लोकव्यवहारानुपातिनी मानी चाहिए, प्रायोक्त्री नहीं। हेलाराज के अनुसार लिंग का अभिप्राय प्रायोक्त्री से है स्वेच्छामयी लौकिकी नहीं—

लोकव्यवहारानुपातिनी विवक्षा आश्रीयते न तु प्रायोक्त्री।

—कैयट महाभाष्यप्रदीप ४।१।३

तथा च प्रायोक्त्री विवक्षात्र न लौकिकी स्वेच्छाचारलक्षणेत्युक्तं भवति।

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ लिंगसमुद्देश २१

दोनों ही आचार्य अपने अपने स्थान पर ठीक हैं। कैयट ने प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुकूल लिंग-व्यवस्था के विषय में लोक को ही प्रमाण माना है (लिङ्गव्यवस्थायां लोकः प्रमाणमित्यर्थः कैयट प्रदीप ४।१।३)। अतः उनकी दृष्टि में शिष्ट भी लिंग के विषय में लोक का ही अनुगमन करते हैं। हेलाराज का अभिप्राय यह है कि लिंग व्यवस्था स्वेच्छा-व्यवहार पर आश्रित नहीं है। अपितु परम्परा से शिष्टों के व्यवहार के आधार पर उसका निर्णय किया जाता है। कैयट की मान्यता है कि लिंग के स्वरूप का ज्ञान लोक से ही सम्भव है अन्यत्र उसका ज्ञान सम्भव नहीं है (अनेन लिङ्गस्वरूपमपि लोकादेव ज्ञायत इत्युक्तं भवति—कैयट प्रदीप ४।१।३)। हेलाराज के अनुसार लोक में भी लिंग-व्यवस्था शिष्ट जनों के व्यवहार पर ही अवलम्बित है। लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य जैसे वाक्यों में हेलाराज के अनुसार लोक शब्द का अर्थ शिष्ट है (इह लोकशब्देन शिष्टा विवक्षिताः—हेलाराज वाक्यपदीय ३ लिंग समुद्देश २१)। नागेश का झुकाव भी लोक की अपेक्षा शिष्टों की ओर है। उनके अनुसार जिस शब्द का जिस लिंग के साथ साधुत्व और धर्मबुद्धि से शिष्टों ने व्यवहार किया है उस शब्द का वही लिंग है

एवञ्च येषां शब्दानां यल्लिङ्गमुपादाय शिष्टाः साधुत्वावगमनपूर्वकं धर्मजनकत्वबुद्ध्या प्रयोगं कुर्वन्ति तेषां तदेव लिङ्गमिति नियमः सिद्ध इति भावः।

—नागेश महाभाष्य प्रदीपोद्योत, ४।१।३

लिंग के विषय में वार्तिककार के कुछ महत्त्वपूर्ण मन्तव्य हैं। उनमें एक है—लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य। यद्यपि यह वार्तिक वर्तमान वार्तिक पाठ में नहीं मिलता फिर भी यह कात्यायन का वचन है। महाभाष्यकार ने स्वयं कहा है—पठिष्यति ह्याचार्यः लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य इति। पुनः पठिष्यति—एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिंगान्यत्वम् अवयवान्यत्वाच्चेति (महाभाष्य ४।१।३)। इनमें एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिंगान्यत्वम् और अवयवान्यत्वाच्च ये दो वार्तिक ४।१।९२ सूत्र पर पठित हैं। इन वार्तिकों का और लिंगमशिष्य इस वार्तिक का कर्ता एक ही है जो भाष्यकार के पठिष्यति और पुनः पठिष्यति शब्द से स्पष्ट है। अतः इस वार्तिक की सत्ता किसी सूत्र पर अवश्य रही होगी। अस्तु वार्तिककार के लिंग के विषय में जितने मौलिक विचार हैं उनमें लिंग अशिष्य वाला वचन ये बहुत महत्त्वपूर्ण है। वार्तिककार ने यह अनुभव किया होगा कि किसी शास्त्रीय नियम से लिंग व्यवस्था

का निर्वाह कठिन है। शास्त्रीय नियम एक बार बनाए जा सकते हैं किन्तु भाषा के विकास मे लिंग व्यत्यय बराबर देखे जाते हैं। पुन व्याकरण लोक का अनुयायी है। अत लिंग व्यवस्था मे भी लोक ही प्रमाण है। शास्त्रीय उपदेश के बिना भी लोक व्यवहार मे लिंग परिचय सुलभ है। लोक म लिंग-व्यवहार स्तन आदि चिह्नो पर निभर नही है। लिंग के स्वरूप पर भी लोक ही प्रमाण है। अत वार्तिककार के मत से लिंग अशिष्य है। भाष्यकार न भी अनेक बार कात्यायन के इस मत को दुहराया है और इसी आधार पर पाणिनि के सनपुसकम २।४।१७ सूत्र का प्रत्याख्यान किया है (इद तर्हि प्रयोजन स नपुसकमिति वक्ष्यामीति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। लिंगमशिष्य लोकाश्रयत्वा ल्लिंगस्य महाभाष्य २।१।१२)। भाष्यकार ने वार्तिककार के भी कइ वार्तिको का प्रत्याख्यान उपयुक्त वार्तिक के आधार पर किया है जसे सर्वलिंगताच २।१।३६ वा० ५ का प्रत्याख्यान लिंग अशिष्य के सिद्धान्त पर किया है। आचाय पाणिनि भी अशिष्य सिद्धान्त के ही समथक है। उन्होंने स्वय पूर्वाचार्यों के सूत्र लुपि युक्तवद व्यक्तिवचन १।२।५१ विशेषणाना चाजाते १।२।५२ आदि का तदशिष्य सज्ञाप्रमाणत्वात १।२।५३ के द्वारा प्रत्याख्यान किया है। उनका लिंगप्रकरण परम्परा पालनमात्र है (एव च लिंगप्रकरण जात्याख्यायामित्यादि सख्याप्रकरण च पूर्वाचार्यानुरोधेन कृतम इति ध्वनित सूत्रकृता नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।५३)। श्लोकवार्तिककार का तस्योक्तौ लोकतो नाम (४।१।३) वक्तव्य भी लोक पक्ष का ही समथक है। इस मित जो लोग सस्त्यान आदि लक्षणो को अलौकिक कहते हैं वे भ्रम म हैं—

> यद्यपि अविचारितरमणीय लिंगमाश्रित्य वक्तार शब्दानुच्चारयन्ति, श्रोतारश्च प्रतिपद्यन्त तथापि वस्तुतत्त्वनिर्णयो भाष्यकारेण कृत इति यदन्यरन्वध्यायि सस्त्यानादिलक्षणमलौकिक लिंगम इति तदपाकृत भवति।
>
> —कयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।३

हेलाराज न वार्तिककार को भी गुणवादी माना है। उन्होने अपन ग्रन्थ वार्तिकोन्मेष म इसका विवरण दिया है पर यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध न हो सका है। अत हेलाराज के कथन की ठीक समीक्षा सम्भव नही है परन्तु प्रकीर्णकप्रकाश मे इस पक्ष म उनके तक सचर है। उनके अनुसार लिंगमशिष्य वाला मत प्रत्याख्यात है और इसलिए गुणावस्था वाला मत ही वार्तिककार का होगा—

> तदिदमनेनकार्थे शब्दा यत्वादिना लिंगमशिष्यमिति च प्रत्याख्यानेन शब्द शक्तिभेदोपवणनतात्पयरूपेण गुणावस्था सवत्र सम्भविनी लिंगमिति सूचित भवति। वाक्यकारस्यापीदमेव दर्शनमिति वार्तिकोन्मेषे कथितमस्माभि।
>
> —वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २६ टीका

किन्तु हेलाराज ने स्पष्ट नही किया है कि लिंगमशिष्य वाला मत कहा किस रूप म प्रत्याख्यात है। महाभाष्य म इसका प्रत्याख्यान नही मिलता।

लिंग के विषय म वार्तिककार का वार्तिक एकार्थे शब्दान्यत्वाद दृष्ट लिंगान्यत्वम्' ४।१।९२ ६ भी महत्त्वपूर्ण है। लोक म एक ही वस्तु के लिए भिन्न भिन्न शब्द प्रयुक्त होते हैं। यह शब्द भिन्नता लिंग भिन्नता का एक आधार मानी जा सकती है। एक वस्तु के लिये पुष्य तारका तथा नक्षत्र शब्द का व्यवहार होता है।

पुष्य शब्द पुल्लिंग तारका स्त्रीलिंग और नक्षत्र नपुंसक लिंग है। मठ, कुटी, गृह आदि भी एक ही वस्तु के लिए विभिन्न लिंगी शब्द हैं। कयट इस वार्तिक की व्याख्या या करते है—प्रत्येक पदार्थ सर्वलिंग वाला है। उसका भाव किसी शब्द से ज्ञान कराया जाता है किसी विशेष लिंग के साथ ही उसका भान होता है।

अवयवात्स्वार्थाच्च ४।१।६२ ७ वार्तिक भी लिंगभेद का निर्देशक है। केवल शब्द के भेद से ही लिंगभेद नहीं होता अवयव के उपजन आदि से भी लिंगभेद देखा जाता है। कुटी और कुटीर शमी और शमीर शुण्डा और शुण्डार जैसे शब्दों में स्वार्थिक प्रत्यय के होने पर भी अवयव में भेद आ जाने के कारण लिंगभेद एक ही शब्द में देखा जाता है।

अर्थभेद से भी एक ही शब्द में लिंगभेद अवगत होता है। जिस तरह स्वरभेद से एक ही शब्द विषयान्तर में साधु माना जाता है वैसे ही लिंगभेद से भी एक ही शब्द विभिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। अक्ष शब्द देवनाक्ष और शकटाक्ष दोनों का बोधक है किन्तु जब अन्तोदात्त होता है तब देवनाक्ष का बोधक होता है आदि उदात्त की अवस्था में शकटाक्ष का प्रत्यायक होता है। अर्ध शब्द समप्रविभाग अर्थ में नपुंसकलिंग है एकदेशमात्र के अर्थ में पुल्लिंग है। सार शब्द न्याय से युक्त अर्थ में नपुंसक है (नतस्सारम्) उत्कर्ष अर्थ में पुल्लिंग है (चन्दसार)।

कुछ लोग मानते हैं कि एकार्थ शब्द के भेद से लिंगभेद में भी कोई न कोई विशेष बात रहती है। कुटी और कुटीर में केवल लिंगभेद ही नहीं है, कुछ अर्थभेद भी है। कुटीर छोटी कुटी को कहते हैं। अरण्य और अरण्यानी में भी यही भेद है। इसलिये अरण्यानी में स्त्रीत्व अरण्य के एक विशेष अर्थ एक विशेष गुण का बोधक हो जाता है। इस तरह सर्वत्र ही कुछ न कुछ गुणवैशिष्ट्य के कारण एकार्थक शब्दों में लिंगभेद की व्यवस्था करनी चाहिये। शब्द की नियतलिंगता भी किसी विशेष कारण से ही लोक में देखी जाती है। तक्षक (बढ़ई) तक्षण छेदन आदि अनेक क्रियायें करता है। उनमें से एक तक्षण क्रिया के आधार पर उसे तक्षक कहते है। कुम्भकार कुम्भ के अतिरिक्त शराव आदि भी बनाता है किन्तु कुम्भ क्रिया के कारण उसे कुम्भकार कहते हैं। इसी तरह शब्द भी स्वभावतः अथवा अभिधानवैचित्र्य के कारण किसी विशेष लिंग से अभिहित किये जाते है। इस अभिधानवैचित्र्य को भर्तृहरि ने उपादान कहा है और उसके आधार पर भी लिंग के निम्नलिखित सात भेद किये है

१—कुछ शब्द केवल पुल्लिंग हैं जैसे वृक्ष आदि।

२—कुछ शब्द केवल स्त्रीलिंग हैं जैसे खट्वा आदि।

३—कुछ शब्द नपुंसकलिंग में ही नियत हैं जैसे दधि आदि।

४—कुछ शब्द पुल्लिंग और नपुंसक लिंग वाले हैं जैसे, शंख शंखम् पद्म, पद्मम्।

५—कतिपय शब्द स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में नियत हैं जैसे, भागधेयी, भागधेयम्।

६—कुछ शब्द स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में साधारण हैं जैसे वटा वट आदि।

७—अनेक शब्द तीनों लिंगों में व्यवहृत होते हैं, जैसे, तट, तटी, तटम आदि।

उपादानविकल्पाश्च लिंगानां सप्त वर्णिताः ।
विकल्पसन्नियोगाभ्यां ये शब्देषु व्यवस्थिताः ॥

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ३

सब लिंग सब वस्तु में है। किसी शब्द से संकेतित वस्तु किसी विशेष लिंग का वाचक है और इस तरह नियत लिंग की व्यवस्था संस्कृत के वैयाकरणों ने की है

अत्र सर्वेषां लिंगानां सर्वत्र भावात् केनचिच्छब्देन प्रत्याय्यमानं वस्तु कस्यचिल्लिंगस्य व्यंजकमिति दाराादिषु नियतलिंगता सिद्धा।—कयट, महाभाष्यप्रदीप १।२।५३

काशिकाकार ने लिंग की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार लिंग एक तरह से सामान्यविशेष है। सामान्यविशेष शब्द का ठीक अर्थ आज ज्ञात नहीं है। काशिकाकार ने केवल इतना कहा है कि स्त्रीत्व आदि सामान्यविशेष हैं, गोत्व आदि की तरह बहुप्रकार व्यक्ति हैं

केयं स्त्री नाम। सामान्यविशेषाः स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव बहुप्रकारा व्यक्तयः। क्वचिदाश्रयविशेषाभावाद् उपदेशव्यङ्ग्या एव भवन्ति, यथा ब्राह्मणत्वादयः।

—काशिकावृत्ति ४।१।३

जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार सामान्यविशेष का अर्थ है जो सामान्य भी हो और विशेष भी हो। तुल्यजातीय पदार्थों में साधारण होने के कारण सामान्य है। परस्पर तथा विजातीय में भी भेदक होने के कारण विशेष है। यदि इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाय तो गोत्व इसके समीप है। गोत्व सामान्य भी है। क्योंकि विभिन्न गो व्यक्ति में अनुगताकारबुद्धि के आधार पर अभिन्न व्यवहार का हेतु होता है। गोत्व विशेष भी है। क्योंकि अश्वत्व आदि से विशेष की अभिव्यक्ति करता है। इसी तरह से स्त्रीत्व आदि भी सामान्यविशेष हैं। वे तुल्यजातीय सब में रहते हैं और विजातीय से व्यावर्तक हैं। हरदत्त ने सामान्यविशेष शब्द के दो अभिप्राय दिये हैं। एक तो यह अर्थ सम्भव है कि कुछ सामान्य हो और कुछ विशेष। दूसरा यह कि सत्ता के अतिरिक्त अन्य जितने अर्थों में सामान्य शब्द का व्यवहार किया जाता है उन सब के लिए सामान्यविशेष शब्द रूढ़ है

सामान्यविशेषा इति। कानिचित् सामान्यानीत्यर्थः। यद्वा सत्ताव्यतिरिक्तेषु सामान्यविशेषशब्दो रूढः तिस्रो वान्तरजातय इत्यर्थः।

—पदमञ्जरी ४।१।३ पृष्ठ १६

और इस तरह से वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका से इसका अर्थ जोड़ दिया है—

तिस्रो जातय एवैताः केषांचित् समवस्थिताः ।
अविरुद्धा विरुद्धाभिः गोमहिष्यादिजातिभिः ॥

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ४

इस सामान्यविशेष के आश्रय के वचिन्त्य से लिंग में भी वचिन्त्य आ जाता है

कोई सामान्यविशेष किसी व्यंजक के आश्रय से अभिव्यक्त होता है। सब सब से अभिव्यक्त नहीं होते। क्योंकि पदार्थों की शक्ति नियतविषय वाली होती है। इसलिये जिस अर्थ (वस्तु) से स्त्रीत्व व्यक्त होता है, पुंस्त्व अथवा नपुंसकत्व व्यक्त नहीं होता, वह स्त्री है। इस तरह से जिससे पुंस्त्व की अभिव्यक्ति हो वह पुरुष और नपुंसकत्व की अभिव्यक्ति हो वह नपुंसक है। चेतन पदार्थों में उनके व्यंजक यौन चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था हो जायगी। अचेतन पदार्थों में लिंग-व्यवस्था उपदेश के आधार पर उपदेशगम्य के रूप में मान ली जायगी। इसी तरह आशा, आकाश जैसे निराश्रय शब्दों में भी लिंग उपदेशगम्य है। जैसे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि उपदेश गम्य हैं प्रत्यक्ष नहीं हैं उसी तरह स्त्रीत्व आदि भी विशेष स्थानों में उपदेश गम्य हैं।[1] कोई शब्द एक ही लिंग में शक्त है, कोई दो में और कोई तीन में। दो या तीन के व्यंजकत्व के आधार पर द्विलिंग या त्रिलिंग शब्दों की व्यवस्था सम्भव है।

भट्टोजि दीक्षित ने लौकिक लिंग और पारिभाषिक लिंग को जोड़कर लौकिक लिंगविशिष्ट शास्त्रीयलिंग की भी कल्पना की है—

> कुमारब्राह्मणादिशब्दास्तु लौकिकपुंस्त्वविशिष्टे शास्त्रीयेपुंस्त्वे शक्ताः लौकिकस्त्रीत्वविशिष्टे च शास्त्रीयस्त्रीत्वे। अन्यथा यथा कुमारी कुमार इत्यादय प्रयोगा न प्रवर्तिष्येरन्।
>
> —शब्दकौस्तुभ १।२।६४, पृ० ४५

लिंग शब्दनिष्ठ है अथवा अर्थनिष्ठ है? इस प्रश्न पर वैयाकरणों में मतभेद रहा है। दोनों तरह के विचार मिलते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि लिंग शब्दनिष्ठ है, पुंलिंग शब्द जैसे वक्तव्य शब्दनिष्ठ लिंग के पोषक हैं। स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३ में पाणिनि ने शब्द को ही नपुंसक कहा है। इसके विरुद्ध कुछ आचार्य लिंग को अर्थनिष्ठ मानते हैं।

उगितश्च स्थानान्तरपूर्वायाः ७।।४६ सूत्र में पाणिनि ने अर्थधर्म स्त्रीत्व का शब्द में आरोप माना है—स्त्रीलिंगनिर्देशस्तु तस्य समुदायस्यार्थधर्मेण स्त्रीत्वेन विवक्षितत्वात्, न्यास ७।३।४६, पृ० ७६८। कैयट के अनुसार भी इस सूत्र में पाणिनि ने अर्थगत स्त्रीत्व का शब्द में आरोप किया है—अर्थगत स्त्रीत्व शब्दे समारोप्य निर्देश कृतः। कैयट प्रदीप ७।३।४६।

महाभाष्यकार ने कहा है—न हि नपुंसकं नाम शब्दोऽस्ति (महाभाष्य ७।१।२३)। कैयट ने अर्थधर्मत्वाल्लिंगस्य (७।१।२३) कह कर अर्थनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है। नागेश ने भी, अर्थधर्मस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोप' कह कर तथा शब्दनिष्ठमेव लिंग

---

[1] इसे बोपदेव ने पाणिनीयमतदर्पण में यों श्लोकबद्ध किया है—

> जातेरस्यास्तथा साहचर्यात् व्यंजकाभिधान
> उपदेशेकदेशस्य शक्तिर्यथा ब्राह्मणजातिः।
> आश्रयस्यानिन्द्रियत्वात् तथा स्त्रीत्वादिकं क्वचित्
> उपदेशस्य चक्षमद्यान् लिंगानां गगन यथा॥
>
> —अभिनवप्रसाद में उद्धृत प्रथम भाग पृ० ३११

मिति मव्योक्त परास्तम (महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।३) कहकर स्पष्टरूप से लिंग की अर्थनिष्ठता का समर्थन किया है।

नागेश का यहां न्याय से संकेत कौण्डभट्ट की ओर है। कौण्डभट्ट ने शब्दनिष्ठ पक्ष का समर्थन किया था। उनके अनुसार भाष्यकार के मत में भी लिंग शब्दनिष्ठ है। क्योंकि वे पुल्लिंग शब्द जैसे व्यवहार करते हैं। पुल्लिंग का अर्थ पुल्लिंगवाचक करना भी उपयुक्त नहीं है। अन्यथा घट शब्द जैसे प्रयोग हो सकते हैं। उपचार अथवा आरोप के आधार पर पुल्लिंग शब्द जैसे प्रयोग को सिद्ध करने में निमित्त आदि की कल्पना करनी होगी। लिंग को अर्थनिष्ठ मानने में तट, तटी तटम आत्मा ब्रह्म जैसे प्रयोगों की उपपत्ति नहीं बैठ पाती है। छागी का भी यज्ञ में प्रयोग होने लगेगा—

> वस्तुतस्तु भाष्यमते लिंगशब्दनिष्ठमेव। पुल्लिंग शब्द इति व्यवहारात पुल्लिंग वाचकत्वासंभवेति चेत्तर्हि घट शब्दे इत्यपि स्यात आरोपे निमित्तानुसरणमि त्यादेरतिगौरवात। अर्थनिष्ठत्वे तटस्तटी तटमित्यादेरात्मा ब्रह्म त्यादेरनुप पत्तेश्चेत्तरवाच्च। छाग्या यागप्रसंगाच्च।
>
> —कौण्डभट्ट, वैयाकरणभूषण, पृ० १२३

नागेश ने मंजूषा में कौण्डभट्ट के उपर्युक्त मत की समीक्षा विस्तार से की है और अर्थनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है—

> एतदवस्थात्रयस्य पदार्थमात्र सत्त्वाद इद केवला वयि। इयं व्यक्ति इदं वस्तु अयं पदार्थ इत्यादि व्यवहाराणां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रसरत्वात। अर्थनिष्ठं च तत। तथा च भाष्यम—एकार्थे शब्दान्यत्वाद दृष्टं लिंगान्यत्वम अवयवान्यत्वाच्चेति। पुष्य तारका नक्षत्रमिति शब्दनानात्वदर्शनात स्तनकेशादितिरिक्तमेव लिंगम अर्थनिष्ठम। कुटी कुटीर इत्यादौ रेफस्यावयवस्योपजने लिंगभेददर्शनाच्चेत्यर्थ इति कैयट। अत एवोपक्रमभाष्ये रूपरसस्पर्शशब्दानां स्त्यानप्रसवौ लिंग मित्युक्तम। न हि रूपादयः शब्दगता। पुल्लिंग शब्द इति तु वाच्यवाचकयोर भेदोपचाराद बोध्यम। अर्थ आश्रयजन्त वा तत। आत्मनि सत्त्वरजस्तमस्त्वेन परम्परया तत्रापि स्त्यानादिसत्त्वाद आत्मा ब्रह्मेति व्यवहारोपपत्ति।
> पशुना यजेतेत्यादौ पुस्त्वस्य विवक्षितत्वात न स्त्रिया याग इति मीमांसका।
>
> —नागेश, मंजूषा पृ० ११४२ ४६

किन्तु भाषा की दृष्टि से हेलाराज का शब्दाश्रित लिंग योग अधिक उपयुक्त जान पड़ता है (वैयाकरण हि ■ वस्तुधर्मो लिंगमिष्यते, अपितु शब्दधर्म लिंगयोग,
हेलाराज, वाक्यपदीय ३ लिंगसमुद्देश ३९८)।

जयादित्य के अनुसार लिंग शब्दाश्रित होने पर भी अर्थभेद के आधार पर निर्भर देखा जाता है—

> शब्दरूपाश्रया चेयं द्विलिंगता क्वचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते—काशिका २।४।३१। उनके अनुसार पद्म और शंख शब्द निधि के अर्थ में पुल्लिंग हैं जलज के अर्थ में उभयलिंग हैं। भूत शब्द पिशाच के अर्थ में उभयलिंग है किन्तु क्रिया शब्द के रूप

में इसका लिंग अभिधेय के अनुसार होता है जैसे भूत काष्ठम्, भूता शाला, भूतः घटः। सैन्धव शब्द लवण के अर्थ में उभयलिंग है, यौगिक शब्द के रूप में इसका लिंग अभिधेय के आधार पर होता है जैसे सैन्धवः मत्स्यः, सैन्धवं जलम्, सैन्धवी शफरी। सार शब्द उत्कर्ष के अर्थ में पुंलिंग है, जैसे धनसारः। किन्तु अनुपयुक्त अर्थ में नपुंसक लिंग है, जैसे एतत्सारम्।

> सारशब्द उत्कर्षे पुंल्लिंगः न्याय्यादनपेते नपुंसकम् एतत् सारमिति—
>
> काशिका २।४।३१[1]

अभयनन्दी ने भी शब्दनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है—

> शब्दजनितप्रत्ययधर्मा स्त्रीत्वादय इहाभिप्रेता न वस्तुधर्मा। अन्याप्तेः। शब्दो हि श्रोत्रपथं गतः लिंगसंख्याविशिष्टं स्वप्रत्ययं जनयति। स प्रत्ययः खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु सम्भवति।—जैनेन्द्रमहावृत्ति ३।१।३ पृ० १५०
>
> ज्ञानपीठ संस्करण

पाणिनि के स्त्रियाम् ४।१।३ सूत्र पर विचार करते हुए कात्यायन ने लिंग के प्रत्ययार्थपक्ष, प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष और समानाधिकरणपक्ष पर भी विचार किया है। जिस तरह शुक्ल आदि गुणशब्द गुण और गुणी दोनों के लिए व्यवहृत होते हैं जैसे शुक्लः पटः, पटस्य शुक्लः, उसी तरह स्त्रीशब्द भी गुण और गुण के आश्रय दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। जब स्त्री शब्द से गुणमात्र स्त्रीत्व व्यक्त किया जाता है, द्रव्यवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व वाच्य अर्थ में टाप् आदि प्रत्यय होते हैं। इस रूप में यह प्रत्ययार्थपक्ष है। जब स्त्रीत्वयुक्त द्रव्य स्त्री शब्द से कहा जाता है, स्त्रीत्वयुक्त द्रव्यवाची प्रातिपदिक से टाप् आदि प्रत्यय होते हैं—यह प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष है। स्त्रीत्वयुक्त द्रव्य स्त्री शब्द से व्यक्त किया जाता है, स्त्रीत्व उपसर्जनद्रव्यवाची प्रातिपदिक से टाप् आदि होते हैं—यह स्त्रीसमानाधिकरणपक्ष है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भी प्रत्ययार्थपक्ष की कल्पना की जाती है। दरद् आदि शब्दों में प्रत्यय के प्रयोग न होने के बिना भी स्त्री अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, इस आधार पर भी प्रकृत्यर्थपक्ष की सम्भावना की जाती है।

> स्त्री समानाधिकरण पक्ष का खण्डन कर वार्तिककार ने लिखा—
>
> स्त्रीसमानाधिकरणादिति चेद् भूतादिष्वतिप्रसंगः।—४।१।३।२
>
> षट्संज्ञकेभ्यश्च प्रतिषेधः।—४।१।३।४

इसका अभिप्राय यह है कि जिस तरह से कुमारी स्त्री में स्त्री शब्द से प्रतिपादित अर्थ में कुमार शब्द है और इस दृष्टि से स्त्रीप्रत्यय का विधान इस पक्ष में होता है, उसी तरह भूतमिय ब्राह्मणी आदि में ब्राह्मणी शब्द से उपादित स्त्री के अर्थ में वर्तमान भूत आदि शब्द से टाप् प्रत्यय होने लगेगा। इसी तरह पञ्च पट् आदि संज्ञक शब्दों में भी शब्दों से स्त्रीप्रत्यय के प्रसंग में न षट्स्वस्रादिभ्यः (४।१।१०)

[1] [illegible] है—दत्त [illegible] संस्कृत पुंल्लिंग [illegible] [illegible]

से प्रतिषेध कहना पड़ेगा। प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में ये दोष नहीं हो सकते। क्योंकि भूतमिय ब्राह्मणी में स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है अपितु पौनःय विवक्षित है। स्त्रीत्व के विवक्षित होने पर प्रत्यय होते ही है जैसे— भूता ब्राह्मणी'। यहाँ सत्यवादिनी अर्थ है अथवा चलवमी (अतीता) अर्थ है पौनःय नहीं। पंच षट् आदि से भी भेद वाचक गणनात्मक संख्या विवक्षित है स्त्रीत्व नहीं। इसलिए स्त्रीप्रत्यय की अप्राप्ति से प्रतिषेध प्रत्याख्यान है। इस रूप में प्रकृत्यर्थविशेषण पक्ष निर्दोष है। इसको सूचित करने के लिए वार्तिककार ने कहा

सिद्धं तु स्त्रियाः प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे टाबादयः (४।१।३ ५)

प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष की भी मीमांसा वार्तिककार ने की है—

स्त्रियामिति स्त्र्यर्थाभिधाने चेट्टाबादयो द्विवचनबहुवचनानेकप्रत्ययान् पपत्ति (४।१।३ १)

स्त्र्यर्थस्य च प्रातिपदिकार्थत्वात् स्त्रियामिति लिंगानुपपत्ति (४।१।३ २)

वार्तिककार का अभिप्राय यह है कि प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में प्रकृत्यर्थात्मक स्त्रीत्व का प्रत्यय से ही अभिधान हो जायगा। स्त्रीत्व प्रधान हो जायगा। स्त्रीत्व के एक होने से कुमारी शब्द में एक वचन तो होगा परन्तु द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। यद्यपि शब्द रूप आदि गुणों के अवस्थाविशेष लिंग है। अवस्था अवस्थावान् से अभिन्न है। घट में शब्द रूप आदि अनेक का संनिवेश है फिर भी शब्द आदि के बहुत्व होने पर भी संनिवेश के अभेद की विवक्षा होने पर घट एक वचन में प्रयुक्त होता है। इसी तरह से अवस्थाविशेष लिंग भी संस्थान आदि के रूप में एक है। संस्थान की विवक्षा में एक वचन ही होगा द्विवचन और बहुवचन नहीं। स्त्रीत्व के एक होने से अनेक प्रत्यय भी प्राप्त न हो सकेंगे। गार्ग्यायणी कारीषगन्ध्या आदि में दो दो स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय हैं। गार्ग्यायणी में ष्फ और ङीप् दो स्त्री प्रत्यय हैं। अब ष्फ में स्त्रीत्व के उक्त हो जाने पर टाप् अनुपयुक्त हो जायगा। इसी तरह संस्थानवाची डट् प्रत्ययान्त स्त्री शब्द में ङीप् नहीं होगा क्योंकि स्त्रीत्व स्त्री में ही उक्त हो जाता है।

वार्तिककार ने इन आक्षेपों का स्वयं समाधान भी किया है—

गुणवचनस्य चाश्रयतो लिंगवचनभावात् (४।१।३ ६)

भावस्य च भावयुक्तत्वात् (४।१।३ ७)

तात्पर्य यह है कि गुणवचन शब्द से आश्रय के आधार पर लिंग और वचन होते हैं। कुमारी शब्द से द्रव्य का ही अभिधान होता है इसीलिए द्रव्यगत संख्या के आधार पर द्विवचन और बहुवचन हो जायगे। यद्यपि प्रक्रियादशा में स्त्रीत्व को प्रत्ययार्थ मानते है फिर भी शब्दशक्ति के स्वभाव से गुणप्रधानभाव में विपर्यय भी देखा जाता है। इसलिए स्त्रीत्व अप्रधान हो जाता है और द्रव्य प्रधान। सर्वत्र प्रत्ययार्थ प्रधान नहीं होता। शब्दशक्ति के आधार पर अप्रधान भी प्रधान होता रहता है। अतः आश्रय की प्रधानता मानकर वचन-व्यवस्था सम्भव है। अथवा गुण और गुणी में अभेद की विवक्षा में कुमारी शब्द से द्रव्य का ही अभिधान होता है। अथवा संस्थान आदि धर्म द्रव्य से अपृथग्निरूपित रूप में ही प्रतिभासित होते हैं। स्वभावतः प्रत्य-

से द्वारा द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का बोध नहीं होता। इस तरह सामानाधिकरण्यता पक्ष के तीन प्रकार यहाँ प्रदर्शित हैं—

१ स्त्रीत्व का समानाधिकरण्य द्रव्य का आधार।
२ अभेदोपचार।
३ द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का प्रत्यायन।

गार्ग्यायणी आदि में होता स्त्रीप्रत्यय से स्त्रीत्व की अभिव्यक्ति मान ली जायगी। पाणिनि ने एक में द्विरुक्त डीप ही किया है। अनेक से भी एक की अभिव्यक्ति होती है जैसे घन अन्धकार में अनेक दीप से एक घट की अभिव्यक्ति। अवश्य ही इस दृष्टान्त के साथ साम्य लाने के लिए इस पक्ष में प्रत्यय को द्योतक मानना पड़ेगा। वार्तिककार ने दूसरे ढंग से समाधान किया है जो सूक्ष्म है और दार्शनिक महत्त्व रखता है। उनके अनुसार स्त्रीत्व का स्त्रीत्व के साथ योग स्वाभाविक है। (भावस्य च भावयुक्तत्वात्। ४।१।३ ७) भाव का भाव से, वस्तु का वस्तु से, क्रिया का क्रिया से योग स्वाभाविक है। स्त्री में भी द्रव्य रूप है। अतः अपर स्त्री के साथ उसका योग प्रसिद्ध है।

कुछ लोग मानते हैं कि प्रातिपदिक से स्त्रीत्व का अभिधान होता है और प्रत्यय से धर्मरूप का। जैसे रम आदि विभक्ति प्रातिपदिक का प्रत्यायक है और प्रातिपदिक वस्तुभूत का। और इस तरह अभिधानभेद से स्त्रीत्व का स्त्रीत्व से योग कहा जाता है। वार्तिककार ने स्त्रीत्व को प्रत्ययार्थ और प्रकृत्यर्थविशेषण दोनों रूप में स्वीकार किया है स्त्रीत्वं च प्रत्ययार्थ प्रकृत्यर्थविशेषणं चेत्युभयत्रापि प्रयुज्यते।

—वार्तिकावृत्ति ४।१।३

भाष्यकार ने लिंग को सत्त्व (द्रव्य) का गुण माना है स्त्रीपुंनपुंसकानि सत्त्वगुणाः—महाभाष्य १।१।३८ १।२।६४)। यह एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है। कैयट नागेश आदि इस वक्तव्य पर मौन हैं। सम्भवतः उनके भाष्य आधारित गुण लिंग दर्शन की पुष्टि इस उक्ति से नहीं होती। भाष्यकार के अनुसार गुणवचन शब्द अपने आधार के अनुसार लिंग और वचन ग्रहण करते हैं। फलतः शुक्ल वस्त्र शुक्ला शाटी शुक्लं कम्बलं आदि प्रयोग उपपन्न होते हैं। इसी तरह स्त्रीत्व आदि भी अपने आश्रित द्रव्य के लिंग को ग्रहण कर सकते हैं। इस आधार पर लिंग में भी लिंगयोग सम्भव है। स्त्रीत्व तीनों लिंगों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जैसे स्त्रीभाव (पुल्लिंग) स्त्रीता (स्त्रीलिंग) और स्त्रीत्व (नपुंसकलिंग)।

एक ही वस्तु के लिये विभिन्न लिंगों के व्यवहार पर वार्तिककार के मत का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पतंजलि ने एक दूसरा मौलिक सुझाव दिया है। पाणिनि के पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ सूत्र के विवेचन के प्रसंग में भाष्यकार ने कहा है कि पुरुष के लिंग के लिये स्त्रीलिंग का और स्त्री के लिये पुल्लिंग का प्रयोग सम्भव है। और इसका कारण यह है कि पुरुष में स्त्रीत्व के कुछ लक्षण मिल सकते हैं। और स्त्री में भी पुरुष के कुछ लक्षण मिल सकते हैं। लक्षण न भी मिलें तब भी एक के धर्म का दूसरे पर आरोप या अध्यास अथवा परस्पर तादात्म्य सम्भव है। तात्स्थ्य,

तान्धम्य, सामीप्य और साहचय के आधार पर जिसमे जो धम नही है उसम भी उस धम का आरोप देखा जाता है। इस दृष्टि से दारा (पुंल्लिग), स्त्री (स्त्रीलिंग) और कलत्रम (नपुसकलिंग) शब्द स्त्री के क्रमश पुस्त्व स्त्रीत्व और नपुसकत्व स्वरूप के द्योतक है। दारा शब्द विनाशक पुरुष अथ को व्यक्त करता है जो पुरुष के लक्षण से मल खाता है। (दारयतीति दारा । अथवा दीयते तैर्दारा, महाभाष्य भाग २ पृ० १४७ किलहान सस्करण) । कलत्र शब्द स्त्री के अनिर्ज्ञात अथवा रहस्य स्वरूप का द्योतक है और इसलिय नपुसकलिंग से व्यक्त किया जाता है। वे वस्तुए जिनके गुण पूणतया ज्ञात न हो अथवा सदिग्ध हो नपुसकलिंग द्वारा व्यक्त की जाती हैं। (अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसदेहे च नपुसकलिंग प्रयुज्यते—महाभाष्य १।२।६७ भाग १ पृष्ठ २५०) तात्पय यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू हैं लिंग उनके विभिन्न स्वरूपो के प्रत्यायक हैं। इस बात को हलाराज ने यो स्पष्ट किया है—

> शब्देभ्यो वस्त्वर्थो एकस्वभावा अपि विस्तार भजन्ते, तेभ्यो नानारूपाणा प्रकाशनात । तथा च दारशब्द स्त्रिय पुस्त्वविशेषणामाचष्टे, भार्याशब्द स्त्रित्वविशिष्टाम ।
>
> —वाक्यपदीय वत्तिसमुद्देश १६७ ।

जातिपदाथदशन और द्रव्यपदाथदशन के आधार पर भी लिंग पर विचार किया जाता है। जातिपदाथपक्ष म शब्द से आकृति का अभिधान होता है। आकृति सदा आविष्टलिंगा होती है। जाति के आविष्टलिंग मानने का तात्पय यह है कि जाति नियतलिंगवाली होती है। जाति की आविष्टलिंगता न्यविनेय सापेक्ष है। सवत्र तीनो लिंगो की सत्ता होन पर भी किसी विशेष शब्द स किसी विशेष लिंग की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि न जाति पदाथ को सामने रखत हुए ग्राम्यपशुसघेष्वतरुणेषु स्त्री १।२।७३ सूत्र का निर्माण किया था। लोक म गाव इमा अजा इमा जस प्रयोग देखे जात थ। ऐसे प्रयोगो की साधुता के लिए पाणिनि ने उपयुक्त सूत्र लिखा था। गाव इमा' इस वाक्य म गो शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग म किया गया है। यद्यपि संस्कृत में गो शब्द पुंल्लिग है किन्तु प्राचीनकाल मे ही इसका प्रयोग स्त्रीलिंग म भी होता आया है। अति प्राचीन काल म स्त्रीगवी और पुगव जसे शब्द गो शब्द के असन्दिग्ध अथ जताने के लिए चल पडे थे। केवल गो शब्द मे भ्रम की सम्भावना रहती थी। इसलिए गो शब्द स यदि गाय अथ अपेक्षित रहता था तो उसम स्त्री शब्द जोड कर स्त्रीगवी शब्द का व्यवहार किया जाता था जसे आज अग्रेजी म बकरी के लिए शी-गोट शब्द का व्यवहार किया जाता है। अथवा अयम या इयम सवनाम शब्द क साथ जोडकर बल या गाय का बोध कराया जाता था जसे गौ अय य शरद वहति गौ इय या समा समा विजायते (महाभाष्य ५। ।५४) ।

कि तु कालान्तर म गो शब्द गाय के लिए अधिक प्रयुक्त होन लगा। जैसा कि गाव इमा (महाभाष्य १।२।७)के प्रयोग स ज्ञात पडता है। नागेश ने इस स्पष्ट करत हुए लिखा है कि गो शब्द का स्त्रीलिंग म व्यवहार भाष्यप्रयोग के आधार पर और लोक व्यवहार के आधार पर समझना चाहिए—

माध्यात लोकाच्च गोगब्द व्यवहार प्रायेण स्त्रीगवीष्वेवेति द्रष्टव्यम

—नागेश महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।७३

गाव इमा इस वाक्य का अभिप्राय है गाय जाति का झुण्ड। यद्यपि उस झुण्ड में बैल भी रहते थे किन्तु उन्हें मिला उस पूरे झुण्ड को गाव इमा गायों का झुण्ड कहा जाता था। पाणिनि का तात्पर्य यह है कि ऐसे ग्राम्य पशुसघ में स्त्रीशेष होता है और पुंस्त्व की अविवक्षा होती है। इसलिए गाव इमा वाक्य से गाय बैल दोनों के झुण्ड अभिप्रेत हैं किन्तु गाव में केवल स्त्रीत्व निर्देश है। इसी तरह अजा और अश्व दोनों के झुण्ड में होने पर भी अजा इमा य अश्वा ऐसा ही प्रयोग होता था। किन्तु जंगली पशुओं के झुण्ड के लिए या बछड़ों के झुण्ड के लिए स्त्रीशेष का नियम लोक में प्रचलित नहीं था। जंगली सूअर और सूअरि दोनों के लिए सूकरा इम कहा जाता था। इसी तरह जिस झुण्ड में बाछा और बछिया दोनों होते थे उनके लिए वत्सा इम इस वाक्य का प्रयोग होता था। तात्पर्य यह है कि प्रयोग के नियत होने पर जाति कभी आश्रयलिङ्ग द्वारा स्त्रीत्व से और कभी पुंस्त्व से व्यक्त होती है—

अनेन प्रकरणेन प्रयोगस्य नित्यत्वात जाति क्वचिदाश्रयगतलिङ्गेन स्त्रीत्वेन व्यपदिश्यते क्वचित पुंस्त्वेनेत्युक्तं भवति।

—कैयट—प्रदीपोद्योत १।२।७३

महाभाष्यकार ने पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। उनका कथन है कि जब गाव इमा चरन्ति कहा जाता है तब प्राय गायों के चरने का ही निर्देश किया जाता है। बैल रहते ही कहाँ हैं। उन्हें बधिया बनाकर उनसे भार ढोने का काम लिया जाता है अथवा उन्हें बेच देते हैं। केवल गायें ही बच रहती हैं—

गाव उत्कलितपुंस्का वाहाय च विक्रयाय च स्त्रिय एवावशिष्यन्ते।

—महाभाष्य १।२।७३

यद्यपि गायों के साथ एक दो वृषभ (बैल) भी सम्भव हैं फिर भी आधिक्य के आधार पर स्त्रीत्वमय निर्देश वैसे ही सम्भव है जैसे कि किसी गाँव में अधिक पहलवानों के होने के कारण उसे मल्लग्राम कहा जाता है। जाति पदार्थ पक्ष के मानने पर सूत्र के प्रत्याख्यान करने पर गाव इमा जैसे स्थलों में लिङ्गनियम न व्यक्तिभेद के आश्रय पर अवस्थित माना जाता है। जाति सदा आश्रयगत लिङ्ग से संयुक्त रहती है। यथा पाण्डु तरु इनमें आविष्ट वस्तु जाति सदा पुंस्त्व विशिष्ट ही होती है कभी भी स्त्रीत्व अथवा नपुंसकत्व विशिष्ट नहीं। इसी तरह पिपीलिका जाति स्त्रीत्व विशिष्ट ही होती है। पत्तनम में नपुंसकत्व विशिष्ट ही होती है। पशु अग्नि अथवा पत्रम शाय जैसे शब्द द्विलिङ्गी हैं तथा आदि त्रिलिङ्गी हैं। इन सबमें लिङ्ग नियत है कभी भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। इसी आधार पर जाति को आविष्ट लिङ्ग रूप में स्वीकार किया जाता है। किन्तु लोक में स्तन तथा आदि लिङ्ग व्यंजक धर्मों के होने हुए भी आविष्टलिङ्ग वाला नियम सर्वत्र सफल नहीं होता। दारा (पुंलिङ्ग) कलत्रम (नपुंसकलिङ्ग) में लिङ्गभेद है यद्यपि व्यंजन समान हैं। इसके परिहार के लिए भर्तृहरि ने प्रवृत्ति को ही लिङ्ग का सामान्य लक्षण माना है।

(वाक्यप्रदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२१)

द्रव्यपदार्थवाद की दृष्टि से विचार करने पर भी आविष्टलिङ्गता का नियम ज्यों का त्यों रहता है। अवश्य ही जाति आविष्टलिङ्गवाली होती है जबकि द्रव्य अनियतलिङ्ग वाला होता है। फिर भी दोनों पक्षों में इस रूप में साम्य है कि जाति की आविष्टलिङ्गता नियतजातिशब्दों द्वारा लिङ्गग्रहण अभावरूप में होता है। केवल एकलिङ्ग का परिग्रह आविष्टलिङ्गता नहीं है। व्याकरण में लिङ्ग का ग्रहण वस्तुधर्म के रूप में न होकर शब्दधर्म के लिङ्ग के रूप में होता है। द्रव्यपदार्थपक्ष में गुणावस्था लिङ्ग है। उपादानविकल्प के रूप में लिङ्ग के जो सात भेद पहले कहे जा चुके हैं वे ही इस पक्ष में आविष्टलिङ्गता है—

लिङ्गं प्रति न भेदोऽस्ति द्रव्यपक्षेऽपि कश्चन।
तस्मात् सप्तविकल्पा ये सर्वा नाविष्टलिङ्गता॥

—वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ३२८

जातिपदार्थपक्ष में शब्द का प्रधान रूप में वाच्य जाति है। द्रव्य उसके उपकारक होने के कारण गुणभूत रूप में प्रधान माना जाता है। द्रव्यपदार्थपक्ष में शब्द का अभिधेय द्रव्य है आकृति उसके अवच्छेदक होने के कारण गुणभूत होती है। जो शब्द जातिविशिष्ट द्रव्य के अभिधायक हैं उनमें लिङ्गयोग आश्रय के आधार पर होता है। जो शब्द केवल जातिवाचक हैं उनमें लिङ्गयोग अभेदोपचार के आधार पर या इस नियम के आधार पर हो जाता है। जाति निराश्रित नहीं रह सकती। अतः साहचर्य के कारण आश्रयगतलिङ्ग से वह संपृक्त हो जाती है। कुछ लोग केवल जाति अभिधायक शब्द को अन्य और केवल द्रव्य अभिधायक शब्द को अन्य मानते हैं। जातिपदार्थपक्ष में केवल शुद्ध जाति शब्द से वाच्य है द्रव्यपदार्थपक्ष में केवल शुद्ध द्रव्य शब्द से वाच्य है। दोनों पक्षों में अनभिधीयमान द्रव्य अथवा जाति में लिङ्गयोग आधार भेद की कल्पना से अथवा स्वगतलिङ्ग कल्पना से सिद्ध किया जाता है। हेलाराज के अनुसार पाणिनि का यही मत है—

केवलजात्यभिधायी शब्दोऽन्य एव। अन्यश्च केवलद्रव्याभिधायी। उभयत्रापि चानभिधीयमाना जातिं द्रव्यं वा यथायोगमाधारभेदप्रकल्पनेन स्वगतलिङ्गसंख्यादिधर्मप्रकल्पनेन चोपकरोतीति भगवतः पाणिनेराचार्यस्याय पक्षः।

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ८७

लिङ्ग के आधार पर शब्दों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। आविष्टलिङ्ग और अनाविष्टलिंग। जाति द्रव्य और परिमाणवाचक शब्द आविष्टलिंग हैं। जाति शब्द जिस लिंग के आश्रय में व्यक्त होते हैं कभी उसे नहीं छोड़ते—

आविष्टलिङ्गा जातिः यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्तते उत्पत्तिप्रभृत्याविनाशात् न तल्लिङ्गं जहाति।

—महाभाष्य १। २। ५२

आकृतिव्यंग्य और उपदेशव्यंग्य के रूप में जाति दो तरह की है। इनमें आकृति

व्यक्ति आविष्टलिङ्ग शब्द—गौ, मृग, पक्षी, सर्प, सिंह, वृक्ष, कुमारी, कुक्कुट स्त्री पुमान नपुंसक आदि हैं।

उपदेशव्यङ्ग्यजाति वाले आविष्टलिङ्ग शब्द—ब्राह्मण, गार्ग्य, कठ, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सूत पारशव आदि हैं। द्रव्य भी सापेक्ष और निरपेक्ष रूप से दो तरह का है। इनमें सापेक्ष द्रव्य आविष्टलिङ्ग शब्द—गुरु पिता पुत्र भ्राता, जामाता, मित्रम माता स्वसा दुहिता भार्या आदि हैं। अनपेक्ष द्रव्य आविष्टलिङ्ग शब्द—घन मन, इन्द्र चन्द्र सूर्य, काल आकाश, प्राची प्रतीची नदी लक्ष्मी आदि हैं। नियत और अनियत भेद से परिमाण भी दो तरह का होता है। इनमें नियत परिमाण आविष्टलिङ्ग शब्द—द्रोण खारी पलम भार, क्रोश, योजनम अक्षौहिणी, आदि हैं। अनियत परिमाण आविष्टलिंग शब्द—सघ, पूग, सार्थ, समाज वर्ग, श्रेणि कुटुम्बम परिषद पङ्क्ति यूथम वनम् सेना आदि हैं।

गुणवाचक सत्याभावक वचन और सर्वनाम—ये सब अनाविष्टलिंग हैं। इनमें श्वेत स्वादु शीघ्र मन्द दीर्घ, ह्रस्व युवा वृद्ध जैसे शब्द अनुरंजक अनाविष्टलिंग हैं। इनमें जिह्म जड प्राज्ञ खल साधु शूर भीरु लघु गुरु जैसे शब्द अनुरंजक अनाविष्टलिंग हैं। संख्या दो रूप में गृहीत होती है। लिंगवती और अलिंगा। इनमें लिंगवती—एक एका एकम द्वौ द्वे द्वे आदि हैं। पञ्च षड् अष्टौ आदि अलिंगा हैं। सर्वनाम के भीतर सर्वादिगण और असर्वादि दोनों लिए जाते हैं।

—भोज शृंगार प्रकाश, पृ० ७

सर्वनामों में युष्मद् (त्वम) अस्मद (अहम) के लिंग के विषय में संस्कृत वैयाकरणों में कुछ विवाद था। इसका उल्लेख कैयट ने किया है। वार्तिककार और महाभाष्यकार ने युष्मद् और अस्मद् शब्द को अलिंग माना है। अलिंगे युष्मदस्मदी—महाभाष्य ७।१। १। अभिधेय के अलिंग होने से ये शब्द अलिंग माने जाते हैं। शब्दशक्ति स्वभाव के आधार पर ऐसा माना जाता है। इन शब्दों से लिंग रहित रूप में ही अर्थ का भान होता है। शब्द शक्ति के सहारे ही शब्द अपने अर्थ का प्रत्यायक है। शब्द के सामर्थ्य का अवधारण लौकिक प्रयोग से होता है। लोक में युष्मद अस्मद् शब्द से लिंग का अवगमन नहीं होता। कुछ लोग मानते हैं कि युष्मद अस्मद शब्द का अभिधेय अर्थ रूप शब्द है वस्तु रूप नहीं। ब्राह्मण आदि शब्दों से उसी का लिंगयुक्त रूप में प्रतिपादन होता है। यह नियम नहीं है कि सत्त्वभूत अर्थ अवश्य लिंग युक्त होना है। क्योंकि पञ्च सप्त आदि कहने से लिंग का भान नहीं होता। इसीलिए कुछ वृत्तिकारों ने पटमना से स्त्रीप्रत्ययप्रतिषेध का प्रत्याख्यान किया है। अन्य आचार्य मानते हैं कि युष्मद अस्मद शब्द से भी लिंग सर्वनाम नपुंसक योग होना है। इसी आधार पर निर्णीत नुम् का तथा युष्मद अस्मद विभक्त्यादेश का विप्रतिषेध कहा गया है। कुछ अन्य आचार्य विप्रतिषेध का समाधान दर्शनभेद के आधार पर मानकर युष्मद् अस्मद् में लिंग योग मानते हैं। उनके मत में सत्त्वभूत अर्थ का लिंगयोग अवश्य होना है। कैयट भाष्यप्रदीप—७। १। ३३। नागेश ने लिंग वाले पक्ष का समर्थन किया है और इसके विरोध में कहे गये भाष्यकार के वाक्यों को एकदेशीय माना है अत्र

लिंगवत्त्वपक्ष एव युक्त सूत्रवार्तिकोभयसम्मतत्वात् ।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत ७।१।३३

अव्यय में लिंगयोग के विषय में भी मतभेद है। जो अव्यय असत्त्वभूत अर्थ के अभिधायक हैं उनसे लिंगयोग नहीं होता। जो सत्त्वभूत अर्थ के प्रतिपादक हैं उनसे भी शब्दशक्तिस्वभाव के आधार पर लिंगयोग नहीं होता। कुछ लोग मानते हैं कि अव्यय का लिंगविशेष से तो योग नहीं होता किन्तु लिंगसामान्य से योग होता है। कैयट इस पक्ष के समर्थक नहीं जान पड़ते। उनके मत में लिंगसामान्य की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है—

> केचित्तु लिंगादिविशेषणायोगात्, तत्सामान्येन तु योगमव्ययानामाहु । तद-युक्तम् । लिंगादिसामान्यसद्भावे प्रमाणाभावात्—
>
> —कैयट महाभाष्यप्रदीप १ । १ । ३८

लिंगसामान्यदर्शन न्यासकार का है लिंगसंख्याकारकविशेषस्यानुपादानात् सामान्यस्योपादानाच्च—न्यास १ । १ । ३७ पृ० ८२ । उनके मत में, तत्र शालायाम् वाक्य में तत्र शब्द अव्यय है फिर भी इसमें स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होता है और अव्यय के कारण टाप् प्रत्यय का लोप हो जाता है। यद्यपि 'तत्र शालायाम्' में वाक्यार्थ में स्त्रीत्व है फिर भी वाक्यार्थ के द्वारा तत्र में भी स्त्रीत्व है (न्यास २ । ४ । ८१)।

क्रियाविशेषण नपुंसकलिंग माने जाते हैं। क्रियाविशेषणानां च क्लीबतेष्यते। मृदु पचति। शोभनं पचति—काशिका २ । ४ । १८। न्यासकार के अनुसार क्रिया स्वयं द्रव्य नहीं होती अतः उसके विशेषण भी द्रव्य नहीं माने जाते। द्रव्य न होने से उनमें लिंगयोग भी नहीं होता—

> क्रियायाः साध्यत्वात् कर्मत्वम्। तद् विशेषणमपि कर्म भवति। तच्चासत्त्वं भवति। क्रिया हि तावद् द्रव्यं न भवति। कुतः पुनस्तद्विशेषणं द्रव्यं भविष्यति।
>
> —न्यास २ । ३ । ३३

यद्यपि संस्कृत के वैयाकरणों ने यह अनुभव कर लिया था कि लिंग के नियम व्याकरण द्वारा सर्वथा नियन्त्रित नहीं किए जा सकते और इसलिए यह घोषणा की थी कि इस सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश अनिवार्य नहीं है। (शास्त्रोपदेशं विनापि सिद्धिर्लिंगस्य लोकव्यवहारगम्या—कैयट, भाष्यप्रदीप ४ । ३ । ६६।) फिर भी पाणिनि आदि ने लिंग के विषय में अनेक नियमों के उल्लेख किये हैं। विशेष नियम लिंगानुशासनों में वर्णित है। यहाँ कुछ प्रत्ययों आदि के सम्बन्ध में संकेत दिए जा रहे हैं।

एक ही वस्तु शब्दभेद से—प्रत्ययभेद से अर्थवैचित्र्य उत्पन्न करती है। जैसे—दाक्ष्य अणिमा कृशता। इन शब्दों में प्रकृति समान है किन्तु प्रत्ययभेद से लिंग भेद है और उपर्युक्त गुणदर्शन के आधार पर—गुणों की स्थिति, प्रसव और संस्त्यान भेद से अर्थभेद की कल्पना की जा सकती है।

जलम् और आपः

दारा और भार्या

जसे शब्दों में नवितभेद के आधार पर लिंग भेद है। इधम शब्द अलिंग है किन्तु अतिद्विधानि शब्द लिंगयुक्त है।

संस्कृत में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके प्रातिपदिक रूप से भी लिंग का भान होता है जैसे—समिन (स्त्रीलिंग) दृषद (स्त्रीलिंग)। कुछ शब्दों में लिंगभान प्रत्यय के आधार पर होता है जैसे गौरी, किशोरी। पाणिनि ने स्त्रीत्व के भान के लिए अनेक प्रत्ययों का विधान किया है। और कई शब्दों के एक से अधिक रूपों का निर्देश किया है जैसे—

चन्द्रमुखी — चन्द्रमुखा
अतिकेशी — अतिकेशा
स्निग्धकण्ठी — स्निग्धकण्ठा
बिम्बोष्ठी — बिम्बोष्ठा
तिलोदरी — तिलोदरा।

किन्तु सुभगा पृथुजघना जैसे शब्दों में दो रूप नहीं चलते थे। कहीं-कहीं दो रूपों में अर्थभेद होते थे जैसे निम्न जोड़ों में—

कुण्डी	—	कुण्डा
गोणी	—	गोणा
स्थली	—	स्थला
भाजी	—	भाजा
काली	—	काला
नीली	—	नीला
कुशी	—	कुशा
कामुकी	—	कामुका
पाणिगृहीती	—	पाणिगृहीता।

किन्तु व्यवहार में ये भेद तिरोहित होने लगे थे। जैसे—

कुवलयदलनीलाकारशिलातलभूत।

—वामन, काव्यालंकार १२। ४६

यहाँ नीली के स्थान पर कवि ने नीला का प्रयोग किया है। संस्कृत में कुछ शब्दों में प्रत्यय के कारण अर्थभेद न होने पर भी लिंगभेद होता है। जिन शब्दों में तद्धित प्रत्ययों के कारण मूल लिंग बना रहता है वे तल्लिंगी हैं। जैसे—मन एवं मानसम्। मन और मानस शब्द दोनों नपुंसक लिंग हैं। बन्धुरेव बान्धवः। बन्धु और बान्धव शब्द दोनों पुल्लिंग हैं। इसी तरह यव — यावक। जिन शब्दों में प्रत्यय के कारण लिंगभेद दिखाई पड़ता है वे अतल्लिंगी हैं जैसे उपाय एवं औपयिकम्। यहाँ उपाय पुल्लिंग और औपयिक शब्द नपुंसकलिंग है। देव एवं देवता। देव शब्द पुल्लिंग और देवता शब्द स्त्रीलिंग है। इसी तरह देवता एवं दैवतम्।

स्वार्थिक प्रत्यय सामान्यतः प्रकृतिलिंग लिंग का अनुसरण करते हैं। किन्तु कभी-कभी इनमें लिंग में स्वार्थिकत्व भी देखा जाता है। जैसे कुटी (स्त्रीलिंग) कुटीर

(पुंलिंग) इसी तरह शमी—शमीर गुण्डा, गुण्डार ।

अनेक शब्दों में विवक्षा अविवक्षा के सहारे लिंग विचार किया जाता है। ईहा, लज्जा जैसे शब्दों में लिंग विवक्षित है। आतङ्क जैसे शब्द में अविवक्षित है। आधा बाध, ऊहा ऊह, क्रीडा क्रीड, जैसे शब्दों में विवक्षा और अविवक्षा दोनों होते हैं।

पाणिनि ने द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परवत् लिंग का विधान किया है। भर्तृहरि ने भाष्यकार के आधार पर द्वन्द्व समास में लिंगयोग स्वाभाविक और वाचनिक दोनों रूप में दिखाया है। च के अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। च का अर्थ समुच्चय भी है। समुच्चय के साथ दो तरह के विचार हैं। एक पक्ष समुच्चित को प्रधान मानता है। दूसरा पक्ष समुच्चय को प्रधान मानता है। समुच्चितप्रधान पक्ष में लिंग योग स्वभावत होता है। समुच्चयप्रधानपक्ष में लिंगयोग वाचनिक माना जाता है। कुछ लोगों के अनुसार समुच्चितप्राधान्यपक्ष में भी लिंगयोग स्वाभाविक न होकर वाचनिक होता है क्योंकि समुच्चय निमित्त है, समुच्चित नैमित्तिक है। निमित्त से नैमित्तिक का स्वरूप आच्छादित रहता है। इसलिए समुच्चित में स्वधर्म की प्रतिपत्ति न होने से शास्त्र द्वारा लिंग का अतिदेश किया जाता है। किन्तु भर्तृहरि के अनुसार यह मत उपयुक्त नहीं है। उनके अनुसार समुच्चय को समुच्चित के निमित्त के रूप में ग्रहण भ्रांतिमूलक है (वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश २०१)।

बहुव्रीहि समास में लिंग के विषय में विप्रतिपत्ति वार्तिककार ने उठाई थी। बहुव्रीहि समास में पदार्थाभिधानपक्ष और विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष के रूप में विवाद प्रचलित थे। दोनों पक्षों का उल्लेख कात्यायन ने किया है। इनमें विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष में बहुव्रीहि समास में लिंग योग की उपपत्ति नहीं हो पाती है। क्योंकि लिंगयोग सत्त्व भूत द्रव्य से होता है। विभक्त्यर्थ अद्रव्य है। उसमें लिंगातिदेश संभव नहीं है।

विभक्त्यर्थाभिधाने-द्रव्यस्य लिंगसंख्योपचारानुपपत्तिः

पा० सूत्र २।२।२४ पर वार्तिक[1]

भाष्यकार ने इसका समाधान किया है कि जैसे गुणवचन शब्दों में आश्रयगत-धर्म के आधार पर लिंगयोग होता है उसी तरह बहुव्रीहि समास में भी हो जाया करेगा। व्याकरणशास्त्र में पदार्थाधिक अन्वाख्यान और वाक्याधिक अन्वाख्यान दोनों गृहीत हैं। पदाधिक अन्वाख्यान पक्ष में सामान्यमात्र को सामने रखकर पद संस्कार किया जाता है अतः बहुव्रीहि समास में भी सामान्य में नपुंसकलिंग और एक वचन नियम के अनुसार नपुंसकलिंग और एकवचन की ही प्राप्ति होनी चाहिए किन्तु विशेषणानां चाजातेः १।२।५२ सूत्र के अनुसार गुण वचनों के आश्रय के आधार पर लिंग और वचन प्रतिपादन किया जाता है। प्रधान पदसंस्कार पक्ष में लिंगविधान

---

[1] [illegible] इस वार्तिक का एक दूसरा पाठ भी दिया है—[illegible] —विभक्त्यर्थाभिधाने द्रव्यस्य लिंगसंख्योपचारानुपपत्तिः —[illegible] २।२।२४ उपयुक्त वार्तिक [illegible] में [illegible] है कि उसमें अन्य दो पाठ हैं इसमें द्रव्यस्य [illegible] प्रक्षिप्त पाठ है।

शास्त्रीय है। वाक्यसंस्कार पक्ष में बहुव्रीहि समास में लिंगविधान न्यायसिद्ध है। क्योंकि इस पक्ष में पद के संस्कार आश्रयविशेष के आश्रय से ही होते हैं। अर्थात् वाक्यसंस्कार पक्ष में लिंगविधान वाचनिक न होकर स्वाभाविक है। चित्रगु शब्द में बहुव्रीहि समास है। यद्यपि चित्रगु शब्द से सम्बन्ध का अभिधान होता है फिर भी अभेदोपचार से सम्बन्धी का ग्रहण हो जाता है। यद्यपि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है फिर भी प्रधानता के आधार पर स्वामी की अभिधेयता मान ली जाती है और उसी के आश्रय से लिंगयोग होता है गाय के आश्रय से नहीं। जिस तरह शुक्ल शब्द कहीं गुण का बोधक होता है और कभी गुणी का उसी तरह चित्रगु शब्द भी कभी सम्बन्ध का बोधक होने लगेगा और कभी सम्बन्धी का। उसे केवल सम्बन्धी का ही वाचक होना चाहिए। इसके उत्तर में भाष्यकार की मान्यता है कि कृत्स्न पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि ने अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४ सूत्र में अर्थ ग्रहण के द्वारा यह संकेत किया है कि कृत्स्नपदार्थ का अभिधान हो—

> यदर्थग्रहणं करोति तस्यैतत् प्रयोजनं कृत्स्नः पदार्थो यथाभिधीयेत सद्रव्यः सलिङ्गः ससंख्यश्चेति। महाभाष्य २।२।२४

बहुव्रीहि समास में यदि कृत्स्न पदार्थ का—सबका अभिधान मान लिया जायगा तो लिंग के भी अभिधान हो जाने के कारण लिंग विधिवाले नियम नहीं हो पायेंगे। इसका परिहार भाष्यकार ने वार्तिककार के आधार पर किया है कि समास द्वारा लिंग के अभिहित होने पर भी स्त्रीत्व द्योतक टाप आदि प्रत्यय होने में कोई बाधा नहीं है।

नञ् समास में भी लिंग योग स्वाभाविक माना जाता है। नञ् समास में तीन तरह के विकल्प भाष्य में वर्णित हैं। अन्यपदार्थप्रधान पूर्वपदार्थप्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अन्य पदार्थपक्ष में नञ् समास में, लिंग का प्रश्न सामने आता है। अवर्षा कहने से हेमन्त का बोध होता है। अब यदि अन्यपदार्थ प्रधान माना जाय तो हेमन्त शब्द में जो लिंग है उस ही अवर्षा शब्द में भी होना चाहिए। पूर्वपदार्थपक्ष में भी नञ् के अर्थ के प्रधान होने के कारण लिंगयोग की प्राप्ति नहीं हो पाएगी। इसका परिहार इस रूप में किया जाता है कि विग्रह वाक्य में नञ् असत्त्वभूत अर्थ को व्यक्त करता है किन्तु समास में सत्त्वरूप अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। और ऐसा स्वभावतः होता है। महाभाष्य में स्वाभाविकदर्शन के अतिरिक्त आश्रयदर्शन के अनुसार भी नञ् समास में लिंगयोग की कल्पना मिलती है शुक्ल वस्त्र शुक्ला शाटी आदि के सदृश नञ् समास में भी जिस द्रव्य के आश्रित समास होगा, उसमें जो लिंग होगा समास में भी वही लिंग माना जायगा। इस पक्ष में अवर्षा हेमन्तः अनयः स्त्री अनजः मित्रः जैसे प्रयोगों में लिंगयोग की उपपत्ति ठीक नहीं हो पाती है। इसलिए भाष्य में नञ् समास में उत्तरपदार्थपक्ष का आश्रय लिया गया है। हेलाराज ने स्वाभाविक दर्शन के आधार पर पूर्वप्रधानपक्ष को भी निर्दोष माना है—

> यद्येवं नञ्समासे प्रतिनियमादप्रयोगेऽपि विशेष्यस्य विशिष्टे लिङ्गसङ्ख्ये सिध्यत एवेति पूर्वपदार्थप्रधानपक्षोऽपि न त्याज्यः।
>
> हेलाराज, वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ३१५

उत्तरपदार्थ प्रधानपक्ष में भी अमित्र जैसे शब्द में लिंगयोग जटिल हो जाता है। किन्तु हरदत्त ने अमित्र शब्द को न मित्र अमित्र रूप में न लेकर अमिधातु से अच् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्द माना है—

> अमेर्द्विषतीति अच् प्रत्ययः। न पुनरयं नञ् समासः। परवल्लिंगप्रसंगात्। लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य। स्वरे दोषः चित् स्वरो ह्येष्यते बहुवचनान्तु मध्योदात्तममित्रशब्दमधीयते।
>
> —पदमंजरी २।२।१३१ पृ० ६५०

लिंग की दृष्टि से समस्त पदों में सहजीकरण के नियम सुदूर प्राचीनकाल में संस्कृत भाषा में दिखाई देने लगते हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण महाभाष्यकार का निम्नलिखित प्रयोग है—

> द्रुतमध्यमविलम्बितासु वृत्तिषु।
>
> —महाभाष्य १।४।१०९—पृ० ३५४, कीलहार्न संस्करण

इस पर कैयट ने यह टिप्पणी दी है

> द्रुता च मध्यमा च विलम्बिता चेति द्वन्द्वे कृते भाष्यकारवचनप्रामाण्यात् ह्रस्वः।
>
> —कैयट, भाष्यप्रदीप १।४।१०९

स्पष्ट है कि प्रयत्नलाघव के आधार पर समस्त पदों में आन्तरिक लिंग तिरोहित होने लग थे। कालिदास के 'दृढभक्ति' (रघुवंश १२।१९) जैसे प्रयोग भी इसी दिशा के संकेतक हैं।

९

वाक्य विचार

संस्कृत व्याकरण में वाक्य शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में देखा जाता है

१ विग्रह वाक्य के लिए। जैसे राजपुरुष के लिए राज्ञ पुरुष । राज्ञ पुरुष वाक्य है।

२ लौकिक वाक्य के लिए। जैसे 'देवदत्त ओदन पचति ।

३ पारिभाषिक अर्थ में। निघात आदि की व्यवस्था के लिए शास्त्रीय वाक्य-लक्षण वाक्य शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

इस अध्याय मे केवल लौकिक और पारिभाषिक वाक्य लक्षण पर विचार किया जा रहा है।

पारिभाषिक वाक्य का लक्षण सर्वप्रथम संभवत कात्यायन ने किया। क्योंकि पतंजलि ने इनके वाक्य लक्षण को अपूर्व कहा है—

इदमपूर्व क्रियते वाक्यसंज्ञासमानवाक्याधिकारश्च।

—महाभाष्य २।१।१ पृ० ३३८ निर्णय सागर संस्करण

अपूर्व शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि इसके पूर्व वाक्य का लक्षण उस रूप में नहीं ज्ञात था जैसा कि कात्यायन ने बतलाया। कात्यायन का एक नाम वाक्यकार भी है। बहुत संभव है कात्यायन का यह नाम उनके वाक्यलक्षण निर्माण के कारण पड़ा हो। अवश्य ही व्याकरण सम्प्रदाय में वार्तिक और वाक्य पर्याय माने जाते हैं और वार्तिककार के अर्थ में वाक्यकार का प्रयोग बराबर मिलता है।[1]

प्राचीन विचार क्षेत्र में जैमिनि का वाक्य-लक्षण भी प्रसिद्ध था। जैमिनि के वाक्य-लक्षण और कात्यायन के वाक्य-लक्षण में पूर्वापर का विचार कठिन है। भाष्यकार के अपूर्व शब्द से जान पड़ता है कि कात्यायन ने ही सर्वप्रथम, शास्त्रीय दृष्टि से, वाक्य पर विचार प्रस्तुत किया। लौकिक वाक्य के स्वरूप पर कात्यायन के पूर्ववर्ती व्याडि ने अपने संग्रह में विचार किया था और पाणिनि की दृष्टि भी उस पर गई थी।

---

[1] वाक्य विवरण वार्तिक च। यत् करणात् कात्यायनो वार्तिककार उच्यते।—शंकर, हर्षचरित टीका पृ० १११ बम्बई संस्करण

जैमिनि और कात्यायन दोनों के वाक्यलक्षण के विषय में दो तरह के विवाद प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। मीमांसा सूत्र के प्राचीनतर टीकाकार जैमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण मानते थे। कुमारिल और उनके अनुयायियों ने उसे शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। व्याकरण सम्प्रदाय में भर्तृहरि,[1] कैयट[2], भोज[3] विट्ठल[4] आदि ने कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। नागेश ने उसे लौकिक वाक्यलक्षण माना है अथवा उसे लोक शास्त्र-साधारण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[5]

कात्यायन के वाक्यलक्षण का रूप निम्नलिखित है—

आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। एकतिङ्।

—वार्तिक महाभाष्य २।१।१

महाभाष्य में इसके विश्लेषण में कहा गया है कि अव्यय सकारक सकारक विशेषण और सक्रियाविशेषण आख्यात वाक्य है। एकतिङ् वाक्य है। जैसे—

साव्यय—उच्चैः पठति।

सकारक—ओदनं पचति।

सकारकविशेषण—मृदु विशदम् ओदनं पचति।

सक्रियाविशेषण—सुष्ठु पचति।

एकतिङ्—ब्रूहि ब्रूहि।

कात्यायन के इस शास्त्रीय वाक्यलक्षण पर इस ग्रंथ में क्रिया विचार के अवसर पर भी प्रसंगतः चर्चा की गई है।

इस वाक्यलक्षण के अव्यय कारक और विशेषण में से प्रत्येक अलग अलग और समुदित रूप में भी गृहीत होते हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी हो सकता है फिर भी स्पष्टतार्थ उसका पृथक् उल्लेख किया गया है। सविशेषण शब्द में प्रत्यासत्ति के आधार पर जो कारक का विशेषण होता है उसी का ग्रहण किया जाता है न

---

१ निपातादिष्वेव यथा शास्त्रे यत् परिभाषितम्। वाक्यपदीय २।३

२ नानाकारकान्त निपातादिनिवृत्तये, क्वचित् प्रवृत्तये च समानवाक्य निघातयुष्मदादेशा वक्ष्यन्ते। तत्र लौकिकवाक्यग्रहणनिषेधार्थं वाक्यं परिभाष्यते।

—कैयट महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

३ वार्तिककारस्तु न्यायदेव लौकिकात् पारिभाषिकं वाक्यलक्षणमारभते। न च तेन लौकिको व्यवहारः सिध्यतीति उपेक्ष्यते।

—भोज, शृंगारप्रकाश पृ० ११६ मैसूर सम्करण

४ वाक्यसंज्ञा पारिभाषिकी महाभाष्ये उक्ता।

—विट्ठल, प्रक्रियाप्रसाद, भाग प्रथम, पृ० ७१

५ परे तु आख्यातं सविशेषणं वाक्यमिति लक्षणं लौकिकमेव प्रतिभवतीत्येतत् साधारणम्। यत्तु कैयटेनास्य पारिभाषिकत्वमुक्तं तत् प्रमादात्।

—नागेश महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

तस्माद् वाक्यलक्षणं वाक्यस्य इतरेतरत् शास्त्रलोकसाधारणम्।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१ पृ० ४५ गुरु प्रसाद संस्करण

कि क्रिया के विशेषण का। 'आख्यातम्' इस शब्द में, लक्षणविधानसामर्थ्य के आधार पर, एकवचन विवक्षित है। आख्यात से क्रियाप्रधानता लक्षित है। फलतः 'देवदत्तेन शयितव्यम्' जैसे अतिङन्त स्थलों में भी वाक्यत्व माना जाता है। आख्यात में एकत्व विवक्षा के कारण 'पचति भवति' में साध्यसाधन होने पर भी दो आख्यात के कारण और समानवाक्यता के अभाव के कारण निघात नहीं हो पाता है। एकतिङ् में एक शब्द, कैयट के अनुसार संख्यावाची न होकर समानवचन है और इसमें बहुव्रीहि समास है।

वार्तिककार के उक्त शास्त्रीय वाक्यलक्षण में दो विप्रतिपत्तियाँ उठाई गई थीं और उनका परिहार किया गया था। उक्तलक्षण के अनुसार 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य में देवदत्त शब्द से पाणिनि सूत्र ८।१।१६ के अनुसार निघात प्राप्त नहीं हो सकेगा। क्योंकि देवदत्त पद यहाँ न तो अव्यय है न कारक है और न उसका विशेषण है। इसका परिहार यों किया जाता है कि उक्त लक्षण में साव्यय, सकारक आदि का सामान्य रूप में अभिधान किया गया है। फलतः वार्तिककार की वाक्यपरिभाषा के अनुसार भी निघात हो जायगा। क्योंकि उक्त परिभाषा के आधार पर सक्रिया-विशेषण भी आख्यात वाक्य कहलायगा। व्रजानि देवदत्त इस वाक्य की व्रजति क्रिया व्रजनि देवदत्त इस वाक्य की व्रजति क्रिया से भिन्न है। क्योंकि एक का सबंध संबोध्य देवदत्त से है और दूसरे का असंबोध्य देवदत्त से है। क्रिया का विशेषण कभी सामानाधिकरण्य रूप में होता है जैसे शोभनं करोति। यहाँ करोति क्रिया का अर्थ शोभन के अर्थ से संपृक्त रूप में ही उपस्थित होता है। क्रिया का विशेषण कभी वैयधिकरण्य रूप में होता है। जैसे व्रजानि देवदत्त। इस वाक्य में गमनक्रिया और देवदत्त का सामानाधिकरण्य नहीं है। जाने वाला अन्य व्यक्ति है और देवदत्त अन्य है। किन्तु देवदत्त को सम्बोधन कर गमन होने के कारण यहाँ व्रजति क्रिया विशिष्ट हो जाती है और उसे क्रियाविशेषण मानकर निघात हो जाता है।

दूसरी आपत्ति इस वाक्य में है—

'पूर्व स्नाति पचति ततो व्रजति।'

इस वाक्य में ततः के बाद व्रजति क्रिया के होने से वाक्यभेद के कारण निघात नहीं हो सकेगा। किन्तु होना चाहिए। इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिस तरह अनेक क्त्वान्त शब्द तिङन्त के विशेषक होते हैं वैसे ही तिङन्त भी तिङन्त का विशेषक होता है। स्नात्वा भुक्त्वा, पीत्वा व्रजति इस वाक्य में स्नान, भोजन और पान से गमन क्रिया ही विशिष्ट मानी जाती है। उसी तरह उपयुक्त वाक्य में स्नान क्रिया आदि से व्रजति क्रिया ही विशिष्ट रूप में सामने आती है। उपयुक्त वाक्य में व्रजति क्रिया प्रधान है और दूसरी क्रियाएँ इसके विशेषण रूप में हैं। इसलिए सविशेषण क्रिया एक मानकर वाक्य भेद न होने से निघात सिद्ध हो जायगा।

भर्तृहरि ने कात्यायन और जैमिनि के वाक्यलक्षणों में असमानता का संकेत किया है। जैमिनि ने यजुस् के अवसाननिश्चय करने के लिए वाक्य की परिभाषा बताई थी जो यों है—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात् —मीमांसा सूत्र २।१।४६

इसका तात्पर्य है कि पदसमूह वाक्य है यदि वह एकार्थक हो और विभक्त दशा में साकांक्ष हो। विभाग में साकांक्षता और अविभाग में एकार्थता के रूप में वाक्य को स्वीकार करने के कारण निम्नलिखित वाक्य एक वाक्य के रूप में मीमांसा दर्शन में गृहीत होता है—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्याम्, पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नये जुष्टं निर्वपामि।

इसमें अग्नये जुष्टं आदि पदों को पृथक् करने पर देवस्य त्वा आदि पदसमूह साकांक्ष है। सबको एक साथ रखने पर संपूर्ण पदसमूह का एक ही निर्वाप अर्थ है। अतः उपर्युक्त समूह एक वाक्य है।

मीमांसा के इस वाक्यलक्षण को व्याकरण दर्शन में स्वीकार करने पर सब तरह से काम नहीं चल पाता है। उदाहरण के लिए जैसा कि पुण्यराज ने उल्लेख किया है अयं दण्डो हरानेन, आस्व पच तव भविष्यति जैसे स्थलों में, जैमिनि के वाक्यलक्षण के अनुसार निघात हो जायगा क्योंकि प्रयोजन में ऐक्य है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि में इन स्थलों में निघात नहीं होता। कात्यायन के वाक्यलक्षण के अनुसार भी इनमें निघात नहीं होता। अतः जैमिनि के वाक्यलक्षण की अपेक्षा कात्यायन का वाक्यलक्षण इस सीमित दृष्टि से उत्कृष्ट है।[1] कैयट ने जैमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण माना है और कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय मानकर उनमें भेद किया है—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यादिति लौकिकं वाक्यलक्षणम्। इह तु वाक्यं पारिभाषितम् आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमिति।

—महाभाष्यप्रदीप ८।१।१८

लौकिक वाक्य लक्षण

लोक व्यवहार में अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति वाक्य से होती है। इस तत्त्व का उन्मीलन प्राचीन काल में हो चुका था। फलतः वाक्य के स्वरूप पर भी ऊहापोह सुदूर अतीत में ही आरम्भ हो गए थे। भर्तृहरि ने अपने समय तक प्रसिद्ध प्रायः उन सभी वाक्यवादों का निर्देश निम्नलिखित कारिकाओं में किया है—

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृती॥
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥

वाक्यपदीय २।१-२

पुण्यराज के अनुसार इन कारिकाओं में निम्नलिखित आठ वाक्य विकल्पों का

---

१ तस्मात् वार्तिककारीयमेव वाक्यलक्षणं ज्यायः —पुण्यराज वाक्यपदीय २।३

उल्लेख किया गया है—

१ आख्यात शब्द
२ सघात
३ जाति (सघातवर्तिनी)
४ एक अनवयव शब्द
५ क्रम
६ बुद्ध्यनुसहृति
७ आद्य पद
८ पृथक् सावाश सवपद

पुण्यराज के अनुसार सघातवर्तिनीजाति एक अनवयव शब्द और बुद्ध अनुसहृति ये तीन वाक्य विकल्प अखण्डपक्ष म हैं।

आख्यातशब्द क्रम सघात आद्यपद और पृथक् साकाश सवपद—ये पाच वाक्य विकल्प खण्डपक्ष म है।

इनम भी सघात और क्रम ये दो वाक्य विकल्प अभिहितान्वयवाद के अनुसार है। और आख्यातशब्द आद्यपद और पृथक् साकाक्ष सवपद अन्विताभिधानवाद के आधार पर हैं।

यद्यपि इन आठ वाक्य विकल्पो म कुछ का सम्बन्ध पुण्यराज ने मीमासा दर्शन स दिखलाया है किन्तु प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल शालिकनाथ सुचरितमिश्र पाथसारथि आदि न इन आठ वाक्य विकल्पो को वयाकरण मत के रूप म प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप म उल्लख किया है और इन सबका खण्डन किया है। वस्तुत य वाक्य के आठ विकल्प एकत्र वाक्यपदीय म ही पाये जाते है। अत वाक्यपदीयकार के बाद के लेखको न बिना विशेष विचार के इन आठो वाक्यलक्षणो का सम्ब ध व्याकरणदर्शन स जोड दिया है।

एसा ज्ञात पडता है इनम स कुछ वाक्य विकल्पो का सम्बन्ध किसी प्राचीन मीमासा दर्शन स अवश्य था। उपयुक्त कारिका के न्यायवादिनाम (न्यायदर्शिनाम) शब्द स भी यही ध्वनित होता है। प्राचीन ग्रन्थो म न्याय शब्द मीमासा दर्शन के लिए व्यवहृत किया जाता था। इतना निश्चित है कि इन आठ विकल्पो का मूल केवल व्याकरणदर्शन नहीं है और न महाभाष्य आदि आकर ग्रन्थो म इन सबका स्रोत दिखाई देता है।

उपयुक्त वाक्य विकल्पो के अतिरिक्त वाक्य के अखण्ड और सखण्ड पर भी विचार प्रातिशाख्यो के युग म आरभ हो गया था। वेद के सहिता रूप को मूल मानने वाले अखण्डवादी थे पद पाठ को अधिक महत्त्व देने वाले सखण्डवादी थ।

ऋक् प्रातिशाख्य म सहिता को पद प्रकृति कहा गया है। पद प्रकृति शब्द के दो तरह स विग्रह सभव हैं—पदाना प्रकृति पदप्रकृति (तत्पुरुष समास) अथवा पदानि प्रकृति यस्या सा पदप्रकृति (बहुव्रीहि समास)। पहले पक्ष के अनुसार पदो का मूल (प्रकृति) सहिता है अथात सहिता पहले है। पदो की सत्ता बाद म। दूसरे

पक्ष में संहिता नित्य है, अपौरुषेयी है, पद अनित्य हैं, पौरुषेय हैं। दूसरे पक्ष के अनुसार संहिता का मूल (प्रकृति) पद हैं। पदों की सत्ता पहले और संहिता की सत्ता बाद में है। पद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं। संहिता अनित्य है, पौरुषेयी है।

इनके अतिरिक्त भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में दो अन्य मतों का भी उल्लेख किया है। किसी के अनुसार पद और संहिता दोनों ही नित्य हैं। पद समाम्नाय प्रतिपादक रूप में नित्य हैं और संहिता समाम्नाय प्रतिपाद्य रूप में नित्य है। पुनः कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि आम्नाय नित्य है और वह एक है। उस एक ही आम्नाय की दो शक्तियाँ हैं—विभाग शक्ति और अविभाग शक्ति। विभागशक्ति (पद) प्रतिपादक है और अविभाग शक्ति (संहिता) प्रतिपाद्य है—

> केषांचित्तु नित्यावुभावप्येतौ समाम्नायौ। पदसमाम्नायस्तु प्रतिपादकत्वेन नित्य इतरस्तु प्रतिपाद्यत्वेन नित्य। केषांचिं नित्यस्यैकस्याम्नायस्य द्वे एते विभागाविभागशक्ती प्रतिपादकप्रतिपाद्यरूपेण वर्तेते।
>
> —हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।५८ लाहौर सं०

महाभाष्यकार ने एक स्थल पर कहा है कि पदकारों को लक्षण के अनुसार पद करना चाहिए। लक्षणों को पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए।[1] इसका तात्पर्य है कि लक्ष्य नित्य है। शास्त्र केवल उसका अनुविधान करता है। शास्त्र स्वयं अनुविधेय नहीं है। इस दृष्टि से भाष्यकार को भी अखण्ड पक्ष ही अभिप्रेत जान पड़ता है।[2]

आख्यात शब्दवाद

वाक्य के उपयुक्त आठ विकल्पों में पहला आख्यात शब्द है। आख्यात शब्द ही वाक्य है। आख्यात शब्द में क्रिया शब्द अभिप्रेत है। वाक्य में क्रियापद की प्रमुखता के आधार पर क्रियापद को ही वाक्य कहा गया है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए वाक्य का आश्रय लिया जाता है। वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों का स्पष्ट भान वाक्य के प्रयोग से होता है और वाक्य से स्पष्ट प्रतीति तभी होती है जब उसमें क्रिया पद हो। क्रिया पद श्रूयमाण भी हो सकता है और अनुमेय भी। दोनों रूप में वाक्यार्थ के स्पष्ट आभास के लिए क्रिया की सत्ता अनिवार्य है।[3]

भर्तृहरि के अनुसार एकत्व और नित्यत्व के पक्षपाती आचार्य विशिष्ट क्रिया को ही वाक्य का प्रतिपाद्य मानते हैं। एक शब्द है वह क्रिया है। एक ही अर्थ है

---

१ न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्—

—महाभाष्य ३।१।१०९ भाग २ पृ० ८५ कीलहार्न सं०

२ अनन्तरं पदानामसत्यानि तत्त्वं प्रतिभास्ते तेन एवमभिहितमिति भाष्यकारस्याप्यखण्डपक्षोऽभिप्रेत इति दर्शितम्—

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।५८

३ तस्मात् श्रूयमाणक्रियापदमश्रूयमाणक्रियापदं वा वाक्यमेव सर्वव्यवहारप्रापणं मिति।

—वाक्यपदीय २।४३० हरिवृत्ति, हस्तलेख

वह क्रिया है। अपोद्धार पद्धति से, व्यवहार के लिए एक वाक्य ही अनेक में विभाग किया जाता है। क्रियापद वाले वाक्य, पुरुष, उपग्रह आदि से यथावसर अनुगत रहता है और उसका अर्थ एक होता है उसमें विशेषणविशेष्यभाव परिकल्पित होते हैं—

एकत्वनित्यत्ववादिनस्तु मन्यन्ते विशिष्टा हि क्रिया यथासम्भव कालसाधन द्रव्यपुरुषोपग्रहादिभि अनुगता वाक्येनाभिधीयते। स चैष शब्दो व्यवहाराय प्रविभक्तोऽन्येन सर्वविशेषणविशिष्ट परिकल्पितविशेषणविशेष्यभेदे एव स्मिन्नर्थे वर्तते। तस्य शक्तिरपोद्धारव्यावहारिको विभागोऽनुगम्यते।

—वाक्यपदीय २।४४७ पर हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ क्रियाएं नियत साधन वाली होती हैं। उनके प्रयोग से उनके अनुकूल कर्ता कर्म आदि का भान आप से आप ही हो जाता है। जैसे— वर्षति क्रिया है। वर्षति क्रिया के प्रयोग से देव जल वर्षति इस रूप में कर्ता और कर्म का अध्याहार स्वतः हो जाता है। यहां केवल आख्यात पद वाक्य का काम कर रहा है। आख्यातपद —वाक्यवाद का यह भी एक पक्ष है।

जिस तरह से एक क्रियापद संपूर्ण वाक्य है उसी तरह से कुछ विशेष पद भी अकेले वाक्य माने जाते हैं किन्तु उन स्थलों में क्रिया चरित (गर्भीभूत छिपी) मानी जाती है।[1]

क्रिया के अनुषंग के बिना पदार्थ में भी अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। व्यवहार में क्रियापद के उपसंहार से ही यथार्थ का बोध होता है।[2]

यद्यपि जैसे नाम पद साकांक्ष होते हैं वैसे क्रिया पद भी साकांक्ष होते हैं। बिना कारक के क्रिया की आकांक्षा नहीं मिटती। फिर भी क्रिया साध्य के रूप में प्रधान मानी जाती है। वाक्य से उपसंगृहीत अर्थ के लिए पहले क्रिया का विभाग किया जाता है, पश्चात् कारकों का किया जाता है। इसलिए क्रिया प्रधान और कारक अंगभूत माने जाते हैं।[3]

आख्यात शब्द के मुख्य होने से वह वाक्य है। साथ ही वह विशिष्ट शब्द है वह अन्य कारक पदों से भिन्न होता हुआ भी उनकी शक्तियों से युक्त है। वह उन पदों के अर्थों का स्वतः आक्षेप कर सकता है। फलतः संपूर्ण वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति

---

१ वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम्।
अन्तरेण क्रियाशब्दं वाक्यादेव हि दर्शनात्॥

वाक्यपदीय २।३२६

इस श्लोक का द्वितीय चरण प्रकाशित वाक्यपदीय में नहीं है किन्तु हस्तलेख में मिलता है और कुछ असमञ्जस है।

२ क्रियापदोपसंहारे तु सत्यासत्यभावेन प्रतिपत्तृ व्यवहारोऽवतिष्ठते।

—वाक्यपदीय २।४३१ हरिवृत्ति हस्तलेख

३ विभागेन सर्वथा साकाङ्क्षत्वमुपलभ्यते। साध्यत्वर्थात्मा स्वफलप्रयुक्त प्रधानात् सर्वस्य वाक्यो पसंग्रहस्यार्थस्य पूर्वं प्रविभज्यते। तेन तु प्रविभक्त साधनप्रत्यय वादात्मलाभस्य साम र्थ्यक्षिप्तानि साधनानि प्रतीयन्ते।

—वाक्यपदीय २।४३४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

में समर्थ है। इसलिए वही वाक्य है। इस मत में वाक्य में आख्यात शब्द के अतिरिक्त अन्य कारक पदों की सत्ता केवल नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य के आक्षेप से विशेष पद का उपादान नियम कहलाता है। जैसे 'पातु व परमज्यानि' इस वाक्य में सामान्य के आक्षेप से विशेष का प्रयोग किया गया है। विशेष के आक्षेप से सामान्य का उपादान अनुवाद कहलाता है। 'वर्षति' क्रिया से देव का जलवर्षण अर्थ स्वत आक्षिप्त हो जाता है। यदि 'देव जल वर्षति' कहा जाय तो देव और जल शब्द केवल अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आख्यातवाद के विवेचन में भर्तृहरि ने 'समवेत नियमाय अनुवादाय वा' इस वाक्यांश का प्रयोग किया था। इसमें प्रयुक्त वा शब्द के दो अर्थ किए जाते हैं— समुच्चय और विकल्प। समुच्चय अर्थ मानने वालों के मत में आख्यातवाद पक्ष में कारक पद नियम और अनुवाद दोनों का काम करते हैं। नाम पद में अन्वयव्यतिरेक के आधार पर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। इनमें प्रकृति अंश प्रातिपदिक रूप है। प्रातिपदिक शक्ति कारक का प्रतिरूप है। आख्यातशब्दवाक्यवाद के अनुसार क्रिया में ही कारक पदों का अर्थ अन्तर आता है किन्तु यह सामान्य रूप में होता है विशेष रूप में नहीं। प्रयुक्त कारक पदों का प्रकृति अंश सामान्य में व्यवस्थित का विशेष में विधान करता है। इस तरह पद का प्रकृति अंश नियामक हो जाता है। कारक पद में प्रकृति अंश के अतिरिक्त विभक्ति अंश है। विभक्तियाँ उपात्त शक्ति का ही जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है उसी का पुनः प्रतिपादन करती हैं। इस रूप में कारक पद प्रकृत्यंश द्वारा नियामक और प्रत्ययांश द्वारा अनुवादक भी हैं। फलत नियम और अनुवाद दोनों साथ साथ काम कर रहे हैं।

जो लोग वा का अर्थ यहाँ विकल्प मानते हैं उनके मत में कारक पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक। आख्यात पद में व्यवहार योग्य शक्ति का अभिधान होता है शक्ति के आधार विशेष का नहीं। इसलिए उसके नियम के लिए नामपदों का वाक्य में व्यवहार किया जाता है। जैसे 'आश्यति' क्रिया पद से किसी के आश्रय रूप में कर्म शक्ति का अवबोध हो जाता है किन्तु आश्रयविशेष में उसे नियत करने लिए माणवक कर्म जैसे पद [illegible] जाते हैं। केवल आख्यात क्रिया से आश्रय सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कर्मत्व झलकता है 'माणवक आश्यति' इस वाक्य से माणवक विशेष सामने आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा 'वर्षति' क्रिया पद से जल बरसने का बोध होता है 'देव जल वर्षति' इस वाक्य का भी वही अर्थ है। अतः देव और जल शब्द व्यक्त अर्थ का ही पुनः विधान करते हैं अतः अनुवादक हैं। इस तरह कारक पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक।

आख्यात पक्ष का आधार कात्यायन का 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' यह वार्तिक ही जान पड़ता है। यद्यपि संस्कृतव्याकरणसम्प्रदाय में ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। कात्यायन ने आख्यात को ही वाक्य माना था परन्तु आख्यात के विशेषण के रूप में अव्यय और कारक का भी स्वीकार किया था। व्याख्याकारों ने सुबा-

में समर्थ है। इसलिए वही वाक्य है। इस मत में वाक्य में आख्यात शब्द के अतिरिक्त अन्य कारक पदों की सत्ता केवल नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य के आक्षेप में विशेष पद का उपादान नियम कहलाता है। जैसे 'धातु व परमन्याति' इस वाक्य में सामान्य के आक्षेप में विशेष का प्रयोग किया गया है। विशेष के आक्षेप में सामान्य का उपादान अनुवाद कहलाता है। 'वर्षति' क्रिया से देव का जलवर्षण अर्थ स्वतः आभासित हो जाता है। यदि 'देव जल वर्षति' कहा जाय तो देव और जल शब्द केवल अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आख्यातवाद के विवेचन में भर्तृहरि ने सम्भवतः नियमार्थ अनुवादार्थ का इस वाक्यांश का प्रयोग किया था। इसमें प्रयुक्त 'वा' शब्द के दो अर्थ किए जाते हैं— समुच्चय और विकल्प। समुच्चय अर्थ मानने वालों के मत में, आख्यातवाद पक्ष में कारक पद नियम और अनुवाद दोनों का काम करते हैं। नाम पद में अन्वयव्यतिरेक के आधार पर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। इनमें प्रकृति अंश प्रातिपदिक रूप है। प्रातिपदिक शक्ति कारक का प्रतिरूप है। आख्यातशब्दवाक्यवाद के अनुसार क्रिया से ही कारक पदों का अर्थ भलक जाता है किन्तु यह सामान्य रूप में होता है विशेष रूप में नहीं। प्रयुक्त कारक पदों का प्रकृति अंश सामान्य में व्यवस्थित का विशेष में विधान करता है। इस तरह पद का प्रकृति अंश नियामक हो जाता है। कारक पद में प्रकृति अंश के अतिरिक्त विभक्ति अंश है। विभक्तियां उपात्त शक्ति का ही, जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है, उसी का ही प्रतिपादन करती हैं। इस रूप में कारक पद प्रकृत्यंश द्वारा नियामक और प्रत्ययांश द्वारा अनुवादक भी हैं। फलतः नियम और अनुवाद दोनों साथ साथ काम कर रहे हैं।

जो लोग 'वा' का अर्थ यहां विकल्प मानते हैं उनके मत में कारक पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक। आख्यात पद से व्यवहार योग्य शक्ति का अभिधान होता है शक्ति के आधार विशेष का नहीं। इसलिए उसके नियम के लिए नामपदों का वाक्य में व्यवहार किया जाता है। जैसे 'आश्रयति' क्रिया पद से किसी के आश्रय रूप में कर्म शक्ति का अवबोध हो जाता है किन्तु आश्रयविशेष में उसे नियत करने के लिए 'माणवक' कर्म जैसे पद जोड़ दिए जाते हैं। केवल आश्रय क्रिया से आश्रय सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कर्मत्व झलकता है 'माणवक आश्रयति' इस वाक्य से माणवक विशेष सामने आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा 'वर्षति' क्रिया पद से जल बरसने का बोध होता है 'देव जल वर्षति' इस वाक्य का भी वही अर्थ है। अतः देव और जल शब्द व्यक्त अर्थ का ही पुनः विधान करते हैं अतः अनुवादक हैं। इस तरह कारक पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक।

आख्यात पक्ष का आधार कात्यायन का 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' यह वार्तिक ही जान पड़ता है। यद्यपि संस्कृत व्याकरणसम्प्रदाय में ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। कात्यायन ने आख्यात को ही वाक्य माना था परन्तु आख्यात के विशेषण के रूप में अव्यय और कारक को भी स्वीकार किया था।

एक विशेषण और सक्रियाविशेषण को भी बीच में ले लिया था। बाद में 'आख्यात सविशेषण' यही वाक्य का रूप निष्पन्न रूप में सामने लाया गया था। जिस आचार्य ने 'आख्यात अथवा आख्यातशब्द' को वाक्य के रूप में स्वीकार किया उसने सविशेषण पद को भी उड़ा दिया। क्योंकि सविशेषण पद के बिना भी आख्यात के सम्बन्ध से अव्यय कारक आदि विशेषकों का अध्याहार स्वभावतः ही हो जायगा। और जहाँ विशेषण नहीं है, वहाँ उसकी आवश्यकता भी नहीं है केवल आख्यात पद भी वाक्य माना जायगा।

संघातवाद

संघातपक्ष वाले आचार्यों के अनुसार एक अर्थपरक पद समुदाय वाक्य है।

पदसंघातजं वाक्यम्

वर्णसंघातजं पदम्

यह एक प्राचीन उक्ति है। भर्तृहरि ने इसे उद्धृत किया है। वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभ के अनुसार यह उक्ति संग्रहकार की है।[1] शौनक के बृहद्देवता में भी मिलती है।[2] पदसंघातवाला पक्ष शबरस्वामी की मान्यता के भी अनुरूप है। इस मत के अनुसार सभी पद एक में मिलकर एकत्र अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। एकार्थपरक पदसमूह ही वाक्य है। जिस तरह तीनों ग्रावा मिलकर उखा को धारण करते हैं जैसे चारों कहार मिलकर पालकी ढोते हैं जैसे सभी साधन एक साथ पाक क्रिया में सहायक होते हैं उसी तरह सभी पद मिलकर वाक्यार्थ व्यक्त करते हैं— तत्र यथा ग्रावोऽपि प्रावाण उखां धारयन्ति चत्वारोऽप्युद्वाहार शिबिकाम् उद्वहन्ति, सर्वाण्यपि कारकाणि पाकं साधयन्ति तथा पदान्यपि सर्वाणि वाक्यार्थमवगमयन्ति।

—शृंगारप्रकाश, पृ० २७७

संघातवाद मत में पदों की स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रता के रूप में दो तरह के विवाद थे जो आगे चलकर मीमांसा दर्शन में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधान वाद से प्रसिद्ध हुए। किन्तु ये विचार कुमारिल और प्रभाकर से बहुत पहले भर्तृहरि के समय में भी सामने आ चुके थे। संघात परार्थ होता है इस न्याय के अनुसार पद वाक्य के लिए ही हैं उनका पृथक् कोई व्यक्तित्व नहीं है। समुदाय समुदायी से भिन्न होता है इस आधार पर पद पदसंघात (वाक्य) से भिन्न हैं। समुदाय और समुदायी में अभिन्नता के आधार पर पद वाक्य से अभिन्न भी हैं।

संघातवाद के अनुसार केवल वृक्ष शब्द वृक्षत्व जाति का सूचक है। वृक्ष अस्ति या नास्ति वृक्ष छिन्न जैसे वाक्यों में भी वृक्ष शब्द वृक्षत्व जाति का प्रत्यायक है। भाव (वृक्ष की सत्ता) अभाव छेदन आदि का वह नहीं व्यक्त करता है और न

---

1 वाक्यपदीय २।२३, स्वोपज्ञटीका (लाहौर संस्करण)
2 बृहद्देवता २।११७

भाव अभाव, देश आदि का जाति के साथ सम्बन्ध है। किसी अन्य आधार पर प्रतिष्ठित वस्तु किसी अन्य का प्रत्यायक नहीं होती। वीर पुरुष जैसे वाक्यों में एक पद का दूसरे पद के साथ सामानाधिकरण्य होने से विशेषण विशेष्यभाव रूप में अन्य का आधिक्य प्रतीत होता है। यह आधिक्य वाक्यार्थ है। भाव यह है कि वीर शब्द से प्रथमा विभक्ति जब होती है स्वार्थमात्र से होती है उस समय दूसरे शब्द के संसर्ग की या विशेषण विशेष्य भाव की अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह पुरुष शब्द से भी प्रथमा विभक्ति निरपेक्ष रूप में होती है। बाद में आकांक्षा आदि के आधार पर विशेषण विशेष्य भाव सामने आता है। बाद में शामिल होने के कारण यह बहिरंग माना जाता है। बहिरंग अन्तरंग संस्कार में बाधक नहीं हो सकता। भाष्यकार ने इस स्पष्ट किया है कि वाक्य में पदार्थ सम्बन्ध की उपलब्धि होती है। देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य में यदि केवल देवदत्त मात्र कहा जाय तो कर्ता का निर्देश होगा, कर्म, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएंगे। यदि गाम मात्र का उच्चारण किया जाय कर्म निर्दिष्ट होगा किन्तु कर्ता, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएंगे। अभ्याज मात्र कहने से क्रिया का बोध होगा शेष अनिर्दिष्ट रह जाएंगे। किन्तु यदि देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम् इस पूरे वाक्य का उच्चारण किया जाय तो इसका अभिप्राय होगा कि देवदत्त ही कर्ता है दूसरा नहीं। गौ ही कर्म है अन्य नहीं। अभ्याज ही क्रिया है दूसरी नहीं। शुक्ल रंगवाली का ही काली को नहीं। ये पद पहले सामान्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं बाद में जिस विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वह वाक्यार्थ है—

एषां पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः।

—महाभाष्य १।२।४५ भाग १ पृ० २१८ कीलहार्न सम्पादन

कैयट के अनुसार इसका अभिप्राय है कि पदार्थ ही आकांक्षा आदि के सहारे संसृष्ट रूप में वाक्यार्थ है। कैयट यह भी मानते हैं कि ध्वनि व्यङ्ग्य नित्य वाक्य पदार्थसंसर्गरूप विशिष्ट अर्थ का वाचक है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो वाक्यार्थ अशाब्द होगा—

पदार्था एव स्वाकांक्षायोग्यतासंनिधिवशात् परस्परसंसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थः।
ध्वनिव्यङ्ग्यं नित्यं वाक्यं विशिष्टस्यार्थस्य पदार्थसंसर्गरूपस्य वाचकम्।
अन्यथा ह्यशाब्दो वाक्यार्थः स्यात्॥[1]

—कैयट प्रदीप १।२।४५

---

1. नागेश ने अशाब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि शब्द प्रयोज्यत्व के रूप में शाब्दत्व नहीं माना जा सकता। अन्यथा प्रत्यक्ष देखे हुए धूम के आधार पर पर्वत में वह्नि का भी प्रयोग होने लगेगा। साथ ही सुने हुए धूम शब्द से उपस्थित धूमावबोध वह्नि का भी शाब्दबोध होने लगेगा। यदि शाब्दत्व से अभिप्राय पदसमभिव्याहाररूप आकांक्षा और उसके कारण से ज्ञान शाब्दबोध में कारण है इससे के पदों की पदार्थों में भी शक्ति सिद्ध नहीं होगी। अतएव 'अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्'(वाक्यपदीय २।१६) ऐसा (भर्तृहरि ने) कहा है। यदि ऐसा माना जाय कि असत्व धर्म बोधकत्व नहीं मानी जा सकती इसलिए पदार्थ के

महाभाष्य के उपर्युक्त आधार पर संघातवादियों ने पद का पहले सामान्य में पश्चात् विशेष में वृत्ति माना है। अकेले पद जिस अर्थ का बोधक है वाक्य में भी उसी अर्थ को जताता है। पुनः समुदाय में पदों के परस्पर अन्वय होने पर जो आधिक्य (संसर्ग रूप) भासित होता है वह वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ की अनेकपदसंश्रयता संघात का प्रतीक है। संघात पक्ष में भी तीन विकल्प भर्तृहरि ने दिखाए हैं। एक मत में वाक्यार्थ की जाति की तरह प्रत्येक में परिसमाप्ति है। जाति अनेकाश्रित होते हुए भी प्रति आश्रय में पूर्ण रूप से रहती है। ब्राह्मणत्व जाति जैसे अनेक में वैसे ब्राह्मण समुदाय के एक अंग एक ब्राह्मण में भी अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ रहती है। उसी तरह वाक्यार्थ भी अनेक पदाश्रित होते हुए भी एक पदाश्रित भी है। उसमें एक पदाश्रित होने के कारण आवृत्ति न्यूनता नहीं आती और न वह खण्डित होता है। दूसरे मत के अनुसार संघात पक्ष में वाक्यार्थ की समुदाय परिसमाप्ति मानी जाती है। जैसे बीस संख्या की पूर्णता बीस समुदाय में है प्रत्येक एक में नहीं। किंतु संख्या के प्रतिपादन में प्रत्येक अंक निमित्त है। उसी तरह वाक्य का समुदाय परिसमाप्ति होती है किंतु वाक्यार्थ प्रत्येक पद से प्रत्याय्य है। तीसरे मत के अनुसार शब्दव्यापार सामान्य अभिधानपूर्वक विशेषाभिधान करता है। स्वार्थ मात्र व्यक्त करने वाले सभी भेदों में सामानाधिकरण्यमयी योग्यता होती है वही सामान्य है तथा अन्यथा अवस्था सर्वथा रूप में सामान्य की कोई नियत अवस्था नहीं है। जो कुछ है वह विशेष ही है। उस सामान्यावस्था में किसी भेद के अनिरूपण से और सन्निधान से अर्थ की सब भेदों को संगृहीत करने वाली योग्यता के द्वारा सर्वरूपात्मयी कल्पना की जाती है उस अर्थकल्पना को शब्दान्तर विषयान्तर से हटाकर विशेष विषय में नियमित करता है। इस तरह से अर्थ की योग्यता मात्र के अवच्छेद करने से अध्यारोपनियम नहीं होता अर्थरूप में अनुपादान योग्यता भी नहीं होती और न वह अर्थरूप से भिन्न ही होती है।[1] पुण्यराज के अनुसार तीसरा मत अन्विताभिधानवाद के समीप है जो पदार्थ को ही वाक्यार्थ मानता है। उनके अनुसार यहाँ पहले दो मतों ■ तीसरे मत का भेद इस रूप में है कि पूर्व मत में पद का वाक्य में भी वही अर्थ होता है जो उनका अकेले (केवल) में होता है और समग्र संघात वाक्य होता है। तीसरे मत के अनुसार पद का अर्थ सामान्य रूप है जो विशेष के सम्पर्क से विशेष रूप में जान पड़ता है—

साथ पदों के शक्तिरूपसंदर्भ की कल्पना कर ली जाती है समभिव्याहार ■ समगवा... कारणता का भी सम्बन्ध में कहना सम्भव नहीं है। अतः वाक्य में तात्पर्य सम्बन्ध मानना चाहिए।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।४५

नागेश ने भाष्यकार के वाक्यार्थ शब्द का भी शब्द के अर्थ में लिया है—वाक्यार्थ बन्दनादरस्य । विशेषणानामपि शब्दस्य मनुष्यार्थमुपात्तानाम—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।१।४६ द्रष्टव्य मंजूषा पृ० ४१८

[1] वाक्यपदीय २।४३-४५ हरिवृत्ति पृ० ३०

पृथक्च पदाना वाक्ये तावानेवार्थो यावानेव केवलानाम ससगस्तु सघातवाच्य । इह तु तथाभूत एव सामान्यरूप पदस्यार्थ यस्तत तत विशेषसन्निधौ तन तद विशेषविश्रान्त ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५

सघातपक्ष म, सम्बन्ध रूप म जो वाक्यार्थ अवगत होता है उस सम्बन्ध का कोई नियत रूप नहीं है । वह अनुमेय है । असत्त्वभूत है । उसे यह ऐसा है आदि शब्दों द्वारा नही व्यक्त किया जा सकता । वह विशेष शब्द के सनिधि मे विशेष हो जाता है और सभी नाना म विशिष्ट रूप से आभासित होता है । साधन और साध्य भी परस्पर नियत हैं । केवल आकाक्षा आदि के सहारे अन्य पदार्थ के सन्निधान से नियम के रूप म व्यक्त होता है । भाव यह है कि वाक्यार्थ क्रियाकारकससग रूप है । क्रिया सम्बन्ध के बिना कारक की उपपत्ति नही होती । केवल विशेष मे सम्बन्ध मानने म आनन्त्य आदि दोष आ जाते है । इसलिए क्रिया सामान्य अन्वित ही होती है । कारक पदो का सम्बन्धग्रहण कारक म होता है और सम्बन्धग्रहण के अनुसार अभिधान होता है । सामान्य म अन्विताभिधान घटित होता है क्योकि व्यवहार काल म क्रिया विशेष से अन्वित रूप म ही कारको की उपलब्धि होती है । क्रिया की भी प्रतीति विशेष कारक स अन्वित रूप म होती है ।

सघातवाद की समीक्षा

यद्यपि पुण्यराज ने सघात पक्ष को अभिहितान्वयवाद के अनुकूल माना है किन्तु कुमारिल भट्ट ने स्वय सघातवाद की समीक्षा की है और उनके अनुयायी सुचरित मिश्र और पार्थसारथि मिश्र आदि ने उनका अनुमोदन किया है । कुमारिल के अनुसार पदसघात को वाक्य इसलिए नही माना जा सकता कि पदो म परस्पर अनुग्रह नही है—

एवमाद्यन्त सर्वथा पृथक सघातकल्पने ।
अन्योन्यानुग्रहाभावान पदाना नास्ति वाक्यता ॥[1]

—श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण, ४९

भर्तृहरि न भी सघातवाद की आलोचना की है । यदि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं बाद म विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं इस नियम को माना जाय तो सामान्य के तिरोहित हो जाने पर विशेष की प्रतिष्ठा नही हो सकती । देवदत्त गाम अभ्याज इस वाक्य म देवदत्त शब्द के उच्चारण करत ही सामान्य अर्थ सम्बद्ध देवदत्त की अभिव्यक्ति होगी और उसके विलीन हो जाते ही विशेष अर्थ की उपलब्धि न हो सकेगी । जो शब्द अपने आविर्भाव काल म विशिष्ट अर्थ न व्यक्त

१ इस पर सुचरित मिश्र का टिप्पणी है—पदाना पृथक्भूताना सघातवर्तिना वा न वाक्यत्वम् । पृथक् भूतेष हि तावद् वाक्यबुद्धिरेव नोत्पद्यते । सघातकल्पनेऽपि न पृथक् सघो विशेष तदाना मप्यन्योन्यानुग्रहस्य तथानवगमात् । अमति चाग्रहे वाक्य वे कल्पनामात्रम् । पदैकस्यापि तत प्रसगात् । श्लोकवार्तिक काशिका ७।४९ हस्तलेख

अव्यपदेश्य हो जायगा।[1]

किन्तु भर्तृहरि ने संघात पक्ष के समर्थन में भी कहा है कि जिस तरह सावयव वर्ण स्वयं निरर्थक होते हुए भी समुदित रूप में सार्थक हो जाते हैं वैसे ही पद भी समुदित रूप में वाक्य बन जाते हैं सार्थक हो जाते हैं—

> यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित ।
> अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ॥

—वाक्यपदीय २।५४

संघातवर्तिनी जाति

कुछ आचार्य शब्दजाति को ही वाक्य मानते हैं। शब्दाकृतिवाद के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं वे ही जाति वाक्यवाद में भी उपस्थित किए जाते हैं। इस मत में सम्पूर्ण वाक्य एक शब्द है और यह शब्द जातिनिबन्धन है। शब्दाकृति वाक्यवाद की उपपत्ति भ्रमणत्व जाति के आधार पर की जाती है। भ्रमण आक्षेपविक्षेपजनित होता है। उसमें कम्पन, रेचन, उत्क्षेपण आदि भेद हो सकते हैं किन्तु भ्रमणत्व जाति एक ही है। भ्रमणत्व में उन भेदों का ग्रहण नहीं होता। यदि भ्रमण की आवृत्ति की जाय तो प्रत्येक आवृत्ति में भ्रमणादि क्रिया द्वारा भ्रमणत्व जाति अभिव्यक्त होती है। वर्ण, पद, वाक्य भी ध्वनियों से व्यंजित होते हैं। इनमें भेद तुल्य और अतुल्य ध्वनि उपव्यंजन है। वर्ण अप्रचित ध्वनिव्यंग्य है। उसके सदृश दूसरी ध्वनियों से निरवयव पद व्यंजित होता है। उसी तरह तुल्य अतुल्य प्रचिततम ध्वनियों से वाक्य व्यंजित होता है।[2]

पुण्यराज ने शब्दाकृति वाक्यवाद को जातिस्फोट माना है।[3]

देवदत्त गाम् अभ्याज इस वाक्य में देवदत्त आदि वर्णों से भिन्न अनेक आधारवाली किन्तु एक जाति है। यह विभिन्न वर्णध्वनियों से अभिव्यक्त होती है। नित्य है। निरवयव है। वही वाक्य है।

निरवयव वाक्यवाद

वाक्य एक है निरवयव है। वाक्य में अवयवों की कल्पना बाद में की जाती है। मूल

---

1. वाक्यपदीय २।२८, ३१। पुण्यराज के अनुसार इन श्लोकों में अभिन्निवर्णवाद और वर्णों का भिन्नानन्द दोनों की आलोचना की गई है।—'द्वयमपि [illegible] दूषण' पक्षादि वाक्य तत्त्व [illegible]।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।२८

2. [illegible] वाक्य [illegible] । [illegible] । [illegible] निरवयव [illegible] । [illegible] वाक्यमिति ।

—वाक्यपदीय २।२१ हरिवृत्ति

3. [illegible] वाक्यम् । वाक्यपदीय २।२१

रूप म वाक्य एक अविच्छिन्न, अपने आप म पूण वस्तु है। वाक्य के निरवयव रूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणो न चित्रबुद्धि, पानकरस मयूराण्डरस आदि का सहारा लिया है। चित्र एक है। अनश है। चित्र को हम सवप्रथम उसकी समग्रता म ही देखते हैं, वह अपन पूणरूप म हमारे सामने रहता है। बाद म चित्र क भिन भिन भाग म दष्टि जाती है और उसे समझन अथवा समझाने के लिए उसके भिन भिन अवयवो और रगो आदि पर हम विचार करने लगते है। इसी तरह स वाक्य भी अपन आप म पूण है। निरवाश है। अवयवरहित है। उस समझने के लिए हम उस शब्दा म बाटत हैं, तोडत हैं शब्दा का एक-दूसरे स सम्बध जोडकर हम वाक्य का विश्लेषण करते हैं और इस तरह उसके भाग प्रस्तुत करते हैं। किन्तु मूलरूप म वाक्य म भाग नही है। वह निर्भाग है।[१]

पानकरस-षाडव शवत म अपने आप म विलक्षण रस है। निरश है। किन्तु उसक विश्लेषण करते समय मधुर तिक्त अम्ल, कटु कषाय आदि रसा अथवा औषधिया को सामने लाया जा सकता है। इसी तरह वाक्य अभिन्न है। किन्तु वण, पद आदि के रूप म उस विभक्त दिखाया जा सकता है।[२]

जिस तरह मयूर के अण्डे म—उसके रस म भावी मयूर के अग प्रत्यग चन्द्रक आदि अविभक्त रूप म पडे रहत हैं बाद म विभक्त होकर अलग अलग अवयव के रूप म प्रत्यक्ष होते हैं उसी तरह वाक्य म पद आदि अविभक्त रूप म होते हैं। उनकी अलग अलग सत्ता व्याख्यान के सहारे सामने आती है।

अथवा जिस तरह पद के सम्यक ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति प्रत्यय म विभक्त करते हैं। किन्तु प्रकृति प्रत्यय काल्पनिक हैं, वास्तविक नही। उसी तरह वाक्य का समझान के लिए हम अपोद्धार पद्धति से उसे पदा म विभक्त करत हैं, किन्तु पद भी प्रकृति प्रत्यय की तरह कल्पित अथवा असत्य हैं। वास्तविक नही। वास्तविक केवल वाक्य है। ऋषभ, वृषभ उदक यावक शब्दा म कुछ ध्वनिया समान हैं किन्तु अथ की दृष्टि से निरथक हैं। केवल दूसरो को समझाने के लिए अन्वय व्यतिरेक दिखाने के लिए उनकी सत्ता मान ली जाती है। सब तरह के विभाग, प्रक्रियाभेद न जानन वाला को जनान क लिए कल्पित रूप म मान लिए जाते हैं। वस्तुत वाक्य का विभाग नही होता। विभाग का आश्रय यथासभव शीघ्र बोध करान के लिए लिया जाता है। अविभक्त का विभक्त के आश्रय से ज्ञान करना लघुप्रक्रमा पद्धति है। गुरुप्रक्रमा पद्धति प्रतिपद पाठ की तरह देर म बोध कराने वाली है। कुशल व्यक्ति वह है जो भेद को अभेद के

---

१ चित्रस्यैक रूपस्य यथा भेदनिदर्शनै ।
नीलादिभि समाख्यान क्रियते भिन्नलक्षणै ॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सवत ।
शब्दान्तरै समाख्यान साकाङ्क्षैरनुगम्यते ॥ वाक्यपदीय २।८,९

२ पानक रस का उदाहरण पुण्यराज ने रखा है जो उपयुक्त नहीं है। इससे तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस तरह मधुर तिक्त, अम्ल, लवण आदि रसों के योग से विलक्षण पानक रस की निष्पत्ति होती है उसी तरह पदों के योग से विलक्षण वाक्य की सिद्धि होती है।

आश्रय ले लेता है

> पदप्रतिपत्तिपूर्विका हि सामान्यविशेषावग्रहोपाया सत्पुरुषमात्र विभागेना विभक्तस्य प्रतिपत्तिः प्रकृतिप्रत्ययादि प्रतिपत्तिवत् । गुरुप्रक्रमा त्वत्र तत्त्वरूपस्य प्रतिपत्तिरविभागेन प्रतिपदपाठवत् । कुत्सस्तु प्रतिपत्ता तथैव भेदम भेदानतिक्रमेण पश्यति । प्रक्रियाभेदस्तु शास्त्र विभागनिबन्धनम् ।
>
> —वाक्यपदीय २।१२ हरिवृत्ति

ब्राह्मणकम्बल शब्द में यदि ब्राह्मण शब्द का अलग उच्चारण किया जाय श्रोता को ब्राह्मण शब्द के सुनने पर भी और इस तरह से अर्थ के प्रतीयमान होने पर भी उसके अभिप्राय की प्रतीति नहीं होगी और इसीलिए उसके लिए ब्राह्मण शब्द अनर्थक ही होगा। इसी तरह देवदत्त गाम अभ्याज जैसे वाक्य में भी देवदत्त आदि शब्दों का अलग अलग ग्रहण होने पर भी उनका अलग अलग अर्थ नहीं है और इसलिए वे पृथक् रूप में अनर्थक हैं।

भर्तृहरि के अनुसार अक्रम क्रम रूप में जान पड़ता है जो अविभाज्य है वह विभागापन्न सा हो जाता है। वाक्य का मूल स्वरूप अविभक्त है, एक है इसलिए पूर्ण वाक्य एक शब्द है। अखण्ड है। अविभक्त या विभक्त शब्दभाग द्रुता मध्यमा और विलम्बिता वृत्तियों के आधार पर दोनों उच्च उपांशु परमोपांशु और सहृतक्रम के रूप में हो सकता है। इनमें वाक्यात्मक शब्द के दोनों और उच्च रूप तो परमवद्य हैं किन्तु उपांशु परमोपांशु और सहृतक्रम दूसरों द्वारा नहीं जाने जा सकते। उपांशु में प्राणवृत्ति का योग तो रहता है किन्तु शब्दध्वनि को अन्य कोई सुन नहीं सकता। परमोपांशु दशा में शब्द बुद्धिसमाविष्ट रहता है उसमें प्राणशक्ति का समावेश कभी नहीं होता। सहृतक्रम दशा में बुद्धि में शब्द अक्रम रूप में समाविष्ट माने जाते हैं। शब्द भी अव्यक्त रूप में रहते हैं यदि क्रम संभावित हैं तो अध्यारोप के रूप में ही। भर्तृहरि के अनुसार वक्ता जब कुछ कहना चाहता है अक्रम रूप में अथवा असंसृष्ट रूप में अवस्थित शब्द पहले उसकी बुद्धि में पुनः प्रयत्न प्राण करण आदि के सहारे क्रम रूप में परिणत हो जाते हैं और श्रोता को भी क्रमरूप में जान पड़ते हैं। किन्तु क्रम रूप में शब्द के उपलब्ध होने से और उसी के व्यावहारिक होने पर भी शब्द के मूल अक्रमस्वरूप का विघात नहीं होता। जैसे आकाश के अलग अलग विभाग आश्रयभेद से संभव हैं किन्तु मूल आकाश एक है वैसे ही बुद्धिगत मूल वाक्य एक है एक शब्द रूप में है निरवयव है

> संसृष्टशक्तयश्च क्रमसंहारेण समाविष्टवाचा प्रयोक्तृणां शब्दा बुद्धौ प्रयत्ने करणेषु च क्रमवर्तितामनुभूय प्रतिपत्तृष्वपि क्रमप्रत्ययस्तमयेनैव समावेशेन प्रतिपद्यन्ते। तत्रोपलब्ध्युपायानुपाती क्रमवर्तिलक्षितो भेदो व्यावहारिकमपि शब्दतत्त्वं नानुपतति। क्रमसंहारानाश्रयेण (?) हि व्यवहार एव विच्छिद्यते। तस्माच्च नभोगादिवत (?) प्राप्तदेशविभागका यत्र बुद्धि ॥ एताद्यतयोरेको वाक्याख्य शब्द इति।
>
> —वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति

पुण्यराज ने इस अक्रम रूप का स्फोट नाम दिया है और अनवयव पक्ष को व्यक्ति स्फोट का रूप माना है

परमार्थतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभास । उपाधिवशात्तु तत्र बुद्धि वितितेवानुगम्यत इति बोद्धव्यम । अनेन एकोऽनवयव शब्द इत्युद्दिष्टस्य व्यक्तिस्फोटस्य स्वरूपमुक्तम ॥

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।१३

मल्लवादि ने वाक्य के अनवयव स्वरूप का आधार भवन (द्रव्य) का अनवयव होना माना है। भवन अर्थात भाव एक और अखण्ड होता है। वाक्य भी भाव है अत वह भी अनवयव होगा

एकोऽनवयवशब्दो वाक्याय । भवनस्यानवयवत्वात । इह तु द्रवति भवतीति द्रव्य भवन भाव ।

—द्वादशारनयचक्र पृ० ३०३

वादिदेव सूरि ने किसी मत के आधार पर, आकार के आश्रय से अखण्ड-वाक्यवाद को उद्धत किया है। इस मत मे वर्ण पद कल्पित हैं। वाक्य निर्विभाग है

अन्ये तु अोङ्काराद्यनवयव शब्द परिकल्पितवर्णपदविभागो वाक्यमित्याहु ।

—स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६४५

वाचस्पति मिश्र ने निरवयव वाक्य का उल्लेख माया द्वारा वर्ण और पद की मिथ्या प्रतीति के रूप मे किया है

अनवयवमेव वाक्यम । अनाद्यविद्योपदर्शितालीकवर्णपदविभागमस्या निमित्त मिति केचित । तत्त्वबिन्दु पृ० ६ मद्रास सस्करण

अनवयव वाक्य की समीक्षा मे धर्मकीर्ति ने कहा है

एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो गत्यसम्भवात—१।२५० (२५३)

कालभेद एव न युज्यते । गृहीतस्य क्रमेण प्रतिपत्ति युक्ता । गृहीतागृहीतयोर भेदात । गृहीतागृहीताभावात । क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्ति दृष्टा । सर्ववाक्य व्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्त । वर्णरूपा सत्यनिश्चयबुद्धिप्रतिभासित शब्दात्मनो प्रतिभासनात । वर्णानुक्रमप्रतीते । तदविशेषेऽप्यनुक्रमकृतत्वाद वाक्यभेदस्यानुक्रमवती वाक्यप्रतीति । वर्णानु क्रमोपकारानपेक्षणे त यथाकथचित प्रयुक्तरपि यत किचिद वाक्य प्रतीयत । विना वा वर्ण । त अनुक्रमवदभि अक्रमस्योपकारायोगात । अक्रमेण च व्याहर्तु अशक्यत्वात । तत्र तराभावाच्च । न च वाक्ये वर्णा सन्ति । तदक्रमेव शब्दरूप व्यञ्जकानुक्रमवशादनुक्रमवद वर्णविभागवच्च प्रतिभातीति चेत अनुक्रमवता व्यञ्जकेनाक्रमस्य व्यक्ति प्रयुक्तता । व्यक्ताव्यक्तविरोधात । श्रवणभागे च वाक्येऽसकलश्राविणो सकलवाक्यगति न स्यात । एकस्य भागलाभावात । सकलश्रुतावा कस्यचित ।

—प्रमाणवार्तिक—पृ० १२८।१२९ रोम सस्करण।

धर्मकीर्ति का अभिप्राय है कि यदि वाक्य को निरवयव माना जाय, उसमे

क्रम का आभास संभव नहीं होगा। काल भेद ही नहीं सिद्ध होगा। एक ही वस्तु का क्रम से ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि गृहीत और अगृहीत के अभाव होने से यहां गृहीत और अगृहीत में अभेद है। वाक्य के ज्ञान में क्रम देखा जाता है। पूर्णवाक्य के उच्चारण, श्रवण, स्मरण में काल अनेकक्षण व्याप्त हो सकता है। ऐसा शब्द नहीं होता जिसमें वर्ण सस्पर्श का आभास न होता हो। (शब्द में) वर्ण के अनुक्रम की प्रतीति होती है। यदि वर्ण के स्पर्श अस्पर्श प्रश्न छोड़ भी दें तो भी अनुक्रम के आधार पर वाक्यभेद होता है और इसलिए वाक्य की प्रतीति में अनुक्रम रहता है। यदि वर्ण के अनुक्रम के आधार पर वाक्य प्रतीति न मानी जाय तो वर्णों के प्रयुक्त होने पर भी वाक्यप्रतीति नहीं के बराबर होगी। अथवा अन्यथा प्रतीत होने लगेगी। अथवा बिना वर्णों के भी होने लगेगी। अनुक्रम वाले वर्णों का अक्रमवस्तु के साथ कोई सहयोग संभव नहीं है। अक्रम रूप में तो वाक्य का उच्चारण भी संभव नहीं है कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि वाक्य में वर्ण नहीं है वाक्य अविच्छिन्न है एक शब्द रूप है, केवल व्यंजक ध्वनियां के अनुक्रम के कारण वाक्य भी अनुक्रमवाला और वर्ण विभागवाला-सा जान पड़ता है तो यह भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि अनुक्रम वाले व्यंजक से क्रम रहित वाले अक्रम की अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त में परस्पर विरोध है। यदि वाक्य में वर्ण विभाग न माना जाय उसे अखण्ड माना जाय तो वाक्य के केवल एक भाग के सुनने वाले को केवल उसी भाग के अर्थ का ज्ञान न हो सकेगा (जो कि होता है) अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण में पूर्ण वाक्य का ज्ञान होने लगेगा (जो कि किसी को नहीं होता)।

निरवयव वाक्यवाद पर किए गए धर्मकीर्ति के उपर्युक्त आक्षेपों के समाधान की चेष्टा मण्डन मिश्र ने की है। मण्डन मिश्र ने पहले धर्मकीर्ति के आक्षेपों का उल्लेख विस्तार से किया है और इसके बाद उनका उत्तर अति संक्षेप में दिया है। उनके शब्द निम्नलिखित हैं

> एकस्वेऽपि क्रमशो गतिरनुपाख्येयोपाख्येयाकारप्रत्ययभेदेन पुरस्तात् प्रपंचिता। व्यंजकसादृश्यात्तु शब्दान्तरग्रहणाभिमान, तेन नाश्रवण सकलश्रवण वेति।
>
> —स्फोटसिद्धि पृ० २२८।२२६

मण्डन मिश्र का अभिप्राय यह है कि वाक्य को अखण्ड मानकर भी क्रम प्रतीति का निवारण अनुपाख्येय आकार और उपाख्येय आकार वाले ज्ञान भेद के आधार पर हो जायगी। वह ज्ञान अनुपाख्येय माना जाता है जिसे बुद्धि निश्चित रूप से (इदं तत् रूप में) ग्रहण नहीं कर पाई होती है। ध्वनियों से पहले अनुपाख्येय आकार वाले प्रत्यय (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं और वे पुनः स्वयं अनुपाख्येयाकार वाले प्रत्यय बार-बार घटित होने से अभ्यास आदि से, उपाख्येयाकार प्रत्यय हो जाते हैं। वर्ण या पद के क्रम रूप स्वीकार करने पर ध्वनियों के समुदित रूप में एक साथ न होने के कारण अन्त्य बुद्धि से उनका ग्रहण भी ठीक से नहीं हो पाएगा। संपूर्ण भी शब्द स्वरूप अभिव्यक्त होकर भी जब तक बुद्धि में आविष्ट न हो पाया

हो तब तक वह अनुपलब्ध सा रहेगा और उससे व्यवहार न हो सकेगा। इसलिए वर्णक्रम को मानकर अनुपाख्येयाकार और उपाख्येयाकार प्रत्यय भेद के आधार पर अखण्ड वाक्य की प्रतिपत्ति संभव है।

धर्मकीर्ति के दूसरे आक्षेप—अवणपक्ष में वाक्य के केवल एक भाग के सुनने पर उस भाग का अर्थ न भासित होना अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण से पूर्ण वाक्य का भान हो जाना—के उत्तर में मण्डन मिश्र का कहना है कि व्यंजक ध्वनियों के सादृश्य से वर्ण पद आदि का आभास होता है वस्तुतः वाक्य एक अवर्ण है। इसलिए अश्रवण अथवा सकलश्रवण का प्रश्न नहीं उठता। स्फोटसिद्धि के टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर (द्वितीय) के अनुसार वाक्य के निर्भागपक्ष में भी भ्रांति से भाग की प्रतीति होती है अतः अश्रवण या सकलश्रवण का आरोप असंगत है

> तेन कारणेन परमार्थाभागपक्षेऽपि भागशो ग्रहणमुपपद्यत एव न पुनः अश्रवणं वा सकलश्रवणं वापद्यतेति।
>
> —स्फोटसिद्धि टीका पृ० २३६

कर्णकगोमी ने मण्डन मिश्र के उपर्युक्त तर्क को महत्त्व नहीं दिया है। उनके मत में सकल असकल वर्ण भाग के भान के समय अखण्ड वाक्य का श्रवण ही नहीं होता। दूसरी बात यह है कि वाक्य के ग्रहण के अवसर पर वर्ण ग्रहण की बात भी अयुक्त है। वर्णात्मक और अवर्णात्मक सदृश नहीं माने जा सकते इसलिए व्यंग्य और व्यंजक में भी सादृश्य नहीं हो सकता

> तेनयदुच्यते मण्डनेन "व्यंजकसादृश्याच्च वाक्ये सवर्णग्रहणाभिमान तेन नाश्रवणं सकलश्रवणं वेति स्थास्तम। सकलासकलवर्णभागप्रतिपत्तिकाले निष्कलस्य वाक्यस्याश्रवणात। न हि "व्यंग्यव्यंजकयोः सादृश्य वर्णावर्णात्मकत्वेन विसदृशत्वात्। ततः कथं वाक्ये वर्णात्मग्रहणाभिमान इति यत्त किं चिदेतत्।
>
> —कर्णकगोमी प्रमाणवार्तिक टीका, पृ० ४६८, ४६६

जयन्त भट्ट ने वाक्य के निरवयववाद के विरोध में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं वाक्य निरवयव नहीं है। सावयव है। प्रति वाक्य में पद और उसके अर्थ का अलग अलग आभास स्पष्ट रूप से होता है। और जब अवयव विभाग का ग्रहण नहीं होता वाक्य और वाक्यार्थ का भी आभास नहीं होता। इसलिए मान लेना चाहिए कि अवयव प्रतीति होती है। उस प्रतीति को भ्रान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि भ्रान्ति का कोई आधार होना चाहिए। सादृश्य को भ्रांति का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि किसका किसके साथ सादृश्य है यह स्पष्ट नहीं है। यदि कोई मुख्य अवयव प्रसिद्ध हो उनके सादृश्य से अन्यत्र सादृश्य के न रहते हुए भी सादृश्य जान भ्रम हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। पूर्ववाक्य भी आपके मत में भाग रहित हैं। नरसिंह में भी नर के अवयव और सिंह के अवयव अलग अलग दिखाई देते हैं ऐसा ही यहां भी माना जाय तो किसी वाक्य में अवयवों की सत्ता माननी पड़ेगी। चित्र आदि के जो उदाहरण निरवयव पक्ष के समर्थन में दिए गए हैं वे भी

उपयुक्त रहा है। चित्र में भी हस्तादि पद आदि के रूप में अवयवों का आभास होता है। पानकरस में भी स्वर इलायची आदि द्रव्यों का भान होता है। संगीत में भी षड्ज ऋषभ, गान्धार आदि स्वर पृथक् सत्ता रखते हैं इसलिए ये सब भी निर्भाग नहीं माने जा सकते। इसलिए वाक्य या वाक्यार्थ निर्भाग रूप में नहीं स्वीकार किए जा सकते।

—न्यायमंजरी पृ० ३५२ ३५३

किसी दर्शन के अनुसार वर्ण पद से अतिरिक्त बाह्य किसी वाक्य के न होने से वाक्याकार बुद्धि ही वाक्य है। तदनन्तर द्रव्य जाति गुण क्रिया आदि के संसर्ग के आभास से उत्पन्न होने वाली बुद्धि ही वाक्यार्थ है। यहाँ बाह्य वाक्यार्थ नहीं है। क्योंकि प्रमाण से अधिक या अनधिक के रूप में उसका निरूपण संभव नहीं है

केचित् वर्णपदातिरिक्तस्य बहिर्भूतस्य वाक्यस्याभावात् वाक्याकारा बुद्धिरेव वाक्यम् तदनन्तर चानेकजातिगुणद्रव्यक्रियासंसर्गाभासात् जायमाना बुद्धिरेव वाक्यार्थो न बाह्यः। पदार्थातिरेकेणानतिरेकेण वा निरूपणासम्भवात्।

—पार्थसारथि, श्लोकवार्तिक व्याख्या पृ० ८७१

इस मत और वैयाकरणों के निरवयव वाक्य मत में केवल इतना ही भेद है कि पहले मत के अनुसार वाक्य की बाह्य सत्ता नहीं है जबकि निरवयववादी वाक्य की बाह्य सत्ता मानते हैं।

कुमारिल भट्ट ने दोनों मतों की समीक्षा में लिखा है कि थोड़े से ही पदों से अनन्त वाक्य बनाए जा सकते हैं। निर्भाग वाक्यवादी को अनन्त अर्थ के लिए अनन्त वाक्यों की और अनन्त कल्पित शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। यह गौरव है। स्वभाववादी (बुद्धिवादी) को भी अदृष्ट अनन्त शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी।[1]

वैयाकरणों ने वाक्य के निरवयव स्वरूप को सिद्धान्ततः मानते हुए भी वाक्य में अवयव का आभास माना है। और अवयव की प्रत्यभिज्ञा भी स्वीकार की है। किन्तु इसका कारण उनके मत में सादृश्य है। वाक्य नानाजातीय अनेक ध्वनियों से व्यंग्य है। एक वाक्य की ध्वनियाँ भी किसी दूसरे वाक्य की व्यंजक ध्वनियों के सदृश हैं। इसलिए निर्भाग वाक्य दूसरे वाक्यों के सदृश जान पड़ सकता है। नरसिंह में कुछ भाग नर सदृश है कुछ भाग सिंह सदृश है, इस तरह अवयव के सादृश्य के आधार पर सादृश्य का आभास होता है। वाक्य में भी सादृश्य उपाधि के भेद से अवयव भेद झलकता है। ध्वनि के सादृश्य से ही अवयव के भी सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा होती है।[2]

---

१ श्लोकशतानुप्रवेशेऽर्थे बहुशक्तिप्रमाणता। श्लोकवार्तिक ७।१२२ पृ० ८८०

२ वैयाकरणैः निरवयवत्वेऽपि वाक्यानामवयवप्रतिभासः अवयवप्रत्यभिज्ञायाश्च सादृश्यं कारणमुक्तम्। ध्वनयः सदृशाभासो विपर्यासस्य कारणमिति। नानाजातीयानेकध्वनिव्यंग्यं हि वाक्यम्। ते च ध्वनयः प्रत्येकं वाक्यान्तरव्यंजकध्वनिसदृशाः निर्भागस्यापि वाक्यस्य तत्तद्वाक्यसादृश्यम्, नरसिंह इव केनचिद् भागेन नरसादृश्यं केनचिच्च सिंहसादृश्यं भागशः सम्पादयन्तः सादृश्योपाधिभेदात् अवयवभेदमिव वाक्यं दर्शयन्ति। ध्वनिसादृश्यादेव अवयवानामपि सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञापि भवतीति।

—पार्थसारथि, श्लोकवार्तिक व्याख्या पृ० ८८०

कुमारिल भट्ट के अनुसार निरवयव वाक्यवादी को महावाक्य और अवान्तर वाक्य म भेद नही मानना पडेगा। यदि भेद माना जायगा तो दो वाक्यो से दो अथ स्वतत्र रूप से सामने आयेंगे।[1]

किन्तु इसका उत्तर वयाकरण यह देते हैं कि जिस तरह स अपोद्धार पद्धति पर पद की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है उसी तरह उसी पद्धति से अवान्तर वाक्य की भी सत्ता मान ली जायगी। यथाथ दृष्टि से वाक्य म जसे पद की सत्ता नही है महा वाक्य म अवान्तरवाक्य की भी सत्ता नही है।

क्रम-सिद्धान्त

क्रम को वाक्य माननेवाले आचाय का अभिप्राय यह है कि क्रम के अतिरिक्त वाक्य की सत्ता नही है। वस्तुत इस मत म वाक्य की सत्ता ही नही स्वीकृत है। ध्वनि समूह से अथवा पद समूह स जो कुछ अथ भासित होता है वह क्रम के कारण होता है। अत क्रम ही मुख्य है। उससे भिन्न वाक्य नाम का किसी वस्तु की सत्ता नही है। क्रम क्या है? क्रम शब्द स भिन्न वस्तु है। क्रम का सम्बन्ध काल स है। काल मे प्रतिब ध और अभ्यनुज्ञा य दो प्रकार की शक्तियां हैं। शब्द की ग्राह्य अभिव्यक्ति इन दोनो शक्तियो की सक्रियता स होती है। इसलिए श्रोता को शब्द का श्रवण और अथ का अनु गमन कालवृत्ति के अधीन है। शब्दो म जो क्रम है उसे काल शक्ति का उनमे सन्नि वेश समझना चाहिए। अत क्रम कालशक्ति स भिन्न वस्तु नही है क्रमो हि शब्देषु कालशक्तिरूपविशेषस्य निवेश इव। स कालात्मनो न व्यतिरिच्यते।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

पदो के नियत सन्निवेश म एक विशेषता आ जाती है। यदि विशेष ही वाक्य है तो यह विशेष क्रमजन्य है। अत क्रम ही वाक्य है। इस मत म पद म अथ सत्ता मानी जा सकती है किन्तु वाक्य एक प्रलापमात्र है

तेन वाक्यमित्यवस्तुकमेवेद अभिलापमात्र पदमेवाथवदिति।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

क्रमशक्ति का आविर्भाव पदो के सन्निवेश म होता है केवल वर्णों के सन्निवेश म नही होता। यद्यपि क्रम की सत्ता वर्णों म भी है किन्तु अथबोध केवल वण से नही होता, पद से होता है। वर्णक्रम को पद और पदक्रम को वाक्य कहा जा सकता है किन्तु व वाचक नही हैं। वाचकता केवल क्रम म है।

सतानवृत्ति का नाम क्रम है। पद चाहे वे अनथक रूप मे माने जाए अथवा न्याय के कारण साथक रूप म स्वीकार किये जाय, सब तरह से क्रम स उच्चरित होकर ही अपने से कुछ भिन्न वाक्याथ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए क्रम वाक्य है।[2]

---

१ श्लोकवार्तिक ७।२४७ पृ० ८८६ चौखम्बा सस्करण

२ वाक्यपदीय २।४९

क्रमवाद की समीक्षा

पदक्रमवाक्य वाद में, कुमारिल के मत में मुख्य दोष यह है कि पदक्रम को वाक्य मानने पर पदक्रम के भेद से वाक्य में भी भेद होने लगेगा। गौ शुक्ल का जो क्रम है वही शुक्लो गौ का नहीं है। यदि पदक्रम को वाक्य माना जाय तो यहाँ दो वाक्य मानने पड़ेंगे और वाक्य भेद से अर्थ भेद भी होने लगेगा।[1] पार्थसारथि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वर्णक्रम को पद मान लेना तो ठीक भी हो सकता है क्योंकि वह अर्थ के ज्ञान में साधन है यदि वर्ण के क्रम अन्य हो जायें तो वही अर्थ नहीं निकलेगा। किन्तु पदक्रम साधन नहीं है। संस्कृत में पदक्रम के अन्य होने पर भी अर्थ वही होगा। वाक्यार्थ ज्ञान में पदक्रम उपायभूत नहीं है। उपायभूत मानने पर क्रमभेद से वाक्यार्थ भेद होगा।[2]

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है क्रमसिद्धान्त के समर्थक आचार्य पदक्रम को वाक्य न मानकर वाक्य की सत्ता ही नहीं मानते हैं। तेन वाक्यं न विद्यते।[3] पदाख्या वाक्यमेता वा शास्त्रज्ञ नप्यते तथा[4] आदि वचनों द्वारा भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है कि क्रम का नाम वाक्य नहीं है किन्तु क्रम वही काम करता है जो अन्य दर्शन में वाक्य करता है। और इसी दृष्टि से क्रम को वाक्य कहा जाता है। अन्यथा क्रम और वाक्य भिन्न भिन्न वस्तु है। वाक्य का सम्बन्ध शब्द से है। क्रम का सम्बन्ध काल से है। दूसरे शब्दों में वाक्य शब्द धर्म है क्रम कालधर्म है। क्रम अपने आप में अशब्द है।

बुद्ध्यनुसंहारवाद

शब्द का मुख्य स्वरूप बाह्य नहीं है आन्तरिक है। लिपि शब्द नहीं है। किन्तु शब्द का प्रतीक अथवा संकेत है। और इसलिए अक्षर चिह्नों को शब्द कह दिया जाता है, किन्तु अक्षर चिह्न स्वयं शब्द नहीं है। वे वास्तविक भी नहीं है। इसी तरह बाह्य ध्वनि शब्द का संकेत है। शब्द का वास्तविक रूप आन्तरिक है। बाह्य ध्वनि अक्षर चिह्न की तरह प्रातीतिक है। अन्तः शब्दतत्त्व अक्रम है। यद्यपि वह क्रम काल भागों (वर्ण अथवा नाद) से व्यक्त किया जाता है किन्तु अपने आप में वह अक्रम है क्रम रहित है। क्रम वाले वर्ण या नाद या भाग अक्षर चिह्नों जैसे हैं और उन्हीं की तरह अयथार्थ है। ये आन्तरिक शब्द को अभिव्यक्त करते हैं। उस अक्रम रूपवाले आन्तरिक शब्द का दूसरा नाम बुद्ध्यनुसंहार है। उसमें पदरूप विभक्त नहीं है। वह एक शब्द है। और एक शब्द शब्द को एक वाक्य कहते है

---

१ श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण ५५
२ श्लोकवार्तिक व्याख्या, न्यायरत्नाकर ७५५
३ वाक्यपदीय २।५०
४ २।५२

स चैव बुद्ध्यनुसंहारलक्षण आन्तर शब्दात्मा तत्र समाम्नात ।
तस्यचेत्थभावे विच्छिन्नपदस्वप्रविभागदर्शन एक एवाय वाक्यार्थ ।

—वाक्यपदीय २।३० हरिवृत्ति

भर्तृहरि के मत म आन्तर शब्द दो शक्तियो से सम्पन्न है—अनपायिनी शक्ति और अपायिनी शक्ति। उस शब्दात्मा में प्रकाशक और प्रकाश्य दोनो सपृक्त है। शब्द प्रकाशक है। अथ प्रकाश्य है। यद्यपि प्रकाशक और प्रकाश्य आन्तर शब्द में परस्पर सपक्त हैं, अविभक्त है, फिर भी प्रकाशक मे प्रकाश्य विभक्त जसा जान पड़ता है। इसी तरह से काय और कारण दोनो आन्तर शब्द में सश्लिष्ट हैं। कारण और काय एक दूसरे से आश्रित हैं। और अपने मूल रूप में उस शब्दात्मा में अभिन्न रूप से अवस्थित हैं। किंतु व्यवहार दशा में एक दूसरे स विभक्त जान पडते हैं। मिथ्याभ्यास भावना के कारण अभेद में कल्पित भेद की सृष्टि होती रहती है और इस तरह जो अविशेष है वह विशेष जान पडता है। आन्तर शब्द की अनपायिनी शक्ति का सबध उसके अविभक्त स्वरूप से है और अपायिनी शक्ति का सबध उसके प्रतिभासिक विभक्त स्वरूप से है। वस्तुत अन्त शब्द तत्व में भाव अभाव का विभाग नही है। शक्ति भेद से भेद का आभास होता है।

उस आन्तर शब्द में अस्तित्व और व्यस्तित्व भाव और अभाव उसके एकत्व का अतिक्रमण नही करते। दोनो एक ही की दो शक्तिया है। अक्रम में क्रम का सवेदन अभाव स भाव दशा का उन्मीलन है। बुद्ध्यनुसहार पक्ष में शब्दार्थतत्त्व अन्तर्मात्राभिनिवेशी है। पुण्यराज ने बुद्ध्यनुसहार को ही आन्तरस्फोट माना है

आभ्यन्तरस्य स्फोटस्य तु बुद्ध्यनुसहृतिरित्यनेनोपदेश ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय टीका २।१

शब्द का मुख्य रूप शब्द की आत्मा वाक्तत्त्व एक है अभिन्न है अन्तर्निवेशी है, अव्यपदेश्य है। जिस तरह से शब्द, मुख्य रूप में, बुद्धिगत है उसी तरह अर्थ भी बुद्धिगत है। बुद्धिगत अर्थ भी अव्यपदेश्य है किन्तु क्रम से उपचित होकर प्रत्ययनियत रूप में उत्पन्न होकर बाह्य वस्तु रूप में व्यवहार का विषय बनता रहता है। शब्द नित्यत्व पक्ष में, बुद्धिगत अर्थ क्रमाक्ति के सहारे विवर्त रूप में प्रकट होता है। जब तक बुद्धि में अर्थ का स्वरूप स्थान न प्राप्त कर लिया हो वह बाह्य वस्तु के रूप में व्यावहारिक अर्थ क्रिया में समर्थ नही हो सकता। इसलिए सभी बाह्य व्यवहार का आधार अन्तर्निविष्ट अर्थ है। शब्द और अर्थ एक ही वाक्यात्मा के दो स्वरूप हैं। अर्थ भाग के द्वारा आन्तरिक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। पुण्यराज ने इस आन्तरिक अर्थ को प्रतिभात्मक अखण्ड वाक्यार्थ माना है। (वाक्यपदीय २।३१)

जैन दर्शन में बुद्ध्यनुसहृति को विज्ञान के सहारे स्थापित किया गया है। विज्ञान शब्द है। विज्ञान ही शब्दार्थ है। रूप रस घट पट आदि बाह्य वस्तु विज्ञान स उद्बुद्ध होते है। विज्ञान कल्पना है अभिजल्प है बुद्ध्यनुसहृति है। वही वाक्य है।

वही वाक्यार्थ है।[1]

प्रभाचन्द्र ने बुद्ध्यनुसंहृति को दो वर्गों में विभक्त कर बुद्धिवाक्यपक्ष और अनुसंहृतिवाक्यपक्ष की कल्पना की है।[2] किन्तु यह विभाग भर्तृहरि द्वारा अभिप्रेत नहीं है।

पुण्यराज ने बुद्ध्यनुसंहारवाद को बौद्ध दर्शन के वाक्यस्वरूप के सदृश माना है। उनके अनुसार शाक्य सिद्धान्त में वाक्य आन्तरिक आकार विशेष का बाह्य अध्यास मात्र है। बौद्ध आकार अनादि वाक्यवासना के प्रबोध से उद्बुद्ध होता है और क्रम रूप में भासमान किन्तु अक्रम रूप में अवस्थित पदों से विशिष्ट रूप में उभरता है। उसका बाह्य अध्यास वाक्य है। और इस तरह बुद्ध्यनुसंहृति का सहोदर-सा है।[3]

किन्तु धर्मकीर्ति ने वाक्य की बुद्धिग्राह्यता को नहीं माना है। समस्त वर्ण संस्कारवाली अन्त्य बुद्धि से वाक्य का अवधारण कपोलकल्पना मात्र है। अक्रम एक बुद्धिग्राह्य वाक्य संभव नहीं है। वर्णों का क्रम से ही भान होता है और बिना वर्ण के संस्पर्श किए किसी को प्रतिपत्ति नहीं होती। जब कभी पद वाक्य का स्मरण होता है वर्ण सदा क्रम रूप में ही भासित होते हैं। अक्रमा बुद्धि में पूर्वापर का भान संभव नहीं है। अन्यथा पद वाक्य भेदों में कोई भेद न रह जाय।[4]

किन्तु बुद्ध्यनुसंहार पक्ष का आधार अन्त्य बुद्धि-ग्राह्यता वाला सिद्धान्त नहीं है। अतः धर्मकीर्ति की आलोचना युक्तिसंगत नहीं है।

आदिपदवाद

आद्य पद वाक्य है। जिस पद का वाक्य में सर्वप्रथम प्रयोग किया जाता है वह पद ही वाक्य है। उसी पद से अन्य पदों का आक्षेप हो जाया करता है। जो पद आरंभ में प्रयुक्त होते हैं वे या तो क्रिया पद होते हैं या कारक पद। क्रिया और कारक परस्पर अविनाभूत होते हैं उनमें साहचर्य होता है। उनमें जो भी पहले प्रयुक्त होता है अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य पद के अर्थ का आक्षेप कर लिया करता है। जैसे धूम से वह्नि का आक्षेप हो जाता है। और इस आधार पर प्रथम पद को कुछ आचार्य वाक्य मानते हैं। प्रथम पद को ही वाक्य मान लेने पर अन्य पद, इस मत में व्यर्थ नहीं होते। वे नियम अथवा अनुवाद के लिए होते हैं जैसा कि आख्यात-वाक्य वाद वाले भी मानते हैं।

भर्तृहरि ने एक अन्य प्रकार से भी इस मत का संकेत किया है। इस मत में

---

१ विज्ञानं शब्दार्थः। विज्ञानमेव हि शब्दः तच्च विज्ञानं कल्पना बुद्ध्यनुसंहृतिः वाक्यार्थः। द्वादशारनयचक्र पृ० ११५१

२ बुद्धि वाक्यम्। अनुसंहृति वाक्यम्। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४६०

३ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

४ प्रमाणवार्तिक स्वार्थानुमानपरिच्छेद पृ० ८६ कारिका [illegible] प्रकरण

विशेष शब्द सामान्य के प्रतिरूपक मान जाते हैं और वे शब्दान्तर के सबध से किसी आगन्तुक अर्थ से जुटकर केवल अनुवाद के रूप म शब्दान्तर के अर्थ को व्यक्त करते हैं।[1]

पुण्यराज ने इस मत का सम्बन्ध अभिहितान्वयवाद से जोड़ा है। उनके अनुसार 'देवदत्त गाम् अभ्याज' इस वाक्य का देवदत्त शब्द 'देवदत्त गाम वधान' इस वाक्य के देवदत्त शब्द से विशिष्ट अर्थ म ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त होता है किन्तु भ्रम से सकल साधारण जान पड़ता है। बाद म (उत्तरकाल म) गो आदि पद के सबध से विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। आरम्भ म ही सपूर्ण विवक्षित अर्थ को मन म रखते हुए वक्ता विशिष्ट पद का व्यवहार करता है। अत आद्य पद म ही सकल वाक्य और सकल वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है

तेषामेवोपगृहीतसर्वविशेषे एकस्मिन अर्थे
बहुशब्दानभ्युपगच्छतामविकल्प कृत्स्न
वाक्यार्थ प्रतिपद प्रतिवर्ण वा समाप्यते ॥

—वाक्यपदीय २।१८ हरिवृत्ति

इस मत की समीक्षा म प्राय सभी आलोचका न यही कहा है कि एक ही पद से यदि समस्त वाक्यार्थ की अवगति हो जाय, अन्य पद व्यर्थ मान जायेंगे। भर्तृहरि न इस आक्षेप के दो उत्तर दिए हैं। एक तो यह कि एक पद स सकल अर्थ का अभिव्यक्ति होन पर भी दूसरे पदा के सान्निध्य स उन अर्थों का जो पुन ज्ञान होगा वह ज्ञान वह आवृत्ति, नियम के लिए होगी। अथवा आदि पद से उक्त अर्थ को अन्य पद और अधिक स्पष्ट कर देते है। यही अनुवाद है। अत दूसरे पदा की अन्वयता नियम और अनुवाद रूप म मान लनी चाहिए। दूसरा यह कि आदि पद म सपूर्ण अर्थ व्यक्त करने की क्षमता होन पर भी अन्य पद अभिव्यजक है। उनके साहचर्य स ही सपूर्ण अर्थ व्यजित हो पाता है ("व्यक्तोपव्यजना सिद्धि —वाक्यपदीय २।१८)[2]

पुण्यराज ने नियम और अनुवाद वाले पक्ष से सतोष नही व्यक्त किया है। व्यक्तोपव्यजन वाले पक्ष के विषय म एक स्थान पर उन्होन निराशा व्यक्त की है किन्तु दूसरे स्थान पर उसका समर्थन किया है।[3]

आद्यपदवाक्यवाद के आधार पर अन्त्य पद वाक्यवाद की भी कल्पना की गई थी। यद्यपि अन्त्यवाद का उल्लेख या सकेत भर्तृहरि ने नही किया है किन्तु इस वाद की

---

१ वाक्यपदीय २।१७

२ वाक्यपदीय २।१६

३ पदाना नियमार्थानुवादार्थ वोच्चारण भवेत्। न चैतत् युक्तमिति वक्ष्याम । व्यक्तोपव्यजना इत्यसमाधानमेव। —पुण्यराज वाक्यपदीय २।१८

'यदा पुन सहभूतेष्वेवासौ प्रत्येक समाप्तोर्थ इत्युक्ते । यथोक्त "व्यक्तोपव्यजना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तिषु" (वा० प० २।१८) इति। तदा नास्त्येव सहभूतानामुपादाने कश्चिद वैफल्यम —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१६

आलोचना कुमारिल भट्ट ने की है। सुचरित मिश्र और पार्थसारथि ने स्पष्ट कहा है कि किसी (वैयाकरण) ने अन्त्यवाक्यवाद का उल्लेख नहीं किया है फिर भी उसकी संभावना कर कुमारिल ने समीक्षा की है।

जो हेतु आद्यपदवाक्य पक्ष में दिए जाते हैं वे ही अन्त्यपद वाक्य पक्ष में भी दिए जाते हैं। मुख्य होने के कारण आद्यपद वाक्य है। इसी आधार पर अन्त्य पद भी वाक्य है

अन्त्यपदवाक्यता परैरपठिताऽपि यावत् समवमुपन्यासानुपदर्शिता। एवं हि ते मन्यन्ते, मुख्यत्वादाद्यमेव पदं वाक्यमिति। अन्त्यञ्च। तदनन्तरमर्थावगते।

—सुचरितमिश्र श्लोकवार्तिककाशिका ७।४६ हस्तलेख

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने अन्त्यपदवाक्यवाद का उल्लेख पूर्वपदज्ञानाहितसंस्कार के आधार पर किया है। भर्तृहरि के अन्त्य ध्वनि से बुद्धि परिपाक वाला सिद्धान्त इस विचार का मूल हो सकता है।[1]

भोजराज एक पद में, चाहे वह आदि का हो या अन्त का, वाक्य शक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मत में यदि एक शब्द में सभी पदों के अभिधेय द्योतित करने की शक्ति मान ली जायगी, उसीसे व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। यदि गौ शब्द के उच्चारण से सकल गोगत गुण और उसकी सभी क्रियाओं की अभिव्यक्ति हो तो श्रोता को किसी एक गुण या क्रिया को अवगत करने में कठिनाई होगी। ऐसा कोई हेतु नहीं है जिससे नियत गुण अथवा क्रिया का ग्रहण हो सके। पदान्तर सन्निधान को नियामक नहीं माना जा सकता। वह भी जप, मन्त्र आदि के सदृश केवल स्वरूप मात्र से सन्निहित होता है अतः उसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[2] किन्तु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कुछ आचार्यों के अनुसार साध्य (क्रिया) नियत साधनवाला है। और साधन (कारक) नियतसाध्यवाला है। क्रिया कारक का यह नियत स्वरूप प्रति पद में अभिधेय की भांति स्थित रहता है। यह नित्य नियतत्व नियम का हेतु हो जाता है। इसलिए दूसरे शब्दों के प्रयोग के सान्निध्य मात्र से बोधकर्ता को आदि पद से (अथवा केवल अन्त्य पद से) समग्र वाक्यार्थ झलक उठता है। अतः आद्य पद वाक्य है

नियतं साधने साध्यं क्रिया नियतसाधना।
स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते॥

—वाक्यपदीय २।४७

पृथक् सर्वपद वाक्यवाद

पृथक् सर्वपद वाक्य हैं। कुछ आचार्यों के मत में सभी पद अलग अलग वाक्य हैं यद्यपि

---

१ अन्त्य च पदं वाक्यार्थ। स च पूर्वपदज्ञानाहितसंस्कारापेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ६११

२ शृंगार प्रकाश, पृ० ७७ मैसूर संस्करण

वे परस्पर साकाक्ष होते हैं। इस पक्ष में प्राय वे ही हेतु उपस्थित किए जाते हैं जो सघात पक्ष में कहे जाते हैं। जिस तरह से तीनों ग्रावा उखा को धारण करते हैं जैसे चारों वाहक शिविका को वहन करते हैं वैसे ही सभी पद वाक्य हैं और सभी पद अपने अपने अर्थ से युक्त रहते हैं।[1] 'देवदत्त गाम अभ्याज शुक्लाम' इस वाक्य में इस मत में, प्रत्येक पद वाक्य है। क्योंकि सभी पद सर्वात्मक हैं। देवदत्त भी गवात्मक है, अभ्याजात्मक है क्योंकि वह प्रवर्तक है और इसलिए उन उन रूप वाला हो जाता है। इसी तरह गो भी देवदत्त आदि के रूप में ढल जाता है अभ्याज भी तदात्मक हो जाता है।[2] भर्तृहरि की शब्दावली में, देवदत्त आदि पद की प्रत्येक परिसमाप्ति है। पृथक् सर्वपद वाक्य पक्ष में प्रत्येक शब्द सपूर्ण व्यापार वाला (कृत्स्नव्यापारकारि) है। एक एक के रहने से सपूर्ण व्यापार सपन्न होता है, एक के भी न रहने में व्यापार सपन्न नहीं हो पाता है। अत पृथक् सर्व पद को वाक्य मानना चाहिए।

सघातवाद और पृथक् सर्वपदवाद में यह भेद है कि सघात पक्ष में पद सघात परतन्त्र है जबकि पृथक् सर्वपद पक्ष में पद स्वतन्त्र हैं। सघातपक्ष में पद की स्थिति शकट के अवयव के रूप में है। शकट (गाडी) के सभी अग, मिलकर काम करते हैं किन्तु प्रत्येक अग शकट से अलग अपना कार्य नहीं कर पाता है। पृथक् सर्वपदवाद में पद की स्थिति शिविकावाहकों जैसी है। वाहक मिलकर पालकी ढोते हैं पर स्वतन्त्र भी अपना काम कर सकते हैं। वादि देव सूरि के अनुसार 'पृथक् सर्वपद साकाक्षम' में पृथक् विशेषण इसे सघातपक्ष से अलग करता है और सर्व विशेषण इसे आख्यातवाद से और आद्यपदवाद से अलग करता है

पृथगिति सघातादवच्छिनत्ति। सर्वमिति आद्य पदात आख्यातात्चावच्छिनत्ति।
तेन सर्वाण्येव पदानि अन्योन्यसापेक्षाणि प्रत्येक वाक्यमित्यर्थ।

—स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६४५

पुण्यराज ने पृथक् सर्वपदवाक्यवाद का भी सम्बन्ध अन्विताभिधानवाद से जोडा है। वाक्य में कारक सदा क्रिया का मुख देखते हैं क्रिया भी कारकों का विरह नहीं सह पाती है। इस परस्पर सम्बन्ध के आधार पर पद स्वत वाक्य का अर्थ अवगत करा देते हैं। क्रिया और कारक की परस्पर उन्मुखता सनिधान मात्र से व्यक्त हो जाती है। इसमें परस्पर मुख्य या गौण भाव आकाक्षा पर निर्भर करता है। आकाक्षा व्यपेक्षाश्रित है। भर्तृहरि के अनुसार व्यपेक्षा अर्थ में हो या न हो, शब्द में सदा सनिविष्ट सी रहती है।[3] उसे शब्द व्यक्त करता है। कारक पद क्रिया में

---

१ पृथक् स्वैस्वैरर्थैर्युक्तानि पदानि वाक्यम्। —द्वादशारनयचक्र पृ० १०७८

२ वाक्य च पृथक् सर्वपदम्। यथा देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम् इत्यनेकैक पद वाक्यम्। तस्मादेव देवदत्तोऽपि हि गवात्मकोऽभ्याजात्मकश्च। तथा प्रवर्तनात् तत्तद्रूपत्वे। तान्यपि तथा पत्ते रिति। —द्वादशारनयचक्र पृ० ४७६

३ अर्थेषु सन्नाममती वा शब्दवृत्त्यनुकारेण पुरुषो व्यपेक्षा समीहते। ता शब्द एव प्रकाशयति। सा हि नित्यनिविष्टरूपैव शब्दात्मनि।

—वाक्यपदीय २।४८ हरिवृत्ति

गुणभूत होकर अन्य पदों की आकांक्षा करता है। क्रिया प्रधान रूप में रहकर कारक पदों की अपेक्षा रखती है।[1]

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने सर्वपदवाद की एक दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। वाक्यपदीय २।१२१ के आधार पर उनका कहना है कि सभी शब्दों का सत्तामात्र अर्थ है। शब्द का अर्थ केवल प्रत्याय्य होता है। उसे निश्चित रूप से नहीं ध्यान किया जा सकता। अपूर्व देवता, स्वर्ग जैसे शब्दों के जो अर्थ भासित होते हैं वे प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनका निरूपण संभव नहीं है। इसी तरह गो आदि शब्दों को भी समझना चाहिए। गमन, आगमन, गर्जन जैसे शब्दों का अर्थ है इतना ही सत्य है उस अर्थ व्यवस्था का निरूपण विशेष रूप में संभव नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर सभी पद वाक्य हैं।[2] इस दृष्टि से पृथक् सर्वपद साकाङ्क्षम् के दो भाग हो जाते हैं—पृथक् सर्वपदवाद और साकाङ्क्ष सर्वपदवाद। सुचरित मिश्र भी इसे दो भागों में विभक्त करते जान पड़ते हैं।[3]

बौद्ध सम्प्रदाय में भी कहीं-कहीं पद को वाक्य संज्ञा दी गई है। पद ही वाक्य है। किन्तु उनकी पद की परिभाषा एक तरह से वही है जो अन्वयपरक पद समुदाय वाक्यवादियों की है

पदपर्यायो वाक्यम्। यावद्भिः अर्थपदैः पदं विवक्षितार्थपरिपूरिः (पूर्तिः) भवति तावतां समूहः पदम् इत्यभिधार्मिकाः। —अभिधर्मदीप पृ० १०६

कणकगोमी ने भर्तृहरि के नाम से एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार सभी पद अलग अलग अर्थवान् हैं और उनमें प्रत्येक में संपूर्ण अर्थ की परिसमाप्ति होती है। सभी पदों में से जिस किसी का भी प्रथम ग्रहण हो उसमें दूसरे पदों के अर्थ समाविष्ट रहते हैं वे दूसरे पद केवल नियम या अनुवाद के लिए होते हैं

यदाह भर्तृहरिः—सर्वेषां पृथक् अर्थवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्दं कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेः। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सकलार्थोपग्राहिणि नियमानुवादनिबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्ते।[4]

—प्रमाणवार्तिक टीका पृ० ४६४

इस उद्धरण से भी ऐसा जान पड़ता है कि पृथक् सर्वपद और साकाङ्क्ष अलग अलग भेद हैं।

न्यायदर्शन भी सर्वपदवाक्य सिद्धान्त का पोषक है। उसके अनुसार सभी पद में वाक्य की शक्ति है। पद वाक्य है। वक्ष इतना कहने पर भी वक्ष है ऐसा बोध देखा जाता है। पदार्थ सत्ता निरपेक्ष नहीं होता। सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः८७।

---

१ वाक्यपदीय २।४७ ४८

२ द्वादशारनयचक्र पृ० १३३

३ एकैकापायेऽपि वाक्यार्थादर्शनात् सर्वाणि वाक्यम्। परस्परोपहितानि पृथक् कल्पनाः वनि।
श्लोकवार्तिक काशिका ७।४६ हस्तलेख

४ इस उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय पर स्वयं वृत्ति लिखी थी। यह अंश वाक्यपदीय २।१ पर होगा जो आज अनुपलब्ध है।

यक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते । न सत्ता पदार्थो व्यभिचरति । तथा न ह्यसाधना क्रिया अस्ति इति ।

—योगसूत्र व्यासभाष्य ३।१७

उपयु क्त वाक्य विकल्पा के अतिरिक्त पुण्यराज ने मीमांसक, नयायिक और शाक्य मत म भी वाक्य के स्वरूप का निर्देश किया है और उनका उपयु क्त वादो मे अ तर्भाव दिखाया है । उनके मत म जमिनि का वाक्यलक्षण लौकिक वाक्यलक्षण है और उसका अन्तर्भाव सघात पक्ष म हो जायगा । वार्तिककार के वाक्यलक्षण का भी अन्तर्भाव, पुण्यराज के अनुसार, सघात पक्ष म हो जायगा ।[1]

न्यायदर्शन म पुण्यराज के अनुसार, पूर्व पूर्व पदस्मृति सचित अन्त्यपद नष्ट होता हुआ भी अनुभव का विषय बनकर वाक्य का स्वरूप लेता है । इसका भी अन्तर्भाव प्राय सघातपक्ष म हो जाता है । शाक्य दर्शन म गृहीत वाक्य का लक्षण बुद्धयनुसहृति पक्ष के समकक्ष है ।[2]

ऊपर जितने वाक्य विकल्पा का उल्लेख किया गया है इनम किसी की विशेष प्रतिष्ठा नही हुई । लोक व्यवहार म एकार्थक पदसमुदाय को वाक्य माना जाता रहा और अनेक विचारको न और वैयाकरणो न भी उसे स्वीकार किया । इस दृष्टि से कुछ प्रसिद्ध वाक्यलक्षण यहा दिए जा रहे हैं ।

१ पदसघातज वाक्यम ।—व्याडि ।

२ पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० १७९ त्रिवेन्द्रम संस्करण

३ एकार्थ पदसमूहो वाक्यम ।[3]—काशिका ८।१।८

४ सुप्तिङन्तचयो वाक्य क्रिया वा कारकान्विता ।

—अमरकोश, प्रथमकाण्ड, शब्दादिवर्ग

५ पदसमूहो वाक्यम ।—न्यास ४।४।१

६ विशिष्टकार्थप्रतिपादकनिराकाङ्क्षपदसमूहो वाक्यम ।

—वैद्यनाथ पायगुण्ड चन्द्रालोकटीका पृ० ८

पुण्यराज के अनुसार इन सभी वाक्य विकल्पो म भर्तृहरि का झुकाव एक निरवयव शब्द वाक्यवाद की ओर था । पुण्यराज ने इसकी दूसरी सज्ञा स्फोट दी है । स्फोट बाह्य रूप म और आन्तरिक रूप म वाक्य है

टीकाकारस्त्वाम् मेव पक्ष सूत्रकारस्याभिप्रायसमाश्रयेण युक्तियुक्त मन्यमान बाह्यरूप आ तरो वा निर्विभाग शब्दार्थमयो बोधस्वभाव शब्द स्फोटलक्षण

---

१ अथवा सघातेऽन्तर्भाव । वाक्यपदीयटीका २।१

२ पुण्यराज वाक्यपदीय २।१,२

३ हरदत्त क अनुसार यहा काशिका म पाठ भेद था—क्वचित् एकार्थ पदसमूहो वाक्यमिति पठ्यते क्वचित्तु न किञ्चिदपि वाक्यलक्षण पठ्यते ।

—पदमञ्जरी ८।१।८

एव वाक्यमिति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।६

किन्तु भर्तृहरि ने स्वयं वाक्य विचार के प्रसंग में स्फोट शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं किया है।

हेलाराज भी निरवयव वाक्यवाद के समर्थक हैं वाक्यस्यैव निरंशस्य वाचकत्वादन्तरालपदप्रतिपत्तिः विभ्रम इति ।

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१

वाक्य के भेद

व्यावहारिक वाक्य लक्षण को सामने रखकर वाक्य भेद पर भी विचार मिलते हैं। वाक्य भेद के मुख्य आधार क्रिया पद हैं। एक क्रिया हो तो एक वाक्य, अनेक क्रिया हो तो अनेक वाक्य मानने चाहिए। किन्तु राजशेखर आदि इससे सहमत नहीं हैं

आख्यातपरतन्त्रा वाक्यवृत्तिः । अत यावदाख्यातमिह वाक्यानि—इत्याचार्याः । एकाकारतया कारकग्रामस्यकार्यतया च भवोक्ते एकमेवेद वाक्यम् इति यायावरीय ।

—काव्य मीमांसा पृ० २३ बड़ौदा स०

फिर भी आख्यात के आधार पर दस तरह के वाक्यों का उल्लेख काव्य मीमांसा में मिलता है

एकाख्यात । अनेकाख्यात । आवृताख्यात । एकाभिधेयाख्यात । परिणताख्यात । अनुवृताख्यात । समुच्चिताख्यात । अध्याहृताख्यात । कृदभिहिताख्यात और अनपेक्षिताख्यात ।

भोज ने इसमें एकान्तराख्यात नामक एक और भेद जोड़ कर वाक्य के ग्यारह भेद माने हैं।[1] इनमें व्याकरण के विचार क्षेत्र में एकाख्यात और अनेकाख्यात इन दो रूपों पर अधिक विचार है। क्रिया विचार के प्रसंग में कहा जा चुका है कि इस विषय में पाणिनि और वार्तिककार में मतभेद दिखाई देता है। पाणिनि के अनुसार अनेकाख्यात के योग में भी यदि पद साकांक्ष हों एक वाक्यत्व रहता है।

तत्रभवन्त मन्यते बहुष्वपि तिङन्तेषु येषु अथलक्षणा काचिद् आकांक्षा विद्यते तेषाम् एकवाक्यत्व न व्यावर्तते ।

—वाक्यपदीय २।४८० हरिवृत्ति, हस्तलेख

कात्यायन एक तिङ वाले मत के प्रवर्तक हैं। फलत

पश्य मृगो धावति ।

अयं दण्ड हरानेन

जैसे वाक्य एक भी है और नाना वाक्य भी है।

---

१ शृंगार प्रकाश पृ० १०३—१०४ मैसूर संस्करण

अस्ति स म रोचत ।
नास्ति रम ।
भवेदपि भवत ।
स्यादपि स्यान ।
अपि भवदनत भवत देवदत्त ।
अभिजानासि देवदत्त यन कश्मीरषु व स्याम तत्रौदन भाम्यामह ।
'स स्वपिवति एप मुद्यत

जसे वाक्य विचार भेद से एक वाक्य भी है और नाना वाक्य भी हैं। अनेक क्रिया पद होन से नाना वाक्य हैं। परस्पर साकाक्ष होने से, क्रिया मे परस्पर लक्ष्य लक्षण भाव हाने से अथवा काल विशेष के लक्षण होन स एक वाक्य है। जो लोग वाक्य भेद का आधार बुद्धि मे अर्थ का उल्लेख मानत ह, उनके मत म भी उपयुक्त वाक्यो म एकवाक्यता है।[1]

महाभाष्यकार का एक वाक्य है

भवति व किंचिद आचार्या क्रियमाणमपि चोदयन्ति

—महाभाष्य २।४।६२, ६।१।६७

कैयट ने इस एक वाक्य भी माना है और दो वाक्य भी माना है

भवति व किंचिदित्येक वाक्यम । अथवा चोदनक्रिया भवति क्रियाया कर्त्री भवतीति एकमेव वाक्यम ।—कैयट प्रदीप ६।१।६७

विशेष उदाहरणा का छोट दें तो सस्कृत मे वाक्य के प्रकृत स्वरूप पर विशेष विवाद नही है। वाक्य के विषय मे दो तत्व सस्कृत म सभा से परिगृहीत हैं। पहला यह है कि वाक्य म पदक्रम का कोई नियम नही है। केवल निपातो के प्रयोग पर कुछ नियम हैं। दूसरा यह कि वाक्य की कोई सीमा नहा है वाक्य लम्बे-से लम्बे हो सकते हैं

न च वाक्यस्यावधिपरिग्रहे नियमोऽस्ति ।

—वाक्यपदीय २।७६ हरिवृत्ति

प्रधान वाक्य और अप्रधान वाक्य के रूप म भी वाक्य पर विचार है। प्रधान वाक्य को केवल वाक्य, अथवा महावाक्य कहते है। अप्रधान वाक्य को अवयव वाक्य अथवा अवान्तर वाक्य कहा जाता है।

सस्कृत म द्विरुक्त अथवा द्विगत वाक्य को भी वाक्य के एक रूप म माना गया है

वाक्यान्यपि द्विगतानि दृश्य ते
श्वेतो धावति । अलम्बुसाना यातेति ॥

—महाभाष्य ८।२।३ पृ० ३८८ कीलहान स०

---

१ तत्र हि खलु वाक्यभेद उपेयते यत्रासौ परामृश्यमान अर्था बुद्धिकल्पितानि ।

दो अर्थ अथवा दो प्रयोजन व्यक्त करने वाले वाक्य द्विष्ठ वाक्य कहे जाते हैं। 'श्वेत धावति' को दो वाक्यों में बदला जा सकता है—

१—श्वेत धावति।

२—श्वा इत धावति।

संस्कृत में कतिपय ऐसे भी पद हैं जो वाक्य के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उन्हें पदवचन वाक्य कहा जाता है।

श्रोत्रिय = जो वेद पढ़ता है।

क्षेत्रिय = जिसका रोग किसी अन्य के माध्यम में चिकित्स्य होता है।

इस तरह के शब्द पद होकर भी वाक्य का काम करते हैं।

वाक्यार्थ विचार

वाक्य के साथ साथ वाक्यार्थ पर भी विचार सुदूर प्राचीन काल में आरम्भ हो गया था। एक तरह से वाक्यार्थ को सामने रखकर ही वाक्य पर विचार प्राचीन आचार्यों ने किया था। संग्रहकार व्याडि ने वाक्यार्थ की प्रतिष्ठा की थी और स्पष्ट सिद्धांत स्थिर किया था कि पद के स्वरूप और उसके अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ पर ही निर्भर करता है

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते।[1]

महाभाष्य में वाक्यार्थ सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य मिलते हैं। एक तो यह कि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं बाद में विशेष अर्थ व्यक्त करते हैं। पदों का सामान्य से विशेष में अवस्थित होना ही वाक्यार्थ है

पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः।

—महाभाष्य १।२।४५, भाग १ पृ० २१८, कीलहार्न संस्करण

कैयट ने इसका अभिप्राय निकाला है कि वाक्यार्थ पदार्थसंसर्ग रूप है। वाक्य ही मुख्य शब्द है और वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दार्थ है। किन्तु भाष्यकार का यह वक्तव्य अभिहितान्वयवाद का बीज माना जा सकता है।

महाभाष्यकार का वाक्यार्थ के विषय में दूसरा वक्तव्य यह है कि जो कुछ आधिक्य रूप में सामने आता है वह वाक्यार्थ है। प्रातिपदिकार्थों में क्रिया के योग में क्रियाकृत विशेष उत्पन्न हो जाते हैं। वही आधिक्य है। वही वाक्यार्थ है।[2]

शबर स्वामी का वाक्यार्थ निरूपण महाभाष्यकार के वक्तव्य के सदृश है। पद सामान्य वृत्ति वाला है। वाक्य विशेष वृत्ति वाला है। सामान्य में प्रवृत्त पदार्थों

---

१ वाक्यपदीय २।२४ हरिवृत्ति में संग्रहकार के नाम से उद्धृत पृ० ४२ लाहौर संस्करण

२ यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः

—महाभाष्य २।३।४५, पृ० ४६२ कीलहार्न संस्करण

प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृतविशेषा उपजायन्ते।

—महाभाष्य २।३।५० पृ० ४६४

का विशेष मे अवस्थान वाक्यार्थ है।[1]

हेलाराज ने भी ऐसे सम्बन्ध को वाक्यार्थ माना है

वाक्यार्थश्च सामान्ये वर्तमानानां विशेषेऽवस्थापक सम्बन्ध ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय गुणसमुद्देश १

वाक्यार्थ सत्यभूत है। उसकी आत्मा किसी विशेष म स्थित नही है। पुण्यराज के अनुसार पानकरस की भाति अर्थ विभागरहित है। पदार्थ लोहे की छड (अर्थ शलाका) की तरह है। वाक्यार्थ के सपर्क से उनमे प्राण प्रतिष्ठा हो जाती है।[2]

पदार्थ मे अथवा समुदाय म वाक्यार्थ की कही भी परिसमाप्ति नही होती। शृगग्राहिक ढग स उसके स्वरूप का विवेचन नही हो सकता। केवल व्याख्यान के लिए वाक्य के पदो म सार्थकत्व की कल्पना कर वाक्यार्थ का निरूपण किया जाता है। वाक्यार्थ अपने आप म एक है अखण्ड है।[3]

अभिनवगुप्त ने भी नियत एकघनाकार वाक्यार्थ का अवबोध एकाकार रूप में ही सहज माना है। इसी दृष्टि से अनुपदकार आदि ने 'हनेभूते विषय मे चार तरह के अवधारण का आश्रय लिया है। व्याख्यान के लिए एक वाक्य के भीतर अवान्तर वाक्य के उत्थान से वाक्य भेद नही होता।[4]

जैसे वाक्य एक है अखण्ड है। वसे अर्थ भी एक है अखण्ड है। वाक्यार्थ का अनुगम चित्र परिज्ञान के सदृश है। जसे शब्द का कोई विभाग नही होता अर्थ का भी कोई विभाग नही होता।[5] केवल समझने समझाने के लिए अर्थ के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

वाक्यार्थ ससर्ग रूप म अथवा भेद रूप म अथवा भेद ससर्ग उभय रूप म गृहीत होता है। ससर्ग सम्बन्ध को कहा जाता है। भेद से तात्पर्य व्यावृत्ति स, अन्य से अलग करने से है। राज पुरुष कहने से पुरुष विशेष का स्वामी विशेष से स्वामी-विशेष का पुरुष विशेष स जो सम्बन्ध है वही ससर्ग है। अपने से अन्य से और स्वामी से अन्य से जो व्यावृत्ति भासित होती है वह अर्थसिद्ध है। दो वस्तुओ का सम्बन्ध जब तक अन्य सम्बन्धियो से अलग रूप म न दिखाया जाय, ससर्ग नही कहलाता। यह ससर्गवादियो का मत है।

जो लोग भेद को वाक्यार्थ मानत हैं उनके मत मे व्यावृत्ति ही वाक्यार्थ है। जब तक अर्थ रूप म गृहीत ससर्ग का सम्बन्धान्तर से व्यावर्तन न हो वह स्वरूप ही नही ग्रहण कर सकता। अत अन्य से व्यावर्तन की प्रमुखता होने के कारण भेदवादियो

---

१ शाबर भाष्य ३।१।१२, पृ० १५७ काशी सस्करण

२ वाक्यार्थे योऽभिसम्बन्धो न तस्यात्मा पृथक् स्थित । व्यवहारे पदार्थाना तदात्मान प्रचक्षते ॥

वाक्यपदीय २।४४५

३ एकार्थत्व हि वाक्यस्य मात्रयापि प्रतीयते। वाक्यपदीय २।४४८

४ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १ पृ० २१७

५ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।

—वाक्यपदीय २।१३

की दृष्टि में भेद वाक्यार्थ है।

कुछ आचार्य दोनों मतों को जोड़कर भेद और संसर्ग दोनों को वाक्यार्थ रूप में स्वीकार करते हैं।

वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है किन्तु उस प्रतिपत्ति का कोई निश्चित प्रकार नहीं है। किसी को किसी रूप में प्रतिपत्ति होती है किसी को किसी रूप में। कोई आचार्य पाणिनि की प्रक्रिया के आश्रय से अर्थ का अवबोध करता है कोई किसी अन्य व्याकरणसम्मत प्रक्रिया से। श्रोत्रिय शब्द से वेद पढ़ने वाला व्यक्ति का बोध होना है किन्तु इस बोध की प्रक्रिया भिन्न भिन्न हो सकती है। किसी मत से श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र शब्द से घ प्रत्यय से बना है और धातु शब्द स्वतः छन्द शब्द का आरोपित रूप है। किसी के मत में श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र से विग्रह क्रम में अर्थ में निष्पन्न होता है। स व्याख्यान की प्रक्रिया भिन्न भिन्न होती है। भेद वाक्य विभाग के आधार पर होते हैं। राजपुरुष शब्द से संसृष्ट रूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है राज पुरुष कहने से विभक्त रूप में। भर्तृहरि के अनुसार भेद और संसर्ग अध्यारोपसिद्धांत, नियमसिद्धांत अथवा अपशब्द सिद्धांत की प्रक्रिया से भिन्न भिन्न व्यक्तियों को बोध कराने के उपाय मात्र हैं।

वाक्यार्थ एक है अखण्ड है। जैसे पदार्थ के ज्ञान में वर्ण के अर्थ पर ध्यान नहीं जाता वैसे ही वाक्य के अर्थ के लिए पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती।[1]

इसके विपरीत कुछ आचार्य मानते हैं कि वाक्यार्थ पदार्थ में सन्निविष्ट रहता है, पदार्थ वर्ण के अर्थ में सन्निविष्ट रहता है। वर्ण और पद भी अर्थवान हैं। इनके अर्थ के द्वारा ही वाक्य भी अर्थवान होता है। वाक्य और पद के अर्थ तो स्पष्ट प्रतीत होते हैं किन्तु वर्ण के अर्थ सूक्ष्म हैं अप्रत्यक्ष से हैं किन्तु वर्ण वाचक अवश्य हैं। जिस हेतु के बल पर पदार्थवादी पद में अर्थ की कल्पना करते हैं उसी हेतु के बल पर वर्णवादी वर्ण में अर्थ की कल्पना करते हैं।[2]

बुद्ध्यनुसंहार वाक्यवाद के समर्थक जैसे आन्तर शब्द की सत्ता मानते हैं वैसे ही आन्तरवाक्यार्थ की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण वाक्य एक शब्द है, उस शब्द के दो भाग हैं। एक भाग से आन्तर शब्द तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है दूसरे भाग से आन्तर अर्थ तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थाभागस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाशते

—वाक्यपदीय २।३१

सभी व्यवहार पहले अन्तर्बुद्धि में बद्धमूल होते हैं इसलिए सभी अर्थ आन्तरिक हैं।

भर्तृहरि ने इस विचारधारा के पोषक किसी प्राचीन सांख्य अथवा आचार्य पञ्चशिख का मत उद्धृत किया है। इस मत में अर्थ के ज्ञान की प्रक्रिया यों है—विषय

---

१ वाक्यपदीय २।१०

२ वाक्यपदीय २।२१-२३

(वस्तु) का बुद्धि में संक्रमण होना है, बुद्धि आत्मा से संपृक्त होती है, बुद्धि में जिस वस्तु का बिम्ब है पुरुष भी तदात्मक हो जाता है, फलतः पुरुष को अर्थ की उपलब्धि होती है। उस उपलब्धि का भोग (विभाग ?) विषय का भोग, अर्थ का परिज्ञान होता है। इसमें सहायक दो शक्तियां हैं। भोक्तृ शक्ति और भोग्य शक्ति। ये दोनों शक्तियां असंकीर्ण हैं, अलग-अलग हैं फिर भी अविभक्त सी होकर भोग का निष्पादन करती है। यह भोग बुद्धि में घटित होता है। बुद्धि प्रकाशमयी है। उसमें चैतन्य पुरुष और वस्तु दोनों ही प्रतिबिम्बित हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि पुरुषरूप और वस्तुरूप दोनों हो जाती है। इसलिए जो विभक्त है वह अविभक्त-सा हो जाता है। विभक्त का अविभक्त सा हो जाना ही भोग है। भोक्तृ शक्ति अपरिणामी है और संक्रमणशील नहीं है। वस्तु परिणामी है। किन्तु भोग्यशक्ति वस्तु में संक्रमित सी होकर वस्तुगत धर्म का अनुभव करती है। ज्ञान की प्रवृत्ति इस चैतन्य युक्त बुद्धि वृत्ति से अविशिष्ट है। भोग और ज्ञान समान है। भोग की तरह अर्थ ज्ञान भी बुद्धिसमाविष्ट है। भोक्तृ और भोग्य शक्ति की तरह प्रतिपाद्य और प्रतिपत्तृ शक्ति बुद्धि में अविभक्त सी रहती हैं। दूसरे शब्दों में शब्द और अर्थ दोनों बुद्धि में एकत्र अविभक्त से संपृक्त रहते हैं। ये एक ही शब्दात्मा के दो भेद हैं।[1] विषय भेद से उनका विभाग कल्पित है।

वाक्यार्थ की सत्ता बौद्ध है, बुद्ध्या मत है। अर्थ सदा एक बुद्धि से अवसृष्ट होता है। वह आंतरिक है। बाह्य नहीं है। किन्तु अबाह्य बाह्य रूप में प्रतीत होता है और अपोद्धार के सहारे उसका विभाग किया जाता है। जो अर्थ विज्ञानमय है, बौद्ध है वह बाह्य रूप में प्रतिभासित होता है। बाह्य रूप में, हो चाहे वह सत् या असत्, उपचार के सहारे अपोद्धार पद्धति पर उस अर्थ का विभाग किया जाता है—

सम्प्रत्ययार्थाद् बाह्योऽयं सन्नसन्वा विभज्यते।
बाह्यीकृत्य विभागस्तु शक्त्यपोद्धारलक्षणः॥

—वाक्यपदीय २।४४६

पुण्यराज ने इस कारिका के संप्रत्यय शब्द का अर्थ बुद्धि या विज्ञान किया है। उनके अनुसार निष्कर्ष यह है कि यदि अर्थ विज्ञानाकार है किन्तु विकल्प वासना के प्रभाव से बाह्य अर्थ के साथ एकाकार होकर सत्य रूप से बाह्य रूप में अवस्थित होता है शब्दार्थ बाह्य है। यदि असत्य रूप में अवस्थित होता है, शब्दार्थ बौद्ध है।

अर्थ के बौद्ध या बाह्य दोनों रूप में अपोद्धार समान है। वाक्यवादी वाक्य की ही सत्ता स्वीकार करने वाले अखण्ड वाक्य की व्युत्पत्ति में पद व्युत्पत्ति को उपाय (साधन) मानते हैं। पदवादी प्रकृति प्रत्यय आदि की व्युत्पत्ति को उपाय मानते हैं।

---

1 वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति। भर्तृहरि ने यहाँ जिन वाक्यों का प्रयोग किया है वे वाक्य योगसूत्र व्यास भाष्य २।६ और ४।२२ में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ये विचार पञ्चशिख के हैं। भर्तृहरि ने इस दर्शन का उल्लेख वाक्यसमुद्देश २।३२५ में भी किया है—

अचेतनेषु संक्रान्तं चैतन्यमिव दृश्यते।
प्रतिबिम्बकधर्मेण यच्छब्दनिबन्धनम्॥

वाक्यों के मान्य होने से उनकी व्युत्पत्ति व्याकरण में नहीं हो सकती। अतः अपोद्धार पद्धति का आश्रय लिया जाता है। शब्दों के अपोद्धार भी सम्भव है। पदापोद्धार से भी पद अपोद्धार की अपेक्षा अर्थ अपोद्धार अधिक हुआ है। कल्पना बुद्धि से पद का पृथक्करण अपोद्धार कहलाता है। जो वाक्य में प्रतिबिम्बित है वही वाक्य शब्द रूप से आभासित होता है। वाक्य में पद का अपोद्धार वाक्यार्थ परिकल्पना के आधार पर होता है। वाक्यार्थ स्वयं निरंश है। क्रियारूप है। कारक युक्त क्रिया स्वभाव है।[1]

जैसे वाक्य के विषय में वाक्यार्थ के विषय में भी यथाधिक विचार वाक्यपदीय में है। पुण्यराज के अनुसार वाक्यपदीय में निम्नलिखित छः वाक्यार्थों का निरूपण है—

१—संसर्ग वाक्यार्थ
२—संसृष्ट वाक्यार्थ
३—निराकांक्ष पदार्थ वाक्यार्थ
४—प्रयोजन वाक्यार्थ
५—क्रिया वाक्यार्थ
६—प्रतिभा वाक्यार्थ

इन छः प्रकार के वाक्यार्थ के अतिरिक्त मीमांसादर्शन की दृष्टि से विधि वाक्यार्थवाद, नियोगवाक्यार्थवाद और भावना वाक्यार्थवाद तथा न्याय दर्शन और बौद्ध दर्शन में गृहीत वाक्यार्थ पर भी पुण्यराज ने कुछ प्रकाश डाला है और उनका उपर्युक्त भेदों में अन्तर्भाव दिखाया है।

संसर्ग वाक्यार्थ रूप में

जो आचार्य पदसंघात को वाक्य मानते हैं उनके मत में संसर्ग वाक्यार्थ है। भर्तृहरि ने इस मत के आधार के लिए महाभाष्यकार की आधिक्यवाली उक्ति उद्धृत की है। पदों के परस्पर सम्बन्ध होने पर जो आधिक्य अवगत होता है वह अनेकपदाश्रित संसर्ग है वही वाक्यार्थ है

> सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
> वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥
>
> —वाक्यपदीय २।४२

संसर्ग को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करने वालों के भी तीन विकल्प हैं। एक जाति के सदृश वाक्यार्थ का प्रत्येक में परिसमाप्ति मानता है। दूसरा संख्या की

---

१ ज्ञानप्रतिबिम्बितस्य हि बाह्यानुकारित्वेन सादृश्य समेन प्रकाशात्। संकल्पितसादृश्यस्य बाह्यस्य निश्चितत्वात्। वाक्यस्य चापोद्ध्रियमाणस्य पदस्य वाक्यार्थांशपरिकल्पनया अर्थवत एवापोद्धारो युक्त। अर्थापोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम्। अनियमे हि तस्मिन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसंगात् तेषामपि व्युत्पादना स्यात्। वाक्यार्थश्च स्थिरलक्षणानिरंश कारकाकलितशरीरक्रियास्वभाव॥
हेलाराज ३।१

तरह वाक्यार्थ की परिसमाप्ति समुदाय में मानता है। तीसरा, सामान्य विरोधी विशेष विश्रान्त पक्ष का समर्थन करता है। इनका उल्लेख संघात वाक्यवाद के अवसर पर किया जा चुका है।

वाक्यार्थ का विशेष स्वरूप संसर्ग है। जो आचार्य वर्ण या पद को सार्थक नहीं मानते, उनके मत में भी पद समुदाय से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है

यथैवानर्थकैः वर्णैः विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते।

पदैरनर्थकैरेव विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते॥ —वाक्यपदीय २।४१६

वाक्य की असमाप्तिदशा में पदों से जो ज्ञान होता है वह इस मत में, प्रतिपत्ति का उपाय मात्र है।

अपरिसमाप्ते यत्र वाक्ये सामान्यमात्रे

पदाभिधेये देवदत्तादिश्रुते ज्ञानमुत्पद्यते।

प्रतिपत्त्युपायएवासौ पुरस्तात् व्याख्यात।

—वाक्यपदीय २।४१७ हरिवृत्ति हस्तलेख

पद चाहे अनर्थक हों अथवा उपाय के रूप में सार्थक हों, सदा क्रम से उच्चरित होने पर एक विशेष अर्थ के जनक होते हैं। वह विशेष संसर्ग है

अनर्थकानुपायत्वात्पदार्थेनार्थवन्ति वा।

क्रमेणोच्चारिताद्याहुर्वाक्यार्थं भिन्नलक्षणम्॥

—वाक्यपदीय २।४५

कुछ विचारकों के मत में अर्थ का निर्धारण असम्भव होता है। शब्द अर्थ के स्वभाव का ज्ञान नहीं करा सकता। शब्द अर्थ के अवधारण में उपायभूत नहीं है। शब्द केवल एक प्रकार की स्मृति मात्र जगाते हैं जो अर्थ के अवभास रूप होती है। घट पट आदि शब्द बुद्धि में घट पट आदि के आकार से व्यक्त करते जान पड़ते हैं किन्तु इन शब्दों में आकार की अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं है। शब्द तो अर्थ को दूर हटाता है, वह अर्थ के अवबोध में विशेष सा उत्पन्न करता है। अर्थ का परिज्ञान अशब्द व्यापार है। वह निर्विकल्प है। अग्निर्दाह हिमदाह सत्त्वदाह जैसे शब्दों में दाह शब्द से भिन्न भिन्न अर्थ झलकते हैं। इसलिए मान लेना चाहिए कि शब्द में अर्थ के अवधारण की सामर्थ्य नहीं है। शब्द स्मृतिरूप है।

सर्वत्र अशब्दमर्थानां स्वभावावधारणम् इत्येकेषां दर्शनम्।

—वाक्यपदीय २।४२४ हरिवृत्ति हस्तलेख

पुण्यराज ने, इस मत में पदार्थ को विपरीताख्यातिरूप अथवा असतख्यातिरूप माना है। पदार्थ असत्य हैं। वाक्यार्थ सत्य है। पदार्थ अपना पृथक अर्थ रखते हों तो भी वाक्य में बिना अवस्थित हुए वे अर्थ के प्रत्यायक नहीं होते। इन्द्रियों में शक्ति होती है किन्तु शरीर के आश्रय से ही वे अपने अपने व्यापार को कर पाती हैं। वाक्य से अलग पद में अर्थवत्ता नहीं है। वाक्य में अथवा पद में संसर्ग रूप प्रतीत ही होता है। इसलिए वाक्यार्थ का स्वरूप पदार्थ से विलक्षण है और वह संसर्ग रूप है

संसर्गरूपं संसृष्टेष्वर्थवस्तुषु गृह्यते। —वाक्यपदीय २।४२८

संसृष्ट वाक्यार्थ रूप में

पुण्यराज के अनुसार जो आचार्य आख्यातशब्द और पृथक् सर्वपदशब्द के समर्थक हैं उनके मत में संसृष्ट वाक्यार्थ है। संसर्ग वाक्यार्थ और संसृष्ट वाक्यार्थ में केवल यह भेद है कि संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष में वाक्यार्थ में पदार्थों में वैशिष्ट्य माना जाता है। संसृष्ट वाक्यार्थ पक्ष में पदार्थों का परस्पर भाव ही वाक्यार्थ है, वाक्यार्थ में कोई आधिक्य नहीं आता। दूसरे शब्दों में संसर्ग पक्ष में पदार्थों का वैशिष्ट्य वाक्यार्थ है। संसृष्ट पक्ष में विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ है। एक पद अपने अर्थ से पदान्तर अनुगत होकर दूसरे पद से जुड़ता है। अतः पद पहले ही विशिष्ट हो गया रहता है। वह सदा विशिष्ट रूप में ही पदान्तर के सान्निध्य में श्रोता या अवबोद्धा को अपना बोध कराता है

> पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थात्मा परः परः।
> संसर्ग एव प्रकान्तस्तथान्यव्यवस्तुषु ॥[1]
>
> —वाक्यपदीय २।४१८

निराकांक्षपदार्थ वाक्यार्थ रूप में

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि निराकांक्ष किन्तु विशेष विश्रान्त पदार्थ ही वाक्यार्थ है। यह मत संसर्गवाद का ही एक पक्ष है। संसर्गवाद में और इसमें भेद यह है कि उसमें पद परस्पर साकांक्ष होते हैं इसमें निराकांक्ष। संसर्गपक्ष में पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं है। इस मत में पदार्थ ही वाक्यार्थ है। पदार्थ विशेष विश्रान्त अवश्य हैं किन्तु उनका सम्बन्ध संसर्ग न होकर असत्त्वभूत है उसे ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। वह प्रत्यक्ष नहीं है। वह अनुमेय है। वह सम्बन्ध अभिधेय के स्वरूप का अतिक्रमण नहीं करता

> कार्यानुमेयः सम्बन्धो रूपं तस्य न दृश्यते।
> असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्त प्रतिजानते ॥
>
> —वाक्यपदीय २।४६

प्रयोजन वाक्यार्थ रूप में

किसी दर्शन में पद का अर्थ अभिधेय माना गया था और वाक्य का अर्थ प्रयोजन था। इस मत में प्रयोजन वाक्यार्थ है।

---

१ पुण्यराज के अनुसार इस कारिका में संसृष्ट पक्ष का प्रतिपादन है जो अन्विताभिधानवाद के अनुकूल है—
अनेन श्लोकेनान्विताभिधानसमाश्रयेण संसृष्टो वाक्यार्थ इत्येतन्निरूपितम्। तथा हि अभिहितान्वयवादिनः पूर्वपूर्वार्थानुगतः संसर्गो वाक्यार्थः। अन्विताभिधानवादिनस्तु उत्तरोत्तरपदार्थानुगतः प्रथमपदमेव संसृष्टं स्यात् ॥
—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४१८

अभिधेय पदस्यार्थो वाक्यस्यार्थं प्रयोजनम् ।

—वाक्यपदीय २।११४

यह मत अभिहितान्वयवाद का ही एक पूर्व रूप जान पड़ता है। तात्पर्यार्थ और प्रयोजन समान हैं। वाक्यपदीयकार ने इस मत की स्वयं समीक्षा की है। प्रयोजन को वाक्यार्थ मानने पर वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध दिखाना कठिन होगा। वाक्य लोहे की शलाका की तरह होते हैं। उनमें परस्पर सम्बन्ध अभिधेय के द्वारा सम्भव है। किन्तु पद का अर्थ अभिधेय मानने से और वाक्य का अर्थ अभिधेय न मानने से, वाक्यों में सम्बन्ध दुर्घट होगा।

क्रिया वाक्यार्थ रूप में

आख्यात शब्द को वाक्य मानने वालों के मत में क्रिया वाक्यार्थ है। बिना क्रिया के अनुपग के वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। कुछ के मत में क्रिया सत्ता शक्ति विशेष (कारक) से युक्त होकर तुल्य रूप में और अतुल्य रूप में भी विशिष्ट स्वरूप वाली ही होती है। कारक केवल बोध में उपायभूत होते हैं

इह केचित मन्यन्ते तुल्यरूपा चातुल्यरूपा च वाक्येषु विशिष्टय पक्षरूपाभ्याम शक्तिविशेष युक्ता क्रिया मुण्डि कुटि चत्विवत प्रकारान्तर प्रतिपत्तणाम ।

—वाक्यपदीय २।४२१ हरिवृत्ति हस्तलेख।

मुण्डयति माणवकम्—बालक के सिर के बाल काट रहा है—इस वाक्य में मुण्डयति की व्युत्पत्ति मुण्ड करोति के रूप में की जाती है। कुछ लोगों के मत में मुण्ड शब्द सामान्य प्रवृत्ति को व्यक्त करता है किन्तु णिच् करोति विशेष में होता है सामान्य में नहीं। कुछ आचार्यों के अनुसार मुण्ड धातु केशच्छेदन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मुण्डयति से क्रियाविशेष का स्वभावतः अभिधान होता है

यद्यपि क्रियाविशेषाभिधायित्व मुण्डादीनां नवोपात्त तथापि स्वाभाविकत्वादर्थाभिधानस्य प्रयोगादेव तदवसीयते।

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ३।१।२१

मुण्डयति के अर्थ में कुटयति का प्रयोग होता है किन्तु मुण्ड करोति की तरह कुट करोति प्रयोग नहीं होता। अतः क्रिया तुल्य रूप भी है और अतुल्य रूप भी। दूसरे शब्दों में क्रिया क्रियान्तर से भिन्न विषय है।

जो आचार्य एकत्व और नित्यत्व दर्शन के अनुगामी हैं वे भी मानते हैं कि वाक्य से विशिष्ट क्रिया का ही बोध होता है। वह क्रिया काल, कारक वचन आदि से अनुगत होती है

एकत्वनित्यत्वदर्शिनस्तु मन्यन्ते विशिष्टा हि क्रिया यथा सम्भव कालसाधन द्रव्यपुरुषोपग्रहादिभि अनुगता वाक्येनाभिधीयते ।

—वाक्यपदीय, २।४४७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ आचार्यों के मत में क्रिया में भी दो भाग होते हैं व्यक्ति भाग और जाति भाग। क्रिया कभी व्यक्ति भाग से अर्थ को व्यक्त करती है कभी सामान्य भाग से।

इसके विपरीत कुछ आचार्य क्रिया में जाति व्यक्ति भाव नहीं मानते हैं। जाति और व्यक्ति वस्तु में धर्म हैं क्रिया में नहीं। क्रिया पूर्व और अपर रूप में फैली हुई इन्तत जैसे सर्वनाम से बोध्य नहीं है। इसलिए उसमें जाति व्यक्ति नहीं संभव है। हाँ उसके सत्त्वभावापन्न जान पर बात दूसरी है। क्रिया में जाति व्यक्ति धर्म के समर्थकों का मत है कि क्रिया में भी सामान्य और विशेष भाव देखा जाता है—गौण ही सही स्वयं हैं। प्रतिनययोग, समुच्चय आदि में भेद व्यवहार में क्रिया का व्यक्ति धर्म देखा जाता है। प्रयावृत्ति अभेदवत्त्व संख्या आदि में सामान्य धर्म देखा जाता है

> इह केचित् क्रियायामाकृतिव्यक्तिव्यवहारो शास्त्रीयत्र प्रतिपन्ना पदान्तर धर्ममेव तु प्रतिजानते। विप्रकृता पूर्वापरीभूता साध्यावस्था क्रिया। तस्या इद तत् इति प्रतिपत्तव्यमानकल्पनया व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् जातिव्यक्तिधर्मो नास्ति। केचित्तु मन्यन्ते तस्यामपि सामान्यविशेषवत्तिरूपतामात्रमस्ति हेतु। सा तु क्वचित् व्यक्तिमार्गेनोपकरोति। क्वचित् सामान्यमार्गेन।
>
> —वाक्यपदीय २।४६५ हरिवृत्ति हस्तलेख

क्रियावाद की छाया में एक दार्शनिकवाद भी खड़ा हो गया था। वह मानता था कि जगत् वस्तु शून्य है। बुद्धि ही भिन्न भिन्न व्यवहार का मूल कारण है। बुद्धि ही साध्य (क्रिया) रूप में अथवा सिद्ध (कारक) रूप में व्यक्त होती है और शब्द से उसी की प्रतीति होती है। जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया इन्द्रजाल सा है। बुद्धि अपनी महिमा से उल्लसित होकर कालनिक आकार में परिणत सी होकर भेद का जनक होती है। वस्तुतः बुद्धि में प्रतिबिंबित अन्य किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जिसमें सिद्ध और साध्य का विवाद खड़ा हो। कुछ लोग बुद्धि को आकार भेदवाली क्रिया मानते है। उनके मत में बाह्य अर्थक्रिया की सिद्धि अन्त तत्त्व से गठित होती है जो अपनी मात्राओं से कल्पित विषय का निर्भास कराते हैं।[1]

भर्तृहरि ने अर्थ को सर्वशक्तिमान माना है और प्रयोग करने वाले की विवक्षा के आधार पर वही अर्थ कभी सिद्धि रूप में और कभी साध्य रूप में प्रधान दिखाई देता है

> सर्वशक्तेरर्थस्य य प्रदेशो यथा प्रकल्प्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा शब्दभावेन वा।
>
> —वाक्यपदीय २।४३५ हरिवृत्ति हस्तलेख

वाक्यपदीय में विधि वाक्यार्थ नियोग वाक्यार्थ और भावना वाक्यार्थ पर विचार नहीं मिलता। ये तीनों ही मीमांसा दर्शन के विचार के विषय हैं। इनमें विधि और नियोग लिङ् लोट और कृत्य प्रत्यय के अर्थ होने के कारण केवल एक देश के छूने के कारण इन पर विचार नहीं किया गया है। भावना वाक्यार्थवाद क्रियावाक्यार्थवाद के समान है। केवल प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ को लेकर वैयाकरण और मीमांसक में विवाद है। इनके स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है। भावना सकर्मक होती है क्रिया अकर्मक भी

---

१ शृंगार प्रकाश पृ० ११४ ११५ मैसूर संस्करण

होती है किन्तु दोना ही साध्य हैं। और इस साध्य की एकता के आधार पर क्रियावाक्या थवाद भावना वाक्यार्थवाद को समेट लेता है।[1]

प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जो वाक्याथ को अखण्ड अनश, मानत हैं उनका ही एक वग प्रतिभा को वाक्याथ मानता है। भत हरि का एक अपना प्रतिभा दशन है। उन्हाने प्रतिभा को वाक्याथ रूप म भी लिया है

> विच्छेदग्रहणेऽर्थाना प्रतिभान्यव जायते।
> वाक्याथ इति तामाहु पदार्थं रुपपादिताम। —वाक्यपदीय २।१४४

देवदत्तादि के अलग अलग अथ ग्रहण के अवसर पर उन पदा से एक विशेष प्रतिभा उदबुद्ध होती है। वही वाक्याथ है। पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अथ प्रतिभा है। स्फोट लक्षण शब्द म कोई विभाग नहीं है। वाक्याथ लक्षण प्रतिभा म कोई विभाग नहीं है, वाक्य और वाक्याथ म अध्यासलक्षण सम्बन्ध है। पुण्यराज के अनुसार यह मत वयाकरणा का है

> तत्र वयाकरणस्याखण्ड एवकोनवयव शब्द स्फोटलक्षणो वाक्य, प्रतिभव वाक्याथ अध्यासश्च सम्बन्ध इति।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

असत्यभूत पदार्थों स प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है। पदार्थों का परिमाण अलग अलग भले ही हो भावाथग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है वह पदार्थों स व्यतिरिक्त नहीं होती। वस्तुत पुण्यराज के अनुसार, प्रतिभा म एक अखण्ड भाव का परिणाम अभिप्रेत है इसलिए अभिहितान्वयवाद अथवा अन्विताभिधानवाद जस पदाथ वाक्याथ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा वाक्याथ म कोई स्थान नहीं है

> प्रतिभायां स्वेकरसव प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहिता वयान्विताभिधान-चर्चा।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

वस्तुत वाक्याथरूप प्रतिभा स भत हरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक बुद्धि से है। भत हरि इस बात को मानते है कि उस प्रतिभा को किसी अन्य स ठीक-ठीक रूप म बताया नहीं जा सकता। वह स्वसवदनसिद्ध है। प्रतिभा बल स ही पदार्थों म परस्पर सदोष सा होता है। मानो प्रतिभा ही सब विषया का आकार सा धारण कर लेती है। वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना-संस्कार स उदभूत होती है। लोक प्रतिभा को प्रमाण मानता है। पुण्यराज के अनुसार कालिदास की सता हि सदेह पदपु वस्तुपु प्रमाणमन्त करणप्रवत्तय यह उक्ति प्रतिभा के प्रामाण्य का सकेत करती है। जिस तरह विशेष द्रव्या के परिपाक स किसी

---

१ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१ १

इसके विपरीत कुछ आचार्य क्रिया में जाति व्यक्ति भाव नहीं मानते हैं। जाति और व्यक्ति वस्तु के धर्म हैं क्रिया के नहीं। क्रिया पूर्व और अपर क्रम में फैली हुई इत-तत जैसे सर्वनाम से बोध्य नहीं है। इसलिए उसमें जाति व्यक्ति नहीं समझते हैं। हाँ उसके सत्त्वभावापन्न जाने पर बात दूसरी है। क्रिया में जाति व्यक्ति धर्म के समर्थकों का मत है कि क्रिया में भी सामान्य और विशेष भाव देखा जाता है—जाना ही मंत्री रूपेण हैं। प्रतिपादयोग समुच्चय आदि में भेद व्यवहार में क्रिया का व्यक्ति धर्म देखा जाता है। प्रत्यावृत्ति अभेदयन्त्र संख्या आदि में सामान्य धर्म देखा जाता है

> इह केचित क्रियायामाकृतिव्यक्तिव्यवहारो नास्तीत्यय प्रतिपन्ना पदान्तर धर्ममेव त प्रतिजानते। विप्रकृता पूर्वापरीभूता साध्यावस्था क्रिया। तस्या इद तत इति प्रतिप्लवमानकल्पनया व्यपदेष्टुमशक्यत्वात जातिव्यक्तिधर्मो नास्ति। केचित्तु मन्यन्ते तस्यामपि सामान्यविशेषवत्तिरूपतामात्रमस्ति हेतु। सा तु क्वचित व्यक्तिभागेनोपकरोति। क्वचित सामान्यभागेन।
>
> —वाक्यपदीय २।४६५ हरिवृत्ति हस्तलेख

क्रियावाद की छाया में एक दार्शनिकवाद भी खड़ा हो गया था। वह मानता था कि जगत वस्तु शून्य है। बुद्धि ही भिन्न भिन्न व्यवहार का मूल कारण है। बुद्धि ही साध्य (क्रिया) रूप में अथवा सिद्ध (कारक) रूप में व्यक्त होती है और शब्द से उसी की प्रतीति होती है। जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया इन्द्रजाल सा है। बुद्धि अपनी महिमा से उल्लसित होकर काल्पनिक आकार में परिणत होकर भेद का जनक होती है। वस्तुत बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जिसमें सिद्ध और साध्य का विभाग खड़ा हो। कुछ लोग बुद्धि को आकार भेदवाली क्रिया मानते हैं। उनके मत में बाह्य अर्थक्रिया की सिद्धि अन्त तत्त्व से गठित होती है जो अपनी मात्राओं से किंचित विषय का निर्भास कराते हैं।[1]

भर्तृहरि ने अर्थ को सर्वशक्तिमान माना है और प्रयोग करने वाले की विवक्षा के आधार पर वही अर्थ कभी सिद्धि रूप में और कभी साध्य रूप में प्रधान दिखाई देता है

> सर्वशक्तेरर्थस्य य प्रदेशो यथा प्रक्रम्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा गौणभावेन वा।
>
> —वाक्यपदीय २।४३५ हरिवृत्ति हस्तलेख

वाक्यपदीय में विधि वाक्यार्थ नियोग वाक्यार्थ और भावना वाक्यार्थ पर विचार नहीं मिलता। ये तीनों ही मीमांसा दर्शन के विचार के विषय हैं। इनमें विधि और नियोग लिङ् लोट और कृत्य प्रत्यय के अर्थ होने के कारण केवल एक देश के छूने के कारण इन पर विचार नहीं किया गया है। भावना वाक्यार्थवाद क्रियावाक्यार्थवाद के समान है। केवल प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ को लेकर वैयाकरण और मीमांसक में विवाद है। इनके स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है। भावना सकर्मक होती है क्रिया अकर्मक भी

---

१ शृंगार प्रकाश पृ० ११४ ११५ मैसूर संस्करण

होती है किन्तु दोनो ही साध्य हैं। और इस साध्य की एकता के आधार पर क्रियावाक्यार्थवाद भावना वाक्यार्थवाद को समेट लेता है।[1]

प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जो वाक्यार्थ को अखण्ड मानते हैं उनका ही एक वर्ग प्रतिभा को वाक्यार्थ मानता है। भर्तृहरि का एक अपना प्रतिभा दर्शन है। उन्होंने प्रतिभा को वाक्यार्थ रूप में भी लिया है

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्।—वाक्यपदीय २।१४४

देवदत्तादि के अलग अलग अर्थ ग्रहण के अवसर पर उन पदों से एक विशेष प्रतिभा उद्बुद्ध होती है। वही वाक्यार्थ है। पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है। स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है। वाक्यार्थ लक्षण प्रतिभा में कोई विभाग नहीं है वाक्य और वाक्यार्थ में अध्यासलक्षण सम्बन्ध है। पुण्यराज के अनुसार यह मत वैयाकरणों का है

तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यं, प्रतिभैव वाक्यार्थः अध्यासश्च सम्बन्ध इति।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

असत्यभूत पदार्थों से प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है। पदार्थों का परिज्ञान अलग अलग भले ही हो भावार्थग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है वह पदार्थों से व्यतिरिक्त नहीं होती। वस्तुतः, पुण्यराज के अनुसार प्रतिभा में एक अखण्ड भाव का परिज्ञान अभिप्रेत है इसलिए अभिहितान्वयवाद अथवा अन्विताभिधानवाद जैसे पदार्थ-वाक्यार्थ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा वाक्यार्थ में कोई स्थान नहीं है

प्रतिभायास्त्वेकरसत्व प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधान-चर्चा।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

वस्तुतः वाक्यार्थरूप प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक बुद्धि से है। भर्तृहरि इस बात को मानते हैं कि उस प्रतिभा को किसी अन्य से ठीक-ठीक रूप में बताया नहीं जा सकता। वह स्वसंवेदनसिद्ध है। प्रतिभा बल से ही पदार्थों में परस्पर संश्लेष सा होता है। मानो प्रतिभा ही सब विषयों का आकार सा धारण कर लेती है। वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना संस्कार से उद्भूत होती है। लोक प्रतिभा को प्रमाण मानता है। पुण्यराज के अनुसार कालिदास की 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' यह उक्ति प्रतिभा के प्रामाण्य का संकेत करती है। जिस तरह विशेष द्रव्यों के परिपाक से किसी

---

१ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१ २

विशेष प्रयत्न के बिना ही उस द्रव्य में मद शक्ति स्वाभाविक रूप से आ जाती है उसी तरह प्रतिभा भी स्वाभाविक रूप से संस्कार के अतिरिक्त अन्य किसी साधन के बिना ही प्रबुद्ध हो जाती है। वसन्त में कोयल को कूक में माधुरी कौन भरता है? पक्षियों को घोसले बनाने की शिक्षा कौन देता है? यह सब प्रतिभा का काम है। वन पक्षियों में आहार ढूँढ़ना, तैरना आदि ज्ञान से ज्ञान अनादि प्रतिभा का ही होता है।[1] इस तरह भर्तृहरि ने मूल प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) और आन्तरिक ज्ञान-शक्ति (इन्ट्यूशन) को प्रतिभा भेद माना है। अभिनवगुप्त ने भर्तृहरि की 'प्रतिभा' की परिभाषा निम्नरूप में दी है जो उपर्युक्त तथ्यों का निरूपण है

समाधान समस्तास्मिनः प्रतिमा इति तत्रभवद् भर्तृहरिप्रभृतय ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृ० २०६

प्रतिभा के छः भेद

भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा के निम्नलिखित छः भेद हैं —

(१) स्वभावजन्या (स्वाभाविकी) प्रतिभा
(२) चरणजन्या प्रतिभा
(३) अभ्यास निमित्ता प्रतिभा
(४) योग निमित्ता प्रतिभा
(५) अदृष्टोपपादिता प्रतिभा
(६) विशिष्टोपहिता प्रतिभा

स्वाभाविकी प्रतिभा

पुण्यराज के अनुसार बन्दर आदि में जो प्रतिभा देखी जाती है वह स्वाभाविकी प्रतिभा है (स्वभावेन यथा कपि वाक्यपदीय २।१५३)। यहाँ का खण्डित हरिवृत्ति से ऐसा जान पड़ता है कि भर्तृहरि स्वाभाविकी प्रतिभा का आधार सत्ता को मानते हैं। भावना अभ्यासवश सभी तरह के ज्ञान नादारम्भ से सत्ता अथवा परा प्रकृति' में लीन रहते हैं। उन पूर्व संस्कारों का उद्बोध स्वभावतः होता है। स्वभावजन्य ज्ञान ही स्वाभाविकी प्रतिभा है। जिस तरह सुषुप्तावस्था में ज्ञान की सत्ता होते हुए भी वह अप्रबुद्ध सा होता है पर नींद के टूट जाने पर स्वभावतः वह अभिव्यक्त हो उठता है उसी तरह स्वभावजन्य प्रतिभा भी संस्कार रूप में अनादि अभ्यास वश सत्ता में पड़ी रहती है और सत्ता के भावविकार के रूप में विवृत होने पर वह भी उद्बुद्ध हो जाती है। पक्षियों आदि के घोसले बनाने की कला एक तरह की सहज प्रवृत्ति अथवा चिर अभ्यास संस्कार है। ऐसे संस्कार स्वभावजन्य प्रतिभा के उदाहरण के द्योतक हो सकते हैं।

अथवा स्वभावजन्य प्रतिभा से अभिप्राय स्वतः प्रकट आत्मज्ञानमयी प्रतिभा

---

[1] वाक्यपदीय २।१४४ से १५१

से है। वाक्यपदीयकार ने स्वभाव श ब्द का आ ाभा के अर्थ में अनेक बार प्रयोग किया है। उनके अनुसार कुछ ऋषि प्रतिभात्मा में विवर्त प्राप्त करते हैं अर्थात् अपनी सृष्टि के साथ ही उन्ह प्रतिभा का भी परिज्ञान हो जाता है। परिज्ञान की प्रक्रिया को भर्तृहरि ने 'स्वप्नप्रबोध वृत्ति'[1] कहा है। अर्थात् स्वप्न में बिना किसी शब्द के सुने ही जैसे ज्ञान होता है वैसे ही उन ऋषियों को बिना किसी के बताये आपसे आप ज्ञान हो जाता है। अविद्या की योनि सत्ता स्वरूप महान् आत्मा का देखते हुए वे प्रबोध प्राप्त करते हैं। स्वाभाविकी प्रतिभा से तात्पर्य इस तरह स्वतः ज्ञान कराने वाली शक्ति से है। कुछ ऋषि विद्या में विवर्तित होते हैं अर्थात् विश्व का अविद्यात्मक समस्त व्यवहार उनके लिये औपचारिक रूप में ही सत्ता रखता है वस्तुतः वे विद्या को नित्य तत्व को स्वभावतः समझते हैं। जिस तरह स्वप्न में बिना सुने शब्द का भी परिज्ञान होता है वैसे ही वे अपनी प्रज्ञा के बल से बिना किसी के बताये ही सभी वस्तु तत्व ज्ञान समझ जाते हैं। इस तरह की प्रतिभा स्वाभाविकी प्रतिभा है

> येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्यं विमलकुशलानुकारितया कारणं प्रवर्तते तेषां ऋषयः केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते, सत्तालक्षणं महान्तमात्मानम् अविद्यायोनिं पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसमवर्तन्ते। केचित्तु विद्यायां विवर्तन्ते ते च स्वप्न इवाश्रोत्रगम्यं शब्दं प्रलयं सर्वमाम्नायं सर्वभेदशक्तियुक्तं अभिन्न शक्तियुक्तं च पश्यन्ति।
>
> —वाक्यपदीय १। १४६ हरिवृत्ति

चरण निमित्ता प्रतिभा

पुण्यराज ने चरण निमित्ता आदि प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है। यह कह कर छोड़ दिया है कि इनके उदाहरण अन्वेषणीय हैं (चरणादिपूदाहरणान्यूह्यानि)। इसी हरिवृत्ति में इस पर यह वाक्य है चरणनिमित्ता काचित् प्रतिभा। तद्यथा। कारणैर्बाधतप्रकाशविशेषाणां यति (प्रादीनाम)। इस कठिन वाक्य का अभिप्राय क्या है? जान पड़ता है चरणनिमित्ता प्रतिभा का सम्बन्ध आचरण या तपस्याजन्य ज्ञान से है। ज्ञान को प्रधान रूप में व्यक्त करना भर्तृहरि की शैली है। शिष्ट जनों को अतीत और अनागत का भी प्रत्यक्ष सा देखने की शक्ति आ जाती है

> आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्
> अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।
> अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
> ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥[2]

---

[1] टीकाकार वृषभ ने प्रलय से सर्ग तक की अवस्था को स्वप्नवृत्ति और सर्ग से प्रलय तक की अवस्था को प्रबोधवृत्ति माना है (प्रलयात् सर्ग यावत् मानवायदशायात् स्वप्नवृत्ति। सर्गात् प्रलय यावत् भावावबोधन प्रबोधवृत्ति —वृषभ-वाक्यपदीय १। १४६ टीका)।

[2] वाक्यपदीय १। ३७-३८। भवभूति के निम्नलिखित श्लोक में भर्तृहरि की ~ ।

निष्ठा या वसिष्ठ आदि जैसे मुनियों की यह अद्भुत शक्ति ही चरण निमित्ता प्रतिभा का प्रतीक है। परन्तु ऐसा अर्थ करने में एक कठिनाई है। एक योग निमित्ता प्रतिभा भी है। चरणनिमित्ता प्रतिभा को उपर्युक्त रूप में ग्रहण करने पर योग निमित्ता से उसका भेद दिखलाना कठिन हो जाता है। किसी किसी प्रज्ञाचक्षु में एक अद्भुत शक्ति देखी जाती है गहन स्थल में छिपी वस्तु को भी वे कभी कभी बता देते हैं। इसी तरह बधिर में भी स्वप्न में शब्द श्रवण के उदाहरण मिलते हैं (?)। भर्तृहरि ने अन्यत्र बधिर और अन्ध की इस शक्ति का उल्लेख भी किया है

स्वप्ने हि बधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनम् मनसनिविष्टावदवानां च कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरेणान्तर्येऽस्मात्विषु सूक्ष्माणामर्थानां दर्शनं सर्वप्रवादेषु सिद्धम्।[1]

पाद से कारण शक्ति का ग्रहण किया जाता है। अन्ध आदि में अद्भुत दर्शन क्षमता देखकर उनमें प्रज्ञानमयी प्रतिभा रूप कारण का अनुमान करना सहज है। चरण निमित्ता प्रतिभा का अभिप्राय ऐसी ही प्रतिभा से जान पड़ता है।

अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा

हरिवृत्ति में इस प्रसंग पर मिलता है— अभ्यास निमित्ता काचित प्रतिभा। तद् यथा [illegible]दीनाम्। [illegible] पाठ अशुद्ध जान पड़ता है। मेरी नम्र सम्मति

अभ्यास के सगीत से परिचय रखने वाले भी ठीक से उन्हें नही समझ पाते। इसे भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।

मणिरूप्यादिविज्ञान तद्विदा नानुमानिकम ॥[1]

अत अभ्यासजन्य प्रतिभा का उदाहरण सौवर्णिक आदि की प्रतिभा को समझना चाहिए।

योग निमित्ता प्रतिभा

योगनिमित्ता प्रतिभा से तात्पर्य योगियो की उस शक्ति से है जिसके बल से वे दूसरे मनुष्यो के अभिप्राय आदि तुरन्त ठीक ठीक अवगत कर लेते है—जिसके बल से उनमे सर्वज्ञता आती है।

अदृष्ट निमित्ता प्रतिभा

भूत, प्रेत पिशाच आदि मे दूसरे पर सवार होने (परावेश) और अन्तर्धान होने की क्षमता देखी जाती है। उनमे एक तरह की अदृष्ट शक्ति देखी जाती है। अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय ऐसी ही शक्ति से है।

विशिष्टोपहिता प्रतिभा

कभी कभी कोई विशिष्ट व्यक्ति अपनी ज्ञान राशि का सक्रमण किसी अन्य मे कर देते है। इसमे दूसरा व्यक्ति भी उस विशेष ज्ञान का वाहक हो जाता है। कृष्ण द्वैपायन (व्यास) ने सजय मे ऐसी शक्ति का सक्रमण किया था जिससे सजय को दिव्य दृष्टि मिल गई थी। इस तरह की अन्य द्वारा अन्य मे आहित प्रतिभा का नाम विशिष्टोपहिता प्रतिभा है।

इस तरह प्रतिभा के अनेक भेद है। वह वाक्य प्रतिपाद्य है और सभी वाक्यो का अधिष्ठान भी वही है। वह व्याकरण से परे की वस्तु है। व्याकरण के काल क्रम से विनष्ट हो जाने पर भी और अन्य शक्तियो के नाश हो जाने पर भी उसमे शब्द बीज सनिविष्ट रहते हैं और समय पाकर वही प्रतिभा विवर्त प्रक्रिया के आधार पर वर्ण पद वाक्य रूप मे पुन आभासित होती है

एव प्रतिभा बहुविधापि सर्ववागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या व्याकरणात्ययेऽपि सवशक्तिप्रत्यस्तमये प्रत्यस्त मितनिविष्टशब्दशक्तिबीजकारणा तथाभूता निषद्धबीजा वृत्तिकाले प्रथम सूक्ष्मेणापि वत्मना विवर्तमात्रामनुभूय क्रमेण वर्णवाक्यनियतामिरवस्थामि समुच्छ्रयन्ती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुन पुन व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासते।

—वाक्यपदीय २।१४३ हरिवृत्ति।

---

१ वाक्यपदीय १।३५

भर्तृहरि के अनुसार करण, स्थान, प्रयत्न आदि का परिज्ञान व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा ही बिना किसी अन्य के बताये आपसे आप हो जाता है। क्योंकि शब्द भावना अनादि है वह पौरुषेय नहीं है

अनादिश्चैषा शब्द भावना। नह्येतस्या कथंचित पौरुषेयत्व सम्भवति। तथा ह्यनुपदेशसाध्या प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादय।

--वाक्यपदीय, १।१२३ हरिवृत्ति

प्रतिभा के सम्यग् अवबोध से क्षेम की प्राप्ति होती है

तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकार प्रकृतिं सत्तां साध्यसाधन शक्तियुक्तां सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

वही पृष्ठ ११८

भर्तृहरि के आधार पर भोज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है

स्व स्वमर्थमभिधायोपरतेषु पदेषु पदार्थप्रतिपत्त्यनन्तरमुपजायमाना इव तदिति व्यपदेश्यानुपदेशसिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु प्रवृत्त्यनुकूला बुद्धि प्रतिभा। तथाहि पदनिबन्धनानां पदार्थावबन्धनानां चार्थप्रत्ययावभासमानानां अविच्छेदेन प्रवृत्तौ पदार्थे क्रमेण गृह्यमाणे आहितसंस्कारासु बुद्धिषु सर्वार्थप्रत्ययावभास ससर्गानुगृहीता प्रत्यस्तमितभेदप्रत्ययावभासा प्रवृत्तिफलप्रसवानुमेया अभिन्न जातीयेव प्रतिभा प्रत्यात्म विवर्तते।

—शृंगार प्रकाश पृ० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में भी प्रतिभा सहायक है। जब तक प्रतिभा शब्द के माध्यम पूर्व अपर का प्रत्यवमर्श नहीं करती प्रत्यक्ष अथवा अनुमान अपना काम नहीं कर पाते है। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त करते हैं।

प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत पूर्वापरप्रत्यवमर्श शब्दोल्लेखवान प्रतिभया न क्रियते तावत प्रत्यक्षमनुमान वा स्वकार्य न प्रसाधयति। प्रतिभोपगृहीतानि सर्वप्रमाणानि प्रमाणता लभन्ते।

—शृंगार प्रकाश पृ० २१३

भोज ने षट प्रकार की प्रतिभा का काल, अभ्यास योग ध्यान और अनुध्यान के आधार पर विभाजन किया है और इह पूर्वजन्म के श्रवण जनित संस्कारों का उद्बोधक माना है। कभी वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप अर्थ का उन्मीलन हो जाता है कभी निमित्तान्तर के सान्निध्य में चिर व्यवहित भी विशिष्ट प्रतिभा भावनाबीज के सन्निवेश से वही वाक्य परपरया प्रतिभारूप स्वार्थ का आविर्भाव करता है। प्रतिभा वाक्यार्थ है। (शृंगार प्रकाश पृ० २१४)

कुमारिल भट्ट ने प्रतिभा वाक्यार्थवाद का प्रासंगिक रूप में स्वीकार किया है और प्रासंगिक रूप में इसकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा जन्यत्व रूप में प्रतिभा का स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु यदि प्रतिभा किसी अन्य रूप में बाह्य अर्थ से सम्बद्ध है तो इस वाद में आपत्ति है। बाह्य अर्थ नियन-

स्वभाव वाला होता है। किन्तु गर ही म न गरित, वीर पुण्य म इन घोर भीर म भय उत्पन्न करता है। प्रतिमा वाक्यायवा म इसकी उपपत्ति नहीं घटती (इनार वार्तिक, वाक्याधिकरण ३२८ ३३०)।

वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भत हरि न पदार्थनिबन्धन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के इन्हे धम लक्षण नाम से भी उन दिना ज्ञात थ। भत हरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड म इन पर विशेष विचार किया था। किन्तु यह भाग (लक्षण समुद्देश) इसकी टीकाओं सह लुप्त हो चुका था। लक्षणा के एक भेद बाधा पर विशेष विचार 'बाधा समुद्देश' म भत हरि न किया था। यह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड म लक्षणा की एक लम्बी सूची वाक्य क धम के रूप म मिलती है। पुण्यराज ने उन्हे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भोज न भी शृगार प्रकाश म वाक्यपदीय क आश्रय स इन वाक्यधर्मों पर विचार किया है। डा० वी० राघवन का ध्यान इस पर गया था और उन्होने भत हरि, पुण्यराज और भोज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपने महत्त्वपूर्ण ग्रथ भोज के 'शृगार प्रकाश' म किया है।[1]

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भत हरि ने लक्षणा की सख्या विचार भेद से छ, बारह अथवा चौबीस बताई है। किन्तु य छ बारह अथवा चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं इसका सकेत वाक्यपदीय म नहीं है। भत हरि न जिन नामा को गिनाया है व चौबीस से अधिक हैं। पुण्यराज ने इस समस्या का सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणा का सम्बन्ध मूल रूप म मीमासा दशन स है। पद पदाथ क विचार के अवसर पर इन लक्षणा पर विचार उपयोगी समझ कर भत हरि ने इन्हे अपनाया है।

जैमिनि का मीमासादशन बारह अध्याया म विभक्त है। इसके पहले छ अध्याया मे प्रत्यक्षविहित धमकर्मों की इतिकर्तव्यता पर विचार है। दूसरे छ अध्याया म अविहित इतिकर्तव्यता पर विचार है।

मीमासादर्शन के पहले छ अध्याय को प्रकृति षटक कहा जाता है। इन्हे उपदेश षटक भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय म विधि अथवाद मन्त्र और स्मृति पर विचार है गुणविधि और नामधेय का उल्लेख है सदिग्ध अर्थों का वाक्यशेष के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया बताई गई है। इनम वेद का प्रामाण्य (विधि) मुख्य है और अन्य प्रासगिक हैं।

द्वितीय अध्याय म प्रधान अप्रधान भिन्न अभिन्न पर विचार है। षडविध कर्म भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय म श्रुति लिङ्ग वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्यान द्वारा शेषविनियोगलक्षण वर्णित है। शेषशेषिभाव प्रतिपाद्य है।

---

१ भोजाज शृगार प्रकाश, पृ० ७२६ ७३८

भर्तृहरि के अनुसार करण, स्थान, प्रयत्न आदि का परिज्ञान व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा ही बिना किसी अन्य के बताए आपसे आप हो जाता है। क्योंकि शब्द भावना अनादि है वह पौरुषेय नहीं है

> अनादिश्चैषा शब्द भावना। नह्यस्या कथंचित पौरुषेयत्व सम्भवति। तथा ह्यनुपदेशसाध्या प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादय।
>
> —वाक्यपदीय, १।१२३ हरिवृत्ति

प्रतिभा के सम्यक् अवबोध से क्षेम की प्राप्ति होती है

> तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रभवा भावविकार प्रकृति सत्ता साध्यसाधन शक्तियुक्ता सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।
>
> वही, पृष्ठ ११८

भर्तृहरि के आधार पर भोज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है

> स्व स्वमयमभिधायोपरतेषु पदेषु पदार्थप्रतिपत्त्यनन्तरमुपजायमाना इद तदिति व्यपदेश्यानुपदेशसिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु प्रवृत्त्यनुकूला बुद्धि प्रतिभा। तथाहि पदनिव घनाना पदार्थवयनिब घनाना वाक्यप्रत्ययवभासमात्राणा अविच्छेदेन प्रवृत्ती पदार्थे क्रमेण गृह्यमाण आहितसंस्कारासु बुद्धिषु सर्वार्थप्रत्ययवभास संसर्गानुगृहीता प्रत्यस्तमितभेदप्रत्ययभासा प्रवृत्तिफलप्रसवानुमेया अभिन्न जातीयव प्रतिभा प्रत्यात्म विवर्तत।
>
> —शृंगार प्रकाश प० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में भी प्रतिभा सहायक है। जब तक प्रतिभा शब्द के माध्यम पूर्व अपर का प्रत्यवमर्श नहीं करती प्रत्यक्ष अथवा अनुमान अपना काम नहीं कर पाते हैं। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त करते हैं।

> प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत पूर्वापरप्रत्यवमर्श शब्दोल्लेखवान प्रतिभया न क्रियते तावत प्रत्यक्षमनुमान वा स्वकाय न प्रसाधयति। प्रतिभोपगृहीतानि सर्वप्रमाणानि प्रमाणता लभन्ते।
>
> —शृंगार प्रकाश, प० २१३

भोज ने छह प्रकार की प्रतिभा का काल अभ्यास योग, ध्यान और अनुध्यान के आधार पर विभाजन किया है और इह पूर्वजन्म के श्रवण जनित संस्कारों का उद्बोधक माना है। कभी वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप अर्थ का उन्मीलन हो जाता है कभी निमित्तान्तर के सान्निध्य में चिर व्यवहित भी विशिष्ट प्रतिभा भावनाबीज के सन्निधान में वही वाक्य परंपरया प्रतिभारूप स्वार्थ का आविर्भाव करता है। प्रतिभा वाक्यार्थ है। (शृंगार प्रकाश प० २१४)

कुमारिल भट्ट ने प्रतिभा वाक्यार्थवाद का आंशिक रूप में स्वीकार किया है और आंशिक रूप में इसकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा ज्ञेयतत्त्व रूप में प्रतिभा का स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु यदि प्रतिभा किसी न किसी रूप में बाह्य अर्थ से सम्बद्ध है तो इस बात में आपत्ति है। बाह्य अर्थ नियत-

स्वभाव वाला होता है। किन्तु एक ही अर्जुन चरित, वीर पुरुष में हर्ष और भीरु में भय उत्पन्न करता है। प्रतिभावाक्यार्थवाद में इसकी उपपत्ति नहीं बैठती (न्यायवार्तिक, वाक्याधिकरण ३२८-३३०)।

वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भर्तृहरि ने पर्यायनिर्वचन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के ऐसे धर्म लक्षण नाम से भी उन दिनों ज्ञात थे। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में इन पर विशेष विचार किया था। किन्तु वह भाग (लक्षण समुद्देश) इसकी शताब्दी तक लुप्त हो चुका था। लक्षणों के एक भेद बाधा पर विशेष विचार बाधा समुद्देश में भर्तृहरि ने किया था। वह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड में लक्षणों की एक लम्बी सूची वाक्य के धर्म के रूप में मिलती है। पुण्यराज ने उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भोज ने भी शृंगार प्रकाश में वाक्यपदीय के आश्रय से इन वाक्यधर्मों पर विचार किया है। डा० वी० राघवन का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने भर्तृहरि, पुण्यराज और भोज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भोज के शृंगार प्रकाश में किया है।[1]

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भर्तृहरि ने लक्षणा की संख्या विचार भेद से छ, बारह अथवा चौबीस बताई है। किन्तु ये छ बारह अथवा चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं इनका संकेत वाक्यपदीय में नहीं है। भर्तृहरि ने जिन नामों को गिनाया है वे चौबीस से अधिक हैं। पुण्यराज ने इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणों का सम्बन्ध मूल रूप में मीमांसा दर्शन से है। पद पदार्थ के विचार के अवसर पर इन लक्षणों पर विचार उपयोगी समझ कर भर्तृहरि ने इन्हें अपनाया है।

जैमिनि का मीमांसादर्शन बारह अध्यायों में विभक्त है। इसके पहले छ अध्यायों में प्रत्यक्षविहित धर्म-कर्मों की इतिकर्तव्यता पर विचार है। दूसरे छ अध्यायों में अविहित इतिकर्तव्यता पर विचार है।

मीमांसादर्शन के पहले छ अध्याय को प्रकृति षटक कहा जाता है। इन्हें उपदेश षटक भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय में विधि, अर्थवाद, मंत्र और स्मृति पर विचार है गुणविधि और नामधेय का उल्लेख है सन्दिग्ध अर्थों का वाक्यशेष के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया बताई गई है। इनमें वेद का प्रामाण्य (विधि) मुख्य है और अन्य प्रासंगिक हैं।

द्वितीय अध्याय में प्रधान अप्रधान, भिन्न अभिन्न पर विचार है। षड्विध कर्म भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य प्रकरण स्थान और समाख्यान द्वारा शेषविनियोगलक्षण वर्णित है। शेषशेषिभाव प्रतिपाद्य है।

---

१ भोज शृंगार प्रकाश, पृ० ७२९-७३८

चतुर्थ अध्याय में क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ पर विचार है। प्रयोजकाप्रयोजक भाव (प्रयुक्ति) प्रतिपादित है।

पंचम अध्याय में श्रुति, अर्थ पाठ प्रवृत्ति काण्ड और मुख्य के रूप में क्रम नियमलक्षण पर विचार है। क्रम प्रतिपाद्य विषय है।

षष्ठ अध्याय में अर्थी समर्थ अधिकारी का निरूपण है।

इस तरह प्रथम छः अध्यायों में क्रम से विधि भेद, शेषशेषिभाव प्रयुक्ति क्रम और अधिकारी का प्रतिपादन किया गया है। षट् लक्षण से तात्पर्य इन्हीं छः लक्षणों से हो सकता है

> एवं विधिभेद शेषशेषिभावप्रयुक्तिक्रमाधिकारिणां प्रतिपादनात्षडध्यायाः षड्विति षट् लक्षणानि।
>
> —पुण्यराज वाक्यपदीय २।७७

जो आचार्य केवल छः लक्षण मानते होंगे और बारह अथवा चौबीस लक्षण के पक्ष में नहीं होंगे उनका अभिप्राय संभवतः यह होगा कि मीमांसासूत्र के प्रथम छः अध्यायों में ही मौलिक लक्षण आ जाते हैं। बाद के छः अध्यायों में उनके मत में, मौलिक लक्षण प्रतिपादित नहीं है। सातवें अध्याय में ऐन्द्राग्न आदि के धर्म बताए गये हैं। आठवें अध्याय में ये धर्म इसके हैं बताया गया है। नवम अध्याय में उनकी प्रयोग प्रक्रिया समझाई गई है। दशवें ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में उनकी इयत्ता, इतने प्रयोग किए जाने चाहिए इससे अधिक नहीं का वर्णन है। अतः प्रकृतिपटक —प्रथम छः अध्याय से प्रतिपाद्य लक्षण ही षट्लक्षण हैं।

द्वादशलक्षण के पक्ष में बारहों अध्यायों से प्रतिपादित लक्षण द्वादश लक्षण माने जाते हैं। इनमें प्रथम छः अध्यायों से प्रतिपाद्य छः लक्षण और शेष छः अध्याय से प्रतिपाद्य छः लक्षण कुल मिलाकर बारह लक्षण हो जाते हैं। शेष छः अध्यायों में सातवें अध्याय में सामान्यातिदेश पर विचार है। आठवें में विशेषातिदेश की चिन्ता है। नवम अध्याय में ऊह पर ऊहापोह है। दशम अध्याय में बाधा का निरूपण है। ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र विचार है और बारहवें अध्याय में प्रसंग की चर्चा है। इन छः अध्यायों को अतिदेश पटक कहा जाता है। इस तरह इनमें क्रम से सामान्यातिदेश विशेषातिदेश ऊह बाधा तन्त्र और प्रसंग—ये छः लक्षण प्रतिपादित हैं। पहले के छः लक्षण और ये छः लक्षण मिलकर कुल द्वादश लक्षण हो जाते हैं।

चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं? इनकी असंदिग्ध पहिचान पुण्यराज को भी नहीं थी। चौबीस लक्षण के नामतः स्वरूप निर्धारण करने के लिए उन्होंने एक कल्पना की है। उनके मत में जो द्वादश लक्षण द्वादश अध्याय के बल पर स्वीकृत हैं इनके प्रतिपक्ष रूप में भी दूसरे द्वादश लक्षण इन अध्यायों में वर्णित हैं।[१] पूर्व के मूल बारह लक्षणों में पुण्यराज के अनुसार प्रमाण (विधि) का प्रतिपक्ष संभव नहीं है। सामान्या

---

१ एतत्प्रतिपक्षभूतान्यन्यानि द्वादश अयोगतत्त्वकल्पनानि—

पुण्यराज, वाक्यपदीय—२।७७

तिदेश और विशेषातिदेश के प्रतिपक्ष का संकेत भर्तृहरि ने नहीं किया है। शेष के प्रतिपक्ष अथवा अपवाद होते हैं जो निम्नलिखित है

लक्षण	प्रतिपक्ष / अपवाद
प्रमाण (विधि)	—
भेद	अभेद
शेषशेषिभाव	गुणप्रधानभावाविवक्षा
प्रयुक्ति	अप्रयोजक
क्रम	अविवक्षा
अधिकारी	क्रियान्तरव्युदास
सामान्यातिदेश	—
विशेषातिदेश	—
ऊह	सम्बधबाध
बाध	(क) समुच्चय (ख) विकल्प
तन्त्र	आवृत्ति
प्रासंगिक	भेद

इस तरह से प्रतिपक्ष अथवा अपवाद रूप में अभेद गुणप्रधानभावाविवक्षा, अप्रयोजक अविवक्षा, क्रियान्तरव्युदास सम्बधबाध समुच्चय विकल्प आवृत्ति और भेद। ये दस लक्षण और हो जाते है। सब मिलकर २२ लक्षण हो जाते हैं। अवशेष दो लक्षण के विषय में पुण्यराज की कोई निश्चित धारणा नहीं है। उन्होंने लिखा है कि शेष दो लक्षण 'लक्षणमनुद्देश' में ढूंढना चाहिए। अथवा सामान्यातिदेश का भी अपवाद सामान्यातिदेश का अभाव मान लेना चाहिए। इसी तरह विशेषातिदेश का प्रतिपक्ष सामान्यातिदेश अथवा विशेषान्तरातिदेश मानकर अवशेष दो लक्षणों की पूर्ति कर लेनी चाहिए। इस तरह से २४ लक्षण हो जाते हैं—

> इत्येवमादिभिः सह द्वाविंशतिलक्षणानि भवन्ति। द्वे लक्षणे समुद्देशादूह्ये। अथवा सामान्यातिदेशस्य तदभाव एवापवादः। विशेषातिदेशस्य सामान्यातिदेश एव विशेषान्तरातिदेशो वेत्यनयोः सप्रतिपक्षत्वमाश्रित्य चतुर्विंशतिः सम्पद्यन्त इत्येवमनेन क्रमेणैतानि लक्षणानि। एतदेव मनसिकृत्य षड् द्वादश चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीत्युक्तम्।
>
> —पुण्यराज वाक्यपदीय २।७७

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।७७-८८ में जिन वाक्य धर्मों का उल्लेख किया है वे निम्न लिखित हैं प्रासङ्गिक, तन्त्र, आवृत्ति भेद, बाध समुच्चय, ऊह सम्बन्धा, बाध, सामान्यातिदेश विशेषातिदेश, अर्थित्व, सामर्थ्य, अर्थभेद अधिकार क्रियान्तर व्युदास, श्रुत्यादिक्रम क्रमजलावल अविवक्षितक्रम पराङ्ग अप्रयोजक प्रयाजक नान्तरीयक प्रधान, शेष विनियोगक्रम साक्षादुपकारी, आरादुपकारक शक्तिव्यापार भेद, फलभेद सम्बन्धजभेद, अविवक्षितभेद प्रसज्यप्रतिषेध पर्युदास, गौण मुख्य

व्याप्ति गुरु, लाघव, अङ्गाङ्गिभाव, विकल्प, नियम बाध्यता लिङ्गादिभेद अध्याहार।

भोज के अनुसार वाक्य के धर्म भिन्न निम्न हैं प्रधान, गुण, प्रयोजक अप्रयोजक नान्तरीयक मुख्य गौण व्यापक लघु गुरु, अपवाद, अनुवाद भेदविवक्षा, अभेदविवक्षा, व्यवच्छित्तिकल्पना उपादानकल्पना तद्भावापत्ति, साम्यापत्ति सम्बन्धबाधन, विकल्प समुच्चय नियम निषेध प्रतिनिधि ऊह बाध तन्त्र प्रसङ्ग आवृत्ति भेद समासव्यतिरेक क्रियाव्यतिरेक, अधिकार अध्याहार विपरिणाम वाक्यभेद, अवधि, अपोद्धार अनिष्पन्नशब्द क्रियाकारकसंसर्ग क्रियाद्वन्द्व क्रियाविभक्ति वाक्यान्तराभिसम्बन्ध, सत्त्वक्रियाविभक्ति श्रुत्यादिविनियोग श्रुत्यादिप्रलापन श्रुत्यादिक्रम क्रमभेद।[3]

भोज द्वारा गिनाए हुए वाक्य के धर्मों का भी उल्लेख वाक्यपदीय और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति में यत्र तत्र मिल जाता है। भोज ने उनका स्वतन्त्र कथन कर दिया है। हम पहले भर्तृहरि द्वारा दिए हुए वाक्यधर्मों पर पुण्यराज और भोज के सहारे विचार करेंगे।

प्रासङ्गिक भर्तृहरि ने वाक्यधर्मों में सब प्रथम प्रासङ्गिक की चर्चा की है। मीमांसादर्शन में प्रसङ्ग पर विचार अन्तिम अध्याय में किया गया है, वह अन्तिम लक्षण है। प्रमाण (विधि) आदि लक्षण हैं। आदि का प्रथम न लेकर अन्तिम का प्रथम ग्रहण में क्या हेतु है? पुण्यराज के अनुसार भर्तृहरि न्याय मात्र का प्रामाण्य मानते हैं। न्याय मात्र का चाहे वह जिस किसी भी दर्शन-शास्त्र का हो विचार के लिए अपने दर्शन में स्थान देते हैं। यहाँ सामान्य रूप से वाक्य के धर्मों पर विचार अपेक्षित है जो पद-पदार्थ की व्यवस्था में उपयोगी है, वेदविधि के प्रमाण्य अप्रामाण्य से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है।[4]

शबरस्वामी ने प्रसङ्ग की एक प्राचीन परिभाषा उद्धृत की है एवमेव प्रसङ्गः स्यात् विद्यमाने स्वके विधौ—अन्यत्र किया गया का अन्यत्र आसक्ति प्रसङ्ग है। जैसे किसी प्रासाद पर किया गया आलोक राजमार्ग को भी प्रकाशित करता है।[5] भर्तृहरि ने महाभाष्य त्रिपादी में प्रसङ्ग की परिभाषा यों दी है यदस्यार्थी प्रयोजक (यदर्थी-प्रयोजक) अन्यद्वारेणार्थं प्रतिपद्यते स प्रसङ्ग इत्युच्यते।[6] अर्थी अप्रयोजक यदि किसी दूसरे के आश्रय से अर्थ की प्राप्ति करता है प्रसङ्ग कहलाता है जैसे 'आम्राश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता' इस वाक्य में आम्र सेचन क्रिया के प्रयोजक हैं पितर अप्रयोजक हैं आम के लिए डाल गये जल को वे भी प्रसङ्ग से पा लेते हैं।

पुण्यराज ने, सम्भवतः हरिवृत्ति के आधार पर प्रसङ्ग का लक्षण दिया है

द्वयोरर्थिनो कार्येण समाविना प्रयोजकत्वेन निर्ज्ञातसामर्थ्ययो यत्र अन्यतर-

---

३ शृङ्गारप्रकाश, पृष्ठ ३०७ मैसूर संस्करण।

४ यद्यपि परपा चोदनैव प्रमाण प्रसिद्ध तथापि टीकाकारो न्यायमात्रस्य प्रामाण्यमङ्गीकरोति। अतएव चोदनायामेव प्रामाण्याभावात् प्रथममेव लक्षणनिर्देश न कृतम्।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

५ शाबरभाष्य १२।१।१ पृ० ३०६ काशी संस्करण।

६ महाभाष्य त्रिपादी पृ० ४५ पूना संस्करण।

प्रयुक्तेन अर्थेन अपरोऽभिसम्बध्यमान श्रुतन्यत्वात पृथक प्रयोजकत्वं गोपति प्रसग । तत प्रयोजनक प्रासङ्गिकम ।[७]

जहा दो काय होने वाले हो जिनका प्रयोजक रूप म सामान्य ज्ञात हो यदि एक के प्रयाग से दूसरा भी सम्बद्ध रूप म ज्ञापन सा होकर प्रयोजक नहीं बनता है उसे प्रसग कहते है। प्रसग के प्रयोजनक को प्रासगिक कहते हैं। भोज ने भी पुण्यराज वाला लक्षण दिया है। प्रासगिक का लौकिक उदाहरण सघाताध्ययन है। 'य अध्यापक हमारे अध्यापन के लिए है तुम भी इन्ही से पढो। व्याकरण म प्रसग का उदाहरण सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७ सूत्र म णत्व का अभाव माना जाता है

सर्वादीनि सर्वनामानीत्यत्र णत्वाभाव प्रासगिकमुदाहरन्ति ।[८]

भोज ने प्रासगिक की एक दूसरी भी परिभाषा दी है

यत्त्वान्यद व्याचक्षाणोऽन्यदप्याचष्टे तदपि प्रासगिकम ।[९]

दूसरी बात कहते हुए यदि कोई अन्य बात का भी साथ ही उल्लेख हो जाय वह भी प्रासगिक है। जसे कुमारसभव म कालिदास ने काम के बाणप्रहार के समय का चित्र देते हुए धनुर्विद्या के रूप पर भी प्रकाश डाला है।[१०]

तत्र दूसरा वाक्यधम तत्र है। एक ही अर्थ की सिद्धि की इच्छा रखने वाले कई अर्थों के प्रयोजक के अभेद से अथवा आवृत्ति द्वारा सभव की दृष्टि स और लाघव की दृष्टि से उस अर्थ का एक ही प्रयोग करते हैं। वह तन्त्र है।

यत्रार्थिन सर्वे प्रयोजकाभेदेनावृत्त्या वा योऽर्थ प्रतिपत्तव्यस्तमर्थम एकमेव सम्भवात लाघवाच्च प्रयोजयन्ति तत तन्त्रम ।[११]

भोज ने भी ऐसा ही लक्षण दिया है। पढ़ने वाले सभी छात्र शाला म एक ही दीप से काम ले लेते है। अथवा जैसे कठाध्यायी शतपथिका की शाला म जलाया गया दीप व्याकरण पढ़ने वाला के भी काम आता है। जहा एक ही वस्तु से कई प्रयोजनार्थी एक साथ काम निकालते हैं वहा तन्त्र माना जाता है। भर्तृहरि ने श्वेतो धावति वाक्य म तन्त्र माना है। शब्द की शक्ति का तन्त्र द्वारा शक्ति अवच्छेद मात्र किया जाता है। एक ही पुरा शब्द पुरा के अर्थ म भी आता है सह वचन भी है एक ही आरात शब्द सन्निकृष्ट अर्थ मे देखा जाता है और विप्रकृष्ट अर्थ म भी। इसी तरह श्वेत शब्द अनेक शक्ति से युक्त है। प्रतिपत्ता शक्ति शक्ति अवच्छेद के द्वारा अर्थ-

---

७ पुण्यराज—वाक्यपदीय २।७७

८ तुलना कीजिए—लोकेऽयम णत्वरहित एव प्रयुज्यते ।
तत्रास्य प्रसगेन साधुत्व प्रतिपाद्यते ॥

—कैयट, प्रदीपोद्योत १।१।२७

सभवत पुण्यराज और कैयट दोनों ने भाष्यनिगादी से इस तथ्य को लिया है।

९ शृगार प्रकाश पृ० ३१६

१० कुमार सभव ३।७०

११ वाक्यपदीय, पुण्यराज, २।७७

बोध करते हैं। पर्यन्तिर्गत मार्गों से प्रन्थ का उच्चारण किया गया हो। जैसे एक ही प्रदीप सभी व्यक्तियों को प्रकाशित करता है (तन्त्र से) प्रालोक प्रदान का काम निपटा देता है। शास्त्र में भी ऐसी शक्ति है कि वह तन्त्र से शास्त्र के उच्चारण जान पड़ता है।[12] जब शब्द द्विगत होता है शब्द भी द्विगत होता है। शास्त्र में शब्द के प्रयोग में कभी क्रम और कभी यौगपद्य का आश्रय देखा जाता है। जैसे भज्यताम् भुज्यताम् दीव्यताम्। इस वाक्य में भज्यताम् क्रिया का भाव से क्रम से सम्बन्ध दिखाया गया है। 'प्रभो भज्यता भज्यतां दीव्यताम्' इस वाक्य में क्रम उपलब्ध है। भज्यतां शब्द का भाव में एक साथ अन्वय हो जाता है। यह भी तन्त्र का उदाहरण है। एकशेष में एक संख्या दूसरी संख्या के साथ तन्त्रिणी मानी जाती है। 'प्रास्यत भवान् प्रास्यत भवान्।' इसमें प्रास्यत में एकत्व का सम्बन्ध द्वित्व बहुत्व से भी हो जाता है। प्रश्न में भी बहुत्व संख्या एकत्व और द्वित्व की तन्त्रिणी होती है। 'कति भवन पुत्रा' इस प्रश्न में बहुत्व का सम्बन्ध एकत्व और द्वित्व से भी है। इसी तरह नपुंसक का स्त्री और पुरुष से तन्त्र सम्बन्ध सम्भव है जैसे किम् जातमस्य का उत्तर 'पुत्र जात' 'पुत्री जाता' दोनों हो सकता है। गोस्वामी व्रजति और 'गवां स्वामी व्रजति' जैसे वाक्यों में विभक्ति भी तन्त्रिणी होती है। गोस्वामी व्रजति वाक्य से कर्म अरण्य का आक्षेप सम्बन्धविशेष के रूप में हो जाता है। 'गवां स्वामी व्रजति' कहने से षष्ठीविभक्ति द्वारा स्वस्वामिभाव के व्यक्त हो जाने के कारण व्रजति क्रिया से कर्म का भान अनियत ही रह जाता है। कभी-कभी प्रधान क्रियाविषयक धातु से उत्पन्न प्रत्यय अप्रधानक्रियाविषयक शक्ति को भी तन्त्र द्वारा समेट लेता है। इष्यते ग्रामो गन्तुम् जैसे वाक्य में 'इष्यते' प्रधान क्रिया का प्रत्यय अप्रधान गमन क्रिया को भी साथ ले लेता है। पक्त्वा अत्र ओदनो भुज्यते इस वाक्य में भोजन क्रिया प्रधान और पाचन क्रिया अप्रधान है। अप्रधान का भी तन्त्र द्वारा, पहले पकाना है बाद में भोजन करता है के रूप में, ग्रहण हो जाता है। अथवा गुण-विषयक शक्ति अनभिहित होती हुई भी प्रधान क्रिया के अनुरोध से अभिहित के सदृश जान पड़ती है। भोज ने पद और वाक्य की तरह दो प्रयोजन को सिद्ध करने वाले प्रकरण और प्रबन्ध को भी तन्त्र माना है।

व्याकरण शास्त्र में तपरस्तत्कालस्य १।१।७० में तपर शब्द तन्त्र के आधार पर बहुव्रीहि समास के रूप में (त परो यस्मात् सोऽयं तपर) और पञ्चमी तत्पुरुष के रूप में (तादपि पर तपर) दोनों तरह से गृहीत होता है। लम्बे प्रसारित तन्तु को तन्त्र कहा जाता है। जैसे वह अनेक तिरछे किए हुए तन्तुओं का अनुग्राहक होता है वैसे ही शास्त्र में जब एक अनेक लक्ष्य अनुग्राहक होता है तब तन्त्र कहलाता है—तन्त्र प्रधान को भी कहा जाता है। सिद्धान्त भी तन्त्र शब्द से अभिप्रेत होता है। महाभाष्यकार ने निर्देश और विवक्षित के सम्बन्ध में तन्त्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है।[13]

---

१२ महाभाष्य त्रिपादी पृ० ४५ पूना संस्करण

१३ तन्त्र तरनिर्देश महाभाष्य १।१।३३, तन्त्र व प्रधाने वर्तते तन्त्रशब्द, तन्त्रग्रहणम्—
महाभाष्य १।४।५४

शबरस्वामी ने तन्त्र को साधारण धर्म समूह के अर्थ में ग्रहण किया है।[14]

आवृत्ति एक क्रिया पदार्थ अथवा कारक पदार्थ का अपने अभिन्न रूप से पर्याय रूप में अनेकस्थलों में उपस्थित होना आवृत्ति कहलाता है। एक साथ न भोजन करने वाले यदि कई व्यक्ति हों और पात्र एक ही हो बारी बारी से एक ही थाली सबके भोजन का पात्र बन जाती है। एक ही वस्त्र या भूषण रंगमंच पर अनेक नटों के लिए बारी बारी से उपयोगी हो जाता है। वार्तिककार ने आवृत्तिसंख्यान के रूप में आवृत्ति का व्यवहार किया है। महाभाष्यकार ने इसके लौकिक उदाहरण में कहा है कि एक ही कपिला गाय को सहस्र ऋषियों ने बारी बारी से सहस्र बार देकर सहस्र दक्षिणा का फल प्राप्त किया था।[15] व्याकरण शास्त्र में एकाच्—अनेकाच ग्रहणों में आवृत्तिसंख्यान के आश्रय से घटेन तरति जैसे स्थलों में द्वयचलक्षण ठन प्रत्यय होता है। कैयट के अनुसार आवृत्तिभेद से भी भेदाश्रयकार्य की प्रवृत्ति देखी जाती है।[16] इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५ सूत्र में तन्त्र अथवा आवृत्ति के आधार पर वाक्यार्थ और वर्ण दोनों के पक्ष में दो तरह से अर्थ किए जाते हैं। भाषा में क्रियापद की आवृत्ति और कारक पद की आवृत्ति के उदाहरण अलंकृत रचना में बराबर मिलते हैं। जैसे—

> शशिना च निशा निशया च शशी विभाति'।
> सीता विस्मयते निरीक्ष्य हरते दृष्टिं झटित्याकुला।[17]

भेद जहां पर वस्तु अपने स्वरूप सामर्थ्य से अनेकत्व प्राप्त करती है भेद माना जाता है। जैसे पात्र सहभोजी पंक्तियों के लिए भेद रूप में ही भोजन के आधार होते हैं।[18] वेद में भी 'ग्रह सम्मार्ष्टि' जैसे स्थलों में ग्रह विषयक सम्मार्जन भेद रूप में किया जाता है। व्याकरणशास्त्र में भी न वेति विभाषा १।१।४४ इस सूत्र के प्रत्याख्यानपक्ष में 'उभयत्रविभाषा' का कभी विधि रूप में कभी प्रतिषेध रूप में, भेद-भिन्न प्रवृत्ति होती है। भोज ने इस भेद को क्रियाभेद और शब्दभेद के रूप में दिखाया है। शब्द भेद भी पद और वाक्य भेद से दो तरह का और वाक्यभेद भी प्राकृत, वैकृत भेद से दो तरह का होता है। 'जायन्ते च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः' वाक्य में 'क्षुद्रजन्तवः' में क्षुद्र और जन्तव रूप में पदभेद माना जाता है।

बाध अर्थितसामान्य के आधार पर अथवा उपदेश के आधार पर प्रवृत्ति के संभव होने पर भी दृष्ट अदृष्ट अर्थों में तुल्यबल वाले विरोधी अथवा अविरोधी

---

१४ तन्त्र साधारणो धर्मग्रामः, शाबरभाष्य १ ११।१

१५ महाभाष्य, पृ० १७ कीलहार्न संस्करण।

१६ गोद्वयच इत्यत्राश्रयान्वर्धनिर्देशात् लिङ्गा आवृत्तिभेदेनापि भेदाश्रयकार्यप्रवृत्ति।

कैयट—प्रदीप, शिवसूत्र १

१७ शृंगारप्रकाश, पृ० ३१६

१८ भोज ने उत्तरभारत की किसी परंपरा को लक्ष्य कर भेद का लौकिक उदाहरण दिया है—गङ्गास्थान पक्षे आवर्ते सभोजनपात्राय भेदेनोपातः इति'

—शृंगार प्रकाश पृ० ३२०

अर्थों का अप्राप्त्यनुमान बाध है। उसे बाधा भी कहते हैं। बाध अथवा बाधा वचन, असंभव, चरितार्थता फलाभाव, विशेष प्रत्यक्षश्रुति परिसंख्या आदि कारणों से उद्बुद्ध होता है। 'अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुट' इसमें बाध वचनसामर्थ्य से उद्बुद्ध है। बुभुक्षित का भक्षण में प्रवृत्ति अर्थित्व सापेक्ष है। उसका बाध उपर्युक्त वाक्य से किया जाता है। यहाँ बाध वचनाश्रित है। भर्तृहरि ने इस वाक्य में प्राप्त्यनुमानबाधा न मानकर केवल बाधा माना है।[19] 'गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम् ■ अन्यत्रोच्छिष्टभोजनात्' इस वाक्य में सामान्य उपदेश के आधार पर गुरुपुत्र के प्रति गुरुसदृश व्यवहार करने की प्रवृत्ति है किन्तु उच्छिष्ट भोजन में गुरुसदृश व्यवहार का निषेध है अतः यहाँ भी बाध वचनाश्रित है। 'अप्स्वग्निः यूपो भवति' इस सामान्योपदेश का 'चतुरश्रो वाजपेययूप' इस उपदेश का एक साथ घटित होना असंभव है अतः यहाँ बाधा असंभव के आधार पर है। व्रीहीन् अवहन्ति में सामान्योपदेश और अर्थित्व के आधार पर प्रवृत्ति प्राप्त अवहनन 'नखनिर्भिन्नाना नखावपूताना चरुभवन्ति' इसमें नख द्वारा ही अवघात प्रयोजन के सिद्ध हो जाने के कारण चरितार्थ रूप से बाधित है। इसी तरह 'नवकृष्ण लरचरुर्भवति' इसमें कृष्णत्व में फलाभाव के आधार पर अवधान नहीं होता है।

ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय इसमें औत्सर्गिक दधिदान तक्रदान से विशेष में प्रत्यक्ष श्रुति से बाधित है। अर्थित्व के आधार पर पांच नख वाले और बिना पांच नख वाले दोनों के भक्षण में प्रवृत्त का पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या इस परिसंख्या से बाध किया जाता है। यहां पञ्चनखातरों की निवृत्ति भर्तृहरि के अनुसार शब्दवती नहीं है किन्तु सामर्थ्य लक्षण है।[20] व्याकरण शास्त्र में उत्सर्ग नियम का अपवाद से बाध दिखाया जाता है। जैसे कर्मण्यण् ३।२।१ सामान्य नियम है उसका आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३ इस विशेष नियम से बाध होता है। कर्म उपपद हो धातु से अण् प्रत्यय होता है—यह उत्सर्ग वाक्य है। कर्म उपपद रहते भी आकारान्त और उपसर्गरहित धातु से क प्रत्यय होता है। यह अपवाद वाक्य है। उत्सर्ग वाक्य का अपवाद वाक्य से बाध माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार उत्सर्ग वाक्य अपवाद वाक्य की परिकल्पना में ही प्रवृत्त होता है। उनके मत में यहाँ उत्सर्ग वाक्य का रूप है आकारान्त वर्जित धातुओं से कर्म में अण् होता है।[21] इस संबन्ध में दो तरह के सिद्धान्त गृहीत हैं। सर्वविनियमस्वीकारपूर्वक उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है अथवा कतिपय विशेष स्वीकार पूर्वक प्रवृत्ति होती है। पहले मत में उत्सर्ग के विषयविभाग के लिए पहले अपवाद की प्रवृत्ति होती है उसके बाद त्यक्त विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है।

---

१९ अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुट इति। अथ बुभुक्षा प्रतिषेध इति। न हृत्र प्राप्त्यनुमानबाधा। किं तर्हि। बाधैवेयम्।

महाभाष्यदीपिका, पृ० १६

२० तस्मान शब्दवती। किं तर्हि। सामर्थ्य लक्षणा।

महाभाष्यदीपिका पृ० १७

२१ आकारान्तवर्जितेभ्यो धातुभ्यः कर्मण्यण् भवतीत्येवंभूतमेव उत्सर्गवाक्यम्।

वाक्यपदीय २।३४१, हरिवृत्ति, हस्तलेख।

दूसरे मत में, अपवाद विषय की कल्पना कर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है।[२२] इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने यह प्रकार से विचार प्रस्तुत किए हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि शब्द से प्रापित का शब्दान्तर से बाध नहीं होता। दोनों के अर्थ के परित्याग में कोई भेद नहीं है। अवश्य ही लोक में गम्यताम् (जाओ) भुज्यताम् (उपभोग करो) कहकर कुछ दोष देखकर स्थीयताम् (ठहरो) कहा जाता है। ऐसे स्थल पर शब्दान्तर से प्रापित का शब्दान्तर से निषेध है। किन्तु यहाँ अप्राप्त्यनुमान नहीं है। अप्राप्त्यनुमान बाध्य बाधक रूप में देखा जाता है। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में शास्त्र में अनेक विकल्प देखे जाते हैं जैसा कि कहा जाता है—यदि प्राप्तिकारण तुल्य हो प्रतिषेध विकल्पार्थ होता है आदि। गम्यताम् भुज्यताम् जैसे उत्सर्ग वाक्य में दोष यदि न हो जाओ ऐसा छिपा हुआ है। बाद में दोषान्तर के दर्शन से अथवा प्रयोजन के अभाव से, अथवा किसी अन्य प्रयोजन से अपवाद के सम्पन्न से दोषाभाव के रूप में विशेष अनुमित होता है।[२३]

'कौण्डिन्य को छोड़कर ब्राह्मणों को दधि दो' इस वाक्य में यद्यपि तक्रदान का शब्दतः उल्लेख नहीं है फिर भी वह वाक्य शेषभूत है और कौण्डिन्यश्रुति से उसका अनुमान हो जाता है। अथवा अतिरिक्त भी ब्राह्मण शब्द है जिसकी वृत्ति कौण्डिन्य वर्जित ब्राह्मणों में है। अन्य सामान्य अनेक प्रकार का होता है। जैसे ब्राह्मण हो कोई गाय दत्त हो। दधिदान में अनुमेय कौण्डिन्य के लिए दधिदान अनन्त उद्भूत है तक्रदान शब्द से प्रतीत है। हम यह नहीं कहते कि दधिदान का कौण्डिन्य त्व प्रापक है ब्राह्मणत्व उस शब्द की तरह है। यदि माना जाय कि प्रतिषेध उपयुक्त है क्योंकि प्रत्यायक है। अप्राप्त्यनुमान तो निरर्थक है। आरम्भरूप की कल्पना में चरितार्थ हो जाने के कारण उपस्थित दूसरे विधि को विकल्प रूप में ही कल्पना करेगा। क्या अप्राप्ति का कम अनुमान संभव है? अनुमान की पहुँच सर्वथा नहीं है। कैसे, ऐसा नहीं है कि प्रतिषेध जहाँ कहीं प्रवृत्त हो जाता है। वह स्वाभाविकी निवृत्ति का द्योतक है। नित्यपरतन्त्रता के कारण उसका अर्थ अन्यसमवायिनी निवृत्ति को द्योतित करता हुआ अनुमान की कल्पना करता है। जहाँ जहाँ प्रतिषेध इस रूप में रहता है वहाँ वहाँ सामान्यविशेषभाव सहचारि रूप में रहता है। वह अनुमान के लिए पर्याप्त है। जैसे आग के लिए धूम। सम्बन्ध से और सम्बन्ध सम्बन्ध से भी अनुमान

---

२२ इह दर्शनद्वयम् सर्वविशेषस्वीकारेण कोऽसावग्य प्रवृत्तिः कतिपयविशेषादयाहणेन वा। तत्र पूर्वस्मिन् दर्शने, उत्सर्गस्य विषयविभागाय पूर्वमपवादः प्रवर्तते। पश्चात् तदविमुक्त विषये उत्सर्ग। द्वितीये तु दर्शने, अपवादविषय परिकल्प्योत्सर्ग प्रवर्तते।

कैयट, महाभाष्य प्रदीप, २।३।४६

२३ अत्र केचित् ... शब्देन प्रापितस्य शब्दान्तरेण बाधन भवति। उभयोरर्थपरित्यागे भेदाभावात्। ननु च लोके गम्यताम् भुज्यताम् इत्युक्त्वा दोष किंचित् दृष्ट्वा स्थीयतामिति। न च तत्राप्राप्त्यनुमानम् अस्ति। न च (तच्च ?) बाध्यबाधकभावेनावतिष्ठते। एवं प्रकारेषु तादृक्कल्पनात्मका शास्त्रेषु शास्त्रेषु विकल्पा दृश्यन्ते। 'प्रतिषेधो विकल्पार्थस्तुल्ये चेत् प्राप्तिकारणम्'' इति। अपि च गम्यतां भुज्यतामिति दोषश्चेन्न तात्पर्यतः समग्र वाक्ये गम्यते। तच्च दोषान्तरदर्शनात् प्रयोजनाभावाच्च प्रयोजनान्तरेण वापवादे प्रकल्प्यमानेऽस्ति दोषाभावाख्य विशेषोऽनुमीयते—

—वाक्यपदीय २।८१ हरिवृत्ति, हस्तलेख।

होता है। यहाँ सामान्य में प्रवृत्त होते हुए भी विशेष में जहाँ प्राप्तिप्रसंग का समक्ष कर स्वभावनिवृत्त वाक्यशेष के द्वारा अथवा स्वाभाविक वाक्यार्थ प्रकरण के द्वारा विशेष में प्राप्त कराता हुआ सम्भव होने पर भी नियमविधान अनुमान से उस विषयक बुद्धि प्रवृत्ति को हटाता हुआ बाधक कहा जाता है।[२४]

कुछ आचार्य उत्सर्ग और अपवाद में एक वाक्यत्व स्वीकार करते हैं और कुछ विचारक इनमें नानात्व मानते हैं। बाध्य-बाधकभाव नाना पक्ष में होता है। नानात्व पक्ष का संकेत वार्तिककार कात्यायन ने तत्र ल्युडादि प्रतिषेधो नानावाक्यत्वात् इस वार्तिक में किया है। अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध समानवाक्य में होता है। जहाँ नाना वाक्य हैं वहाँ बाध नहीं होता। इस वार्तिक की व्याख्या करते समय पतञ्जलि ने एकवाक्यत्व का निर्देश किया है। उनके अनुसार देश भेद के आधार पर वाक्य भेद नहीं होता

> न विदेशस्थमिति कृत्वातो नाना वाक्यं भवति विदेशस्थमपि सदेकवाक्यं भवति।[२५]
>
> —महाभाष्य १।४।६७

जो नानात्व के समर्थक हैं उनके अनुसार निराकांक्ष प्रधान वाक्यों में एकत्व सम्भव नहीं है वहाँ नानात्व ही मानना चाहिए

> इह साकांक्षाणां सर्वांगं परस्परमुपकारे वर्तमानानाम् एकवाक्यत्वमुपपद्यते। प्रधानानि तु पृथगात्मनिवृत्तौ व्यापृतानि। तेषां निराकांक्षत्वात् सत्युपकारे नास्त्येकवाक्यत्वम्।[२६]

---

२४ कौण्डिन्य एव दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतामित्येतस्य सगवाक्ये प्रधान तक्रस्यानुच्चार्यमाणस्यापि वाक्यशेषस्य तक्रदानविषया कौण्डिन्यश्रुतिरनुमानम्। अथवा विदित एवायं ब्राह्मणशब्द कौण्डिन्यवर्जितेष्वेव ब्राह्मणेषु वर्तत इति। प्रदेशसामान्यं हि बहुप्रकारम्। तद् यथा, ब्राह्मणोऽसि, अत्र कश्चिद् मा पश्यसीति। ननु च दधिदाने कौण्डिन्यस्यानुमेयस्याशब्द अत न दधि दान, तत्तु शब्दप्रणीतम्। नैव कौण्डिन्य एव दधिदानस्य प्रापकम्, ब्राह्मणत्वं तस्य दधदेव ननु युक्त प्रतिषेधोऽबाधकत्वात् अथवा अनुमानमनर्थकम्, या मरूपप्रकरणे तु तदर्थम् विषयान्तर मुपजायमान सामर्थ्यात् विकल्पमेव प्रकल्पयेत्। तत्र कथमप्राप्तिरनुमीयते। सर्वथा नास्त्यनुमानस्य व्यावृत्ति (व्यावृत्ति ?)। कथं न तावत् प्रतिपत्ति क्वचिदपि प्रवर्तत इत्यभ्युपगम्यते। किं तर्हि, स्वाभाविक्या निवृत्ते द्योतका स खलु निपातत्वादर्थाय सामान्यसमवायिनी निवृत्ति द्योतयन् अनुमानं प्रकल्पयति यत्र यत्र च प्रतिषेध इत्थं भूत, तत्र तत्र सामान्य विशेषभावोऽन्य दृष्ट व्यभिचार सहचारिप्रतीतिवतो विद्यते। सचानुमानाख्यम्। यथाग्ने धूम धूमवान् धूमका इति सम्बन्धात् सम्बन्धेभ्यो चानुमान भवति। सामान्ये प्रयुज्यमान विशेषे क्वचित् प्राप्ति प्रसंगमिव बुद्ध्या स्वभावनिवृत्त वाक्यशेषस्य आभासेन वा वाक्यार्थस्यावच्छेदेन विशेषे प्राप्यमाण सत्यपि सम्भवे नियमविधानानुमानत्वात् तद् विषय बुद्धिप्रसंग व्यावर्तयत् बाधक इत्युच्यते।

वाक्यपदीय २।३५२, हरिवृत्ति, हस्तलेख

२५ कैयट ने देश शब्द काल का उपलक्षण माना है—न कालभेदात् नानावाक्यत्वं च भवति। शास्त्रे विप्रकृष्टदेशस्थानामन्यग्रन्थान्तरवाक्यानामाकांक्षावशादेकवाक्यत्वदर्शनात्। देशग्रहणं चात्र कालस्योपलक्षणम्।

—कैयट महाभाष्य प्रदीप १।४।६७

२६ वाक्यपदीय २।३८४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

आख्यात के भिन्न भिन्न होते हुए भी उत्सर्ग और अपवाद में एकवाक्यता के समर्थन अपने पक्ष में नियम प्रतिषेध का विधिशेष आदि की उपपत्ति बतलाते हैं। इको गुणवृद्धी १।१।३ सार्वधातुकार्धधातुकयो ७।३।८४ के गुणविधि बताए गए हैं और उसके साथ एकवाक्यता से साधक होता है। प्रतिषेध भी विधि के साथ एकवाक्यता से सफलता पाता है। भिन्न आधार में भी एक शक्ति की कल्पना से एकवाक्यता की उपपत्ति हो जाती है। पुण्यराज ने आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के आश्रय से एकत्वपक्ष का समर्थन किया है।[२७]

भोज ने भाषा के व्यवहार में वाक्यों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

वामेन चक्षुणा एव पश्यति

क्रिमस्य यत्न रोचते।

आदि वाक्य विशेष के वाचक हैं।[२८]

समुच्चय तुल्यबलवाले अविरोधियों का एकार्थपरक उपादान का नाम समुच्चय है। जैसे दवन्त भोजय लवणेन सर्पिषा शाकेन—इस वाक्य में लवण घी शाक का उपादान एक भोजन क्रिया के लिए किया गया है। भोज के अनुसार अविरोधियों का तुल्यविधान भिन्न प्रयोजन वालों का एक कार्य के लिए ग्रहण समुच्चय कहलाता है। गुण आदि का समुच्चय भेद रूप में और अभेद रूप में दोनों तरह से देखा जाता है।

व्याकरणशास्त्र में प्रत्यय कृत कृत्य सनाद्या का प्रत्यय तद्धित, तद्राज समास का एकत्र समुच्चय अविरोध और फलभेद के आधार पर, देखा जाता है।

जयादित्य ने अनेक क्रिया के अध्याहार को समुच्चय माना है (अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय—काशिका ३।४।३)। समभिहार से समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार पौन पुन्य अथवा एक ही की पुनरावृत्ति है वह एक ही क्रिया में होना है समुच्चय अनेक क्रिया में होता है। न्यासकार ने समुच्चिति को समुच्चय माना है। एक साधन अथवा क्रिया के प्रति क्रियाओं की चीयमानता अनेकता समुच्चय है। समुच्चय तुल्यबलों में और जिनका नियतक्रमयौगपद्य नहीं है उन्हीं में होता है जैसे, ग्राम अश्व पुरुष अहरह नयमानो वैवस्वत—इस वाक्य में एक नयन क्रिया से ग्राम अश्व आदि का सम्बन्ध है।[२९]

ऊह ऊह का सम्बन्ध लिंग, वचन विभक्ति आदि के विपरिणाम से है। दो तरह के याग होते हैं प्रकृति और विकृति। जिसमें इतिकर्तव्यता आदि सम्पूर्ण अंग समूह का उपदेश होता है वह प्रकृति है। जैसे दर्शपूर्णमास आदि। जहाँ सम्पूर्ण अंगों का उपदेश नहीं होता वह विकृति है। जैसे सौर्य आदि। प्रकृति की तरह विकृति

---

२७ वस्तुतस्त्वाकांक्षायोग्यता सन्निधिवशादेकवाक्यतापन्न वाक्य बोद्धव्यम्।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२५३

२८ शृंगार प्रकाश पृ० ३१७

२९ काशिकाविवरण पंजिका ३।४।२१ कैयट और भट्टोजिदीक्षित के भी समर्थन मत हैं। द्रष्टव्य महाभाष्य दीप ३।४।२१ तथा शब्दकौस्तुभ ३।४।२१

करनी चाहिए। यह मीमांसा का न्याय है। प्रकृति में लिंग मन्त्र का जो अभिधेय है यदि वह विकृति में सामान्य रूप में नहीं है तो पूर्ण मन्त्र की निवृत्ति होती है। यदि उसके एक देश का अभिधेय नहीं है तो उसके एक देश की निवृत्ति होती है।

भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में ऊह पर विचार प्रस्तुत किया है। नागेश ने वाक्य के धर्मों पर विचार करते हुए ऊह पर जो कुछ लिखा है वह सब महाभाष्यदीपिका से लिया है। उसके आधार पर यहाँ ऊह का कुछ विवेचन किया जा रहा है। ऊह प्रकृति में समर्थ मन्त्रों का विकृति में सामर्थ्य के अभाव के कारण प्रकृति, लिंग, वचनान्तर के उपादान के रूप में किया जाता है। दूसरे शब्दों में प्रकृति मन्त्र के पद प्रकृति, लिंग, वचन, विभक्ति आदि का दूसरे पद प्रकृति, लिंग, वचन, विभक्ति रूप में यथावसर उपादान ऊह कहलाता है। जैसे प्रकृति याग में अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि (प्रोक्षामि)[30] —इसमें अग्नि शब्द अङ्गार के अर्थ में समर्थ देखा गया है। विकृति याग में अग्नये के स्थान पर सूर्याय ऊह कर लिया जाता है।

विकृत यागों में एक अंश की निवृत्ति हो जाने पर भी क्रिया में मुख्यवृत्ति में उलटफेर के कारण (बाध) और अर्थान्तर में प्रसक्ति के कारण शब्दान्तर का अर्थान्तर के ग्रहण के रूप में किया जाता है। यदि विकार गौण रूप में, उपचारप्रयोग के रूप में, किया जाय प्रकृति शब्दवती होगी जबकि विकार अशब्द हो जायगा। यदि अशब्द न कर अग्नि शब्द का ही ग्रहण किया जाय अग्नि शब्द अपने मुख्य अङ्गार अर्थ में परिनिष्ठित होने के कारण सूर्य अर्थ का प्रत्यायन नहीं कर सकेगा। यदि मुख्यवृत्ति (अभिधा) का आश्रय न लेकर और गौणी वृत्ति के सहारे अग्नि शब्द का सूर्य के अर्थ में प्रयोग मान लिया जाय प्रकृति के विपरीत शब्दप्रवृत्तिधर्म का आश्रय अपनाना हो जायगा। इसलिए उसी विभक्तिवाले दूसरे शब्द का उपादान कर लिया जाता है, 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' के स्थान पर 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' कहा जाता है। चतुर्थी विभक्ति दोनों में समान है केवल प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। अग्नि के स्थान पर सूर्य का उपादान किया गया है। इस तरह यह प्रकृति ऊह है।

लिङ्ग का भी ऊह होता है। जैसे 'देवीरापः शुद्धा यूयम्'।[31] 'देवाज्य शुद्धं त्वम्'। पहला वाक्य आपः (जल) देवता के विनियोग में है। इसलिए शुद्धा में स्त्रीलिंग है। इस वाक्य को आज्य के साथ रखने में शुद्धा के स्थान पर शुद्ध करना पड़ा है। यह लिंग का ऊह है।

विभक्तियों का भी ऊह होता है। जैसे आयुराशास्ते[32] के लिए आयुराशासाते अथवा आयुराशासते। जिनका प्रकृति में ही अथवा बिना प्रकृत्यर्थ के सामर्थ्य नहीं है उनका असामर्थ्य के कारण विकृति में ऊह नहीं होता है। जैसे वायवः स्थ।[33]

---

३० वाजसनेयी संहिता १।१०
३१ मैत्रायणी संहिता १।१।११।७।५
३२ तैत्तिरीय संहिता २।६।९।७
३३ तैत्तिरीय संहिता १।१।१

'उपायव स्थ मे प्रकृति म ही बहुवचन के द्वारा एक वत्स का अभिधान होता है। इसलिए विकृति मे यहा ऊह नही होता। इसी तरह 'अदिति पाशान प्रमुमाक्तु[34] इसम प्रकृति म 'पाशान म बहुवचन एक प्रकृतिपाश के लिए व्यवहृत हुआ है। यहा भी विकृति मे ऊह नही होता है। किसी वाजसनयी शाखा मे 'अदिति पाशम इस रूप म एकवचनान्त रूप म पढा जाता है, इस दृष्टि स यहा ऊह प्राप्त हा सकता है। यदि ऐसा नही है अदितिरशना पाश म ऊह नही होता। अथवा यहा नगमविभाषा—वदिक विकल्प है। बहुवचन के प्रयोग म यथेष्ट प्रयाग होता है। भत हरि न लिंग ऊह क कई उदाहरण यागभेद और शाखाभेद स दिखाए ह। वेद म जूरसिधता मनसा जुष्टा[35] इस रूप म स्त्रीलिंग पाठ मिलता है। इसका साद्यस्क्री मे स्त्रीगत वत्ति की उपेक्षा कर, वद म पुल्लिग रूप में दृष्ट न होने पर भी पुल्लिंग रूप म ऊह हाता है फलत जूरसि धनो मनसा जुष्टो आदि रूप म पढा जाता है। इसी तरह राजक्रयणी-सत्तव म चित्सि मनासि धीरसि दक्षिणासि सुप्राची सुप्रतीची भव[36] रूप म स्त्रीलिंग रूप म पढा जाता है। इसी को साद्यस्क मे पुल्लिंग रूप म ऊह होता है—चिदसि मनोसि धीरसि दक्षिणोसि सुप्राङ सुप्रत्यक भव आदि। वाजसनयी शाखा वाले भी इसी रूप म इनका ऊह किया करते है। इसी तरह सोमक्रयणात्ययन मन्त्र म स्त्रीलिंग पद पढे जाते हैं जैसे वस्व्यसि रुद्रासि चन्द्रासि।[37] इनका साद्यस्का मे पुल्लिंग रूप म ऊह होता है। वसुरसि, रुद्रोसि चन्द्रासि। इसी तरह पशुप्रकृति म पुल्लिग रूप म मन्त्र पढा जाता है—'अस्मिन प्रतिमुञ्चति'। इसका 'अस्यै प्रतिवदय' रूप म स्त्री प्रत्यय के रूप मे ऊह होता है यदि उस स्त्रीगवी का आलभन मूर्धा स हो। 'इतो याहि पथिभि देवयान[38] का ऊह इता याहि के रूप म स्त्रीप्रत्यय के रूप मे देखा जाता है।

पाणिनि का घसह्वरणश २।४।८० सूत्र घस ह्वर, णश आदि से, छन्द म सिच (लि) क लुक का विधान करता है। ऊह्य मन्त्रो म एसे सूत्रो की प्रवत्ति होगी कि नही इस प्रश्न पर विचार भेद था। कुछ आचार्यों क मत म ऊह्य मन्त्र नही है, इसलिए छान्दस नियमो की प्रवत्ति इनम नही होनी चाहिए। अघस्ताम' जस प्रयोग की उपपत्ति पठित के आधार पर कर लनी चाहिए। कुछ अन्य आचार्यों के मत म ऊह विषयक मन्त्र मन्त्रान्तर हैं—एक प्रकार के मन्त्र हैं। अघसत अघसताम अघसन अभीपु अक्षन ये सब ऊह प्रकरण म पढे जात हैं। कही कही स्वय वद म ही तप्यध्वम तप्यन्व तप्ययाम जसे ऊह प्रयोग निर्दिष्ट है। इसलिए ऊह्य और अनूह्य की न्याय से व्यवस्था सभव हाने पर लिंग वचन और विभक्ति के विनियोग के लिए ऊह के विषय म व्याक

---

३४ मैत्रायिणी संहिता ४।२।५ २६।७, तैत्तिरीय संहिता ३।१।४।४

३५ वाजसनयी संहिता ४।१७, तैत्तिरीय संहिता १।२।४।१

३६ तैत्तिरीय संहिता १।२।४

३७ वाजसनेयी संहिता ४।२१

३८ मैत्रायिणी संहिता ४।५।१०।—६।१।११

रण शास्त्र की अपेक्षा की जाती है। ऊह के प्रतिषेध के विषय में भर्तृहरि ने एक कारिका उद्धृत की है

> अङ्गानि जातिनामानि पुमान् चेन्द्रियाणि च।
> एतानि नोहं गच्छन्ति अध्रिगौ विषमं हि तत् ॥

अध्रिगु से अन्यत्र अंगों का जातिनामों का उपमा का इन्द्रियों का ऊह नहीं होता। अध्रिगु में होता है। अंग के अनूह के उदाहरण में 'यत पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वंहसः'[३९] यह मंत्र उद्धृत किया जाता है। इस मंत्र में प्रकृतियाग में उर एक वचन है और अंग का नाम है। द्विपशु विकृतियाग में उर का उरसी रूप में विपरिणाम नहीं होता जबकि पशु का पशू रूप में होता है। इसी तरह बहुपशु विकृतियाग में पशु का विपरिणाम पशव होता है किन्तु उर का उरांसि नहीं होता। भर्तृहरि के वक्तव्य से ज्ञात पड़ता है कि ऊह परिगणित हो चुके थे और गणपाठ की तरह उनका भी एक शास्त्र था। अंगों में पाणिपाद शिर ग्रीव आदि जातिनामों में मानाः पिता भ्राता आदि, उपमा में कश्यपवा सात्विछद्रे श्रोणी कवषोरू स्रेकपर्णा आदि इन्द्रियों में चक्षु श्रोत्र आदि परिगणित थे।[४०]

भर्तृहरि के अनुसार इतिकर्तव्यता और नीति के ऊह में व्याकरण की गति नहीं है। उसकी व्यवस्था लोक से लक्षणान्तरों से और प्रातिशाख्यों आदि में सम्भव है। किन्तु शब्दविषयक ऊह में—विभक्ति आदि के विपरिणाम में व्याकरण की प्रवृत्ति है। ऊह का विषय वस्तुतः प्रकृतिविकृतिभाव से ही है।[४१]

पुण्यराज के अनुसार सबंध याग और विभक्त्यन्तर के योग जहाँ व्याकरणशास्त्र में दिखाए गए हैं वे ऊह के विषय हो सकते हैं। जैसे भूवादयो धातवः १। ३। १ सूत्र में धातवः प्रथमान्त है। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १। ३। १२ में इसकी अनुवृत्ति होती है। वहाँ धातोः पञ्चम्यन्त अपेक्षित है फलतः प्रथमान्त का पञ्चम्यन्त में विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। इसी प्रकार उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२ तथा हलन्त्यम् १। ।३ में भी विपरिणाम का आश्रय लिया जाता है। जो विभक्ति जिस रूप में श्रुत है उसी रूप में जब अन्वय की उपपत्ति नहीं होती है तो अन्यथानुपपत्ति के आधार दूसरे के साथ सम्बन्ध की चरितार्थता के लिए विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। यह विपरिणाम सामर्थ्य से अनुमित होता है अथवा क्षीर दधि के विपरिणाम की तरह भिन्न होता हुआ भी प्रत्यभिज्ञान के बल से अभिन्न माना जाता है। अथवा तदेव इदम् इस रूप में उपचरित होता है।[४२]

---

३९ तैत्तिरीय संहिता ३।१।४।३

४० कश्यपकवरत्रेकाणा कच्छपमत्स्यानीयकवीरवाचिना यथोपमेयलिंग सत्यान्तरविपरिणामो न भवति— हेलाराज, तिसमुद्देश ५९०

४१ महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ५ ८

४२ वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ४५९ ४६०

भोज ने मन्त्र के अतिरिक्त भाषा में भी ऊह के प्रयोग दिखाए हैं।[४३]

सम्बन्धाबाधन—पुण्यराज के अनुसार सम्बन्धाबाधन ऊह का प्रतिपक्षी है। 'देवस्तस्य उच्चानि गृहाणि युवा तानि अभिजातस्य' इसमें पहले वाक्य के विभक्त्यन्त पदों का वाक्यान्तर के तदनुकूल पदों से सबंध हो जाता है। इसी तरह 'बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्ष' 'पञ्चाला जनपद' आदि में सम्बन्धाबाधन माना जाता है। बदरी के विशेषण मधुर और सूक्ष्मकण्टक शब्द हैं, बदरी के स्त्रीलिङ्ग से उनका भी योग मान कर मधुरा सूक्ष्मकण्टका कहा जाता है। यदि वृक्ष से संबंध हो तो वृक्षगत लिङ्ग संख्या योग होना चाहिए। महाभाष्यकार ने ऐसे स्थलों पर आविष्टलिङ्गा-जाति का सहारा लिया है। जाति के सहारे उसके विशेषणों में भी युक्तवद्भाव नहीं होता है। फलत पञ्चाला जनपद प्रयोग उपपन्न होते हैं।

व्याकरण शास्त्र में बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३ सूत्र में बहु और गण शब्द का वपुल्य या संघ के अर्थ में ग्रहण न होकर संख्यावाची के अर्थ में ग्रहण होता है। और उनकी संख्या संज्ञा की जाती है। ष्णान्ता षट् १।१।२४ में ष्णान्ता में स्त्रीलिङ्ग निर्देश से संख्या से उसका संबंध हो जाता है। वेद में भी यजमान दण्डेन दीव्यति जैसे वाक्यों में यजमानम् का संबंध अबाधित रूप में हो जाता है।

भोज ने सबंधाबाधन को दूसरे रूप में लिया है। उनके अनुसार विशेष श्रुति के द्वारा भी सामान्यश्रुति का अबाध सबंधाबाधन है। जैसे ब्राह्मणा भुञ्जताम् माठरकौण्डिन्यौ परिविष्टाम्, इस वाक्य में विशेषश्रुति माठरकौण्डिन्य से सामान्यश्रुति ब्राह्मणा भुञ्जताम् का बाध नहीं होता।[४४]

सामान्यातिदेश सामान्यातिदेश अतिदेश का एक भेद है। अन्य धर्म का अन्यत्र प्रापण अतिदेश है। सामान्य का भी अतिदेश होता है और विशेष का भी अतिदेश होता है। सामान्यातिदेश में अन्यत्र जो धर्म दृष्ट हैं उनका प्रसिद्ध अथवा अनुमयभेद संभव संबंधियों द्वारा निर्ज्ञात भेद वाले वस्तुओं (अर्थों) में प्रापण किया जाता है। 'ब्राह्मणवत् अस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यम्' इस वाक्य से ब्राह्मण शब्द के जितने प्रसिद्ध अर्थ हैं उनसे संबद्ध जो प्रसिद्ध कार्य हैं अग्रभोजन आदि उन सबका क्षत्रिय में, जिसमें ब्राह्मण शब्द की वृत्ति नहीं है, अतिदेश किया जाता है। सामान्य में

---

४३ चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो,
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकम्
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः॥

(उत्तररामचरित ४।२०)

इत्युत्तररामचरिते लवमेवमुद्दिश्य भवभूतिरनकमेतं श्लोकं पठितवान्। तमेव पश्चा द्वीरचरिते (१।२२) धत्तस्त्वचं रौरवीमित्यूहयित्वा रामलक्ष्मणौ द्वावुद्दिश्य कुशलवमपठत्। अत्रायुर पाणिवाम कार्मुकादीनामूहो न भवति। सर्वधर्मैरनेन भेदासिद्धेः। भेदेन हि प्रतिवस्त्वर्थो यावान्भेदेऽपि भवति तावन्न भिद्यते।

होता है यक के पर होने से शप से बाध भी नहीं होता, फलत उपसरयान की आवश्यकता भी नहीं होती। शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश में भेद यह है कि शास्त्रातिदेश में काय उन उन शास्त्रों (सूत्रों) से होता है जबकि कार्यातिदेश में काय अतिदेश वाक्य से ही होता है।[45]

सभी अतिदेशों में कार्यातिदेश प्रधान माना जाता है।[46]

पुण्यराज के अनुसार व्यपदेशातिदेश व्याकरणशास्त्र (पाणिनिशास्त्र) में सभव नहीं है। वह सपापक्ष से भिन्न नहीं है और वत ग्रहण भी विफल होने लगेगा।[47] किन्तु कैयट आदि ने अनेकस्थल पर व्यपदेशिवद्भाव का आश्रय लिया है

य शब्दो थवान तस्यार्थोपादानपरित्यागाभ्या
व्यपदेशिवद्भावो भवति बुद्ध्या नानात्वकल्पनात।

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ६।१।४५

भोज ने व्यपदेशमात्र को अतिदेश का काय माना है।[48] अतिदेश वत्यादि के बिना भी देखा जाता है। जसे अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त का प्रयोग किया जाता है। इसकी व्याख्या इस रूप में की जाती है कि ब्रह्मदत्त में जो गुण या क्रियाएँ थी उनका अब्रह्मदत्त में समारोप कर लिया जाता है। अथवा ब्रह्मदत्त में जो गुण आदि अभी होंगे उनका बुद्धि से आकलन कर उपमानोपमेय सम्बन्ध के सहारे उपचार से अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

उशीनरवत् मद्रेषु यवा ' इस वाक्य में अतिदेश है कि नहीं ? भोज के अनुसार यहा भी अतिदेश है। यहा उशीनर के यवा का भाव अथवा अभाव रूप में प्रसिद्धों का मद्र जनपद के यव में अतिदेश किया जाता है। यद्यपि वति प्रत्यय का स्वरूप समान है। किन्तु दो नियमों से प्रवर्तित होने के कारण ये दो भिन्न भिन्न काय करते हैं। तेन तुल्य क्रिया चेत वतिः ५।१।११५ से प्रवर्तित वति प्रत्यय प्रकृत्यथ धर्म का अन्यत्र अतिदेश करता है। तत्र तस्येव ५।१।११६ से विहित वति प्रत्यय आधेय सम्बन्धि धर्मों का अन्यत्र अतिदेश करता है। तदर्हम् ५।१।११७ से विहित वति प्रत्यय सभवत अभिन्न बुद्धि वालों के लिए नियम विधायक है। आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में तदर्हम् नियम नहीं था।[49]

---

४५ शास्त्रकार्यातिदेशयोश्चाय विशेष । शास्त्रातिदेशे तेन तेन शास्त्रेण कार्याणि भवन्ति। कार्यातिदेशे तु अतिदेशवाक्येनैवेति— पदमजरी ७।१।६५, पृ० ७४०

४६ सर्वातिदेशाना कार्यातिदेशस्य प्राधान्यात् तदेवेहाश्रयणम्।
महाभाष्यप्रदीप १।१।२१

४७ व्यपदेशिवद्भावस्तु व्याकरणे नैव सभवति सज्ञा पक्षाद्विशेषात् वत् करणवैफल्यप्रसगात्। पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७८

४८ व्यपदेशमात्रमधिकायमतिदेशस्य
शृगार प्रकाश पृ० ३२१

४९ तदर्हमिति नारम्भ सूत्र व्याकरणान्तरे।—वाक्यपदीय वृत्तिसमुद्देश ३६१
आपिशलाना काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन् नाश्रयेत। —हेलाराज, वृत्तिसमुद्देश

भोज न उपमान के प्रसिद्ध धर्मों का उपमेय म आरोप क रूप म अतिदेश को ग्रहण किया है। यह प्रसिद्धि कभी लोक कभी प्रयोक्ता और कभी प्रत्य त आदि प्रमाण की अपेक्षा रखती है।

शबर स्वामी ने नाम और वचन के आधार पर पाच प्रकार के आतिदेशिक माने हैं धमनाम, संस्कारनाम यौगिक, प्रत्यक्षश्रुत और आनुमानिक। उन्होंने अतिदेश के स्वरूप के द्योतक निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धत किया है,

प्रकृतात कमणो यस्मात तत्समानेषु कमसु।
धर्मोपदेश येन स्यात सोऽतिदेश इति स्मत ॥

—शाबरभाष्य ७।१२

अर्थित्व सामथ्य और अर्थभेद—इन तीन को पुण्यराज ने वाक्यधम नहीं माने हैं। किन्तु वाक्यधम के सम्बन्ध म भतृहरि ने सामथ्य और अथभेद का उल्लख स्वय किया है

वाक्येऽपि नियता धर्मा केचित वत्तौ द्वयोस्तथा।
तेऽथभेदेन (त्वभेदेन) सामथ्यमात्र एवोपवर्णिता ।[५०]

अर्थित्व स अभिप्राय एकार्थीभाव से जान पडता है। सामथ्य से अभिप्राय भेद ससग अथवा भेदससग दोनो स है। यदि वत्ति म भेद और ससग न हो, सामथ्य नहीं हो सकता। सामथ्य भेद ससर्गात्मक होता है। कभी भेद सामथ्य होता है और ससग अनुमेय होता है। कभी ससग सामथ्य होता है और भेद अनुमेय होता है अथवा युगपत आश्रित होकर दोनो सामथ्य कहलाते है। महाभाष्यकार न भेद और ससग की उपपत्ति यहा अन्वय-व्यतिरेक के सहारे की है। भोज ने भी ऐसा ही दिखाया है।[५१] अर्थाभेद वाक्य और वत्ति के अथ के अभेदत्व का प्रतीकमात्र जान पडता है।

अधिकार पुण्यराज और भोजराज ने अर्थित्व और सामथ्य को स्वतत्र वाक्य धम के रूप म न लेकर इनका सम्बन्ध अधिकार अथवा अधिकारी से जोड़ा है।

अर्थित्व सामथ्य शास्त्रपयु दासयोगित्वमधिकार ।[५२] मीमासादशन मे यज्ञ क्रिया मे उसी का अधिकार माना जाता है जो अर्थी हो, जो दूरफल की इच्छा रखता हो। साथ ही जो अधिकृत वण का हो, निषिद्ध जाति का न हो। अदृष्ट के विषय मे सामथ्य असामथ्य का निर्णायक शास्त्र है

क्रियासु योग्यत्वमधिकार । क पुन योग्य अर्थी समथ शास्त्रेण पयु दस्त इति ।[५३]

---

५० वाक्यपदीय ३ वत्तिसमुद्देश ३६

५१ किं पुनरिदं सामथ्यं नाम। भेद ससर्गं उभय वा। तत्र राज पुरुष इत्यत्र तावदेतदव्यतपरायत्त वत्तिरय पुरुष न स्वत त्र तदा स्वामिससगस्याव्यगतत्वात स्वामिविशेषणतोपादीयमानो राजशब्देभ्य स्वाम्यन्तरेभ्य पुरुष व्यावतयति। सोऽय स्वाम्यन्तरव्यवच्छेदो भेद इत्युच्यते।

—शृ गार प्रकाश अध्याय ३४ हस्तलेख

५२ पुण्यराज वाक्यपदीय २ ७१

५३ शृगार प्रकाश, पृ० ३२३

अदृष्टार्थविषये (विशेषे) हि सामर्थ्यासामर्थ्ये शास्त्रादेव समधिगम्येते।[५४]

अर्थित्व, सामर्थ्य और अधिकार को साथ रखकर इनकी एक दूसरी व्याख्या भी सभव है अर्थात् एकार्थीभाव सामर्थ्य और अधिकार अथवा व्यपेक्षा, सामर्थ्य और अधिकार। इन दोनों पक्षों का महाभाष्य में समर्थ सूत्र २।१।१ में विवेचन मिलता है।

व्याकरणशास्त्र में अधिकार का सम्बन्ध पुण्यराज के अनुसार, शब्द, अर्थ और पुरुषधर्म से है। यहां प्रसंग से पुण्यराज ने शब्द और अर्थ के भेदों पर विचार किया है जो निम्न लिखित है।

शब्द छ तरह के हैं। साधु और असाधु। साधु शब्द भी दो तरह के हैं शास्त्रीय और प्रायोगिक। शास्त्रीय शब्द भी तीन तरह के हैं। प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभय रूप। प्रायोगिक भी लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। इस तरह कुल छ प्रकार के शब्द हैं।

अर्थ अठारह प्रकार के होते हैं

१ वस्तुमात्र—जिसके बारे में कहा जा सके जो प्रतिपादन का विषय बन सके वह अर्थ का वस्तुमात्र रूप है अर्थात् जो कुछ वस्तु है, चाहे उसकी यथार्थ सत्ता हो अथवा कल्पित सत्ता हो वह वस्तु मात्र अर्थ है। दूसरे शब्दों में, शब्द निरपेक्ष वस्तु की सत्ता वस्तुमात्र है।

२ अभिधेय—अभिधेय वह अर्थ है जो शब्द का अर्थ है। बाह्य यथार्थ अर्थ नहीं। जो समीहित है वह अभिधेय है। अभिधेय ही शब्द-व्यापार का विषय है। यह दो प्रकार का होता है। शास्त्रीय और लौकिक।

३ शास्त्रीय वह अर्थ है जो पौरुषेय है कल्पित है, व्यभिचरित भी होता है फिर भी जो परपरा से अव्यभिचरित माना जाता है और जो परिकल्पित होता हुआ भी अविकल्पित-सा शब्दसाधुत्व के निमित्त के रूप में प्रतिपादक माना जाता है। उसकी नियत अवधि नहीं है इसलिए व्याख्याता उसको बहुधा विभक्त कर अन्वाख्यान किया करते हैं। इसलिए वह आवापोद्धारिक भी है उसका विश्लेषण आवाप उद्धार पद्धति से किया जाता है।

४ लौकिक अर्थ अखण्ड अर्थ है। लौकिक अर्थ में ही शब्द का अधिकार माना जाता है शास्त्रीय अर्थ में शब्द का अधिकार नहीं होता है।

५ विशिष्टावग्रहसप्रत्ययहेतु—जब अर्थ विशिष्टाकार रूप में ज्ञान विशेष का प्रत्यायक होता है वह विशिष्टावग्रहसप्रत्यय हेतु माना जाता है। कंस घातयति बलिं बन्धयति जैसे वाक्यों से भूतकाल के व्यापार नट आदि के माध्यम से वर्तमान काल में दिखाए से जाते हैं। इस तरह के अर्थ के लिए विशिष्टावग्रह सप्रत्ययहेतु शब्द का व्यवहार पुण्यराज ने किया है।

---

५४ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७९, शृंगार प्रकाश पृ० २२३ पुण्यराज और भोज के इस प्रसंग में कई वाक्य समान हैं। या तो दोनों ने भर्तृहरि से लिया है अथवा भोज ने पुण्यराज से लिया है। द्वितीय पक्ष में पुण्यराज के समय की अन्तिम सीमा ई० १५० हो जाता है।

६ अविशिष्टावग्रहसप्रत्ययहेतु—बाह्य रूप म जो वस्तु जैसी है उसी रूप म उसका उदभावन अविशिष्ट अवग्रह सप्रत्यय हेतु अथ है जैसे गो शुक्ल ।

७ मुख्य—शब्द के उच्चारण स जिस अथ का साक्षातबोध होता है वह मुख्य है । जसे गौ शब्द स सास्ना आदि युक्त गो व्यक्ति ।

तस्मात श्रुतिमात्रेणशब्दस्य येषामर्थेषु तादथ्यमवगम्यते तेषा मुख्यमथमाचक्षते । यत्रश्रुतिमात्रविषय प्राकृत यत्नमतिक्रम्य निमित्तान्तरात् प्रतिपत्ति त गौणमित्याहु ।[२४]

८ परिकल्पितरूपविपर्यास—किसी निमित्त के आधार पर जिसका रूप विपर्यास कल्पित होता है वह अथ परिकल्पितरूपविपर्यास है । दूसरे शब्दो म गौण अथ का एक नाम परिकल्पित रूपविपर्यास है । किसी आचाय के मत म शब्द का अपना स्वरूप ही उसका मूल अथ है । उसी के साथ उसका नित्य सबध है । शब्द के स्वरूप का अथ म अध्यारोप किया जाता है । जो यह गो शब्द है वही यह गो पिण्ड है । श्रवण तो शब्द रूप का होता है किन्तु उसका अथ म विपर्यास हो जाता है । कल्पित होने के कारण इसे कल्पितरूपविपर्यास कहा जाता है । सब लोक व्यवहार इस विपर्यास से ही परिचालित होते है । यह विपर्यास द्वितीयस्थानापन्न है । इसलिए इसे गौण कहा जाता है—

> अन्ये त्वाचार्या मन्यन्ते स्वरूपे शब्दो नित्य वर्तते स एव तस्मान्तरगो व्यभिचारी (अव्यभिचारी) शब्दान्तरव्यासाधारणाऽथ । तत्र चानुपदेश प्रतिपत्ति सर्वेषाम । रूप तु शब्दानामर्थेष्वेवाध्यारोप्यते । यो गो शब्द सोऽय पिण्डोऽय । तथा यो वृद्धि शब्द स आदैच इति । तत्र स्वरूपेष्वेव श्रुतयो नियतवृत्ता । अथस्वरूपयोस्तु रूपविपर्यासमात्रेण सर्वोसोऽव्यवहार क्रियते । नियतत्वाच्चैव सर्वविषया गुणकल्पना गौणव्यप देशे निमित्तत्वनावाधीयते । (नियतस्वरूप श्रूयते) द्वितीयस्थानापन्न विपर्यासस्वरूप गौण व्यपदेशनिमित्त प्रतिपद्यते ।[२५]

९ व्यपदेश्य—भावाप उदार पद्धति के आधार पर जाति अथवा द्रव्य व्यपदेश्य अथ कहे जाते हैं ।

१० अव्यपदेश्य—वाक्यार्थ लक्षण अखण्ड अथ का अव्यपदेश्य माना जाता है ।

११ सत्त्वमावापन्न—भवाप उदवाप पद्धति वाला व्यपदेश्य अथ ही सत्त्वमावापन्न अथ है ।

१२ असत्त्वभूत—वाक्यार्थलक्षण अथ जब सत्त्वभावापन्न न हो, असत्त्वभूत माना जाता है । व्यपदेश्य और सत्त्वभूत अथ म तथा अव्यपदेश्य और असत्त्वभूत अथ म कवल उक्ति भेद म भेद है ।

१ स्थितलक्षण—जो अथ कभी अपने सम्बन्ध को नहीं छोड़ता वह स्थितलक्षण

---

२४ वाक्यपदीय २।२८० हरिवृत्ति हस्तलेख शृंगार प्रकाश पृ० १६१ में उद्धृत ।

२५ वाक्यपदीय २/२८० हरिवृत्ति हस्तलेख शृंगार प्रकाश पृ० १६२ पर भी उपलब्ध ।

कहा जाता है अथवा जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थिर रहता है वह स्थित लक्षण है। राजपुरुष में पुरुष का राजसम्बन्धित्व सदा अव्यभिचरित रहता है। वह स्थितलक्षण है। स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है वाक्यार्थ भी होता है।

१४ विवक्षाप्रापितसन्निधान—जिस अर्थ का सम्बन्ध विवक्षाधीन है वह विवक्षा-प्रापित सन्निधान अर्थ है। जैसे राजः पुरुषस्य में विशेषणविशेष्य विवक्षाधीन है, फलतः सम्बन्ध अनियत है।

१५ *अभिधीयमान*—जो अर्थ जिस रूप में कहा जा रहा है उसी रूप में उसका ग्रहण अभिधीयमान कहलाता है। राजसख शब्द से यह राजा का सखा है—ऐसा अर्थ अभिहित होता है।

१६ प्रतीयमान—अभिधीयमान से एक कोटि आगे का अर्थ प्रतीयमान माना जाता है जैसे राजसख से यह राजा का सखा है—पुनः राजा इसका सखा है यह *अर्थ झलकता है। यही प्रतीयमान अर्थ है। बाद में इसे ध्वनिवादियों ने* अपनाया।

१७ अभिसंहित—शब्द से संपृक्त जो अर्थ रहता है उसे अभिसंहित कहा जाता है। जैसे गो शब्द से जाति अथवा द्रव्य दोनों दर्शनभेद से अभिसंहित हैं।

१८ नान्तरीयक—शब्द के सहचरित वर्णसंघटना आदि नान्तरीयक अर्थ हैं। पुरुषधर्म के भीतर वक्तृत्व और प्रतिपत्तृत्व दोनों गृहीत हैं।

उपर्युक्त अठारह प्रकार के अर्थ भर्तृहरि ने स्वयं किए होंगे। पुण्यराज ने वहीं से इन्हें लिया होगा। इनका यही अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। अवश्य अर्थ नाम से उल्लिखित उपर्युक्त शब्द भर्तृहरि की कृतियों में बहुधा मिलते हैं। भोज ने अर्थ द्वादश प्रकार के गिनाए हैं जो व्याकरण की दृष्टि से हैं और वे हैं—क्रिया, काल कारक, पुरुष, उपाधि प्रधान उपस्काराय, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ वृत्त्यर्थ पदार्थ और वाक्यार्थ।[४७]

वस्तुतः पुण्यराज ने जिन अठारह प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है वे अर्थ के भेद न होकर अर्थ के विभिन्न स्वरूप के प्रत्यायक हैं। एक ही अर्थ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न रूप से गृहीत हो सकता है। अतः हरि के अनुसार शब्द में विशिष्ट-अविशिष्ट दोनों के अभिधेय की शक्ति रहती है विशिष्टाविशिष्टाभिधेय निबन्धनत्वात् शब्दानाम्।[४८] पुण्यराज ने भर्तृहरि के विशिष्टाभिधेयनिबन्ध के लिए विशिष्टावग्रह सम्प्रत्यय हेतु शब्द का व्यवहार किया है और अविशिष्टाभिधेयनिबन्धन के लिए विशिष्टावग्रह सम्प्रत्ययविपरीत शब्द का व्यवहार किया है। भर्तृहरि ने विशिष्टाभिधेय का उदाहरण चन्दन गन्ध दिया है। चन्दन शब्द विशिष्टसन्निवेश से युक्त रूप रसादि को व्यक्त करते हैं। केवल रूप रस आदि शब्द सर्वपदार्थ साधारण ज्ञान में अविशिष्टा-

---

४७ शृङ्गार प्रकाश पृ० १२६ मैसूर सस्करण
४८ वाक्यपदीय हरिवृत्ति २/२४ पृ० ४६

भिधेय है। दर्शन भेद से व्यपदेश्य अव्यपदेश्य का भी यही उदाहरण है। चन्दन से गन्ध का व्यपदेश होता है रूप से नहीं होता। अपोद्धार और स्थितलक्षण की चर्चा भर्तृहरि ने अपोद्धार पदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः (वाक्यपदीय १।२४) में स्वयं की है। अपोद्धारपदार्थ के लिए ही, पुण्यराज ने शास्त्रापोद्धारिक शब्द का व्यवहार किया है। अपोद्धार की प्रक्रिया शास्त्रव्यवहार के लिए है लौकिक व्यवहार भी उसका अनुगमन करता है। किन्तु अपोद्धार एक पक्ष से अवास्तव है। क्योंकि सत्य अथवा असत्य सत्ता अथवा असत्ता का बोध नहीं हो पाता है

> सो यमपोद्धारपदार्थः शास्त्रव्यवहारमनुपतति।
> शास्त्रव्यवहारसदृशं च लौकिकमेव व्यवहारम्।
> स च कल्पनिमित्तं सत्यासत्यभावेनानुपाल्यते।
>
> —वाक्यपदीय, १।२४ हरिवृत्ति

स्थितलक्षण अर्थ में भी उद्दिष्टप्रविभाग कल्पित होते हैं। सङ्ग्रामयति, तमस्यति जैसी क्रियाएं प्रविभक्तिरूप में अपना अर्थ व्यक्त करती हैं वैसे ही स्थितलक्षण अविभक्त, अखण्ड अर्थ है।

मुख्य गौण आदि की चर्चा हो चुकी है यथावसर आगे भी होगी। भर्तृहरि ने विवक्षाप्रापित सन्निधान अर्थ का व्यवहार अविवक्षित अर्थ के लिए किया है। जैसे घट के लिए प्रकाशित दीप घट के समीप के अन्य पदार्थों का भी द्योतक होता है वैसे ही अर्थ भी विवक्षित अर्थ से सम्बद्ध अर्थ का प्रत्यायक होता है

> शब्दस्य स्वविवक्षितार्थप्रतिपादने किमपरं कारणम्
> विवक्षाप्रापितसन्निधान एव व्यवहारेषु प्रवर्तते।
>
> —वाक्यपदीय २। ०१ हरिवृत्ति हस्तलेख

क्रियान्तरव्युदास पुण्यराज के अनुसार शब्द के अथवा शास्त्र के जो धर्म अनधिकार के रूप में रह गए हैं वे क्रियान्तरयुक्त मान जाते हैं। भोज ने इसी को दूसरे शब्दों में कहा है। सामर्थ्य औचित्य आदि की किसी स्थल पर अयथार्थता का नाम क्रियान्तरव्युदास है। इसी आधार पर कवियों की आलोचनाएं प्रसिद्ध हैं

> क्वचित् कश्चित् प्रगल्भते। न सर्वः सर्वं जानाति।
> किमपि कामपि रोचते। भिन्नरुचिर्हि लोकः।

श्रुत्यादिक्रम पौर्वापर्य के आधार पर नियत जो क्रम है। पुण्यराज ने क्रम के आठ प्रकार गिनाए हैं—श्रुतिक्रम अर्थक्रम पाठक्रम स्थानक्रम प्रवृत्तिक्रम प्रतिपत्तिक्रम, प्रमाणक्रम और बुद्धिक्रम।

श्रुतिक्रम श्रुति के आधार पर पदार्थों की परिपाटी का प्रत्यायन श्रुतिक्रम है। स्नात्वा व्रजति इस वाक्य में क्त्वा प्रत्यय क्रम का निर्देश करता है। वह पहले स्नान करता है बाद में जाता है। व्याकरणशास्त्र में पाणिनि ने यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१० जैसे नियम बनाए गए। ये क्रम के द्योतक हैं। समाप्य सर्वारम्भं युवानं निविष्टं गुरुरिव यौवनश्रीः —रघुवंश ६।१०। इसमें समाप्य में क्त्वा प्रत्यय पूर्वकाल में है। विशेष और परिमाण में क्रम निर्देश प्रत्यय द्वारा व्यक्त किया गया है।

प्रथक्रम सामर्थ्य के आधार पर पठित क्रम अर्थक्रम कहलाता है। 'भुक्त्वा स्नात्वा व्रजति' इस वाक्य में अर्थक्रम के अनुसार पहले स्नान क्रिया, इसके बाद भोजन क्रिया, तत्पश्चात गमन क्रिया—यह क्रम है किन्तु शब्दतः यह क्रम व्यवहरित नहीं है। अर्थक्रम का आधार अर्थ-स्वरूप की पर्यालोचना है। 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति' इस विधि में यवागू के श्रपण का बाद में उल्लेख है किन्तु व्यवहार में पहले यवागू का श्रपण होता है बाद में अग्निहोत्र होता है।

पाठक्रम उच्चारण क्रम का दूसरा नाम पाठक्रम है। यथापठित का यथापठित से सम्बन्ध पाठक्रम है। यथासंख्य नियम ही एक तरह का पाठक्रम है। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' १।४।२ 'पूर्वत्रासिद्धम्' ८।२।१ ये सूत्र पाठक्रम से सम्बद्ध हैं

इन्दु स्वर्णेणमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः ।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिस्वरकेशैस्त्वया जिताः ।

इस श्लोक में इन्दु का वक्त्र से, स्वर्ण का कान्ति आदि में यथाक्रम सम्बन्ध है। भोज ने कालिदास के निम्न लिखित श्लोक में पाठक्रम दिखलाया है।

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नीभव दक्षिणस्याः ॥[५६]

अत्र पृथिवी सामर्थ्यात् दक्षिणासाधर्म्याच्च पूर्वं पतित्वं पश्चात् करग्रहणमित्यर्थे प्राप्ते पाठसामर्थ्यात् पूर्वं करग्रहणं ततः पतित्वमिति क्रमः ।

—शृंगार प्रकाश अध्याय २६ हस्तलेख

काण्डक्रम वैदिक साहित्य में वर्ण आचार सम्बन्धी जो आम्नाय जिस प्रकरण में उद्दिष्ट है उसी प्रकार से उनका अभिधान होना है। कर्मों का विधान कारिका क्रम से ब्राह्मणग्रन्थों में किया जाता है। व्याकरण शास्त्र में भी अधिकार के रूप में काण्ड क्रम संभव है। अष्टाध्यायी ६।१।१ से ६।१।१२ तक द्विवचन काण्ड तथा ६।१।१३ से ६।१।४८ तक सम्प्रसारण काण्ड माना जाता है। भोज ने काण्ड क्रम का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु शाबर भाष्य में काण्ड क्रम का व्यवहार है।[६०] भोज ने स्थान क्रम का उल्लेख सम्भवतः काण्डक्रम के स्थान पर किया है। स्थानक्रम का उदाहरण शृंगार प्रकाश के नवें अध्याय में भूर्भुवः स्वर्नीकान तपति दिया है किन्तु २६ वें अध्याय में प्राकृत गाथा उद्धृत कर लिखा है अत्र ... सापि कृशायते रणायते च इति क्रमः।[६१]

प्रवृत्तिक्रम प्रतिपत्ता की इच्छावश प्रवृत्त क्रम को प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है। महाभाष्यकार ने कहा है—जिस आनुपूर्वी में अर्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी तरह

---

५९ भोज ने इस श्लोक के प्रथम पाद का पाठ 'अनेन करयाजि करे गृहीते' इस रूप में दिया है। यह पाठ अधिक उपयुक्त ज्ञात पड़ता है। भोज की टिप्पणी भी कर ग्रहण को लक्ष्य कर है। शृंगार प्रकाश पृ० ३२ पर भी यही पाठ है।

६० तद् (क्रम) श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्तिकाण्डमुख्यैः वर्ण्यते—शाबरभाष्य ५।१

६१ शृंगार प्रकाश, अध्याय २६, हस्तलेख। अतः हरि ने स्थानक्रम का उल्लेख महाभाष्यदीपिका में किया है।

शब्दों का भी होता है। पटव्या, मृद्व्या इनमें पहले स्त्री प्रत्यय लगते हैं इसके बाद एक वचन आदि की उत्पत्ति होती है। भोज के अनुसार प्राग्वन्नोऽधमपणानि जपति में प्रवृत्तिक्रम है।

प्रतिपत्तिक्रम — अवबोध के क्रम को प्रतिपत्तिक्रम कहा जाता है। जैसे राज पुरुष के स्थान पर पुरुष राज के उच्चारण करने पर भी राज सम्बन्धी पुरुष के क्रम से ही बोध होता है। वैदिक साहित्य में प्रतिपत्ति का उदाहरण दीक्षणीयादि का सोमयाग में सम्बन्ध है। सोमयाग प्रधान है। फिर भी दीक्षणीयादि यागनिर्वर्तन पूर्वक ही सोमयाग की प्रतिपत्ति होती है। भर्तृहरि के अनुसार प्रतिपत्ति क्रम श्रोता अथवा अभिधाता में व्यवस्थित नहीं है।[१२] भोज ने प्रतिपत्तिक्रम का नाम नहीं लिया है।

प्रयोग क्रम — प्रयोग क्रम का उल्लेख न तो दामोदरस्वामी ने और न भोज ने किया है। पुण्यराज ने इसके उदाहरण में इङ्ज करणे जैसे धातुओं का संकेत किया है। इन धातु में जिस क्रम से अनुबन्धों का प्रयोग है उसी क्रम से वे गिने जाते हैं।

बुद्धिक्रम — बुद्धिक्रम प्रतिपत्तिक्रम का ही एक रूप जान पड़ता है। उदाहरण में स्वादयानि ६।१।७७ आदि में बुद्धि द्वारा पौर्वापर्य की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार आदि में बुद्धिक्रम की चर्चा की जाती है। भर्तृहरि के अनुसार एक बुद्धि में प्रविष्ट वस्तु का बुद्ध्यन्तर से प्रविभाग होता है। प्रविभक्त का भी एक दूसरे से सम्बन्ध बुद्धि द्वारा स्थापित है तभी सब क्रिया सम्भव हो पाती है। इस सब में बुद्धिक्रम काम करता है। यह ही आचार्यों बुद्धिवृत्ति से विभाग की जाती है।[१३]

पराङ्ग पराङ्ग से अभिप्राय समवत पराङ्गत्वभाव से है।

अप्रयोजक जो परार्थ उत्पन्न है उसी के काम करता हुआ पर का उपकार करता है वह पर उसका अप्रयोजक माना जाता है। दूसरे शब्दों में स्वयं प्रयोग करने में असमर्थ किन्तु दूसरे द्वारा किये गए कर्म से जिसका सम्बन्ध हो वह अप्रयोजक है। जैसे मास के पाक में घृत आदि के साथ अस्थि का सम्बन्ध अप्रयोजक रूप में होता है। स्नान करने वाले के द्वारा स्नानीय द्रव्य से स्नानशाटी का अप्रयोजकरूप में सम्बन्ध है। छत्रच्छाया के प्रयोजक राजा है किन्तु छत्रच्छाया में सम्बन्ध हस्ती का है हस्ती अप्रयोजक है। तत्र, अप्रयोजक और प्रसंग तीनों का स्वरूप निम्नलिखित कारिका में है

साधारण भवेत्तन्त्र परार्थ त्वप्रयोजक।
एवमेव प्रसङ्ग स्यात् विद्यमाने स्वके विधौ॥ —शाबर भाष्य ९।१।१

प्रयोजक जिसके द्वारा प्रयुक्त होने पर प्रवृत्ति होती है उसे प्रयोजक माना जाता है। स्वर्ग यज्ञ का प्रयोजक है। गार्हस्थ्य अर्थोपार्जन का प्रयोजक है। राजा छत्रच्छाया का प्रयोजक है। कभी प्रयोजक और अप्रयोजक साथ साथ समष्ट रहते हैं और उनका निर्णय सामर्थ्य के आधार पर किया जाता है।

अर्थाना सन्निधानेऽपि सति चैव प्रयोजने।
प्रयोजनोऽथ नान्यस्य रूपाभेदेऽपि गम्यते॥[६४]

नान्तरीयक प्रधान क्रिया के निवर्तन में अनिवार्यत साथ लगे धर्म अथवा अर्थ नान्तरीयक कहे जाते हैं। पाक क्रिया के लिए प्रज्वलित अग्नि के साथ धूम नान्तरीयक है। भोज के अनुसार जिस सम्बन्ध के साथ क्रिया प्रधान से जुटती है वह नान्तरीयक है (यत सम्बन्धमन्तरेण क्रिया प्रधानेन सम्बध्यते तन्नान्तरीयकम् शृङ्गारप्रकाश, पृ० ३०८)।

प्रधान जो साध्य है अपरार्थ है वह प्रधान है। व्याकरण में क्रिया और विशेष्य प्रधान है। प्रधानभाव विवक्षा पर भी निर्भर रहता है।

शेष जो परार्थ होता है उसे शेष कहा जाता है। शबर स्वामी ने अत्यन्त परार्थ को शेष माना है। आचार्य बादरि ने द्रव्य, गुण और संस्कार को शेष माना था, याग फल और पुरुष का शेष नहीं माना था। द्रव्य क्रिया के लिए होता है। अतः द्रव्य परार्थ है। गुण या द्रव्य के आश्रय से क्रिया का उपकारक है। इसलिए वह भी परार्थ है। जिसके होने से कोई वस्तु किसी क्रिया के योग्य होती है उसे संस्कार कहा जाता है। क्रिया के लिए संस्कार के प्रयोजन होने से वह भी परार्थ है। शेष है। जैमिनि ने धर्म और फल को भी परार्थ माना है।

व्याकरणशास्त्र में प्रधान और शेष भाव विवक्षाधीन होता है। शेष्य विशेष्य होता है। शेषक विशेषण होता है। द्रव्य का साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध है। अतः वह प्रधान है। गुण का द्रव्य द्वारा क्रिया से सम्बन्ध होता है अतः वह अप्रधान है

६४ वाक्यपदीय २।३०१, इस कारिका में पाठभेद मिलता है।

> विशेष्यं स्यादनिर्ज्ञातं निर्ज्ञातार्थो विशेषणम् ।
> परार्थत्वेन शषत्व सर्वेषामुपकारिणाम् ॥ ६५

इसी तरह साध्य होने के कारण क्रिया प्रधान है । सिद्ध होने के कारण कारक अप्रधान है शेष है । विवक्षावशात् कहीं क्रिया भी शेष होती है ।

विनियोगक्रम शेषशेषिभाव की इतिकर्तव्यता का नाम विनियोगक्रम है । भोज ने श्रुत्यादिविनियोग का उल्लेख किया है । श्रुति लिंग वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्या का प्रधान और अप्रधान निर्धारण श्रुत्यादिविनियोग है । श्रुत्यादि का कहीं व्यस्त रूप और कहीं समस्त रूप में विनियोग देखा जाता है । भर्तृहरि ने विनियोग क्रम का एक बौद्धिक रूप भी दिखाया है । शब्द विनियोग क्रम के सहारे अर्थ के प्रकाशक होते हैं । जाति व्यक्ति अथवा क्रिया के रूप में वाच्य वाचक का—बुद्धिस्थ शब्द का—बुद्धिस्थ अर्थ के साथ विनियोग होता है । अनेकार्थ में से अभिप्रेत अर्थ विशेष का परिग्रहण होता है ।[६६]

साक्षादुपकारक जो प्रत्यक्ष रूप में अपने आपका उपकारक हो उसे साक्षात् उपकारक कहा जाता है । जैसे अलंकार आदि अपने लिए साक्षात् उपकारक हैं । व्याकरण शास्त्र में प्रत्यय का साक्षात् उपकारक प्रकृति है । वेद में भी दर्शपूर्णमासयागों में अवघात आदि साक्षात् उपकारक माने जाते हैं ।

आरादुपकारक जो साक्षात् उपकारक न होकर कुछ दूर से उपकारक हैं वे आरात् उपकारक कहे जाते हैं । अलंकार अपने आप के लिए साक्षात् उपकारक हैं पुत्र-पौत्र के लिए दूर से उपकारक हैं । प्रकृति प्रत्यय का साक्षात् उपकारक है । प्रकृति का निरूपण आरात् उपकारक है । प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के आरादुपकारक हैं । अथवा आरात् शब्द की तरह जो परस्पर विरोध के रूप में भी उपकारक हो । आरात् शब्द कभी समीप अर्थ का वाचक होता है कभी दूर अर्थ का वाचक होता है ।[६७]

भर्तृहरि ने आरादुपकारक के लिए आराद्विनिपत्य शब्द का व्यवहार किया है । विशेषकर प्रसंग में वाक्यभेद नहीं जान पड़ता । भोज ने साक्षात् उपकारक और आरात् उपकारक का उल्लेख नहीं किया है ।

शक्तिव्यापारभेद शक्ति और व्यापार के आश्रय से उपस्थित भेद शक्ति-व्यापार भेद है ।

> बलाहकात् विद्योतते ।
> बलाहके विद्योतते ।
> बलाहको विद्योतते ।

---

६५. [illegible] ७

६६. [illegible] ।
[illegible] ॥
—वाक्यपदीय २।४०६

६७. [illegible] ७००

इन वाक्यों में बलाहक शब्द क्रमशः उपादान, अधिकरण और कर्तृ शक्ति के साथ भिन्न भिन्न रूप में व्यक्त किया गया है। यह शक्तिभेद है। विवक्षावशात् इन वाक्यों में व्यापारभेद भी है इसलिए शक्तिव्यापारभेद कहा जाता है

व्यापार याति भेदाख्यस्तत स्वरवयव क्वचित।
आत्मभेदानपक्षोऽस्य क्वचिदेति निमित्तताम् ॥[९८]

'विध्यति धनुषा' इस वाक्य में करण शक्ति अपादान शक्ति को अपने भीतर समेट कर विध्यति के अर्थ के साथ मिल जाती है। धनुष में करणत्व तब तक नहीं आ पायगा जब तक अपादान शक्ति को वह न अपना ले। पुण्यराज के अनुसार शुद्ध व्यापार भेद सभव नहीं है। शक्तिभेद के बिना व्यापार भेद सभव नहीं है। भोज के अनुसार वास्तव शक्ति भेद के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अग्निः काष्ठानि दहति अग्निना पचति पदार्थान् प्रकाशयति।
सर्पिः अग्निं दीपयति पित्तं शमयति, शरीरमाप्याययति ॥

वास्तव शक्ति व्यापार के उदाहरण में ग्राम्या नीतम्—ग्राम्या पतत ग्राम्या दत्तम् है। इनमें ग्राम्या पद का ल र आदि पदों के साथ अपादान करण पत सम्प्रदान आदि के रूप में अभिधा व्यापार भिन्न भिन्न है।

पय पयो जरयति वाक्य में फल कर्मविशेषविषय व्यापार है। इसी तरह 'गावो गावो श्रयते', 'पय पयोऽजैपयति' कुण्ड कुण्डे निधेहि जैसे वाक्यों में क्रमश द्वित्व बहुत्व धर्माधिकरण विषय से व्यापार भेद है।

फलभेद फल के आधार पर भेद फलभेद कहलाता है। एक ही दान क्रिया के आयु आरोग्य और ऐश्वर्य ये भिन्न भिन्न फल हो सकते हैं। इन सबमें एक ही फल-प्रीति विषय है। वस्तुत क्रियाओं का भी एक फल हो सकता है। भिन्नकर्ता की भी क्रिया कहीं प्रासरण की तरह विभक्त होती हुई भी अविभक्त सी समुदित रूप में स्वार्थ की सिद्धि करती है।[९९] एक याग क्रिया का फल यजमान को धर्मरूप में ऋत्विज को अर्थ रूप में औदारिक का भोजन रूप में विभिन्न हो सकता है। क्रियाभेद औपाधिक भी हो सकता है जैसे

उष्ट्रासिका आस्यते
हतशायिका शय्यते
रपोष पुष्यति।
समूलकाष कषति।

सम्बन्धजभेद धातु से उपात्त क्रिया के सम्बन्ध भेद से भेद की प्रतीति सम्बन्धज भेद है। पचत पचन्ति में धातु से उपात्त पाक क्रिया एक है किन्तु वचन भेद से

---

९८ वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश १ १

९९ क्वचित् भिन्नकर्तृकापि क्रिया प्रविभक्तावयवरूपा प्रासरणलेख्यादिप्रविभागेन प्रत्यासमसाधारण शक्तिसन्निवेशात् समुदायसमवायेन विभागमिव प्राप्त स्वार्थं साधयति। तामपि समुदायसमवायिनी कश्चित् मन्यन्ते। किंचित् भिन्नानां क्रियाणामेव प्रधानविषयत्वं व्याचक्षते।

—वाक्यपदीय २।३८३ हरिवृत्ति हस्तलेख

भिन्न जान पड़ती है। सम्बन्ध भेद औपाधिक भी होता है जैसे,

सम्पन्नोयवो यवनेषु गुप्तकसुरम्येषु विशिष्ट सुराष्ट्रेषु।
परत भवान पटुरासीत पटुतर एयम।

पुण्यराज ने सम्बन्धजभेद का एक प्रतिपक्ष दिखाया है जहा सम्बन्धजभेद में भेद नहीं होता, जैसे 'ग्रास्यत देवदत्तेन' इस वाक्य में भाव में लकार, साधन भेद के अभिव्यक्त न होने के कारण क्रिया भेद के भी बताने में असमर्थ है। भोज ने सहचारि भेद का भी उल्लेख किया है।

अविवक्षितभेद भेद का प्रतिपक्षभूत अभेद अविवक्षितभेद से अभिप्रेत है। जहा शक्ति में अभेद है वहा भेद की अविवक्षा माननी चाहिए। पचका भ्रान्न भुक्त' इस वाक्य में कर्ता और कर्म के क्रियाभेद या शक्तिभेद सम्भव है किन्तु वक्ता द्वारा वह विवक्षित नहीं है। इसी लिए इस वाक्य में समानकर्तृत्व उत्पन्न होता है। भोज ने अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर भेद विवक्षा और उसके विपर्यय में अभेदविवक्षा दिखाया है। अधि ब्रह्मदत्ते पाञ्चाला में भेद विवक्षा और 'तान एव शालीन भुञ्जमहे' में मगधेषु में अभेदविवक्षा है।

इस तरह शक्ति आदि के भेद से भेद अनेक प्रकार का होता है और अभेद भी कई प्रकार का होता है। भेद और अभेद कहीं वास्तविक होते हैं कहीं केवल विवक्षाधीन होते हैं। विवक्षा भी कहीं लौकिकी होती है कहीं प्रायोक्त्री होती है।

प्रसज्यप्रतिषेध जहा नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है और वाक्यभेद होता है वहा प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता है। जैसे व्याकरण शास्त्र में अकर्तरि च कारके ३.३.१९ सूत्र में नञ् का सम्बन्ध क्रिया से है। 'असूर्य पश्या राजदारा अभानु भेद्य तम' आदि में प्रसज्य प्रतिषेध है।

पर्युदास जहा नञ् या सम्बन्ध क्रिया के साथ नहीं होता और एकवाक्यता होती है वहा पर्युदास होता है। पाणिनि के आतोऽनुपसर्गे क ३.२.३ सूत्र में अनुपसर्ग में पर्युदास है। अब्राह्मणम आनय वाक्य में अब्राह्मण में पर्युदास है।

गौण तत्पुरुष समानाधिकरण १.२.४२ में अवयवा के समानाधिकरण से तत्पुरुष का भी समानाधिकरणत्व माना जाता है। गौर्वाहीक सिंहो माणवक आदि गौण के उदाहरण है।

मुख्य गुरु माणवक जैसे प्रयोग मुख्य के उदाहरण है। मुख्य और गौण पर विस्तृत विचार इस ग्रंथ में पहले किया जा चुका है।

व्यापि अनेक विषय का स्पर्श करने वाला व्यापि है। एक श्रुति दूरात सम्बुद्धौ १.२.३३ में लौकिक सम्बोधन की व्यापकता के कारण उसी का ग्रहण होता है। भोज ने इसके लिए व्यापक शब्द का प्रयोग किया है और उसे क्रियाविषय तथा कारक विषय के रूप में द्विविध माना है।

गुरु असमाप्त अभिधान गुरु है। 'शालिशालिमान अयं ग्राम' जैसे प्रयोगो में कर्मधारय और मत्वर्थीय का एकत्र समावेश गुरुप्रक्रमा है। आवृत्ति में गुरुप्रक्रमा होता है।

लघु (लाघव) संक्षिप्त अभिधान लघु है। शास्त्र में एकशेष, संज्ञा आदि का विधान लाघव के लिए किया जाता है। तन्त्र और प्रसंग में लघुप्रक्रिया होती है।

अङ्गाङ्गिभाव संयुक्तविधान होने पर अंगाङ्गिभाव होता है। एक का भी अवयव वाक्यान्तर से व्यवहित होने पर भी दूसरे से सम्बध्यमान होकर सम्बन्ध प्राप्त करता है। बहुता में भी अंगाङ्गिभाव होता है। एक क्रिया का अनेक वाक्यों से सम्बन्ध में भी अंगाङ्गिभाव होता है। पुण्यराज ने तस्यापत्यम् ४।१।९२ करिष्कृत ३।८।६७ जैसे सूत्रों में अंगाङ्गिभाव माना है। दीपक अलंकार में भी अंगाङ्गिभाव माना है।

विकल्प तुल्यप्रमाण वाले वाक्यों में विरोध होने पर विकल्प होता है। वेद में व्रीहिभिः यजेत। यवैः यजेत जैसे विधान तुल्यप्रमाण विशिष्ट हैं। और इनमें साथ लेने पर विरोध है। लोक में भी 'दधितक्रे कौण्डिन्याय दीयताम्' वाक्य में दधिदान और तक्रदान का एक साथ विरोध है। व्याकरण शास्त्र में भी ऋतुलनचो ३।१।१३३ जैसे सूत्रों में विरोध उपस्थित होता है।

विधि और प्रतिषेध के तुल्यबल होने पर भी विकल्प होता है। वेद में षोडशिनं गृह्णाति न गृह्णाति लोक में किंचिन्स्य दीयतां न दीयताम् ये उदाहरण हैं। विभाषा का व्यवहार भी विकल्प के रूप में होता है। विभाषा तीन प्रकार से देखी जाती है प्राप्तविभाषा अप्राप्त विभाषा और उभयविभाषा। काव्य में उत्प्रेक्षा विकल्प का ही एक स्वरूप है। समुच्चय और विकल्प का साथ साथ निर्देश समुच्चयो विकल्पो वा प्रकारा सब एव वा जैसी कारिकाओं में प्रायः मिलता है।

नियम —अनेक की प्राप्ति होने पर प्रयोग, अप्रयोग व्यवच्छेद के आधार पर निर्धारण नियम कहलाता है। व्याकरणशास्त्र में पति समास एव १।४।८ तत्प्रागधानो १।४।८० जैसे सूत्र नियमविधायक हैं। वेद में काल की दृष्टि से नक्षत्र दृष्ट्वा वाच विसर्जन नियम है। भाषा में पार्थ एव धनुर्धर गोल पाण्डुदेव जैसे प्रयोग नियम के ही स्वरूप के द्योतक हैं।

योग्यता —अधिकारित्व का ग्रहण योग्यता है। मीमांसा दर्शन में अर्थी समर्थ और शास्त्र से अनिषिद्ध योग्य माना जाता है। लोक में भी समर्थ के साथ योग्यता का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। धुरि धुर्यो नियुज्यते लौकिक प्रसिद्ध है। वैदिक क्रिया में भी दर्भ के स्थान में शर द्वारा प्रस्तरण ऋत्विज का लोहित उष्णीष विधान आदि योग्यता के निदर्शक हैं। व्याकरण में भी एक पद में एक उदात्त और शेष का अनुदात्त विधान योग्यता से सम्बन्ध रखता है।

लिङ्गान्भेद पदान्तरोपलब्ध वस्तु के सामर्थ्य से सामान्य रूप में प्राप्त या विशेष रूप में अवस्थापन लिङ्गान्भेद कहा जाता है। वेद में 'अक्ता शर्करा उपदधाति' श्रुति है। जिससे अक्त की जिज्ञासा होने पर तेजो वै घृतम् इस वाक्यान्तर लिङ्ग के बल से घृत से अक्त रूप में विशेष की प्रतीति होती है। भाषा में भी रामो भो भुवनेषु इसके श्रवण से राम और परशुराम के सन्देह में आगे के एक बाण से तमानिरोध के विवरण रूपी वाक्यान्तर लिङ्ग से दशरथपुत्र राम का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में भी पुषणुद्यपरे ७।४।८० सूत्र में 'पुषण्ज्यपर' यह वचन द्विवचन

निमित्तक जिस पद में स्थानिवद्भाव का आश्रय होता है। काव्य में निम्नांकित पद का उदाहरण माघ में मिला है

उत्तोलय जयति बाम्भुश्रमपादिलस्य माता हरे।
निधु ताम्नसकाव्य निम्नस्थार्मलिनगोऽम्म कसा।

इसमें मान्यमृगन और सम्मकग में मग्नाग में मधुरा दृष्ट में उन्नीस के वर्ण विषय की उपलब्धि होती है। भोज ने सर्व प्रकरण औचित्य दर्शित के आधार पर सामा पवाधा सन्दर्भ का विन्यास में अध्यवसाय को निरूद्ध किया गया है।

अपोद्धार विभाग को अपोद्धार कहा जाता है। सम्पूर्ण समूह का अनुक्रम अथवा कल्पित रूप में ग्रहण लक्षण का विभाजन अपोद्धार कहलाता है। वाक्यार्थ यथार्थ पढ़ा जाता है। इसमें यथार्थ दाय में अपोद्धार कर विभाग का भाव वैयाकरण इस रूप में विभाग किया जाता है। अब में वाक्य दानमामभत "अग्न वायर में वायव्य पद से अपोद्धार कर वायुर्गनिष्ठा देवता इस रूप में विभाग किया जाता है। लोक में भी जिस राजा का पुरुष के उत्तर में पुरुष का कहा जाता है। काव्य में अपोद्धार का उदाहरण कालिदास के निम्नलिखित श्लोक में है

परस्तु जिरम्य दृक्सामनेत्र स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥[71]

इसमें अन्त इस सर्वनाम के द्वारा रञ्जयित्वा इस श्रुति में समन्वय चरणराग पृथक् किया जाता है।

भर्तृहरि ने उपर्युक्त वाक्यधर्मों का एकत्र उल्लेख किया है। भोज द्वारा दिये गये वाक्यधर्मों में अर्थवाद अनुवाद व्यवहित कल्पना उपचार कल्पना, तद्भावापत्ति प्रतिनिधि, अध्याहार विपरिणाम वाक्यलोप अवधि अनिर्णीतप्रश्न इन पर पुण्यराज ने जहाँ तहाँ विचार किया है और ये भर्तृहरि द्वारा भी प्रसंगतः वर्णित हैं। इनमें प्रतिनिधि और अनिर्णीत प्रश्न की चर्चा अन्विताभिधानवाद के प्रसंग में की गई है। शेष पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

अर्थवाद स्तुति अथवा निन्दा के लिए अतिशयोक्ति का आश्रय अर्थवाद के नाम से विदित है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थवाद प्रवर्तक भी होता है और निवर्तक भी होता है।[72]

अनुवाद सिद्धि का विधि अथवा निषेध के लिए उच्चारण अनुवाद कहलाता है। पुनः स्पष्टीकरण के लिए सिद्ध वस्तु का पुनः उपात्त भी अनुवाद माना जाता है।

---

७० तैत्तिरीय संहिता २।१।९
७१ कुमारसम्भव ७।१९
७२ अर्थवादस्तु प्रवर्तको निवर्तको वा। तत्राय प्रवर्तको निगद्यते सर्वो वा इमा दिश पशुया इ ज्यभि जयति सर्वान् लोकान् सवा प्वारयेमा शिरोभिर्जिता भवन्ति सर्वे लोका। निवर्तक न दतो गमयेत् यन्दतो गमयेत् सर्पा एनं घातुका स्युः सर्पानेव शमयत्यहिंसायै।

—महाभाष्यत्रिपादी पृ०

प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ का शब्द द्वारा उल्लेख मात्र भी अनुवाद है।[७३] 'कय एव विधायास्तव एव विष पति' इस वाक्य में भोज के अनुसार अनुवाद है।

व्यवहितकल्पना सन्निहित पदार्थ की अयोग्यता के कारण जब व्यवहित का आश्रय लिया जाता है व्यवहितकल्पना होती है। 'प्रविश पिण्डी' कहने पर प्रवेश क्रिया के सानिध्य में स्थित पिण्डी में इसका सम्बन्ध अनुपपन्न होने से व्यवहित भी गृह आदि की अपेक्षा होती है। इसी तरह पिण्डी का सन्निहित प्रवेश क्रिया से अयोग्यता के कारण भक्षण क्रिया का आक्षेप हो जाता है।

उपचार कल्पना किसी निमित्त के आधार पर अन्य के धर्म का अन्यत्र अध्यारोप उपचारकल्पना है। इसके लिए जयादित्य ने गुणकल्पना शब्द का व्यवहार किया है।[७४] उपचार निबन्धन धर्म यहां गुण शब्द से अभिप्रेत है। गुणनिमित्त कल्पना गुणकल्पना है। वह उपचारात्मक होती है इसलिए उसे उपचारकल्पना कहते हैं। जो वस्तु जैसी न हो उसमें वैसा आरोप अथवा आरोपित भाव भान, उपचार कहा जाता है। मञ्चाः क्रोशन्ति, जैसे वाक्यों में अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप है।

तदभावापत्ति भोज ने विपर्यय से अतत् में तत् के व्यपदेश को तदभावापत्ति कहा है। शुक्ति में रजत का, मृगतृष्णिका में जल का व्यपदेश तदभावापत्ति है।

अध्याहार वाक्य के न्यून होने पर आकांक्षा की निवृत्ति के लिए विशिष्ट क्रिया कारकपद आदि का उपादान अध्याहार कहलाता है। द्वार-द्वार के सुनने से आकांक्षा की पूर्ति के लिए यथावसर निक्रियतास अथवा आक्रियतास क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः॥

इसमें परशुना (छिनत्ति), मधुसर्पिषा (सिञ्चति) आदि रूप में अलग अलग क्रियापद का अध्याहार अर्थसामंजस्य की दृष्टि से कर लिया जाता है।

व्याकरण में सोपस्कार सूत्रों में जिन सूत्रों में क्रियापद के प्रयोग सूत्रकार ने नहीं किए हैं क्रिया का अध्याहार लक्ष्य के अनुसार कर लिया जाता है। वृत्तिकार ऐसे सूत्रों में क्रियापद के साथ ही अर्थ करते हैं जैसे धातोरेण भवति कर्तरि कृत भवन्ति आदि। इको गुणवृद्धी १।१।३ सूत्र के लिये 'यत्र गुणवृद्धी ब्रूयात् तत्रेक इत्युपस्थितं द्रष्टव्यम्' इस रूप में अध्याहार किया जाता है।

वाक्यशेष जहां वाक्य से साक्षात् विधि अथवा निषेध न कहा गया हो— अश्रुत हो वहां उसकी परिकल्पना वाक्यशेष मानी जाती है। 'यह ग्राम निवास है' इतना कहने से यही ठहरना की कल्पना हो जाती है। यही वाक्यशेष है। इसी तरह 'इस नदी में ग्राह है' इस वाक्य में स्नान का निषेध वाक्यशेष के रूप में उपस्थित होता है।

भर्तृहरि ने अध्याहार और वाक्यशेष का समान अर्थ में भी प्रयोग किया है

---

७३ प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन संकीर्तनमात्रमनुवादः —कारिका ७/४/३
७४ कारिका वृत्ति ४।१।८८

सोपस्कारेषु सूत्रेषु वाक्यशेषं समश्यते ।
तेन यत्र तत्र तृतीयात् क्रियावैत तीति गम्यते ॥[७५]

अध्याहार और वाक्यशेष में भेद यह है कि अध्याहार शब्द का धारणा का निवर्तक होता है । जबकि वाक्यशेष अर्थों की धारणा का निवर्तक होता है ।[७६] भर्तृहरि की इस सम्बन्ध में दो कारिकाएँ हैं

स्वार्थमात्रं प्रकाश्यासौ सार्थाक्षो विनिवर्तते ।
अर्थस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाशयति संनिधिम् ॥
पाराम्यस्याविनिविष्टत्वान् शब्दाच्छब्दसंनिधिः ।
नार्थाच्छब्दस्य सान्निध्यं न शब्दादर्थसंनिधिः ॥[७७]

पुण्यराज और भोज दोनों ने इस प्रसंग में श्रुतार्थापत्ति का प्रश्न उपस्थित किया है । पीन देवदत्त दिन में नहीं भोजन करता है । इस वाक्य में पीनत्व भोजन के बिना अनुपपन्न है इसलिए वह उपर्युक्त शब्द द्वारा रात्रि भोजन का गमक माना जाता है । पुण्यराज के अनुसार यहाँ चार संभावनाएं हो सकती हैं—शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप शब्द द्वारा अर्थ का आक्षेप, अर्थ द्वारा अर्थ का आक्षेप । इनमें शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप पक्ष उपयुक्त नहीं है । स्वार्थ प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है । अपने अर्थ के प्रकाशन तक ही उसका व्यापार है । अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप भी संभव नहीं है । अर्थ से शब्द का सान्निध्य नहीं है । जिस अश्रुत का अर्थ सान्निध्य अपेक्षित है वह भी परतन्त्र है । प्रयोजक सान्निध्य के बिना उसका संनिधापन संभव नहीं है । अन्य अर्थ का और अन्य शब्द का वाच्य वाचक भाव न होने से अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप युक्ति संगत नहीं है । शब्द के उच्चरित होने पर श्रुतार्थापत्ति से परिकल्पित शब्दवाच्य अर्थ का आक्षेप भी अनुपपन्न होगा क्योंकि वाच्य वाचकभाव के न होने के कारण यहाँ भी शब्द से शब्दान्तर वाच्य अर्थ की उपस्थिति न हो सकेगी । यदि अर्थ से अर्थ का आक्षेप स्वीकार किया जाय तो शब्द एकत्व की उपपत्ति नहीं हो पाती है । पुण्यराज के मत में चतुर्थपक्ष कुछ दूर तक ठीक है । उनके मत में एक पदों के प्रयोग में श्रुतार्थापत्ति से शब्दान्तर के आक्षेप से वाक्यार्थ निष्पत्ति मानने की अपेक्षा एक पद का ही प्रकरण आदि के बल से अर्थ प्रत्यायन की क्षमता मान लेना अधिक उपयुक्त है ।

भोज ने अध्याहार और वाक्यशेष दोनों के लिए श्रुतार्थापत्ति आवश्यक माना है । पद के ही दीर्घ दीर्घ व्यापार के रूप में सब तरह के अर्थ प्रत्यायन सामर्थ्य मानने के पक्ष में वे नहीं हैं । क्योंकि पद या तो अभिधा के द्वारा उन अर्थों का बोध कराएगा अथवा तात्पर्य शक्ति के द्वारा उनका प्रत्यायन कराएगा । अभिधापदार्थप्रतिपादन में ही

---

७५ वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ४६३
७६ क पुनर्ध्याहारवाक्यशेषयोर्विशेषः । शब्दाकाङ्क्षानिवर्तकोऽध्याहारः, अर्थाकाङ्क्षानिवर्तको वाक्यशेष इति ।—शृंगार प्रकाश पृ० ३२४
७७ वाक्यपदीय २।३४१, ४२

क्षीण हो जाती है। तात्पर्य शक्ति का सम्बन्ध प्रतीयमान अर्थ से अवश्य है किन्तु वह तभी काम करती है जब वाक्य और वाक्यार्थ दोनों परिपूर्ण हों, जैसे 'विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस वाक्य में वाक्य और वाक्यार्थ की पूर्णता है। जहां वाक्य आदि पूर्ण नहीं हैं वहां अध्याहार वाक्यशेष आदि की कल्पना करनी पड़ती है और इनकी सिद्धि के लिए श्रुतार्थापत्ति स्वीकार करनी चाहिए।[७८]

विपरिणाम लिङ्ग, वचन, विभक्ति आदि जिस रूप में उपात्त हों उसी रूप में पुनः उच्चरित होते हुए भी यदि अर्थान्तरवश उनका दूसरे रूप में सम्बन्ध दिखाया जाय—वह विपरिणाम कहलाता है। यह एक तरह से ऊह ही है। केवल यही भेद है कि ऊह प्रकृति विकृति को लक्ष्य कर होता है जबकि विपरिणाम के लिए इस तरह का कोई बन्धन नहीं है। विपरिणाम में विषयान्तर की अपेक्षा अवश्य की जाती है

विधिर्विभक्तिः प्रकृत्यर्थ प्रत्युपाधि क्व भवेत।

विभक्तिपरिणामे च प्रकल्प्य विषयान्तरम्॥ वाक्यपदीय ३, ४५८

तेन तुल्यं क्रिया चेत् वतिः ५।१।११५ इस सूत्र में तेन में तृतीया समय प्रकृति प्रधान है। क्योंकि विशेष्य है। उसको लक्ष्य कर क्रिया शब्द का प्रथमान्त रूप में व्यवहार किया गया है। दोनों पद भिन्न विभक्ति वाले हैं। इनमें सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव है? ऐसे स्थलों में सम्बन्ध की अन्यथानुपपत्ति के कारण विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। अथवा वाक्याध्याहार से उपपत्ति की जाती है। अथवा उपाधि के आश्रय से विभक्तिविपरिणाम नहीं माना जाता है

अथ तादृगमात्र तत्र सूत्रे न च विग्रहे।

विभक्तिविपरिणामेन किञ्चिदस्ति प्रयोजनम्॥

—वाक्यपदीय ३, वृत्ति समुद्देश ४६६

अवधि इयत्ता निर्धारण का नाम अवधि है। इस शब्द का यह अर्थ है अथवा इस अर्थ में यह शब्द है इस तरह की एक बौद्धिक सीमा अवधि कहलाती है। महाभाष्यकार आदि ने जहां द्विष्ठ शब्द का व्यवहार किया है उसी के लिए भोजने अवधि नाम दिया है। यह श्लेष अलंकार का विषय है।

कालेनदन्ति नागा यह वाक्य दो रूप में विभक्त किया जा सकता है—

१—काले (समय पर) नदन्ति (गरजते हैं) नागाः (सांप)।

२—कालेन (काल) दन्तिनः (हाथी पर) अगाः (गये हो)

उपर्युक्त सभी वाक्यधर्म वाक्यार्थविशेष की प्रतिपत्ति में सहायक माने जाते हैं। एक वाक्य के विभिन्न अर्थों की कल्पना कर अथवा लोक और वेद में उसके विभिन्न अर्थों को देखकर उन अर्थों के निर्णायक कुछ तत्त्वों की कल्पना कर ली गई थी। ये ही वाक्यधर्म अथवा वाक्य-लक्षण हैं।

---

७८ शृङ्गारप्रकाश, पृ० ३२५-२६

वाक्यार्थ की प्रक्रिया

वाक्य और वाक्यार्थ को अखण्ड मानने वाले आचार्य भी व्यवहार दशा में पद पदार्थ की कल्पना करते हैं। जो वाक्य को अखण्ड मानते हैं उनके मत में पद पदार्थ, वाक्य वाक्यार्थ पर विभक्त रूप से विचार स्वाभाविक है। पद पदार्थ के अन्वय अनन्वय को लेकर प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त ऊहापोह मिलता है। महाभाष्यकार ने एक प्रसंग पर अन्वय-व्यतिरेक पद्धति का आश्रय लिया है किन्तु वहीं दूसरी ओर लोप आदि का भी संकेत किया है। केवल प्रविश से द्वार का संकेत मिल देवदत्त का, भामा से सत्यभामा का अवबोध देखा जाता है। पतजलि ने वाक्यवत्ता माना है

> अथवा दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान्
> प्रयुञ्जाना पदेषु च पदैकदेशान्।
>
> —महाभाष्य १।१।४५ पृष्ठ १११ कीलहार्न संस्करण।

उद्भट के विचार

वाक्य मे पदो में अपेक्षा आदि के सहारे परस्पर अन्वय होता है। उद्भट के अनुसार वह तीन तरह का होता है शाक्त, वाभक्त और शक्तिविभक्तिमय।[1]

कर्म आदि शक्तियों से निवृत्त को शाक्त कहा जाता है। सबध आदि विभक्तियों से निवृत्त को वाभक्त कहा जाता है और दोनो से निवृत्त को शक्ति-विभक्तिमय माना जाता है।

क्रिया और सुप विभक्ति से कर्ता और कर्म के अभिधान में शाक्त होता है। कृत और आख्यात से भिन्नकालस्थ करण शक्ति के अभिधान में और सुप विभक्तियो से कर्म करण और सम्प्रदान के अभिधान में भी शाक्त होता है। आख्यात विभक्ति से हेतु शक्ति के अभिधान मे और सुपविभक्ति से कर्ता कर्म, अपादान और अधिकरण शक्ति के अभिधान में भी शाक्त होता है। आख्यात द्वारा कर्ता के अभिधान में सुप विभक्ति द्वारा कथित और अकथित कर्म के अभिधान में भी शाक्त होता है।

वाभक्त अन्वय सबधविभक्ति से, शेषविभक्ति से, उपपदविभक्ति से और सम्बोधनविभक्ति से निवृत्त होता है।

कारकविभक्ति से और सबध उपपद शेष सबोधन विभक्तियो द्वारा अभिव्यक्त शक्तिविभक्तिमय है। विभक्तियों के लोप होने पर भी जहाँ शक्ति का उद्गमन हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है। जहा एक ओर शक्ति दूसरी ओर विभक्ति हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है।[2]

---

१ पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकारः सन्दर्भो वाक्यम्।
तस्य च त्रिप्रकारता यथाह उद्भटः । वैभक्तः शाक्तः, शक्तिविभक्तिमयश्च।
काव्यमीमांसा पृ० २२ बड़ौदा संस्करण।

२ शृंगारप्रकाश २७६, २७७।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद

वाक्यार्थ प्रक्रिया के विषय में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद प्रसिद्ध वाद हैं। यद्यपि व्याकरणदर्शन में इन वादों की प्रसिद्धि नहीं है किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, वाक्यपदीय में इन वादों द्वारा स्वीकृत मान्यताओं की चर्चा है और पुण्यराज ने इन दोनों वादों का खुलकर उल्लेख किया है और इनकी आलोचना की है। नागेश ने भी मंजूषा में इन पर विचार किया है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पद पहले सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं बाद में आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के सहारे विशेष का बोध कराते हैं। विशेष वाक्यार्थ है और वह अपदार्थ है। प्राचीन आचार्यों में पतंजलि और शबरस्वामी का भी ऐसा ही मत है। सादृश्य के कारण लाघव की दृष्टि से, अन्वयव्यतिरेक का आश्रय लेकर पद और पदार्थ की कल्पना की जाती है। प्रतिवाक्य से व्युत्पत्ति भी सबको सम्भव नहीं है। अतः व्यवहार की दृष्टि से पद पदार्थ की कल्पना कर ली जाती है। वाक्य मुख्य है। सखण्ड वाक्यार्थ है। प्राचीन दृष्टिकोण में और अभिहितान्वयवाद में केवल इतना ही अन्तर है कि अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ की प्रतीति पदार्थ प्रतीतिपूर्वक ही मानी जाती है। जब तक पदार्थ का ज्ञान न हो वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं देखा जाता है।

अन्विताभिधानवाद की दृष्टि में वाक्य से ही व्यवहार होता है पद से नहीं। एकार्थपरक पदसमूह वाक्य है। सभी पद परस्पर मिलकर वाक्यार्थ का अवबोध कराते हैं। अन्वित का ही स्वशब्द से अभिधान होता है वाक्यार्थ की साक्षात् उपलब्धि होती है परम्परया नहीं। वाक्यार्थ संसृष्ट स्वरूप है। इस वाद का मूल भी महाभाष्य में मिल जाता है

न च पदार्थाद्वयस्यार्थस्योपलब्धिः भवति वाक्ये ।

—महाभाष्य १।२।४५ पृ० २१८ कीलहार्न सं०

इस वाक्य का अभिप्राय कैयट के अनुसार यह है कि अपने अपने अर्थ को व्यक्त करने वाले पद वाक्य हैं। पदार्थ ही आकांक्षा, योग्यता सन्निधिवश परस्पर संसृष्ट होकर वाक्यार्थ हैं।[२] भर्तृहरि ने अन्विताभिधानवाद का संकेत निम्नलिखित कारिका में किया है

नियतं साधने साध्यं क्रिया नियतसाधना ।
स संनिधानमात्रेण नियमः संप्रकाशते ।।

—वाक्यपदीय २।४७

अभिहितान्वयवादी अन्विताभिधानवाद की समीक्षा में कहते हैं कि यदि पद

---

२ पदानि स्वस्वमर्थं प्रतिपादयन्ति वाक्यम्। पदार्थां एव आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्पर संसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थः

का जो अर्थ होता है, पदार्थान्तर अन्वित दशा में भी वही होता है अर्थ की प्रतिपत्ति सम्बन्ध रूप में होगी, पदार्थ का प्रतिभाग न हो सकेगा। आवाप उद्वाप पद्धति से यथा अवसर जाति, द्रव्य गुण, क्रिया के रूप में पदार्थ का विषय विभाग प्रयोग भी हो जाय, सम्बन्ध रूप में अर्थ की प्रतीति वहां भी होगी। अन्विताभिधान पक्ष में दो पदार्थों का परस्पर संबंध भी कठिनाई से जान पड़ेगा क्योंकि प्रतियोगी अनन्त हैं, फलत अन्वय भी अनन्त होगा। अन्वय की अनन्तता से अन्वित के अभिधान का सम्बन्ध ग्रहण न हो सकेगा। यदि उससे अनपेक्ष रूप में संबंध ग्रहण माना जायगा पहले सुने हुए भी उस अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। 'गाय लाओ' कहने पर अश्व लाओ अर्थ का भान हो सकेगा। वृद्धव्यवहार में भी वाक्य से होने वाली प्रतीति भी पदपर्यवसायी होती है। अन्यथा प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति की अपेक्षा होगी और ऐसा संभव न होने से, आनन्त्य और कठिनाई के कारण शब्दव्यवहार का ही उच्छेद हो जायगा। इसके अतिरिक्त अभिनव कवि की कविता से भी अर्थबोध होता है वह पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति के बल पर ही होता है। वाक्यार्थ की व्युत्पत्ति के सहारे नहीं होता। साथ ही अन्वय अन्वित का विशेषण है पहले अन्वित का अभिधान हो ले तब अन्वय काम कर सकता है अन्यथा नहीं। किन्तु यह एक शक्ति से संभव नहीं है। इसकी सिद्धि के लिए शक्त्यन्तर कल्पना करनी पड़ेगी। अन्विताभिधान पक्ष में गाम् आनय वाक्य से यदि गो शब्द से आनयति क्रिया से विशिष्ट की अभिव्यक्ति मानें गो के अर्थ की प्रधानता होगी। यदि आनयति क्रिया से गो अर्थ की विशेषता मानें तब क्रिया के अर्थ की प्रधानता होगी। इस तरह से, दो प्रधान अर्थ के होने से, वाक्य-भेद होगा।

अन्विताभिधानपक्ष में पहले प्रकृति प्रत्यय का अन्वय, तदनन्तर पदार्थों का अन्वय—इस रूप में दो बार अभिधान मानना पड़ेगा।

यदि यह मान लिया जाय कि पद अन्वित होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है तो उस समय दूसरा पदार्थ अभिहित होता है अथवा अनभिहित। यदि दूसरा पदार्थ अनभिहित होता है एक ही पद से उसके अर्थ से अनुरंजित द्वितीय पदार्थ के भी ज्ञान हो जाने के कारण पदान्तर उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा। इस दृष्टि से, एक ही पद अखिल पद अर्थ को प्रकट करने वाला हो जायगा और उसी रूप से ही व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। केवल गौ कहने से सब वैशिष्ट्य के बोध होने के कारण यह नहीं समझ में आयगा कि किस गुण आदि का उपादान हो। नियत गुण-क्रिया आदि से अनुरूप स्वार्थ की प्रतीति होती है इसमें कोई हेतु नहीं है। पदान्तर सन्निधान को भी नियम हेतु नहीं माना जा सकता। वह जप मंत्र आदि पदों की भांति यदि स्वरूप मात्र से ही सन्निहित होता है अविशिष्ट है। यदि पदान्तर का सन्निधान अर्थ प्रतिपादन के रूप में नियम का हेतु होता है वह अभिहित अर्थों के अन्वय का प्रतिपादक हो जाता है जो अभिहितान्वयवाद के अनुकूल है।

यदि ऐसा माना जाय कि प्रथम पद के अन्वय के समय दूसरे पद का अर्थ अभिहित रहता है तब मानना होगा कि प्रथम पद पदान्तरोत्थ अर्थाभिधान की अपेक्षा

रखता है और इस तरह इतरेतराश्रय दोष उपस्थित हो जायगा। यदि दूसरा पद अनन्वित रूप में अर्थ बोध करा सकता है, पहले का क्या अपराध है। यदि सभी पदों में स्वार्थमात्र का अभिधान मान लें तो एक तरह से अभिहितान्वय पक्ष का समर्थन होता है।

इसके अतिरिक्त, "अगुल्यग्रे हस्तियूथशतम्' जैसे वाक्य में भी अन्विता भिधानपक्ष में, अन्वय होने लगेगा।

अन्विताभिधानवादी मानते हैं कि वाक्य कार्यभूत है। वक्ता के मन में अर्थ का पूर्वविज्ञान कारण भूत है ऐसा अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् बौद्ध अर्थ कारण है बाह्य वाक्य कार्य है। ज्ञान ज्ञेय से अव्यभिचरित है। इससे ज्ञेयभूत अर्थ का निश्चय होता है। वाचकशक्ति से अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। अतः जिस दर्शन में वाचक शक्ति का ही निश्चय नहीं है अन्वित का अभिधान कैसे सभव है ?

अन्विताभिधानवाद के समर्थक उपर्युक्त आक्षेपों के उत्तर दे देते हैं। कदम्बक रूप में अर्थ की प्रतिपत्ति और प्रतियोगियों के अनन्त होने के कारण पदार्थ प्रतिभास की दुष्करता के उत्तर में वे अपनी पदार्थान्वय प्रक्रिया की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में गौ शुक्ल में गो शब्द का शुक्ल से अन्वित अर्थ नहीं होता ऐसा मानने पर व्यभिचार होगा क्योंकि कृष्ण से अन्वित रूप में भी उसके अर्थ की उपलब्धि होती है। सब शब्दों से अन्वित रूप में भी अर्थ नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर आनन्त्य के कारण अर्थपरिज्ञान दुर्बोध होगा। वस्तुतः उसका अर्थ आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के सहारे उपलब्ध अर्थान्तर से अनुरक्त रूप में व्यक्त होता है। यह व्युत्पत्ति पक्ष के अवाप उद्वाप अथवा रचना वचित्र्य के कारण वाक्य से ही प्रकट हो जाती है। जो आकांक्षित है योग्य है सन्निहित है उससे अन्वित होकर पद अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है। भर्तृहरि की निम्नलिखित कारिकाएं भी इस मत का समर्थन करती हैं

> नियत साधने साध्ये क्रिया नियतसाधना।
> स सन्निधानमात्रेण नियम सप्रकाशते ॥
> गुणभावेन साकाक्ष तत्र नाम प्रवर्तते।
> साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते ॥[४]

सन्निहित, आकांक्षित और योग्य से उपरक्त अपने अर्थ में सम्बन्धग्रहण कर सबन्ध ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिए आनन्त्य और व्यभिचार के कारण सबध अग्रहण का दोष नहीं होगा। पुनः पद-पर्याय में सबध ग्रहण की उपपत्ति होने के कारण प्रथमश्रुत पदार्थ प्रतीति का जो आरोप किया गया था वह निराधार है और गाय लाओ इसमें गाय बाधो यह अर्थ भी नहीं झलकेगा प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति की अपेक्षा भी नहीं होगी और न अभिनव कवि के श्लोक से वाक्यार्थ प्रतीति होती है। अन्वितअभिधान शक्ति के आधार पर ही अन्वय होता है इसलिए दो शक्तियों के

४ वाक्य पदीय २।४७ ४८

कल्पना गौरव का दोष भी नहीं है। वाक्यभेद सबंधी जो आक्षेप किया गया था वह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि अन्विन सबंध कभी प्रधान रूप में और कभी अप्रधान रूप में यथायोग्य उत्पन्न हो जायगा वाक्य भेद नहीं होगा।

प्रकृति प्रत्यय के और पद के अभिधान में दो बार अभिधान होने का जो दोष दिखाया गया है वह भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि प्रकृति से अन्वित का अर्थ अप्रस्त होता है। प्रत्यय प्रत्ययार्थ और पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का व्यक्त करता है। प्रत्ययार्थ के प्रकृत्यर्थान्वित के पद की अपेक्षा होने के कारण दो बार अभिधान नहीं माना जायगा।

अभिहित पदार्थान्तर-अन्वित के अभिधान पक्ष में दूसरे पद के उच्चारण की व्यर्थता का दोष और अनभिहित पक्ष में इतरेतराश्रय दोष—ये दोनों भी निराधार है। क्योंकि अन्विताभिधानवाद के मत में प्रथमश्रुत पद ही अन्यों से रूप में अन्वित होकर स्वार्थ की अभिव्यक्ति करते है—ऐसी उनकी मान्यता नहीं है। वे मानते हैं कि जिस पद के जितने अर्थ संभव है उसके श्रवण से उतने अर्थ स्मृति में झलक उठते हैं। पुन आकांक्षा योग्यता सन्निधि के सहारे परस्पर अन्वित होकर पदों के द्वारा स्मृति आरूढ उन अर्थों का बोध होता है। क्योंकि उस व्यक्ति में वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं जगती जिसने सबंध ज्ञान नहीं प्राप्त किया है अथवा जिसमें सबंध के ग्रहण करने वाले संस्कार नहीं उत्पन्न हुए हैं। अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं। जिनके संस्कार च्युत नहीं हुए है वह पद पद को सुनकर इस अर्थ से यह यह आकांक्षित संनिहित और योग्य है इसका स्मरण कर लेता है।[५]

पदों द्वारा अन्वित का अभिधान यदि स्मृतिसन्निधान के सहारे अपनाया जायगा अनेक स्मृति के उद्बुद्ध होने की संभावना होगी क्योंकि स्मृति प्रत्यासत्ति से संपृक्त होती है। स्मृति के संनिहित पदार्थों के किसी विशेष का ग्रहण न हो सकेगा। फलत उखाया पचति वाक्य में उखा केवल पचति के अर्थ से अन्वित रूप में ही सामने नहीं आयगी अपितु कलाय निर्वाप आदि से युक्त भी जान पड़ेगी क्योंकि उनका स्मरण भी उखा के साथ-साथ होगा। इसी तरह पचति का अर्थ इष्टका कर्म से भी संपृक्त होने के कारण उसका भी स्मरण होने से ओदन अन्वित रूप में सामने नहीं आएगा। इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया जाता है कि शब्द से जिनका स्मरण होता है उनका अन्वय होता है वृद्ध व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है।

---

५ पार्थसारथि ने 'स्मृति' वाले उत्तर की समीक्षा की है। स्मृति तो अनुभूत का होता है। पद रूप कारण के होने से स्मृति मात्र भी नहीं माना जा सकता। अत उनके मत में अन्विताभिधानवाद अनुपयुक्त है —

अन्वितस्याभिधानमिति चेन्न। पदोच्चारणे पदार्थस्वरूपावगमात। स्मरणे तदिति चेन्न। अननुभूतत्वात्। स्मृतिमात्रं न। पदरूपस्य पनकारणस्याभावात्। अत तस्मात् तात्पर्यविषयमिति नान्विताभिधानम्। इति न चान्विताभिधानं न्यायरत्नमालायां शास्त्रदीपिकायां च।

—पार्थसारथि, न्याय रत्नाकर पृ० ८७५

इसलिए जो अर्थ शब्द से स्मारित है उसी से अन्वित का अभिधान होता है। इसलिए उक्त शब्द से वलाय निर्वाप आदि के अर्थ से अन्वित की ही प्रतीति होती है। स्मृति के द्वारा अनन्वित के स्वरूप का भी स्मरण हो जाता है। इस तरह स्मृति सन्निहित अर्थों से अन्वित स्वार्थ को पद प्रकट करता है।

शब्द के श्रवण से स्वरूप का स्मरण कैसे होता है? शब्द में अपने स्वरूप को व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि जिसका जिसके साथ कोई लगाव (प्रत्यासक्ति) देखा गया है वह पूर्व संस्कार को जगाकर उसका स्मरण करा सकता है। स्वरूप का शब्द के साथ, अभिधेय संबंध के आधार पर प्रत्यासक्ति है। अतः शब्द स्वरूप की प्रतीति करा सकता है। जैसे अर्थ कभी अपने पद की स्मृति जगा देता है वैसे ही पद भी अर्थ का स्मरण करा देता है। अन्विताभिधानवाद के समर्थक स्वीकार करते हैं कि पद से नियत अर्थ से अन्वय लाभ अन्विताभिधान पक्ष में ही उपपन्न हो जाता है। पदान्तर अभिधेय के रूप में जो स्मरण कराया जाता है उससे अन्वित का ही शब्दव्यवहार में वाच्यत्व देखा जाता है। जहां कहीं अध्याहार होता है वहां भी सन्निधापित अर्थ से विशेष अन्वित अभिधान सिद्ध हो जाता है।

अन्विताभिधानपक्ष में 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथम्' इस वाक्य में भी अन्वय होने लगेगा इस रूप में जो दोष दिखाया गया है वह भी उचित नहीं है। क्योंकि स्मृत पदार्थों में भी यदि योग्यता न हो तो अन्वय नहीं होता। इसलिये उपर्युक्त वाक्य में अभिधान संभव नहीं है। अन्वय की प्रतिपत्ति तो अवश्य स्मृति से ही होती है। पुरुषवाक्य के प्रमाण के आधार पर पदों में वाचकत्व शक्ति के अनवधारण संबंधी जो दोष कहा गया है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक तो अन्विताभिधानवाद पुरुषवाक्यों का अर्थ में प्रामाण्य नहीं मानता। यदि किसी तरह प्रामाण्य मान भी लिया जाय फिर भी दोष नहीं है। क्योंकि पद अन्वित के अभिधायक रूप में जाना गया है किन्तु व्यभिचरित होने की आशंका से लोक में वह निश्चायक नहीं होता। बाद में पर्यालोचना से अनुमित अर्थ में अनुवादक माना जाता है। इसलिए उसमें प्रामाण्य नहीं आ पाता। किन्तु पद अपना वाचकत्व नहीं छोड़ता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनन्त प्रतियोगी में अन्वित स्वार्थबोधन विषयक अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों की तरह कार्यभेद की उपपत्ति हो जायगी। आकांक्षित सन्निहित पदों में स्वार्थ के अभिधान की शक्ति एक ही है। उस शक्ति से प्रतियोगी के भेद से कार्यभेद हो जायगा। जैसे चक्षु में दर्शन शक्ति एक ही है फिर भी चक्षु घट आदि प्रतियोगी के आश्रय से अनेक ज्ञान का जनक होती है उसी तरह शब्द भी प्रतियोगी के भेद से बिना अनेकशक्ति की कल्पना के भी कार्यभेद का जनक हो जायगा। अन्विताभिधान पक्ष में ही पदों का सहत्य अर्थाभिधान और एकार्थपरक पदसमूह में वाक्यत्व उपपन्न होता है। सहत्य अर्थाभिधान और संघातार्थ में भेद यह है कि सहत्यपक्ष में पदों के स्वार्थ होते हैं संघातपक्ष में संघातार्थ होते हैं। पदों का स्वार्थ स्वार्थ की

प्रतिपत्ति है। तात्पर्य या अभिप्राय वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति है। महाभाष्य में एक एक पद उत्तरपदार्थ व्यापारशील होते हैं कृत्स्नकारी कहलाते हैं। एक पद के होने से सम्पूर्ण वाक्यार्थ की सिद्धि होती है और एक के न होने पर नहीं होती इसलिए पद में कृत्स्नकारिता मानी जाती है। एक पद में अपनी शक्ति है अनन्तर अभिव्यक्त हैं। अथवा नपातलक्ष में भी पदार्थ के प्रमाण पर इसी तरह का अभियोग सम्भव है यदि दोष है तो दोनों पक्षों में समान है केवल अन्विताभिधानवाद को ही इस आधार पर दोषयुक्त नहीं माना जा सकता।

अन्विताभिधानवादी को भी किसी न किसी स्तर पर आकांक्षा, योग्यता आदि को स्वीकार करना पड़ता है। क्यों न अभिहितान्वयवाद को प्रश्रय दिया जाय। क्योंकि उसके मत में पद पदार्थ की अभिव्यक्ति कर उपरत हो जाते हैं। बाद में आकांक्षा आदि के सहारे पदार्थों में अन्वय की प्रतीति होती है। इसके उत्तर में प्रभाकर का सम्प्रदाय कहता है कि ऐसा सम्भव नहीं है। ऐसा मानने पर संसर्ग का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि आकांक्षा किसकी है? शब्द की अर्थ की अथवा प्रमाता की? शब्द और अर्थ के अचेतन होने से उनकी आकांक्षा न हो सकेगी। प्रमाता की हो सकती है। किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि शब्द शब्दान्तर की आकांक्षा करता है और अर्थ अर्थान्तर की। स्वतन्त्र की आकांक्षा प्रमाण नहीं है पुरुष की इच्छा या वस्तुस्थिति से कोई सीधा लगाव नहीं है उसकी आकांक्षा शब्द प्रमाण के पीछे रहती है। अर्थ में पुरुष की आकांक्षा अर्थों में संसर्ग का हेतु नहीं हो सकती। फलतः शब्द का ही यह बाण की तरह दीर्घदीर्घ व्यापार है। शब्द व्यापार के उपरत हो जाने पर पुरुष की आकांक्षामात्र सम्बन्ध का कारण नहीं होती। ऐसा मानने पर वाक्यार्थ का ज्ञान अशाब्द होने लगेगा। किन्तु यदि साक्षात सम्बन्ध सम्भव हो व्यवधान अयुक्त है। इसलिए पद अन्वित होकर ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना ही उपयुक्त है। इस मत में ही संसर्ग प्रतीति उपपन्न होती है। 'गाम आनय शुक्लाम्' जैसे वाक्यों में संसर्ग पद का प्रयोग नहीं है जिससे कि संसर्ग का ज्ञान हो। यदि संसर्ग पद का प्रयोग भी होता तो भी दश दाडिम वाक्य की तरह अनन्वित ही अर्थ होता। वस्तुतः व्यतिषङ्ग का बोध व्यतिषिक्तार्थ बुद्धि द्वारा होता है। यही मार्ग संसर्ग बोध का है। इसलिए अन्विताभिधानवाद को प्रश्रय देना चाहिए।

अभिहितान्वय का मूल आधार मीमांसकों की दृष्टि में शाबर भाष्य का निम्नलिखित वाक्य है

> पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि
> अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।[६]

पद अपने अपने अर्थ को व्यक्त कर उपरत हो जाते हैं पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

अन्विताभिधानवादी भी उपर्युक्त वाक्य की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या

६ शाबर भाष्य १।१।२५

करते हैं। प्रभाकर ने 'तस्मात व्यतिपक्ताथाभिधानम व्यतिपत्तेनावगते "यतिपगस्य कहा था।[7] अर्थात पद व्यतिषक्त का अभिधायक है। वह व्यतिपङ्ग का अभिधायक नहीं है। भाव यह है कि शब्द से आकृति का अभिधान होता है साथ म व्यक्ति का भी भान होता है इसलिए यद्यपि व्यक्ति शब्दजन्य प्रतीति से ग्राह्य है फिर भी आकृतिगम्य मानी जाती है। आकृति प्रत्यय व्यक्ति प्रत्यय का निमित्त है। जसे आकृति-मात्र शब्द से गम्य है वैसे व्यक्ति भी गम्य है ऐसा न ो माना जा सकता। क्योंकि केवल जाति का अवगमन सम्भव नही है। यह आकृति का स्वभाव है कि वह बिना व्यक्ति के आश्रय के प्रतीति गोचर नही हो सकती। यह व्यक्ति का रूप है। बिना रूपवान् के रूप म बुद्धि नही जम सकती। यदि रूप रूपवान के बिना भी प्रतीत होता, रूपवत्ता का अस्तित्व ही नही होता। इसलिए व्यक्ति के साथ ही जाति का भान होता है। शब्द भी अपनी शक्ति से जाति का अभिधान करता है। उसका व्यक्ति के बिना ग्रहण दुष्कर है अत जाति व्यक्ति का भी प्रत्यायन करती है। इसमे शब्द का आकृति प्रत्यायन स्वाभाविक है और उसका निमित्त व्यक्तिप्रत्यायकत्व है। इसलिए आकृति-प्रत्यय व्यक्ति प्रत्यय का निमित्त माना जाता है। ऐसा नही कहा जा सकता कि शब्द से प्रथम अवगत आकृति बाद म व्यक्ति का बोध कराती है। ठीक इसी तरह, अन्वित अभिधायी शब्द द्वारा अन्वय के बिना अन्वित का बोध नही कराया जा सकता। अत अन्वय का बोध करता हुआ पदार्थ निमित्तक माना जाता है। शाबर भाष्य के उपयुक्त वाक्य म पदार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वित से है वाक्यार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वय से है। पद अन्वित होकर अन्वय का अवबोध कराते हैं।

पार्थसारथि ने इसे क्लिष्ट मार्ग माना है।[8] उनके अनुसार भाष्यकार ने वाक्यार्थ मे पदार्थ की निमित्तता स्पष्ट रूप मे व्यक्त कर दी है। पदार्थ आकांक्षा सन्निधि और योग्यता के सहारे अन्वित होकर वाक्यार्थ को व्यक्त करते हैं।

वृद्धव्यवहार वाक्य से परिचालित होता है। व्युत्पत्ति भी वाक्य से होती है। किन्तु वह व्युत्पत्ति एकघटनाकारवसहतवाक्यार्थनिष्ठ है अथवा पदार्थ पर्यन्त है? पहले पक्ष म प्रतिवाक्य म व्युत्पत्ति अपेक्षित होगी इससे आनन्त्य व्यभिचार आदि दोष सामने आयेंगे। पदार्थपर्यन्त मानने पर यह निश्चय करना पड़ेगा कि इस पद का अर्थ इतना है। सहत्यकारिता पक्ष म शकट के अवयव का दृष्टान्त दिया जाता है इस दृष्टान्त के द्वारा भी पदव्यापार का निर्धारण अभीष्ट है। पदार्थनियम की अन पेक्षा से 'गाम आनय' कहने की इच्छा रखने वाला 'अश्वम आनय' कह सकता है। जिस तरह से वैयाकरण पदपदार्थ विभाग की अपेक्षा नही रखते वसे उसकी भी नही होती ऐसा नही कहा जा सकता। इसलिए आवाप उद्वाप की पर्यालोचना मे जितना पद का अर्थ निर्धारित होता है उतना उसका अर्थ है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर पद की अभिधात्री शक्ति केवल जाति म है अथवा व्यक्ति म है अन्विति म नही है।

---

७ बृहती, पृ० ३८५

८ न्यायरत्नमाला, पृ १३०

तात्पर्य शक्ति जितना व्यापार है उतना अभिधायी शक्ति नहीं है। वाक्यार्थ की सिद्धि में पदों में तात्पर्य शक्ति है अभिधायी शक्ति नहीं है। इसलिए अन्विताभिधान से भी अभिहितान्वयवाद ही सुन्दर है।

पदार्थों के अन्वय बोध में अधिक गौरव नहीं होता क्योंकि सभी वाक्यार्थ साभिप्राय होते हैं। अभिहितार्थ के सम्बन्ध से ही सम्बद्ध होते हैं इस कारण वे सार्थक माने जाते हैं। यद्यपि पदार्थ वाक्यार्थ से अविनाभूत रूप से सम्बद्ध नहीं है फिर भी पदों की एकवाक्यता के आधार पर सम्बद्धता मानी जाती है अविनाभूत सम्बन्ध के आधार पर नहीं मानी जाती। बिना अविनाभाव के भी व्रीहीन् अवहन्ति आदि वाक्यों में एकवाक्यता के आधार पर लक्षणा की जाती है। एकवाक्यता कहीं प्रत्यक्ष होती है कहीं प्रकरण के सहारे अनुमेय होती है।

भोज ने उभयवादों का भी उल्लेख किया है। उभयवादी अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का समन्वय उपस्थित करता है। उनके अनुसार सामान्य की दृष्टि से अन्विताभिधान होता है विशेष की दृष्टि से अभिहितान्वय होता है। गो शब्द स्वार्थ को सामान्य से अन्वित रूप में जताता है, विशेष का भान नहीं हो पाता। यही सामान्य के द्वारा अभिधान है। शुक्ल आदि गुण पदान्तर से अवगत होते हैं। यही विशेष के द्वारा अभिधान है। वाक्यार्थ इस मत में क्रियाकारक संसर्ग रूप है।[6]

अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद दोनों में पदार्थ में शक्ति कल्पना समान है। पदार्थ के आश्रय से यदि वाक्यार्थ का बोध न माना जाय तो, जैसा कि भर्तृहरि ने दिखाया है निम्नलिखित पाँच दोष उपस्थित होते हैं —

१—प्रतिनिधि कल्पना की अनुपपत्ति
२—पिकादिनियतपदग्रहण की अनुपपत्ति
३—श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति की बलवत्ता की अनुपपत्ति।
४—अवान्तर वाक्यों में अर्थवत्त्व का अभाव
५—लक्षणा की अनुपपत्ति।

मुख्य वस्तु के अभाव में यदि उसके सदृश किसी अन्य वस्तु से उसका काम लिया जाता है तो उस सादृश्य वाली वस्तु को प्रतिनिधि कहा जाता है। जैसे व्रीहि के अभाव में यदि नीवार से काम लिया जाय नीवार प्रतिनिधि है। 'व्रीहिभिर्यजेत' इसमें यजति क्रिया से देवता को लक्ष्य कर द्रव्य का त्याग अर्थ सामने आता है। इसलिए द्रव्य यजति क्रिया से एकदेशभावापन्न होने के कारण उसका अंग है और श्रुतिप्राप्त सन्निधान है। यहाँ श्रुतिप्राप्तसन्निधान शब्द है। व्रीहित्व आदि सामान्यविशेष है। निर्विशेष सामान्य नहीं होता इसलिए व्रीहित्व विशेष से परिपोष होता है। व्रीहि श्रुति अध्यावापार्थ है। वह शब्दसामर्थ्य प्राप्त द्रव्यत्व मात्र को अविरोध के कारण नहीं बाधती। द्रव्यत्व श्रुतिसामर्थ्य प्राप्त है व्रीहित्व अर्थसामर्थ्य से आया है वह सामान्यमात्रप्राप्तसन्निधान है। किन्तु जिसके विचार में यजति क्रिया के सामर्थ्य से ही व्रीहित्व

---

६ शृंगार प्रकाश, पृ० २९३, मैसूर संस्करण

प्राप्ति की प्राप्ति है उनके अनुसार व्रीहिश्रुति नियामक होगी और यवत्व आदि सामान्य विशेष का निवर्तक होगी। इस दृष्टि में व्रीहित्व से यवत्व आदि सहचारी द्रव्यों का अपसारण होगा। जिस तरह से यज्ञ के लिए निषिद्ध पलाण्डु आदि का, अर्थित्व और सामर्थ्य होने पर भी शास्त्र के द्वारा अपयुक्त होने के कारण वचनान्तर के न होने के कारण, प्रतिनिधि उपादान नहीं होता उसी तरह नीवार यव आदि का भी व्रीह्यादि नियम से निषिद्ध होने के कारण और वचनान्तर के अभाव के कारण प्रतिनिधि नहीं होगा। एक दूसरे दर्शन के अनुसार व्रीहिशब्द, शब्द द्वारा आकृष्ट व्रीहित्व का अंग रूप में अधिक कल्पित कर लेता है। फलतः द्रव्यत्व का बोध नहीं कर पाता है। क्योंकि न तो यवत्व आदि की व्यक्ति में उसका व्यापार है और न अभ्यनुज्ञा में। सामान्य का विशेष के साथ अविरोध होने के कारण द्रव्यत्व का बाध न होगा। द्रव्यत्व मात्र के आक्षेप में प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी।

यदि व्रीहिश्रुति नियामक न मानी जायगी, नीवार आदि का विकल्प प्राप्त होगा। व्रीहि से होना चाहिए अथवा यव से होना चाहिए इस रूप में विकल्प होगा। फलतः व्रीहिश्रुति निरर्थक होगी। इसके समाधान में भर्तृहरि ने असम्भव नियम का उल्लेख किया है। व्रीहित्व से द्रव्यत्व के विशेषित होने पर वस्तु सामर्थ्य के बल से यवत्व आदि की सम्भावना नहीं है। जहां पर द्रव्यत्व व्रीहित्व एकार्थसमवायी है वहीं यवत्व-एकार्थसमवायी सम्भव नहीं है। यह असम्भव नियम है। दो प्रकार का नियम होता है। कोई शब्दसामर्थ्य से आ जाता है जहां पक्ष में प्राप्ति होने पर श्रुति होती है। जैसे व्यक्ति पदार्थ पक्ष में विप्रतिषेधे परम्। कोई नियम, शब्द व्यापार के न होने पर भी पदार्थों के इतरेतरस्वरूपसाक्ष्य के अभाव से एक प्रवृत्ति अपने से अतिरिक्त के निवृत्तिफलक होती है इस आधार पर पदार्थस्वरूप के विमर्श से आ जाता है। इसे असम्भव नियम कहा जाता है

> असम्भवो नाम नियमः शब्दव्यापारो(अशब्दव्यापार)नियमसदृशफलः क्वचि-द्विषयेऽन्य एव धर्मोऽसमसम्भवनियम इति नियमविभागे न्यायविदः कथिता चक्षते।[१]
>
> —वाक्यपदीय २.१६८ हरिवृत्ति

यहां पर शब्द सामर्थ्य में द्रव्यत्व भी उपस्थित है व्रीहित्व भी। अध्यारोप शब्द व्यापार है। अखण्ड वाक्यार्थ पक्ष में भी अपोद्धार दशा में भेद, संसर्ग आदि विकल्प किए जाते हैं। व्याडि के मत में भेद वाक्यार्थ है। क्योंकि पद से वाच्य द्रव्य का द्रव्यान्तर से निवृत्ति अभिप्रेत रहती है। जातिवादी वाजप्यायन के मत में संसर्ग वाक्यार्थ है। क्योंकि वाक्यार्थ सामान्यों का, पदार्थों का संश्लेष मात्र है।[११] जहां

---

१० शृंगार प्रकाश में यह वाक्य यों उद्धृत है—
'असम्भवो नाम यन्नियमसदृशफलं अन्य एव वाक्यविशेष
यमसम्भवनियमं इत्यामनन्ति।' शृंगार प्रकाश पृ० ३१४ मैसूर सम्करण।

११ अखण्डेऽपि वाक्यार्थेऽपोद्धारदशायां भेदसंसर्गादिविकल्प।
तत्र 'व्याडिमते भेदो वाक्यार्थ। वाजप्यायनस्य तु मते संसर्गो वाक्यार्थ।
—हेलाराज। वाक्यपदीय, जातिसमुद्देश ५

नाम से व्रीहित्व अधिक रूप में प्रमाण प्राप्त हो जाता है यहाँ श्रुति से अप्रतिनिषिद्ध होने पर भी यव प्राप्ति न हो सकेंगे क्योंकि व्रीहि में मात्र उसका निरूढ—एवायमनाय है। यदि हो भी तो विरोध न होने से, सामर्थ्यप्राप्तार्थ त्याग के रूप में, शब्द व्यापार के बिना भी गृहीत हो। किन्तु यह विरल का विषय नहीं है।

निर्विशेष सामान्य नहीं होना इसलिए यजि क्रिया से विशेषनिष्ठ द्रव्य का आक्षेप होता है। इसलिए सभी विशेष श्रुतिसामर्थ्य से प्राप्त होंगे। फलतः व्रीहिभि यह श्रुति श्रौत रूप में भी नियमफल वाली हो हो जाती है अतः श्रौत अप का त्याग क्या नहीं होगा ? इसका उत्तर भर्तृहरि ने यह कहकर दिया है कि प्रतिनिधि के विषय में ऐसा नहीं होता। क्रिया शब्द से सभी विशेष लक्षित नहीं होते। शब्द सभी विशेष का अभिधायक नहीं होता

न हि सर्वेषां सतां शब्दोऽभिधायकः।[१२]

शब्द वस्तुस्थिति का अनुसरण नहीं करता। वस्तु का कोई भाग ही शब्द का विषय होता है। सकल सनिहितविशेष का अभिधायक शब्द नहीं देखा जाता। यजति क्रिया का केवल द्रव्य मात्र के आक्षेप में शक्ति है द्रव्य विशेष में नहीं है। व्रीहित्व आदि द्रव्य सहचारी विशेष जो क्रियापदार्थ के एकदेश भूत हैं यजि क्रिया से लक्षित नहीं होंगे। वस्तु विवक्षानिबन्धन होती है। सत पदार्थ भी अर्थ रूप में असत हो सकता है। विवक्षा शब्द सामर्थ्य के अनुरूप होती है। द्रव्य के साथ शुक्ल आदि गुण भी रहते हैं किन्तु क्रिया शब्द से गुण की विवक्षा क्रिया के अंग रूप में नहीं होती और न उनका प्रत्यायन क्रिया पद से सम्भव ही है। इसलिए द्रव्यमात्र का ही आक्षेप शब्द से होता है उसके परिपोष के लिए विशेष का आवाप नियम के लिए नहीं होता। फलतः शास्त्र से अपर्युदस्त विशेषों के प्रतिनिधि उपपन्न हो जाता है। इस तरह यहां असम्भवनियम त्याग का विवरण है।

जिनके मत में क्रियाविशेष ही वाक्यार्थ है उनके मत में क्रिया स्वसिद्धि के लिए योग्यद्रव्य साधन का आक्षेप कर लेती है। वही पदान्तर से विशिष्ट कहा जाता है। ऐसी दशा में, जहां श्रुत साधन सम्भव नहीं है प्रधानभूत क्रिया की प्रतिपत्ति के लिए किसी अन्य साधन को प्रतिनिधि रूप में ले लिया जाता है। क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होता क्योंकि वह प्रधान होती है। शिष्टों ने गुणभूत साधन को ही प्रतिनिधि रूप में स्वीकार किया है। अतः प्रधानभूत क्रियापदार्थ से आक्षिप्त साधनमात्र का त्याग नहीं होता अपितु व्रीहिपद से उपात्त द्रव्यविषयक नियममात्र का बाध होता है। इसे नियम मात्रबाध कहा जाता है।

प्रतिनिधि के प्रसंग में असम्भवनियमत्याग और नियमात्रबाध इन दो दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त तीन अन्य विचारों का भी भर्तृहरि ने उल्लेख किया है। वे हैं—पदार्थ सामर्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति, वाक्यार्थसामर्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति और प्रकरण सामर्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति।

---

१२ वाक्यपदीय ३।१४८ हरिवृत्ति।

जातिपदार्थ पक्ष में आख्यातवाच्य क्रिया से जाति का समन्वय कैसे होगा। क्रिया साधन से जुटती है। जाति साधन नहीं है। उसके आश्रय रूप साधन से सम्बन्ध करने पर प्रतिनिधि की अनुपपत्ति का प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसके उत्तर में कुछ आचार्यों की मान्यता है कि जाति शक्ति का उपलक्षण है। 'खदिरे बध्नाति' इस श्रुति के अनुसार कहीं खदिर में बांधने का संयोग न हो तो उसके सदृश कदर में बंधन का कार्य सपन्न किया जाता है। जिस तरह कदर खदिर का प्रतिनिधि हो जाता है, उसी तरह द्रव्यान्तरगत शक्ति का भी, आश्रय की सदृशता की दृष्टि से, परिग्रहण कर लिया जाता है।

जातिपदार्थ सिद्धान्त के मानने वालों में कतिपय जाति को अभिधेय मानते हैं, उपलक्षण नहीं मानते। उनके मत में भी प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी। बंधन का प्रयोग प्रस्वातन्त्र्य है। यदि खदिर शक्तिहीन है तो उसको छोड़कर कदर काम में लाया जाता है। इसमें विधि में कोई दोष नहीं माना जाता। इसी तरह जाति के अभिधान के पक्ष में भी शक्तिहीन का ग्रहण नहीं होगा। गाम् आलभेत जैसे श्रुतिवाक्य से भी योग्य व्यक्ति के साथ क्रिया का सम्बन्ध होता है।

यदि बंधन का अभिप्राय केवल सश्लेष मात्र हो तो प्रकरण आदि की पर्यालोचना से प्रतिनिधि उपपन्न होता है।

प्रतिनिधि के उपादान होने पर भी अखण्डवाक्यार्थ का अनुष्ठान सभव न होने से नीवारकरणकयाग के अनुष्ठान से नित्य, काम्य आदि विधि का लोप होने लगेगा। अखण्ड पक्ष में 'क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होता द्रव्य का होता है', यह न्याय भी विच्छिन्न हो जायगा। अतः पदार्थ द्वारा वाक्यार्थ का अवबोध मानना चाहिए।

प्रसिद्ध पदार्थ के अवधारण के लिए अप्रसिद्धपदार्थ का परिग्रह निर्णीत प्रश्न कहा जाता है। जैसे 'वनात् पिक आनीयताम् जजरा वरासी वृषभाय दीयताम्' जैसे वाक्यों के कहने पर सुनने वाले जिन पदों के अर्थ जानते हैं उनके बारे में तो कुछ नहीं कहते किन्तु जिन पदों के अर्थ उन्हें नहीं ज्ञात हैं उनके बारे में जिज्ञासा व्यक्त करते हुए देखे जाते हैं। जैसे वन शब्द का अर्थ ज्ञात है किन्तु पिक शब्द का नहीं ज्ञात है तो पूछते हैं पिक कौन सी वस्तु है जिसे वन से लाना है।[13] अथवा विरासी (वरासी?) क्या है जिसे वृषभ को देना है। वन, वृषभ, भाण्डीर आदि प्रसिद्ध शब्दों में अर्थ ऋषभ भाण्डीर आदि अर्थ जिज्ञासा में वकार अथवा ककार के अर्थ के लिए वर्ण विषयक प्रश्न नहीं देखा जाता है। यदि निरवयव, अखण्डवाक्य से अखण्ड अर्थ की प्रतीति होती 'वनात् पिक आनीयताम्' वाक्य से भी अखण्ड अर्थ भासित होता। किन्तु पृथक् पृथक् पद के अर्थ की जिज्ञासा होती है। अतः वाक्यार्थ अविभागाश्रित न होकर विभागमय

---

13 शबर स्वामी ने पिक शब्द को अनार्य माना है। जिन दिनों यह वाक्य उदाहरण के रूप में आया होगा, बहुत से लोग इस शब्द को नहीं पहचान पाते होंगे। वरासी शब्द भी सम्भवतः भाषा का नहीं पड़ता है। यों वैदिक साहित्य में वस्त्रविशेष के अर्थ में मिलता है।

है। मीमांसा दर्शन में श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति बलवती मानी जाती है। यदि वाक्यार्थ अविभक्त रूप में स्वीकार किया जायगा, श्रुति और वाक्य के परस्पर विरोध में पारदौबल्य वाला नियम नहीं लागू हो सकेगा। प्रमाणान्तर निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहा जाता है। भर्तृहरि के अनुसार श्रुति एक शब्दविषया एकपदनिबन्धना होती है

इह श्रुतिर्नामैकशब्दविषयैकपदनिबन्धनार्था।[14]

समभिव्याहार अथवा अपशब्दपि वाचकपदों के सह उच्चारण को वाक्य कहा जाता है। श्रुति का सम्बन्ध साक्षात् प्रापित से होता है, वाक्य का यत्न प्रापित से होता है इसलिए श्रुतिधर्म से वाक्यधर्म विलक्षण माना जाता है। श्वेत छागमालभेत इस वाक्य में द्रव्य का आलभन क्रिया के साथ योग द्वितीया श्रुति (द्वितीयाविभक्ति) से साक्षात् प्रतिपादित है। श्वेतगुण का सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के आधार पर है। निर्गुण द्रव्य नहीं हो सकता केवल गुण में क्रिया नहीं हो सकती इस लिए गुण का सम्बन्ध आश्रयाश्रयिरूप में है यह सम्बन्ध वाक्यीय है। उसका सम्बन्ध संनिधान वश है। द्वितीया श्रुति और तिङ् विभक्ति श्रौत सम्बन्ध को प्रकट करती है क्योंकि क्रिया और कारक एक दूसरे के स्वरूप से यहाँ अनुविद्ध है। वाक्य के सम्बन्ध का कोई साक्षात् वाचक यहाँ नहीं है केवल योग्यार्थ समन्वय के लिए पदान्तर संनिधान से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसलिए श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुर्बल माना जाता है। भर्तृहरि ने श्रुति और वाक्य का विरोध और वाक्य से श्रुति की बलवत्ता के लिए निम्न लिखित उदाहरण दिया है

पयसा भुङ्क्ते देवदत्त ओदनेन

इस वाक्य में पय से उपसेचन श्रुतिप्रापित है। क्योंकि पयसा में तृतीया श्रुति का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध है। पयविषयक श्रपण वाक्य प्रापित है। क्योंकि उनमें विशेषणविशेष्य भाव है। यहाँ वाक्य प्रापित श्रपण के न होने पर भी श्रुतिप्रापित उपसेचनत्व का निवर्तन नहीं होता। लोक में उपसेचन के रूप में अप्रसिद्ध जल आदि हैं उनके द्वारा श्रपण कार्य उपयुक्त नहीं माना जाता। अतः पय का ग्रहण कर लिया जाता है किन्तु तब भी उनका का उपादान नहीं होता। श्रुति और वाक्य के विकल्प में श्रुत्यर्थ ही लिया जाता है वाक्यार्थ नहीं।

भर्तृहरि ने श्रुति का सामर्थ्य प्रापित और व्यक्त्यर्थ—अनुषजन—दो रूप में ग्रहण किया है। सामर्थ्य प्रापित से तात्पर्य साक्षात् एक शब्द में गृहीत अर्थरूप से है। इससे अतिरिक्त एक शब्दोपात्त अर्थ जब किसी शब्दान्तर से अभिव्यक्ति के लिए सम्बद्ध हो जाता है वह भी किसी सम्बन्धान्तर के आश्रय न लेने के कारण—अनपेक्ष सम्बन्ध के कारण—श्रुति माना जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रुति अपने अर्थ की सिद्धि

---

[14] वाक्यपदीय २।७३ की टीका। और [illegible] भी उद्धृत किया है—
[illegible]
—[illegible], पृ० २३०

के लिए कम करण, अधिकरण आदि जिसका आक्षेप करती है वह सब भी श्रुयय माने जाते हैं। जैसे 'प्रवहयनाम' कहने से ब्रीहि आदि का, सूय उदेति कहने से निका, वरति कहने से देवका आक्षेप हो जाता है। व्यक्तत्यय अनुपम साधन का भी होना है। *साधनाश्रय का भी होना है।*[१५] *यदि वाक्यार्थ अखण्ड रूप में माना जायगा,* श्रौत और वाक्यीय का विभाग ही सम्भव नहीं होगा, पुन उनमें बाध विचार ता सर्वथा निरर्थक हो जायगा।

यदि परमायनिव घन वाक्यार्थ नहीं स्वीकार किया जायगा, अवान्तर वाक्यों में प्रयवत्ता की उपपत्ति कठिन हो जायगी। कभी कभी एक अथ की सिद्धि के लिए वाक्यों के समुदाय एक साथ व्यवहृत होते हैं और वे परस्पर साकांक्ष होते हैं, जसे

"गौ दुह्यताम्, उपाध्याय पयसा भुक्त्वा मामध्यापयतु।'

"प्रभिजातासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्याम।'

एसे वाक्यों में अखण्डपक्ष में, पद की तरह अवान्तरवाक्य अनर्थक हो जायेंगे। वाक्य की कोई सीमा नहीं है। वे बढाए जा सकते हैं, जैसे,

गाम अभ्याज।

देवदत्त गाम अभ्याज।

देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम आदि।

एसी दशा में स्वतन्त्र रूप में जो वाक्य सार्थक हैं अवान्तर वाक्य के रूप में वही निरर्थक हान लगगे।

वाक्य के अविभाग पक्ष को प्रश्रय देने से लक्षण की भी अनुपपत्ति होती है। लक्षण एक तरह से वाक्य धर्म है जो वाक्यार्थविशेष के परिज्ञान में सहायक होते हैं। ये पट द्वादश अथवा चौबीस तरह के माने जाते हैं। भर्तृहरि के लिखने से एसा जान पडता है कि उन्होंने स्वयं लक्षणसमुद्देश में इन भेदों पर विस्तार से विचार किया था

> सर्वथापलक्षणप्रवस्थाविरुद्धश्चायमविभागपक्ष। तत्र द्वादश षट् चतुर्विंशतिर्वा *लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेश सविरोध विस्तरेण व्याख्यास्यते*
> —वाक्यपदीय २।७६ हरिवृत्ति।

लक्षण समुद्देश आज उपलब्ध नहीं है। पुण्यराज के समय में भी उपलब्ध नहीं था

> एतेषा च वितत्य सोपपत्तिक सनिदर्शन स्वरूप पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम। आगमभ्रंशात लेखकप्रमादेन वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्ध।

वाक्यपदीय २।८७ ८७ में इनका सकेत किया गया है। इनमें मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित प्रसग तन्त्र बाध आदि हैं कुछ अन्य भी हैं। इन पर हम वाक्य के

---

१५ वाक्यपदीय २।७३ हरिवृत्ति।

पदार्थनिबन्धन धर्म' के रूप में सभी विचार कर चुके हैं। यहां केवल यह दिखाना है कि यदि पदार्थ के आधार पर वाक्यार्थ विचार नहीं होगा गौण मुख्य, नान्तरीयक आदि लक्षण विचार भी संभव नहीं हो सकेंगे। क्योंकि ये सब पदार्थनिबन्धन हैं।

इस तरह निरवयव वाक्य पक्ष में उपर्युक्त पांच विप्रतिपत्तियां उठाई गई हैं।

भर्तृहरि ने इनका परिहार भी किया है। वाक्यार्थ एक है अविभक्त है। विकल्प भावनाश्रित है। पुरुष की शास्त्रवासना के अनुरूप भिन्न भिन्न विकल्प होते हैं

अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रया ।[16]

वाक्य को अखण्ड मान कर भी अपोद्धार पद्धति से पद-पदार्थ की कल्पना कर पदार्थनिबन्धन धर्मों का निर्वाह किया जा सकता है

अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते ।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ॥[17]

जैसे एक ही गन्ध का पुष्पगन्ध, चन्दनगन्ध, आदि के रूप में विश्लेषण किया जाता है जैसे एक नरसिंह में नर और सिंह के सादृश्य की कल्पना की जाती है जैसे एक निरंश प्रकाश का नील पीत आदि रूप में भाग किया जाता है वैसे ही एक निर्विभाग वाक्य का विभाग के रूप में निर्वचन किया जाता है। वन आनीयताम् इस वाक्य से वनात् पिक आनीयताम् यह वाक्य सर्वथा विलक्षण है। पिक के योग से यह वाक्य सर्वथा एक नवीन विलक्षण वाक्य बन गया है। वाक्य के एक देश की, अवान्तरवाक्य की अर्थवत्ता वैयाकरण भी स्वीकार करते हैं। इस तरह उपर्युक्त सभी अनुपपत्तियां दूर हो जाती हैं

यस्याप्येक संनिविष्टानेकशक्तिरूपसर्वोपाधिविशिष्ट क्रियात्मा व्यावहारिकाभ्या (केन) प्रकल्पितोद्देशविभागेनैकेन वाक्याख्येन शब्देनाभिधीयते तस्यापि यथान्यं पदश्रुतिरूपभेदेन च व्यवहार परस्तादुपन्यस्त स सर्व एकस्मादर्थात् शब्दरूपाणि बुद्ध्यन्तर कृतप्रविभागानि अपोद्धृत्यापोद्धृत्य प्रकृतिप्रत्ययादिवत् श्रुतिरूप प्रविभागे क्रियमाणे न विरुध्यते।[18]

अस्तु अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों से गृहीत पदार्थशक्ति व्याकरणदर्शन में भी उपोद्धार कल्पना से चरितार्थ हो जाती है। पुण्यराज ने अनेक स्थल पर इन वादों की समीक्षा भी की है और भर्तृहरि को भी अपने साथ रखने की चेष्टा की है। पुण्यराज की आलोचना का भी प्रसंगवश ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनका मुख्य वक्तव्य निम्नलिखित है

इति अन्विताभिधान प्रदर्शनम्। दूषणमस्याग्रे तत्र तत्राभिधास्यति यथा 'नियमाया श्रुति मवेत वा० प० २।२४६ इत्यादि। तथा हि यद्येकेन पदेन

---

१६ वाक्यपदीय, २।११७
१७ वाक्यपदीय २।८६
१८ हरिवृत्ति शृंगारप्रकाश में संप्रति उपलब्ध पृ० २२२

सकलवाक्यार्थस्याशेषविशेषणखचितस्यावगति तदोत्तरेषा पदाना नियमायानुवादाय वोच्चारण स्यात । न चतत युक्तमिति वक्ष्याम । एकस्मादेव पदात समस्तविशेषणखचितस्य वाक्यार्थस्य प्रतीतेरुत्तरेषामानर्थक्य स्यादेव । न च तस्मादेव वाक्यार्थप्रतीति दृश्यते । व्यक्तोपव्यञ्जना इत्यसमाधानमेव । यत क्रिमेकस्माद वाक्यार्थावसायो येषामुपव्यञ्जकत्वम । अथ समस्तेभ्य एव तेभ्य । सर्वोत्तराणि पदानि वाक्यार्थप्रतीतये उपादीयन्त एवेत्यर्थवत्ताभिधानम समञ्जसमेव । एकस्य वापरपदोच्चारण काले तिरोधानादभिहिता वयस्याप्यसमव इत्ययमागे दूषणम । शब्दमार्गसमाश्रयणेन द्वयोरपि पक्षयो दूषण 'पदानि वाक्ये तान्येव' (वाक्यपदीय २।२८) इत्यादि—श्लोकद्वयेनाभिधास्यति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

यदि एक पद से सकल वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हो, अन्य पद व्यर्थ होंगे। अथवा नियम या अनुवाद के लिये होंगे। हम देख चुके हैं कि भर्तृहरि ने भी आख्यात शब्द वाक्य आदि की व्याख्या में नियम अनुवाद सिद्धान्त का आश्रय लिया है। सद्भूत के उपादान में व्यञ्जनोपव्यञ्जन वाले मत का पुण्यराज ने स्वयं समर्थन भी किया है।

भर्तृहरि ने आलोचना की है कि यदि वाक्य में वे ही पद होंगे, पद में वे ही वर्ण होंगे, वर्णों में वर्ण भाग सम्बन्धी परमाणु सदृश भेद होने लगेंगे। इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है

> सर्वभावे पदवर्णाना भेदो य परमाणुवत ।
> सर्वाभावस्ततश्चेति सेय बालविभीषिका ॥

यह केवल बच्चा को डराना मात्र है। पद और वर्ण का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। वर्णांश के परित्याग से वर्ण की स्थापना सरल है (श्लोकवार्तिक ७।१५०)

भर्तृहरि के अनुसार यदि अखण्डवाक्यार्थ न मानकर पद-पद के सहारे वाक्यार्थ की उपपत्ति मानी जायगी निम्नलिखित वाक्य के अर्थ का ठीक अवभास न हो सकेगा

> अनडवाह हर शिरसा या त्व अगिनि साचीन अभिधावन्त कुम्भमद्राक्षी ।

इस वाक्य में प्रथम अश सुनने पर अन्य अर्थ उपस्थित होता है, पूरा वाक्य सुनने पर दूसरा अर्थ सामने आ जाता है और पहला अर्थ छूट जाता है। अखण्ड पक्ष में पूरे वाक्य से पूरे अर्थ का ज्ञान होता है। इसलिए सामान्य में वर्तमान का विशेष में अवस्थान उपयुक्त नहीं माना जा सकता ।

> तथा सति नास्ति सामान्येऽवस्थितानां विशेषेऽवस्थानम ।[६]

वाक्य और वाक्यार्थ में सम्बन्ध

वाक्य और वाक्यार्थ में परस्पर सबध, दर्शनभेद के आधार पर निम्नलिखित मान

---

६ वाक्यपदीय २।२४८ हरिवृत्ति हस्तलेख

जाते हैं

१—वाच्यवाचक सम्बन्ध (योग्यता)

२—कार्यकारण सम्बन्ध।

३—संकेत सम्बन्ध।

४—अध्यास सम्बन्ध।

इनमें वैयाकरण अध्यास सम्बन्ध को अपनी मान्यताओं के अनुकूल मानते हैं और उसे स्वीकार करते हैं। सम्बन्ध के विषय में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अवसर पर विशेष विचार किया जा चुका है।

वाक्यार्थ निर्धारण के साधन

वाक्यार्थ की व्यवस्था में कुछ अन्य उपाय भी काम में लाए जाते हैं। वे प्रायः परिगणित हैं। भर्तृहरि ने इनका उल्लेख निम्नलिखित कारिका में किया है

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥[1]

साथ ही किसी दूसरे आचार्य का भी मत दिया है

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इनके विवरण नीचे दिए जा रहे हैं।

एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक स्थान पर दो अर्थों की प्राप्ति हो सकती है। उस समय निर्धारण की अपेक्षा होती है। निर्धारण विभाग द्वारा पृथक्-करण का नाम है। कुछ उपाय जो समस्त अनेकार्थ शब्दों में समान हैं, वाक्यार्थ के अवच्छेद के लिए काम में लाए जाते हैं। भर्तृहरि ने इनका वाक्य, प्रकरण, अर्थ आदि के रूप में उल्लेख किया है।

वाक्य—कभी कभी वाक्य ही विशेष क्रिया से युक्त रहता है और तुल्य श्रुति के होने पर भी शब्द और अर्थ के प्रविभाग की व्यवस्था में सहायक हो जाता है। जैसे 'वटवृक्षः रौति' और 'वटवृक्षः स्वादुफलः, आरुह्यताम्' इन दोनों वाक्यों में वाक्यार्थ ही शब्दार्थ के प्रविभाग में हेतु है। 'केशान् वपति' और 'केशान् नमस्यति' दोनों वाक्यों में भी शब्दार्थ का अवच्छेदक वाक्य ही है। 'कटं करोति, भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' इस वाक्य में द्वितीया विभक्ति कट भीष्म उदार दर्शनीय सभी शब्दों में है। क्योंकि करोति क्रिया से सबका पृथक् पृथक् सम्बन्ध है। बाद में विशेषण विशेष्यभाव हो जाता है। कट विशेष्य है और भीष्म, उदार आदि विशेषण हैं। यहां यद्यपि द्रव्य और गुण दोनों के साथ क्रिया का सम्बन्ध है किन्तु ईप्सिततम द्रव्य है इसलिए क्रिया

---

१ वाक्यपदीय २।३१६

का सम्बन्ध केवल द्रव्य से होना चाहिए। गुण से नहीं होना चाहिए। इस आधार पर द्वितीया विभक्ति केवल पट शब्द से होनी चाहिए। भीष्म आदि शब्द से नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर है कि यद्यपि भीष्म आदि में स्वयं कमता नहीं है किन्तु वे विशेष्य के सम्बन्ध से द्वितीया विभक्ति के पात्र हैं क्योंकि उसके साथ उनका एकयोग क्षेम है सामानाधिकरण्य है। केवल प्रातिपदिक का प्रयोग हो ही नहीं सकता। जैसे राजा का सखा स्वयं निर्धन भी हो फिर भी राज धन से धन का फल प्राप्त करता है वैसे ही गुण भी द्रव्य के धर्म से तद्रूप होते हैं। अतः भीष्म आदि से द्वितीया विभक्ति सिद्ध होती है। अथवा द्रव्य निर्गुण नहीं हो सकता गुण भी बिना आधार के नहीं रह सकते, इसलिए आकांक्षा आदि के आधार पर उनमें वाक्यीय सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के रूप में स्थापित हो जाता है। फलतः भीष्म गुण युक्त पट का करना ही अभिप्रेत वाक्यार्थ होता है। इस तरह यहां शब्दार्थ निर्णय वाक्य की पर्यालोचना पर निर्भर है।

प्रकरण प्रकरण स्वयं अशब्द होता है फिर भी शब्दार्थ निर्धारण में सहायक होता है। जैसे सैन्धव शब्द का युद्ध के प्रकरण में अश्व अर्थ होता है भोजन के प्रकरण में लवण अर्थ हो जाता है। व्याकरणशास्त्र में भी 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' २।३।१८ सूत्र में, कारक के अधिकार क्षेत्र में होने के कारण करण शब्द से क्रिया का ग्रहण अभिप्रेत नहीं होता। इसी तरह 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' ३।१।१७ सूत्र में, धातु-अधिकार के कारण, करण शब्द से क्रिया की प्रतीति होती है।

अर्थ अर्थ शब्द से सम्बद्ध होने के कारण शब्दार्थ निर्णय में हाथ बटाता है। जैसे अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते, अञ्जलिना पूर्णपात्रं हरति। इन वाक्यों में जुहोति आदि शब्द के अर्थवश अंजलि शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ भासित हो जाते हैं। व्याकरण शास्त्र में भी पूरणगुण सुहित० २।२।११ सूत्र में अर्थ ग्रहण के बल से गुण शब्द से अदेङ का ग्रहण नहीं होता। इसी तरह न शसददवादिगुणानाम ६।४।१२६ सूत्र में अर्थ के सामर्थ्य से परतन्त्र आश्रयी शुक्ल आदि का ग्रहण नहीं होता। काव्य प्रकाश के टीकाकारों ने अर्थ शब्द का अर्थ प्रयोजन माना है जो संगत नहीं है। प्रकरण और अर्थ में भेद यह है कि प्रकरण अशब्द होता है उसमें प्रयोगदर्शन से प्रतिपत्ति होती है। अर्थ शब्द का ध्यान होता है उसमें श्रुत्यनुपातिनी प्रतिपत्ति होती है।

औचित्य (औचिती)—भर्तृहरि ने औचित्य शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में जो कारिका (संसर्गो विप्रयोगश्च) उद्धृत की है उसमें औचिती शब्द है। दोनों समानार्थक ही होंगे। औचित्य (औचिती) के द्वारा भी अर्थ की व्यवस्था की जाती है। किन्तु औचित्य अथवा औचिती का क्या अभिप्राय है? भर्तृहरि ने औचित्य शब्द का प्रयोग संभवतः ऐसे वाक्यों के लिए किया है जिनमें निन्दा और प्रशंसा दोनों अर्थ झलकते हों। उन्होंने उपर्युक्त कारिका की अपनी वृत्ति में लिखा है

औचित्यादपि व्यवस्था। तद् यथा राक्षसो
दस्युः भद्रमुखइति। विपर्ययेण निन्दा प्रशंसा वा गम्यते।

राक्षस दस्यु भद्रमुख है—इस वाक्य से निन्दा अथवा प्रशंसा ध्वनित है।

पुनः औचिती पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है

औचिती केषाचित प्रयोक्तणां निन्दाप्रशंसादिषु किंचिदुचितं भवति, भद्रमुख दास्या राक्षसादिव (दस्यु राक्षस इव), वणिजा च वाराणसी जित्वरीत्युपचरन्ति (वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति)। औचित्यादेव रामसदृशोऽयमर्जुनसदृश इति प्रयोक्तभेदादर्थविशेष प्रतिपत्ति।[2]

इस वक्तव्य से भी भर्तृहरि के मत मे औचित्य का सम्बन्ध निन्दा प्रशंसा से है। श्लोकवार्तिककार ने वाराणसी को व्यापारियो द्वारा जित्वरी नाम देने का उल्लेख किया है।[3] कयट आदि ने जित्वरी शब्द को मगल के अर्थ मे लिया है मगलार्थ वाराणसी को जित्वरी कहते थे अथवा उनके लिए वाराणसी मंगलार्था थी। सभवत जित्वरी शब्द देशी शब्द था और इसका अर्थ निन्दात्मक था। दोनो तरह से यहाँ औचिती है। भद्रमुख शब्द भी सभवत उभयात्मक था। भर्तृहरि ने औचित्य का सम्बन्ध प्रयोक्ता से भी दिखाया है। प्रयोक्तभेद से जहाँ अर्थविशेष की उपलब्धि होती है वहा भी औचित्य है। 'यह राम सदृश है यह अर्जुन सदृश है' जैसे वाक्य के प्रयोग करने वाला की दृष्टि से भी इन वाक्यो का अर्थ बदलता होगा, कही प्रशसात्मक, कही निन्दात्मकध्वनि निकलती होगी। अथवा राम और अर्जुन म विशेष की प्रतिपत्ति होती होगी।

पुण्यराज के सामने भी औचिती शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ नही था। उन्होने इसके कई अभिप्राय दिए हैं। उनके अनुसार सीर (हल), असि (तलवार), मुसल शब्दो का क्रिया निरपेक्ष भी यदि प्रयोग किया जाय तो क्रमश विलेखन (जोतना) युद्ध और अवहनन (कूटना) के रूप म अर्थ का बोध समुचित क्रिया के आक्षेप से, शब्दार्थनिर्णय के रूप म, हो जाता है। अथवा प्रष्ठ आदि शब्दो का प्रवृत्तिनिमित्त पुस्त्व म होने के कारण ये पुलिङ्ग माने जाते हैं। इसम निमित्त अग्रगामित्व आदि है। प्रयोग के कारण स्त्रीत्व से इनका सम्बन्ध जोडा जाता है साक्षात् नही। पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ सूत्र म प्रष्ठ सम्बन्ध को निमित्त रूप म दिखाया गया है। अत यहाँ निमित्तत्व औचित्य है।

अथवा नीचे लिखे श्लोक पर विचार कीजिए

> यश्च निम्ब परशुना यश्चैन मधुसर्पिषा।
> यश्चैन गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव स॥

इस श्लोक म किन्ही क्रिया पदो का उल्लेख नही है। कारकपद ही औचित्य के आधार पर समुचित क्रियाओं का आक्षेप करा देते हैं और इस तरह स एक वाक्यार्थ सामने आ जाता है जिसम प्रकारान्तर वाक्यो के अर्थों का समावेश रहता है और जो अप्रस्तुत प्रशंसा (अप्रस्तुत की प्रशसा के माध्यम स प्रस्तुत की निन्दा) का उदाहरण खडा कर देता है। जैसे जो व्यक्ति नीम के पेड को टागी (कुल्हाडी) से काटता है और जो इस पर मधु तथा माला चढाता है सबके लिए वह, अपने दुर्व्यक्त स्वभाव के कारण कटु ही है उनका बुरा ही बनाता है। किसी व्यक्ति का नीच प्रकृति

---

२ [illegible] ३।१२५ हरिवृत्ति [illegible]

३ [illegible] ४।३।७६

को लक्ष्य करके यह श्लोक लिखा गया है। उसकी नीचता दिखाना ही यहां अभिप्रेत है। यह निन्दाभाव औचिती से गम्य है। यहां पुण्यराज भर्तृहरि द्वारा गृहीत औचिती के अर्थ का समर्थन कर रहे हैं। पुण्यराज ने व्याकरणशास्त्र में औचित्य को दिखाते हुए काशिका वृत्ति का एक उद्धरण दिया है

> शास्त्रे यथा पुं योगादाख्यायाम् ४।१।४८ इत्यत्रोक्त पुंसि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य समवात् पुंशब्दा एते इति।

औचित्य अथवा औचिती का अर्थ भोजराज तथा मम्मट के समय तक अवश्य कुछ बदल चुका था। स्मृति निर्भर वाला मूल अर्थ ओझल हो चुका था। भोज ने औचित्य के ये उदाहरण दिए हैं—

> औचित्याद् यथा करभोरु, शिखरिदशना पुण्डरीकमुखी। उपमेयौचित्यात् करभादिशब्दा धनुष्कोटिकुन्दकुड्मलकमलानि प्रतायन्ते। न उष्ट्रावलाग्रछत्राणि।[४]

भोज का अभिप्राय यह है कि करभ शब्द का अर्थ धनुष्कोटि और ऊंट दोनों हैं। करभोरु कहने पर औचित्य के बल पर धनुष्कोटि अर्थ निश्चित हो जाता है। इसी तरह शिखरिदशना में शिखरि का अर्थ पर्वत की चोटी न होकर, कुन्दकली है। पुण्डरीकमुखी में औचित्य से पुण्डरीक का अर्थ कमल है छत्रक नहीं है। अन्यत्र भी भोज ने औचित्य के उदाहरण में लिखा है

> सा चूर्णगौर रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरू।
> आसञ्जयामास यथा प्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥ —रघुवंश ६।८३
> अत्र प्रकृतात्पौचित्यात् करभशब्देन धनुष्कोटिग्रहणं विधीयते नोष्ट्रावयव इति।[५]

मम्मट ने औचित्य का उदाहरण दिया है पातु वो दयितामुखमिति सामुख्ये। इसके अर्थ में टीकाकारों में मतभेद है। नरसिंह, भास्करसूरि, भट्टगोपाल सोमेश्वर आदि पातु क्रिया के अनेक अर्थ स्वीकार एक में नियंत्रित करते हैं। गोविन्द ठक्कुर विद्याचक्रवर्ती, नागेश आदि ने मुख शब्द के अनेक अर्थ देकर उसका सामुख्य अर्थ में औचित्य दिखाया है। काव्यप्रकाश के किसी टीकाकार का ध्यान ऊपर उद्धृत यस्य निम्ब परशुना श्लोक पर अवश्य गया था किन्तु इसमें औचित्य वह ठीक से नहीं दिखा सका था।[६] किसी भी प्रसिद्ध टीकाकार ने औचित्य के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। सब ने उसे उचित सम्बन्ध के रूप में ही लिया है। किन्तु इस रूप में लेने पर सामर्थ्य से औचित्य का भेद बताना कठिन है। गोविन्द ठक्कुर का ध्यान इस प्रश्न पर गया था किन्तु उनका उत्तर सन्तोषजनक नहीं है

---

४ शृंगार प्रकाश पृ० ३२७
५ शृंगार प्रकाश, अध्याय ७, हस्तलेख मल्लिनाथ ने यहां करभ शब्द का अर्थ हथेली का किनारा माना है।
६ अत्रपरशुनेत्यस्य परशुकरणकच्छेदनपरत्वम्। मधुसर्पि शब्दस्य च कारणकसेचनपरत्वम्। न क्षमाल्यांभ्यांमिति यस्य तत् कारणकपूनाथत्वमाह।
वामनझलकीकर, काव्यप्रकाश टीका पृ० ६६

यद्यप्यत्रापि सामर्थ्य समवत्येव तथापि मधुनेत्यत्र ततीययेव तदबोधाभावेऽप्यौ-चितीमात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनमसकोणमिति ।[७]

देश—अर्थ यवस्था देश से भी होती है। जसे मधुराया प्राचीनादुदीचीनात नगरादागच्छति' ऐसा कहने पर नगरविशेष पाटलिपुत्र का बोध होता है। भतृहरि के समय म कुछ लाग देश शब्द से देशविशेष का अर्थ नही करते थ। उनके मत म सभवत देश सम्बन्धी औचित्य का अभिप्राय यह था कि किसी स्थान मे कोई शब्द प्रशसा वाचक है अन्य स्थान म वही शब्द उससे भिन्न अर्थ मे व्यवहृत हो सकता है। सभवत प्रौढ शब्द ऐसा ही था। कम्बोज मे शवति का प्रयोग गति अर्थ मे था आर्यावत म इसका सम्बन्ध निर्जीव से था। भोज ने भी देश भेद स अर्थभेद माना है और उदाहरण दिया है हरि अरण्ये। हरि द्वारिकायाम। हरि अमरावत्याम। यहा स्थान-भेद से हरि शब्द का क्रमश सिंह विष्णु (कृष्ण) और वासव अर्थ निश्चित हो जाता है।

काल शब्दार्थ के अवच्छेद म काल भी सहायक है। शिशिर काल म द्वार कहने स दरवाजे बन्द करने का भान होता है। ग्रीष्म काल म द्वार शब्द से दरवाजे खोलने का अर्थ भासित होता है। भतृहरि के समय म दक्षिणापथ के किसी एक प्रदेश म पूर्वाह्ण म पच्यताम कहने स वपा मिश्रित विक्लदनमय यवागू पाक का बोध होता था सध्या के समय पच्यताम कहने पर ओदन प्रधान पाक का बोध होता था। कुछ लोग इस काल का उदाहरण न मानकर प्रकरण के भीतर गृहीत करत थ। जागृहि जागृहि ऐसा दिन म कहन पर जागति का अन्य अर्थ होता था और रात म कहने पर उससे भिन्न अर्थ होता था। रात्रि म पतग शब्द कहने पर शलभ द्योतित होता था सूर्य नही।

समग विप्रयोग आदि का विवरण भतृहरि ने शब्द के नानात्व पक्ष और एकत्व पक्ष को सामने रखकर दिया है। नानात्वपक्ष म शब्द की तुल्यश्रुति होने पर भी वे स्वभावत भिन्न भिन्न माने जाते हैं। किन्तु शब्द रूप अभिन्न रहता है। ऐसी दशा म उनके अर्थ के अवच्छेद के लिए ससग आदि का आश्रय लिया जाता है। एकत्व पक्ष म अर्थ के अभिधान म शक्तियाँ भिन्न भिन्न होती हैं किन्तु श्रुति सारूप्य के कारण विभागप्राप्त नही होती हैं। निमित्त के आधार पर विशेष रूप म उनका अवच्छेद किया जाता है।

किसी आचार्य के मत म शब्दार्थ का अवच्छेदक केवल एक तत्त्व है और वह सामर्थ्य है। अर्थ प्रकरण आदि के आधार पर जिसका स्वाभाविक भेद ज्ञात होता है वह भी सामर्थ्य ही है। उसी सामर्थ्य का ससग, विप्रयोग आदि रूप म विभाग किया जाता है।

ससग ससग के आधार पर सामर्थ्य का विभाग होता है। 'धेनु आनीयताम' इस वाक्य म धेनु मात्र की प्रतीति तो होती है किन्तु विशेष धेनु की प्रतीति नही

---

७ [illegible], पृ० ६२ ([illegible])

हानी। किन्तु यदि 'सकिशोरा धेनु आनीयताम्' कहा जाय तो किशोर शब्द के समग से धेनु का अर्थ घोडी (वडवा) हो जाता है। यहा ससग अभेद ज्ञान का निमित्त है। किशोर शब्द घोडे के बछडे के लिए प्रयुक्त होता है। उसके ससग से धेनु का द्रोग्ध्री विशेष म—वडवा म—सप्रत्यय होता है। इसी तरह सवत्सा धेनु से गाय का, सवकरा से बकरी (अजा) का सकरभा धेनु से ऊन्टनी का बोध होता है। क्योंकि वत्स वकर, करभ शब्द क्रमश गाय के बछडे बकरी के बच्चे और ऊट के बच्चे के लिये प्रयुक्त होते हैं।

कृष्णकिशोरा धेनु' म जसे किशोर शब्द धेनु का विशेषाधायक है वैसे ही धेनु शब्द किशोर के अर्थ का अवच्छेदक क्यो नही होता। भर्तृहरि के अनुसार वत्स किशोर आदि शब्द विशेषण के रूप म अवच्छेदक हो जाते हैं। कृष्णधनुक किशोर के रूप म प्रतिपत्ति नही देखी जाती।

जो लोग धेनु शब्द को गाय के अर्थ म ही रूढ मानते हैं उन्हें ऐसे वाक्यो म ससग से विशेष सप्रत्यय के रूप म केवल धर्म मात्र की विवक्षा अभिप्रेत रहती है। जसे, तदस्य परिमाणम ५।१।५७, सख्याया सज्ञासघसूत्राध्ययनेषु ५।१।५८। यहाँ पञ्च एव पञ्चका शकुनय म स्वार्थ म प्रत्यय माना जाता है प्रत्यय विशेष का सप्रत्यय नही कराता है। सस्कृत म दस तक की सख्या सख्येय के अर्थ म व्यवहृत होती हैं केवल सख्यान के लिए नही व्यवहृत होती है। दस के बाद की सख्याएँ सख्यान और सख्येय दोनो के लिए आती हैं। इसलिए पञ्च शब्द से जो पक्षी वाच्य हैं वे ही पञ्चक शब्द से भी वाच्य है। इसीलिए परिमाणपरिमाणिभाव के न होने के कारण स्वार्थ म ही प्रत्यय विधान माना जाता है। कैयट के अनुसार यदि पञ्च आदि सख्याओ का वृत्ति के विषय मे सख्यामात्र म शक्ति मानी जाय परिमाणपरिमाणिभाव के आश्रय स भी प्रत्यय विधान सभव है। स्वय पाणिनि ने द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ सूत्र म द्वि और एक शब्द का द्वित्व और एकत्व मानकर ही इस शब्द का निर्देश किया है। सख्येयपरक मानने पर द्वयेकेषु ऐसा होना चाहिए था।[८]

भर्तृहरि ने ससग के शास्त्रीय उदाहरण म पाणिनि का अवाद्ग्र १।३।५१ सूत्र उद्धृत किया है। गृ धातु दो हैं। एक गृ निगरण तुदादिगण म है। दूसरी गृ शब्दे क्र्यादि गण म है। यहा अव उपसग के ससग से गृ निगरणे का ही ग्रहण होता है और अवगिरते प्रयोग बनता है। गृ शब्दे के साथ अव उपसर्ग का प्रयोग नही देखा जाता। इसलिए उसका ग्रहण नही होता। अथवा अर्थविरोध के कारण गृणाति के साथ अव का योग उपपन्न नही होता। फलत अव के ससग मे गृ धातु का गृ निगरणे के रूप में निर्णय किया जाता है

मम्मट ने ससग के स्थान पर सयोग पढा है।

विप्रयोग—ससग की तरह विप्रयोग भी शब्दार्थ निर्धारण में हेतु माना जाता है। निर्ज्ञात सम्बन्ध का वियोग से व्यपदेश देखा जाता है। जसे 'अकिशोरा धेनु

---

८ कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।१।५८

सवत्सा धेनुरानीयताम्, इस वाक्य में किशोर आदि के वियोग से विशिष्ट जाति की धेनु का बोध होता है। जिसके साथ बराबर वत्स देखा गया है उसके बिना भी उसी का ग्रहण होता है। व्याकरणशास्त्र में भी भुजोऽनवने १।३।६६ सूत्र में जिस भुज धातु का अशन (भक्षण) और अवन (पालन) दोनों अर्थ होता था उसी का ग्रहण किया जाता है।[९] कुटिलार्थक पठित कौटिल्य अर्थ वाले भुज धातु का ग्रहण नहीं किया जाता। अतः 'विभुजति जानुशिरसी' में आत्मनेपद का प्रयोग नहीं होता।

साहचर्य अर्थ का अवच्छेदक साहचर्य से भी होता है। शिला आनीयताम् इत्यादि च। शिला आनीयन्तां रामभद्र। शिला आनीयतां लक्ष्मणानुजो च। इन वाक्यों में शिला शब्द क्रमशः शिल शिली (काठ) और शाल्मक का बोधक है। रामलक्ष्मणौ राम केशवौ, युधिष्ठिरार्जुनौ जैसे शब्दों में क्रमशः राम, बलराम और पाण्डुपुत्र अर्जुन का बोध लक्ष्मण, केशव और युधिष्ठिर शब्द के साहचर्य से होता है। अतः साहचर्य भी विशेषाधायक है। राम शब्द के कई अर्थ हैं, यह व्यभिचरित शब्द है। लक्ष्मण शब्द का एक ही अर्थ है वह अदृष्टव्यभिचार है। अदृष्टव्यभिचार दृष्टव्यभिचार का अवच्छेदक साहचर्य के बल पर हो जाता है

यद्यप्येको दृष्टव्यभिचारः। तथापि अदृष्टव्यभिचारो दृष्टव्यभिचारस्य साहचर्यात् तुल्यधर्मतां प्रतिपादयति।[१०]

व्याकरणशास्त्र में भी विपराभ्यां जेः १।३।१९ सूत्र में वि और परा शब्द साहचर्य के आधार पर, उपसर्ग माने जाते हैं। यहाँ परा शब्द दृष्टापचार है वह उपसर्ग भी है अनुपसर्ग भी है। किन्तु वि अदृष्टापचार है वह उपसर्ग ही है।[११] इसलिए उपसर्ग का उपसर्ग सहायक हो जाता है।

तद् यथा गोद्वितीयेनार्थ इति गौरेवोपादीयते। नाश्वो न गर्दभ इति।[१२]

लोक में द्वितीय शब्द कहने पर जिसकी अपेक्षा से द्वितीय शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसके तुल्यजातीय का ही ज्ञान कराता है। गो द्वितीय कहने से गो (बैल) का ही ग्रहण होता है अश्व अथवा गर्दभ का नहीं होता। इसी तरह 'अन्तरान्तरेण युक्ते' २।३।४ सूत्र में अन्तरा और अन्तरेण दोनों शब्द साहचर्य के आधार पर निपात रूप में गृहीत होते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने साहचर्य का अर्थ सहचरता किया है। नागेश इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार साहचर्य का अर्थ यहाँ सादृश्य है। किसी

---

९ महाभाष्य में 'यस्य भुजेरवनमनवनं च चार्थः' ऐसा पाठ है। भर्तृहरि की वृत्ति में यहाँ 'यस्य भुजेरवनं चाशनं चार्थः' पाठ है। अवन पाठ शुद्ध है।

१० वाक्यपदीय २।३१७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

११ वे विजयति वनम्—यहाँ विशब्द उपसर्ग है किन्तु जहत्स्वार्थावृत्तिपक्ष में अनर्थक है। अजहत्स्वार्थापक्ष में भी उसके अर्थ के उपसर्जन होने से उसका ग्रहण नहीं होगा। सम्बोधनान्त वे का, रूपान्तरयुक्त होने के कारण ग्रहण नहीं होता। एकदेशविकृति के आधार पर वे को वि नहीं माना जा सकता क्योंकि वे विभक्त्यन्त वि का विकार है न कि विशब्द का।
कैयट, प्रदीप १।३।१९, पुण्यराज २।३१७

१२ महाभाष्य १।३।१९

के मन में साहचर्य प्रत्यासत्ति का उपलक्षण है।

विरोध विरोध से भी अर्थ का अवधारण होता है। रामार्जुनौ कहने से अर्जुन पद के सन्निधान से विरोध के आधार पर, राम शब्द का परशुराम अर्थ निश्चित हो जाता है।

लिङ्ग वाक्यान्तर में दृष्ट लिङ्ग से प्रसिद्ध भेद का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे 'अक्ताः शर्कराः उपदधाति' इस वाक्य में 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य के बल से शर्करा का घृत द्वारा आक्तत्व संनिधापित होता है। अंजन क्रिया का कर्म शर्करा और साधन घृत है। इसी तरह 'पशुमालभेत' इस वाक्य से पशुत्व युक्त सभी प्राणियों की संभावना होने पर 'छागस्य हविषो वपाया मेदसः' इस लिङ्ग बल से केवल छाग समवायी पशुत्व प्रतीत होता है। इन वाक्यों में बाध नहीं है। यदि घृत से अक्त अनक्त होते, यदि छाग पशु न होता तो बाध उपस्थित होता। सामान्य में न्यूनाधिक भाव नहीं होता। वह ज्यों का त्यों रहता है। लिङ्ग के बिना भी शब्द का वाच्य अर्थ जितना होता है लिङ्ग के ग्रहण होने पर भी वह उतना ही रहता है। केवल यही अन्तर होता है कि लिङ्ग के उपादान से शब्दान्तर वाच्य का अर्थान्तर में अध्यारोप होता है। किसी अर्थ के अभिधान से जितने अर्थान्तर संभव हैं वे सब शब्द के अर्थ नहीं हैं तो फिर पशु शब्द का अवच्छेद (निर्धारण) नहीं होगा। पशु शब्द की पहले पशु और पशुत्व दोनों में वृत्ति है। छागआदि भी पहले शब्दार्थ का न बाधित करते हुए स्वार्थ मात्र को लक्ष्य में आरोपित करते हैं। यह ठीक है। किन्तु समवायी विशेषण संभव न हो सकेंगे। इसलिए शब्द व्यापार के न होते हुए भी बाधाकुल होने के कारण, अवच्छेद मान लिया जाता है। अथवा पहले अर्थ का स्वरूप संसर्ग से अविशिष्ट रूप में ही सम्बद्ध होता है। दूसरे पद के सान्निध्य से उसमें विशेषता आ जाती है। यदि संसर्गज भेद से शब्द में कोई विशेषता न मानी जाय सन्निधानमात्र के अशब्द होने से अर्थ भी अशब्द मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[13] शास्त्र में लिङ्ग का उदाहरण अण् प्रत्याहार का परणकारक तत्व होता है। उद्धृत ७।४।७ में तपरकरण लिङ्ग से परणकार तत्व का निश्चय होता है।

शब्दान्तर संनिधान अर्थ विशेष की अवगति दूसरे शब्द के सन्निधान से भी होती है। जैसे अर्जुनः कार्तवीर्यः रामो जामदग्न्यः। कार्तवीर्य और जामदग्न्य शब्द के संनिधान से अर्जुन और राम शब्द का विशेष अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र में 'अक्षस्य देवनस्य' 'अक्षस्य समाख्यातनस्य' में अक्ष और अक्ष का अर्थ शब्दान्तरसंनिधान से स्पष्ट है। भर्तृहरि ने शब्दान्तर योग के उदाहरण में 'अग्निः माणवकः' गौ वाहीक का भी उल्लेख किया है। साथ ही अवच्छेद का एक दार्शनिक पीठिका भी दी है। बुद्धि में सब

---

१३ पूर्व वा अर्थरूपं संसर्गेणाविशिष्टमेव प्रक्रान्तं। तस्य पदान्तरसन्निधानात् विशेषो व्यज्यते। यदि हि संसर्गजो भेदः शब्देनानुपगृहीतः स्यात् सन्निधानमात्रस्याशब्दत्वात् अशब्दोऽर्थः प्रतिभासेत्—वाक्यपदीय २।३१८ हरिवृत्ति हस्तलेख। (यहाँ की भर्तृहरि वृत्ति के हस्तलेख में पाठ में व्यतिक्रम जान पड़ता है।)

तरह ये अर्थ समाविष्ट हैं उनमें से कुछ का निर्धारण (पृथक्करण) इन्द्रिय द्वारा होता है। इन्द्रिय जिसकी अभिलाषा रखती है उसे ही पहचानती है। इन्द्रिय की भी सवाय इच्छा अर्थ सम्बन्ध आदि के द्वारा निर्णमित होती है। किन्तु शब्द कभी युगपत् अनेक अर्थ का प्रत्यायक होता है जैसे श्वेतो धावति अलम्बुसानां याता (वाक्यपदीय २।२५२ हरिवृत्ति हेलाराज)।

सामर्थ्य सामर्थ्य से भी अर्थविशेष की प्रतिपत्ति होती है।

मधुना मत्तो कोकिलः इत्यादि वाजिन समुद्रस्य वा—इसमें किसी ने सामर्थ्य माना था। कुछ लोग यहां अर्थ का निदर्शन मानते हैं। कुछ अन्य आचार्य सामर्थ्य का उदाहरण 'मधुरेण मन्ये' में मानते हैं। यहां पर सामर्थ्य से उदरविशेष की प्रतिपत्ति गम्य है। इसी तरह अभिप्राय बन्या देया वाक्य से सामर्थ्यवश अभिरूपतराय कन्या देया इस रूप में अर्थविशेष का आभास होता है। शास्त्र में भी प्रथमा निर्दिष्ट समास उपसर्जनम् १।२।४३ सूत्र में समास शब्द की प्रवृत्ति समासार्थ शास्त्र में मानी जाती है। एक विभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४ सूत्र में जिस समास शब्द का अनुमान किया जाता है उसकी समास में प्रवृत्ति प्राथमकल्पिक ही मानी जाती है। इसी तरह अस्म-काणां (विभक्त्यर्थानाम?) सरूपे में सामर्थ्यवश कुछ कम और कुछ सारूप्य गृहीत होते हैं।

व्यक्ति लिङ्ग की पूर्वाचार्य संज्ञा व्यक्ति है। व्यक्ति भी अर्थ निर्धारण में हेतु होता है जैसे ग्रामस्यार्ध लभते इस वाक्य में अर्ध शब्द नपुंसकलिंग में है। नपुंसकलिंग वाले अर्ध शब्द का अर्थ समप्रविभाग है। अतः लिंग के बल से यहां ग्राम का आधा अर्थ स्फुट हो जाता है। पद्म पद्मा में भी लिङ्गभेद से अर्थभेद है।

स्वर स्वर भी अर्थविशेष का ज्ञान करा देते हैं। स्थूलपृषतीमालभेत वाक्य में अन्तोदात्त स्वर के श्रवण होने के कारण स्थूला चासौ पृषती च इस रूप में अर्थ की प्रतीति होती है। पूर्वपदप्रकृतिस्वर यदि दिखाई दे तो 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्' इस रूप में अन्य पदार्थ की प्रतीति होती है। इसी तरह वैपाश रूप में आदि उदात्त के होने के कारण विपाशा के उत्तर के कूप रूप में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है और अन्तोदात्त के श्रवण पर विपाशा नदी के दक्षिण के कूप की प्रतीति होती है।[१४]

आदि पद से सत्व णत्व आदि भी लिए जाते हैं। ये भी अर्थविशेष के परिज्ञान में सहायक होते हैं सुसिक्तम् अतिस्तुतम् शब्दों में सु और अति कर्मप्रवचनीय हैं और पूजा तथा अतिक्रमण के अर्थ में हैं। उपसर्ग न होने से और कर्मप्रवचनीय होने से वे अपने कर्मप्रवचनीय वाले अर्थ के द्योतक हैं। सुषिक्तम्, सुष्टुतम् शब्दों में सु उपसर्ग है इसलिए ष का मूर्धन्य आदेश है और अर्थान्तर की उपलब्धि होती है। न और ण के विधान भी अर्थ-परिच्छेद में सहायक होते हैं। प्रनायक और प्रणायक के अर्थ में भेद है। प्रनायक का अर्थ होता है वह देश जिससे नायक चला गया हो। प्रणा

---

१४ गोप्त कूप (गुप्त द्वारा निर्मित कूप) में स्वर विशेष पर ध्यान दिलाना पाणिनि की महती सूक्ष्मेक्षिका मानी जाती है। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य—काशिका ४।२।७४

यव शब्द से प्रणयन क्रिया के कर्ता की प्रतीति होती है।

नागेश ने वक्त्राद्यव्यवैशिष्ट्य प्रतिभादि को भी अर्थ निर्णय में सहायक माना है (मञ्जूषा पृ० ११२)।

सदेह के निराकरण के लिए अथवा नियत अर्थ के परिज्ञान के लिए उपर्युक्त प्रकरण आदि काम में लाए जाते हैं।

भेद पक्ष में भी भिन्न भिन्न अर्थ के होते हुए भी सादृश्य से अभेद की दशा में प्रकरण आदि का सहारा लिया जाता है। जो लोग शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध मानते हैं उनके लिए भी अर्थ प्रकरण लिङ्ग आदि के बल से सन्देह निवारण पूर्वक अर्थ की अभिव्यक्ति प्रतिपत्ता को होती है। अर्थान्तर में सम्बद्ध का अर्थान्तर में सङ्क्रमण देखा जाता है

> येषां रूप ... येन नियतसम्बन्धा लोके व्यवस्थिता इति दर्शन तेषामर्थ प्रकरणादिभि सर्वदेषामेवास्त प्रतिपत्तार प्रति प्रकाश्यते। न ह्येकस्य शब्दस्यार्थान्तरयोनित्वान्नस्यार्थान्तरे सङ्क्रान्तिरिति।[१५]

जहा नाम पद और आख्यान पद सदृश होते हैं वहा भी संदेह निवारण के लिए प्रकरण आदि की अपेक्षा होती है। केवल स्वरूप के आधार पर कार्यान्तर निबन्धन (कार्योत्साहनिबन्धन) सदृश शब्दों का अर्थ निर्णय नहीं हो सकता

> नामाख्यातसरूपा ये कार्यान्तर (कार्योत्साह) निबन्धना।
> शब्दवाक्यादच तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते ॥[१६]

जैसे अश्व और अश्व शब्द हैं। इनमें एक अश्व शब्द नाम शब्द है। दूसरा अश्व शब्द टुओश्वि धातु के लङ् लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। इसी तरह से अजापय अजापय शब्द है। एक अजापय शब्द बकरी के दूध के लिए नाम शब्द है दूसरा अजापय शब्द जि जय धातु से अजेय के जितने वाले प्रेरक की प्रयविवक्षा में किसी तरह निष्पन्न होता है। यहां सादृश्य से सन्देह होने पर प्रकरण के आधार पर अर्थ निर्णय किया जाता है। आख्यात सरूप भी नामपद होते हैं। तेन तेन। तेन शब्द तनु विस्तार धातु के लिट् लकार मध्यमपुरुष का एकवचन का रूप है। तेन सर्वनाम भी है। तस्य और यस्य की भी कुछ ऐसी कहानी वैयाकरण बताते हैं। भर्तृहरि ने नाम और आख्यात के साम्य निर्देशक शब्दों की एक छोटी सूची दे दी है। घातम घातम। अरण अरण। श्याम श्याम। अस्या अस्या। आचितम आचितम। अश्व अश्व। सम सम। हाल हाल। दुहिता दुहिता।

> ऐसे शब्दों में जिनकी स्वरूपनिबन्धना प्रवृत्ति होती है उनके लिए अर्थ प्रकरण आदि के बल से प्रविभागकल्पना की जाती है।

---

१५ वाक्यपदीय। ३२६१ हरिवृत्ति इत्यनेन

१६ वाक्यपदीय २।३२०

१७ पदान्वधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरय।
क्रमन्यूनातिरिक्तत्व स्वर वाक्य स्मृति श्रुति ॥ —श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण १८३

पद अवधारण के उपाय

वाक्य की भांति पद अवधारण के भी कुछ उपाय सोच लिए गये थे। कुमारिल ने उनमे क्रम न्यून, अतिरिक्त, स्वर, वाक्य स्मृति और श्रुति का उल्लेख किया है।[१७]

क्रम भेद से पद भेद होता है। जैसे रस और सर म वर्णसाम्य है किन्तु वर्णों के क्रम म भेद होने से रस और सर भिन्न भिन्न पद हैं। इसी तरह राजा और जार म क्रमभेद पद अवधारण का उपाय है। कर और करज, गौ और गोमान् म वर्णों का न्यून और अतिरिक्त भाव अवधारक है। इन्द्रशत्रु म स्वर के आधार पर तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि रूप म निर्णय किया जाता है। वाक्य भी पदावधारण म सहायक होता है। वाक्य से यहा अभिप्राय पदान्तर समभिव्याहार से है। 'सा रङ्गमागता नर्तकी' मे रग के समभिव्याहार से भा का अवधारण नर्तकी से होता है। 'पचत दधि' इस वाक्य म पचते क्रिया न होकर नाम है। इसका निर्णय अन्य पद के समभिव्याहार से हो जाता है। अश्व गच्छति मे अश्व शब्द नामपद है, क्रियापद नहीं है। मनुष्यत्व के समान होते हुए भी 'सोम शर्मा का पुत्र आ रहा है' इस वाक्य से ब्राह्मणत्व की स्मृति जगती है। ऐसी स्मृति भी अवधारण मे सहायक होती है। उदभिदा यजेत जैसे स्थलो म उदभिन्दति अथवा उदभेदयति इस रूप म सदेह होने पर उदभिदा म तृतीया विभक्ति के आधार पर भावनाकरणक यज् के साथ सामानाधिकरण्य के सहारे उदभेदयति (प्रकाशक) के रूप म निर्णय किया जाता है। यह श्रुति है। अथवा परमे व्योमन जैसे स्थलो मे श्रुति से पदावधारण माना जाता है।

किसी आचार्य ने अवधारण को कुछ और व्यापक आधार दिया है। उनके मत म व्याकरण, उपमान कोश, आप्तवाक्य व्यवहार वाक्य शेष विवृत्ति और सिद्ध पद का सान्निध्य—ये आठ गृहीत हैं

> शक्तिग्रह व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ॥[१८]

---

[१८] शब्दशक्ति प्रकाशिका रामभद्र टीका, पृष्ठ १०३

१०

वृत्ति-विचार

पाणिनि ने समय को पदविधि माना है। पतञ्जलि ने पदविधि के भीतर तीन विषयों को समेटा है—समास विभक्ति विधान और पराङ्गवद्भाव।

समास पदविधि है। क्योंकि परिनिष्पन्न शब्दों के विधि से उसका सम्बन्ध है। समास संज्ञा भी है। समुदाय (समी) भी समास है। समास का मूल आधार विग्रह वाक्य है। जो विग्रह भी हो और वाक्य भी हो उसे विग्रह वाक्य कहा जाता है अथवा विशेष रूप में ग्रहण को विग्रह माना जाता है। विग्रहार्थ वाक्य विग्रह वाक्य कहलाता है।

> विग्रहश्च तद वाक्यञ्चेति विग्रहवाक्यम्। अथवा विशेषण ग्रहण विग्रह।
> विग्रहार्थ मदवाक्य तद विग्रहवाक्यम। विग्रहवाक्यस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थं।
>
> न्यास २।१।१

सामान्यविहित विभक्तियों का कर्मणि द्वितीया २।३।२ आदि के द्वारा जो नियम किया जाता है उसे विभक्ति विधान कहा जाता है। इसी तरह ये पदविधि कहलाते हैं। यद्यपि एकवाक्यता के आश्रय से विभक्तियों का विधान होता है फिर भी पदान्तर सम्बन्ध से जिन विभक्तियों का विधान होता है उनके आश्रय से भी पद विधि रहता है। इसी आधार पर निरपि पद विशिरपि पद कहा जाता है। विभक्ति से अवच्छिन्न होने के कारण विशिष्टविधानकर्म सामान्यविधानक्रिया का होता है। जैसा कि कहा जाता है

> सामान्यपुर्धेरवयवपुधि कर्मेति।

पराङ्गवद्भाव तादात्म्यातिदेश का दूसरा नाम है। तन स्वभावता का नाम तादात्म्य है। सुबन्त का आमन्त्रित में अनुप्रवेश को पाणिनि ने पराङ्गवत माना है। मद्राणां राजन आदि में भी पराङ्गवद्भाव है।

उपर्युक्त तीनों पदविधि कहलाते हैं। नागेश ने पद-संपादक सभी विधि को पदविधि माना है

> केचित्तु पदोद्देशक पदस्वसंपादको वा सर्वोपि पदसम्बन्धित्वात पदविधिरवेति वदन्ति।
>
> —महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

इस तरह समस्त पदों में अथवा सम्बद्धार्थों में अथवा समुदायों में विधि को पदविधि कहा जा सकता है। इसके भीतर समास आदि आ जाते हैं। इसे वृत्ति शब्द से भी कहा जाता है। पराभिधान को वृत्ति कहते हैं (परार्थाभिधान वृत्ति—महाभाष्य २।१।१)। दूसरे शब्द का जो अर्थ होता है उसका जहाँ दूसरे शब्द से अभिधान हो, वह वृत्ति है।

वृत्तिविचार सम्बन्धी वार्तिककार के कुछ विचार

पाणिनि के समर्थ पदविधि २।१।१ सूत्र पर विचार करते हुए वार्तिककार ने एकार्थीभाव और व्यपेक्षा का सिद्धान्त स्थिर किया है।

पृथगर्थानामेकार्थीभाव समर्थवचनम् २/१/१—१।

परस्पर व्यपेक्षां सामर्थ्यमेके २/१/१—४।

एकार्थीभाव उस बात को कहते हैं जहाँ पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेते हैं अथवा छोड़ देते हैं और इस तरह व्यर्थ हो जाते हैं या अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। व्यपेक्षावाद में यह माना जाता है कि पद परस्पर साकांक्ष होते हैं। उनमें एक दूसरे की आकांक्षा रहती है

> यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभावः। परस्पराकांक्षारूपा व्यपेक्षा। —महाभाष्यप्रदीप २/१/१

वार्तिककार ने पृथक् पृथक् अर्थ वाले पदों के एकार्थीभाव होने को समर्थ माना है। वाक्य में (विग्रहवाक्य में) पद पृथक् पृथक् अर्थ वाले होते हैं जैसे, राज्ञः पुरुषः। यहाँ राज शब्द राजार्थ का ही द्योतन करता है, पुरुष शब्द पुरुष के ही अर्थ को प्रकट करता है। वृत्ति (समास) में पद एकार्थक होते हैं। जैसे राजपुरुष में राज शब्द भी पुरुष के ही अर्थ को कहता है इस तरह दोनों पदों का एकार्थीभाव होता है। अथवा अवयवार्थ से युक्त समुदायार्थ अर्थ ही प्रकट होता है। इस दृष्टि से एकार्थीभाव कहते हैं। जैसे जल और धूल मिल कर एक हो गये रहते हैं वैसी एकार्थीभाव में पदार्थ एक से हो गए रहते हैं। वाक्य में पदों में पृथगर्थता होते हुए भी पदों के आकांक्षा योग्यता वश विशेषणविशेष्यभाववश विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। वृत्ति में भी विशिष्ट अर्थ भासित होता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वृत्ति और वाक्य में नितान्त एकार्थता है। जिस तरह से ब्राह्मणानां शतं भोज्यताम् और शतं ब्राह्मणा भोज्यन्ताम् इन दोनों वाक्यों से व्यवहारगत कार्य में कोई भेद नहीं है—सौ ब्राह्मण खिलाये जाते हैं परन्तु शब्दार्थ भिन्न भिन्न है। वाक्य और वृत्ति में भी यही बात है।

एकार्थीभावकृत विशेषता के लिए दो वाक्य महाभाष्य में हैं जो कात्यायन के नहीं जान पड़ते परन्तु भाष्यकार ने उनकी व्याख्या वार्तिक की तरह की है। वे हैं—

१—सुबलोपो व्यवधानं यथेष्टमन्यतरेणाभिसम्बन्धः स्वरः।

२—संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमुपसर्जनविशेषणं च योगः॥

अर्थात् विग्रह वाक्य में विभक्ति का लोप नहीं होता। परन्तु समास में सुप्

विभक्ति का लोप होता है। जसे राज्ञ पुरुष इस वाक्य मे राजन् शब्द के आगे की विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। परन्तु राजपुरुष इस समास मे विभक्ति का लोप हो गया है। पर कुछ ऐसे भी समास होते हैं जिनमे विभक्ति का लोप नहीं होता। जसे सर्पासुज (इन्द्रगोप), गोपुचर (कुक्कुट)।

वाक्य म उसके बीच म दूसरा शब्द डाला जा सकता है। जस राज्ञ पुरुष को राज्ञ ऋद्धस्य पुरुष कह सकते है। परन्तु समस्त पद के बीच म कोई शब्द नही डाल सकते।

वाक्य के शब्दो को हम जैसे चाहे क्रम बदल कर रख सकते हैं। जस राज्ञ पुरुष का हम पुरुष राज्ञ ऐसा भी कह सकते हैं। परन्तु समास म क्रम निश्चित रहता है। राजपुरुष हो कहग राजासम्बन्धी पुरुष के अथ म पुरुषराज नहीं कह सकते।

कभी-कभी समास म भी प्रयोग अनियमित रहता है। जस जातपुत्र और पुत्र जात दानो तरह से कहते है।

वाक्य मे प्रत्यक पद का अलग अलग स्वर (उदात्त) होता है। जस राज्ञ पुरुष इसम राज्ञ और पुरुष दानो म आदि उदात्तस्वर है। परन्तु समस्त पद म एक ही उदात्तस्वर होता है असे राजपुरुष म अन्तोदात्त स्वर है।

कभी कभी वाक्य मे भी एक स्वर दिखाई दता है जस तीक्ष्णेन परशुना वृश्चन इस वाक्य मे है। और तब प्रत्ययान्त वाला एक पद भी दो उदात्तस्वर वाला होता है। जसे कर्तवै एतवै आदि।

वाक्य म संख्या विशेष का ज्ञान रहता है जैसे राज्ञ पुरुष राज्ञो पुरुष राज्ञा पुरुष इनम एकत्व द्वित्व और बहुत्व स्पष्ट जान पडता है। समास म सख्या का ठीक ज्ञान नहीं होता। राजपुरुष म एकत्व द्वित्व बहुत्व सब छिपे हैं।

कभी-कभी विशेष स्थला म समास म भी सख्या की प्रतीति होती है जस—द्विपुत्र, पचपुत्र, मासजात। मासजात मे एकत्वसख्या का भान होना है। द्विपुत्र आदि म सख्या का ज्ञान द्वि शब्द स होता है।

वाक्य म लिंगविशेष का स्पष्ट भान रहता है। परन्तु समास म उतना स्पष्ट नही होता। कुक्कुटया अण्डम, कुक्कुटस्याण्डम दोना के लिए समास मे कुक्कुटाण्डम कहेंगे। ऐसे ही मृगमासम् मगी और मग दानो के मांस के लिए।

कभी कभी वाक्य म भी लिंग की अविवक्षा देखी जाती है जस, छागस्य मासम् छाग और छागी दानो के लिए व्यवहृत।

वाक्य म वचन अपेक्षाकृत स्पष्ट रहता है। समास म उतना स्पष्ट नही होता। जसे ब्राह्मणस्य कम्बल तिष्ठति। इसका अथ स्पष्ट है। परन्तु यदि ब्राह्मणकम्बल तिष्ठति ऐसा कहे तो यह सन्देह होता है कि ब्राह्मणकम्बल यह नाम है अथवा ब्राह्मण का कम्बल यह अथ है।

कभी-कभी समास म वाक्य की अपेक्षा स्पष्टता अधिक होती है। जस अद्य पनो देवदत्तस्य की अपेक्षा अद्यपनु देवदत्तस्य अधिक स्पष्ट है।

वाक्य में प्रत्येक पद अपना विशेषण साथ रख सकता है परन्तु समास में प्रधान पद अपना विशेषण साथ नहीं रख सकता। ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः कहते हैं परन्तु इसी अर्थ में ऋद्धस्य राजपुरुषः ऐसा नहीं हो सकता।

कभी-कभी समस्त पद भी विशेषण रखते हैं जैसे देवदत्तस्य गुरुकुलम् देवदत्तस्य गुरुपुत्रः देवदत्तस्य दासभार्या आदि। परन्तु गुरुकुल दासभार्या जैसे शब्द अत्यधिक व्यवहार के कारण एक पद जैसे हो गये थे और इनका समस्त रूप प्रायः लुप्त सा हो गया था। तभी ऐसे प्रयोग बोले जाने लगे होंगे।

वाक्य में समुच्चय द्योतक च का व्यवहार बीच बीच में किया जाता है जैसे रामः गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च। परन्तु समास में एक तरह के सामूहिक अर्थ की स्वतः अभिव्यक्ति हो जाने के कारण च का प्रयोग बीच में नहीं किया जाता। जैसे राज गवाश्वपुरुषाः।

इन विशेषताओं के प्रसंग में भाष्यकार ने शब्दों द्वारा अर्थ का अभिधान स्वाभाविक है अथवा वाचनिक है के साथ साथ जहत्स्वार्थावृत्ति, अजहत्स्वार्थावृत्ति आदि पर भी विचार किया है जिससे दूसरे दर्शन भी प्रभावित हैं।

यदि वृत्ति में एकार्थीभाव नहीं स्वीकार किया जायगा तो वाक्य की तरह इसमें भी संख्याविशेष की प्रतिपत्ति विशेषणयोग आदि के रोकने के लिए उपाय करने पड़ेंगे। शब्द का स्वाभाविक रूप कभी नित्यदर्शन के आधार पर समझा जाता है कभी कार्यदर्शन के आधार पर अबुधबोधनार्थ उपस्थित किया जाता है। कार्यपक्ष में अनेक साधारण बातों के लिए नियम बनाने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए जैसा कि कैयट ने लिखा है, निष्कौशाम्बिः, गोरथः, घृतघटः, गुडधानाः, केशचूडः सुवर्णालंकारः, द्विदशाः सप्तपर्णः गोरखर आदि के लिये क्रमशः क्रान्त, युक्त पूर्ण, मिश्र, सघाविकार सुबप्रत्ययलोप वीप्सा और जातिविशेषाभिधायित्व नियम से प्रनिपाद्य हैं। नित्यदर्शन पक्ष में ये सब विशेषताएं एकार्थीभावकृत मान ली जाती हैं। इनके लिए विशेष सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त वार्तिककार ने अपने तात्पर्य में दोष निम्नलिखित वार्तिकों द्वारा भी व्यक्त किया है

तत्र नानाकारकान्निघात युष्मदस्मदादेशप्रतिषेध २।१।१—५, प्रचयें समास प्रतिषेध २।१।१—६

अव्ययीभाव प्रकरण में २।१।१० सूत्र पर वितव्यवहारे च २।१।१० १ वार्तिक वार्तिककार के लोक ज्ञान का भी द्योतक है। खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे २।१। १७ २ भी वार्तिककार के लोक ज्ञान के साथ लोक जीवन से ली गई शब्दावली के चयन को स्पष्ट कर देता है। खलेयवम् खलबुसम् लूनयवम् आदि का प्रथमान्त ही प्रयोग होता है (अर्थातिरिक्त एव प्रातिपदिकार्थे एषां प्रयोग कर्तव्य नान्यत्र—महाभाष्यप्रदीप २।२।१७)

बुसोपध्य धनधान्य पादहारक और गलचोपक इन लोक-जीवन संबंधी शब्दों की सिद्धि के लिए वार्तिककार ने वार्तिक लिखे हैं। कृतापकृतम् भुक्तविभुक्तम्, पीतविपीतम् गतप्रत्यागतम् यातानुयातम् पुटापुटिका, क्रयाक्रयिका फलाफलिका,

माना मानिन्त्रा—ये व्यवहारसिद्ध शब्द वार्तिककार द्वारा संग्रहीत और प्रतिपादित हैं।

वर्णोवर्णेन २।१।६९ के दो वार्तिक इष्टि माने जाते हैं। वे हैं—

(१) समानाधिकरणसमासाद्बहुव्रीहि कदाचित् कर्मधारय सर्वधनाद्यर्थ।

(२) पूर्वपदातिशये आतिशायिकाद् बहुव्रीहि सूक्ष्मवस्त्रतराद्यर्थ।

पहले के लिए कैयट ने इष्टि शब्द का प्रयोग किया है (वार्तिककारेणेष्टिरूपेण पठितम्—महाभाष्यप्रदीप २।१।६९) और दूसरे को भाष्यकार ने इष्टि माना है। इष्टियों पर अन्यत्र विचार किया गया है। इच्छाप्रदर्शक वाक्य को इष्टि कहते हैं।[1] इनसे सर्वधनी सर्वबीजी सर्वकेशी (नट), गौरखरवदरण्यम् कृष्णसर्पवान् वल्मीक लोहितशालिमान् ग्राम सूक्ष्मवस्त्रतर तीक्ष्ण शृंगतर बह्वाढ्यतर बहुसुकुमारतर ये शब्द सिद्ध होते हैं। यहां उपसंख्यान वार्तिक द्वारा शाकपार्थिव कुतपसौश्रुत अजातौल्वलि यष्टिमौद्गल्य —ये शाकपार्थिवादिगण के शब्द साधित हैं।

२।२।३ पर वार्तिक है—द्वितीयादीनां विभाषा प्रकरणे विभाषा वचनं ज्ञापकमवयवविधाने सामान्यविधानाभावस्य २।२।३-१ अवयवविधि में सामान्यविधि नहीं होती है। कैयट ने अवयवविधान की परिभाषा यों दी है

> सामान्याश्रयसमूहापेक्षया प्रतिनियतो विशेष एकदेशो भवतीति विशेषविषयं विधानम् अवयवविधानशब्देनोच्यते।
>
> —महाभाष्यप्रदीप २।२।३

भिनत्ति में श्नम् के स्थान श्नम् नहीं होता यह ज्ञापन का फल है। यह वार्तिककार के मत से है। वस्तुतः बाध्यबाधकभाव विरोध से होता है अथवा एकफल से होता है। यहां भिन्न देश होने के कारण विरोध नहीं है विकरणों के प्रत्यय होने के कारण एकफल का भी अभाव है। किन्तु वार्तिककार विरोध के अभाव में बाध्यबाधक नहीं मानते हैं। जैसा कि उनके श्नम् बहुजकम् नानादेशत्वादुत्सर्गाप्रतिषेध ३।३।१ २ वार्तिक से स्पष्ट है। भाष्यकार बिना विरोध के भी सामान्य विशेषविधि में बाध्य बाधकभाव मानते हैं।

षष्ठी के प्रसंग में कात्यायन ने प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का उल्लेख किया है। प्रतिपदविधाना षष्ठी के साथ समास वार्तिककार के अनुसार नहीं होता किन्तु कृद्योगा के साथ होता है। प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का अर्थ कैयट ने यों दिया है

> साक्षात् धातुकारकविशेषोपादानेन विधानात् प्रतिपदविधानेत्यर्थ। कृत् शब्दोपादानेन तु या विहिता सैव कृद्योगोच्यते।
>
> —महाभाष्यप्रदीप २।२।८

फलतः सर्पिषो ज्ञानम् में षष्ठीसमास नहीं होता परन्तु इध्मव्रश्चन पलाशशातन में

---

१ मनोरमादौ मतमेवं विभाषायाश्चिदिष्टिप्रधान इत्यादीनि इच्छाप्रदर्शकवाक्यानि इष्टय —शाय श्रीकृष्ण, परिभाषेन्दुशेखरविवरण हस्तलेख, पृ० १२ (लेखक का संग्रह)

[होता है।

तत्स्थश्च गुण २।२।८ २ वार्तिक द्वारा तत्स्थ गुणो के साथ षष्ठी समास का विधान कात्यायन ने माना है। किन्तु गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ नहीं माना है। तत्स्थ गुण से अभिप्राय उस गुण से है जो द्रव्य में अलग स्वतन्त्र रूप में व्यवहृत होता है द्रव्य के उपरञ्जक के रूप में नहीं। जैसे चन्दनस्य गन्ध चन्दनगन्ध। कपित्थस्य रस कपित्थरस। इन उदाहरणो में गुण और गुणी में वैयधिकरण्य है, सामानाधिकरण्य नहीं है। अर्थात् हम सदा चन्दनस्य गन्ध ऐसा ही कहते हैं चन्दन गन्ध ऐसा नहीं कहते। यद्यपि गुण के द्रव्याश्रित होने के कारण पूर्णरूप से उसका अपने आप में अवस्थान (तत्स्थभाव) नहीं सम्भव है फिर भी द्रव्य के उपरञ्जक के रूप में व्यवहृत न होकर जहाँ वह प्रधानरूप से व्यवहृत होता है वहां द्रव्य से पृथक् सत्ता रखता हुआ सा जान पड़ता है और इस दृष्टि से ही वह तत्स्थ कहा जाता है। काकस्य कार्ष्ण्यम् में यद्यपि गुण तत्स्थ है फिर भी शुक्ल पट आदि में गुण गुणी में अभेद मानने से द्रव्य का उपरञ्जक भी होता है। शुक्ल शब्द के द्रव्य में अर्थ में व्यक्त होने पर ही उससे भाव में प्रत्यय होता है। अतः वह शुक्ल गुण तत्स्थ नहीं है। यद्यपि शुक्ल और शौक्ल्य में भेद है फिर भी अर्थ की दृष्टि से तत्स्थता मानी जाती है। शब्द में भेद होते हुए भी अर्थ में भेद न होने के कारण शुक्ल गुण में तत्स्थता नहीं है। रूपवान् पट जैसे स्थलों में मत्वर्थीय प्रत्यय के भेद के द्योतक होने के कारण गुण गुणी में अभेद का आरोप नहीं होता। फलतः रूप में तत्स्थत्व रह जाता है और समास होकर पटरूपम् प्रयोग बनता है।

किन्तु वार्तिककार के अनुसार गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं होता। जैसे घृतस्य तीव्रो गन्ध। चन्दनस्य मृदु गन्ध। इन वाक्यों में तीव्र और मृदु गन्ध के विशेषण हैं। इसलिए इनके साथ समास नहीं हुआ है। यद्यपि घृत का सम्बन्ध गन्ध से है न कि तीव्र या मृदु से। अतः असामर्थ्य के कारण इन शब्दों के समास की प्राप्ति ही नहीं होनी चाहिए परन्तु प्रकरणवश कभी-कभी तीव्र शब्द भी तीव्रगन्ध का बोधक हो जाता है। उस अवस्था में समास की प्राप्ति हो सकती है। अतः कात्यायन ने न तु तद् विशेषण कह कर उसका निषेध किया है।

२।२।२४ सूत्र पर सामान्याभिधान विशेषानभिधानम् २।२।२४ ६ और विशेषपर्यायाभिधान द्रव्यस्य लिङ्गसंख्योपचारानुपपत्ति २।२।२४ ७ वार्तिककार के दार्शनिक विवेचन शब्दों का स्पष्ट करते हैं। उच्चमुख उष्ट्रमुख वज्रचूर्ण प्रपण प्रमाय जैसे शब्दों के समास पर अभिधान और अनभिधान नाना दृष्टियों से वार्तिककार ने विचार किया है।

चार्थे द्वन्द्व २/२/२९ पर के वार्तिकों में वार्तिककार का युगपदधिकरणवाद उल्लेखनीय है। अहरहर्नयमानो गामश्व पुरुष पशुम् में द्वन्द्व के अभाव के लिए वार्तिककार ने कहा है—सिद्ध तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात् २/२/२९ १। एक एक शब्द के साथ जब समुच्चय अभिप्रेत होता है द्वन्द्व होता है। इसी को युगपदधिकरणतावाद कहते हैं। ग्राम अन्य आदि वाक्य में पदार्थ परस्पर निरपेक्ष है। वे स्वतन्त्र रूप में

भिन्न भिन्न शब्दों से प्रत्याय्य हैं। अन्न युगपदधिकरणता के न होने से द्वंद्व समास वहां नहीं होता है। इस तरह सहविवक्षा में द्वन्द्व होता है। अभिधानक्रम से अभिधेय क्रम अवश्यभावी होता है पर तु इससे युगपदधिकरणतावाद का प्रत्याख्यान नहीं होता। प्लक्षन्यग्रोधौ धवखदिरपलाशा जैसे स्थलों में न्यग्रोधार्थ की प्रतिपत्ति के समय प्लक्षार्थ का अनुभूति न हो पलाशार्थ की प्रतिपत्ति के काल में यदि धव आदि के अर्थ का आभास न हो तो न्यग्रोध और पलाश शब्दों में एकार्थता आ जाय। फलत उनसे द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। अत द्विवचन और बहुवचन की अन्यथानुपपत्ति के कारण एक शब्द भी अनेकार्थ है ऐसा अनुमान करते हैं और इस अनुमान से युगपदवाचिता का निश्चय होता है। अत वार्तिककार ने कहा

शब्दपौर्वापर्यप्रयोगादर्थपौर्वापर्याभिधानमितिचेद द्विवचनबहुवचनानुपपत्ति ।

—२/२/२९ ५

समुदाय का उदभूतावयवभेद मानकर समुदायाश्रय एकवचन हो जायगा ऐसा भी नहीं कह सकते। साहचर्य अर्थान्तर अभिधान में हेतु होता है। प्रकरण विस्तार से अवस्थान जैसे प्लक्ष में है वैसे न्यग्रोध में भी है उसका वह स्वार्थ ही है—**कारणाद द्रव्ये शब्दनिवेश इति चेत तुल्यकारणत्वात सिद्धम**—२/२/२९ १०। इस तरह से अतिप्रसंग नहीं होगा। वत्ति के विषय में शब्दों के शक्ति वैचित्र्य से अर्थान्तर अभिधान होता है सर्वत्र नहीं होता। इतरेतर सन्निधान से परस्पर में एक शक्ति का प्राविर्भाव होता है और इसलिए परस्पराभिधान भी शब्दों का नियतविषय ही होता है। अभिधान स्वाभाविक होता है। इस तरह कई वार्तिकों द्वारा कात्यायन ने युगपद धिकरणतावाद की पुष्टि की है। भाष्यकार इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह वाद कठिन और दुस्साध्य है

इय युगपदधिकरणवचनता नाम दु खा च दुरुपपादा च ।

—महाभाष्य २/२/२९, भाग—१ पृष्ठ ४,४ कीलहार्न सस्करण।

चार्थ में च से समुच्चय, अन्वाचय इतरेतरयोग और समाहार—इन सब का ग्रहण होता है।

काशिका के अनुसार अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय है। अनेक क्रियाओं की चीयमानता समुच्चय है। समभिहार और समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार पौन पुन्य या भृशार्थ होता है किन्तु वह एक ही क्रिया का होता है जब कि समुच्चय अनेक क्रियाओं का होता है। न्यासकार के अनुसार समुच्चिति समुच्चय है। किसी एक साधन अथवा किसी एक क्रिया के प्रति अनेक साधनों अथवा क्रियाओं का अपने स्व रूपभेद के साथ चीयमानता या अनेकता समुच्चय है और वह तुल्यबलों का तथा अनियत क्रमयौगपद्य का होता है। कैयट के अनुसार परस्पर निरपेक्ष पदार्थ जब च द्वारा क्रिया में जोड़ जाते हैं तब च का अर्थ समुच्चय होता है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार परस्पर निरपेक्ष अनेकों का किसी एक सम्बन्धी में अन्वय समुच्चय कहलाता है। अहरह नयमानो गामश्व पुरुष पशु म एक ही नयते क्रिया में गो अश्व आदि

सबका समुच्चय है।[1] पुण्यराज के अनुसार अविरोधी तुल्यबल वालों का समुच्चय होता है जैसे देवदत्त भोजय, लवणेन, सर्पिषा शाकेन च।[2]

जब एक की प्रधानता होती है और दूसरे की आनुषंगिता होती है तब अन्वाचय होता है। जैसे भिक्षामट गां चानय।

इतरेतरयोग परस्परसापेक्ष अनेकों का एक अर्थ में समन्वय से होता है। मिलितों का अन्वय इतरेतरयोग है। जैसे देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कार्यं कर्तव्यम्। देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों उस कार्य के प्रति परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि उनमें से एक के भी न रहने पर काम नहीं किया जाता है।

समाहार समुच्चय का ही एक भेद है। इसमें भी परस्पर सापेक्षता होती है किन्तु अवयवभेद तिरोहित रहते हैं और सहति प्रधान होती है। जैसे छत्रोपानहम्। किसी क्रिया में दोनों की परस्पर सापेक्षता है सहतिप्रधान होने के कारण एकवचन है। समूह भी समाहार कहा जाता है। इसकी व्युत्पत्ति कैयट आदि ने अनेक प्रकार से की है जैसे

समाहरणं समाहारः समाह्रियत इति समाहारः समाह्रियमाणार्थः समाहारः (महाभाष्यप्रदीप २।१।२०)। समस्यार्थीकरणं समाहारः।

—महाभाष्य २/१/५१

समाहारो हि समूहः। स च भिन्नार्थानामेकैककालानां भवति। बुद्ध्या युगपदर्थानां परिग्रहादेककालत्वम्।

— न्यास २/१/५१

सामान्य और विशेष का समुच्चय नहीं होता। सामान्य और विशेष का द्वन्द्व समास नहीं होता। इसमें कारण अनभिधान है। लोक में वृक्षधवम् ऐसा नहीं कहते। धव शब्द से ही वृक्ष शब्द का अर्थ अवगत हो जाता है। गोबलीवर्द जैसे शब्द में गो शब्द की वृत्ति स्त्रीगवी में समझनी चाहिए। इस तरह ये दोनों शब्द विशेषवाची हो जाते हैं।

विशेषण विशेष्यभाव—वार्तिककार ने विशेषण विशेष्यभाव पर विशेष प्रकाश डाला है विशेषण विशेष्ययोरुभयविशेषणत्वादुभयोश्च विशेष्यत्वादुपसर्जनाप्रसिद्धि २।१।५७—१। वार्तिक में विशेषण विशेष्य में दोनों के विशेषण और दोनों के विशेष्य होने की संभावना व्यक्त की गई है। कृष्णतिल शब्द में कृष्ण शब्द तिल शब्द से जुड़कर विशेषण होता है। तिल शब्द के रंगों के तिल का बाधक है। कृष्ण शब्द तिल के अन्य रंगों से उसका परिच्छेद कर केवल कृष्णरंग में उसे सीमित कर देता है। अतः कृष्णतिल शब्द में परिच्छेदक होने के कारण कृष्ण शब्द विशेषण और परिच्छेद्य होने के कारण तिल शब्द विशेष्य है। इसी तरह कृष्णतिल शब्द में केवल कृष्ण शब्द के उच्चारण से भ्रमर कोकिल आदि कृष्णद्रव्यों का बोध होता है। तिल शब्द के साहचर्य

---

[1] शब्दकौस्तुभ । १२१
[2] पुण्यराज वाक्यपदीय २।८८, टीका।

से तिल मे ही उसका नियमन हो जाता है। अत कृष्णशब्द विशेष्य और तिल शब्द विशेषण हो जाता है। इसके समाधान म दूसरे वार्तिक म लिया है—न वाऽपलरस्य प्रधानभावात्तद्विशेषकत्वाच्चापरस्योपसर्जनप्रसिद्धि २।१।५७ २। दोनो म स एक प्रधान होता है। दूसरा उसका विशेषण होता है। जब तिल की प्रधान रूप म विवक्षा होती है और कृष्ण की विशेषक रूप म, तब तिल शब्द प्रधान होता है और कृष्ण विशेषण होता है। तिल द्रव्य रूप है क्रिया की सिद्धि म साक्षात उपयोगी है। इसलिए उनकी प्रधानता है। कृष्ण गुण है। वह द्रव्य के सहारे ही क्रिया म उपयोगी हो सकता है इसलिए वह तिल का विशेषण हो जाता है। गुण और द्रव्य म द्रव्य की ही प्रधानता मानी जाती है। यहा यह कहा जाता है कि तिल शब्द जातिवाची है न कि द्रव्य वाची। यदि जातिविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण उस द्रव्यवाची मानते है तो कृष्ण शब्द भी गुणविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण द्रव्यवाची है। इस तरह इन दोनो म कोई विशेषता नही है। इसके समाधान म कहा जाता है कि उत्पत्ति से लेकर नाश पर्यन्त जाति द्रव्य को नही छोडती है। शब्द म जाति-व्यतिरिक्त द्रव्य का भान नही होता। सदा गौ शाबलेय ऐसा कहा जाता है न कि शाबलेयस्य गौ। इसलिए जात्यात्मक ही द्रव्य की प्रतीति होती है अतएव जाति शब्द द्रव्यवाची के रूप म प्रतिष्ठित होता है। गुण ऐसे नही है। गुण उपायी और अपायी दोनो होते हैं। द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप म भी स्व शब्द से गुण का प्रत्यायन होता है। जैसे पटस्य शुक्ल म। इसलिए द्रव्य की गुणात्मकता नही है। फलत गुण शब्द को द्रव्यवाची के रूप म प्रतिष्ठा नही हो सकती। जहा दोनो प्रधान शब्द एक अर्थ के लिए एक साथ प्रयुक्त होते है उनम विशेष्यविशेषणभाव कैसे होगा ? वृक्ष शिशपा म विशेष्यविशेषण अथवा प्रधान अप्रधान की व्यवस्था कसे होगी ? महाभाष्यकार के अनुसार इस तरह के दो शब्दो का एकत्र समावेश आवश्यक नही है। पहले विशेष शिशपा के प्रयोग स उस शब्द स वृक्ष विशेष की ही उपस्थिति होती है विशेष का सामान्य म अव्यभिचार होने के कारण शिशपा के बाद वृक्ष शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही रह जाती। यदि पहले वृक्ष इस रूप म सामान्य का ग्रहण हो बाद म उसकी विशेषता के लिए शिशपा शब्द का प्रयोग हो तो शिशपा शब्द विशेषण का काम करेगा और शिशपा-वृक्ष ऐसा प्रयोग सभव हो सकेगा। कुछ लोग मानते हैं कि शिशपा के प्रथम उपात्त होने पर भी शिशपा फल स शिशपावृक्ष के व्यवच्छेद के लिए वृक्ष शब्द का प्रयोग वृक्ष को शिशपा का विशेषण बना देता है और इस तरह वृक्षशिशपा प्रयोग भी होना चाहिए। परन्तु कैयट के अनुसार यह मत उपयुक्त नही है। वृक्ष और शिशपा म वृक्ष व्यापक है उसम महाविषयता है दूर स पहले उसी की उपलब्धि होती है अत वृक्ष शब्द ही विशेष्य है। शिशपा म स्वल्पविषयता है उसका ग्रहण बाद म होना है और वह शुक्ल आदि गुणतुल्य है। अत वह विशेषण ही माना जायगा। गुण और द्रव्य के समभिव्याहार म द्रव्य की प्रधानता होती है केवल यही नियम नही है अपितु व्याप्यव्यापकजातिसमभिव्याहार म व्यापक विशेष्य होता है यह भी नियम है।

नञ् विचार

पतंजलि ने प्रश्न उठाया था कि अब्राह्मणमानय जैसे वाक्यों में नञ् में किस पदार्थ की प्रधानता व्यक्त होती है। यहाँ तीन विकल्प संभव हैं। अन्यपदार्थप्रधान, पूर्वपदप्रधान और उत्तरपदप्रधान। यदि ब्राह्मण शब्द की वृत्ति जाति में मानी जाय और अब्राह्मण का अर्थ यह किया जाय कि जिसमें ब्राह्मणत्व न हो उसे क्षत्रिय आदि तो यह नञ् अन्य पदार्थ प्रधान होगा। यदि नञ् की वृत्ति दूसरे सामान्य में मानी जाय और अब्राह्मण शब्द का अर्थ किया जाय कि जिसमें ब्राह्मणत्व न हो किन्तु ब्राह्मणेतर रूप में हो अर्थात् क्षत्रिय आदि तो पूर्वपदार्थप्रधान नञ् होगा। यदि ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्षत्रिय आदि के लिए मिथ्याज्ञान के कारण अथवा दुराग्रह के कारण हो और ब्राह्मण पदार्थ की स्वाभाविकी निवृत्ति द्योतित हो तो नञ् समास उत्तरपदार्थप्रधान माना जायगा।

अवर्षा हेमन्त शब्द से न वर्षा अथवा हेमन्त, वर्षास्विव हेमन्त है यह अर्थ होता है। हेमन्त में नीहार आदि से वैसा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है जैसा कि वर्षा से। यहाँ उपमानोपमेय भाव भी छिपा हुआ है और इसके साथ अन्य पदार्थ का बोध होता है। अवर्षा का अर्थ अविद्यमाना वर्षा वर्षात्व यस्य इस विग्रह की स्थिति में अन्य पदार्थ नहीं आता। ऐसा मानने पर उपसर्जन ह्रस्व की प्राप्ति होगी। इसलिए नञ् समास उपमा को छिपाए हुए प्रक्रिया दशा में अन्य पदार्थ प्रधान होते हैं—ऐसा कुछ लोगों का विचार है।

अन्य विचारक अन्यपदार्थत्व की उपपत्ति दूसरे ढंग से करते हैं। जातिपदार्थ पक्ष में ब्राह्मण आदि शब्द मुख्य रूप में व्यक्तिनिरपेक्ष जाति के अभिधायक होते हैं द्रव्य के अभिधायक नहीं होते। नञ् समास के द्वारा द्रव्य की अभिव्यक्ति होती है और इस आधार पर अन्य पदार्थप्रधान वह माना जाता है। अब्राह्मण शब्द में नहीं है ब्राह्मण्य जिसमें अर्थात् ब्राह्मण से अन्य क्षत्रियादि का बोध होता है। ब्राह्मणत्व जाति का जहाँ आश्रयत्व संभावित है वहीं निषेध होता है अत्यन्त विजातीय में—क्षत्रिय आदि में निषेध नहीं होता, फलतः क्षत्रिय आदि द्रव्य ही अन्य पदार्थ है। ऐसा मानने पर बहुव्रीहि और नञ् समास का विषयविभाग भी उपपन्न होता है। अगरयमश्व अविद्यमाना गावो यस्यत्ययगुरयमश्व—यहाँ बहुव्रीहि समास है। अविद्यमाना गौ गौत्वमस्याश्वस्य सोऽयमगौरश्व इस रूप में नञ् समास होगा। बहुव्रीहि समास मत्वर्थ में होगा जबकि नञ् समास उत्तरपदार्थ विजातीय की स्वभावतः अभिव्यक्त करेगा। इस रूप में इनमें विषयविभाग रहेगा।

यदि नञ् समास को अन्य पदार्थ प्रधान माना जायगा अवर्षा हेमन्त में हेमन्त शब्द के लिंग और वचन की प्राप्ति अवर्षा शब्द में भी होगी।

यदि पूर्वपदार्थ प्रधान माना जायगा अव्यय संज्ञा की प्राप्ति होगी। यदि अव्यय में नञ् समास पाठ के अभाव में अव्यय संज्ञा नहीं भी हो लिंग और संख्या योग की उपपत्ति भी स्वाभाविक शक्ति के आधार पर हो जायगी। शब्द शक्ति के

स्वभाववश नञ विग्रह वाक्य में असत्त्व रूप अर्थ को व्यक्त करता है। अथवा आश्रय के आधार पर भी लिंग योग हो जायगा। किन्तु इस पक्ष में फिर भी दोष है। यदि स्वाभाविक दर्शन का आश्रय लिया जायगा तो नञ द्वारा अव्ययीभाव के अपवाद होने से अमक्षिकम आदि की सिद्धि न होगी। असवर्ण, असं आदि उपपन्न न हो सकेंगे। यदि उत्तर पदार्थ प्रधान का आश्रय लिया जायगा 'अब्राह्मणमानय' कहने से ब्राह्मणमात्र के लाभ की आशंका होगी। महाभाष्यकार ने नञ को निवृत्त पदार्थक मानकर उपयुक्त दोष का परिहार कर उत्तरपदार्थ प्रधानता का समर्थन किया है। निवृत्तपदार्थक का अर्थ कयट के अनुसार, पदार्थ की निवृत्ति, मुख्य ब्राह्मण्य की निवृत्ति में है। कौण्डभट्ट के अनुसार निवृत्तपदार्थक अभावार्थक हैं। कयट के अनुसार स्वाभाविक निवृत्त दर्शन पक्ष में नञ से पदार्थ की निवृत्ति से तात्पर्य पदार्थ प्रत्यय से है। पदार्थ प्रत्यय ही उपचार से पदार्थ शब्द से व्यक्त किया जाता है। जैसे सिंहमध्यापयेत वाक्य में सिंह शब्द से माणवक का बोध होता है। अभिप्राय यह है कि जब केवल ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है, प्रसिद्धि वश वह मुख्य ब्राह्मण अर्थ का ही प्रत्यायक होता है। किन्तु नञ पूर्वक प्रयोग से अब्राह्मण शब्द के व्यवहार से—ब्राह्मण शब्द की निवृत्त-पदार्थकता की प्रतीति होती है। प्रतिष्ठते में तिष्ठति क्रिया गति का बोध कराती है किन्तु केवल तिष्ठति से प्रस्थान न करने का बोध होता है। प्र उपसर्ग के साथ तिष्ठति के व्यवहार में ही प्रस्थान का बोध होता है। इसी तरह से नञ द्योतक का काम करता है। इसके प्रयोग से पदार्थ की निवृत्ति द्योतित होती है। पदार्थ शब्द में उपचार के सहारे पदार्थ प्रत्यय अवगत होता है। महाभाष्यकार ने निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए कील प्रतिकील का उदाहरण दिया है। महान कील से छोटी कील उखाड़ दी जाती है। इसी तरह नञ के प्रयोग करने पर वह पदार्थों की निवृत्ति करती है। यदि यह निवृत्ति वाचनिकी मानी जायगी वचन न कहने से ही सब तरह के निषेध सम्पन्न हो जायगे। शत्रु को हराने के लिए सेना रखने की आवश्यकता न होगी। केवल न कहने से वे हट जायगे। यदि स्वाभाविकी निवृत्ति मानी जाय तो नञ की चरितार्थता ही क्या होगी। इसलिए निवृत्ति तो स्वाभाविकी मानी जाती है किन्तु उसकी उपलब्धि वाचनिकी होती है। जैसे दीप अंधेरे में वस्तु का निरूपक होता है निवर्तक नहीं। ब्राह्मण शब्द के प्रयोग से ब्राह्मण पदार्थ की निवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। समुदाय के लिए व्यवहृत होने वाले शब्द उसके एक देश के लिए भी व्यवहृत होते हैं। एक देश के विभाग से समुदाय की निवृत्ति भी कही जाती है और एकदेश एकभाग के होने पर भी सम्पूर्ण समुदाय की सत्ता अवगत होती है। पूर्वे पञ्चाला तैल भुक्त जैसे स्थलों में अवयव में समुदाय के आरोप से शब्द प्रवृत्ति होती है

> अवयवे समुदायरूपारोपात शब्दप्रवृत्ति विज्ञेया। न तु शब्द स्वार्थ परित्यज्यार्थान्तर वक्तुम समर्थ, न दारासम्बन्धस्यानित्यता प्रसंगात।
>
> —कयट महाभाष्यप्रदीप २।२।६

अब्राह्मण शब्द से निवृत्ति के अर्थ के लिए महाभाष्यकार ने गुण और जाति दोनों का सहारा लिया है। किसी विशेष चिह्न या रूप से किसी को कोई ब्राह्मण सम-

भता है यदि म उस भाग होता है वह ब्राह्मण नहीं है। यहां अथ की निवृत्ति गुण के आधार पर है। इसी तरह जाति के आधार पर प्रवृत्ति और गुण निवृत्ति जाति परक निवृत्ति है। इस स्थल पर ब्राह्मण ··· की प्रवृत्ति ······ म होती है जाति के आधार पर अथ की निवृत्ति होती है। नञ के सम्बन्ध म धमकीर्ति की निम्नलिखित कारिका प्रसिद्ध है

सतां च न निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थ प्रलय गत ॥

इसका तात्पय यह है कि जो सत है वह सत सत है उसका निषेध नहीं हो सकता। जो असत है वह असत् है, उसका निषध करना न करना बराबर है। और इस दृष्टि स नञथ का कोई स्थान नहीं है।

नागेश ने इस आक्षेप का उत्तर बौद्ध ··· और बौद्ध अथ के आधार पर दिया है। बुद्धि म अवस्थित अथ का भी नञ के द्वारा बाह्यसता के रूप म निषेध सभव है।

निवृत्ति के प्रसग म महाभाष्य म प्रसज्यप्रतिषेध का सकेत है

प्रसज्याय क्रियागुणौ तत पश्चात निवृत्ति करोति।[1]

प्रसग स यहां पयुदास भी झलक आता है जसा कि कयट ने लिखा है

पयुदासे तु ब्राह्मणादिसदृश्यायुक्त एवानेकाश्वस्याथ ।[2]

प्रसज्य प्रतिषेध का महाभाष्यकार के मत म क्रिया और गुण के साथ सबध होता है। न न एक प्रियम' न न एक सवम म गुण के साथ सम्बध है। असूय पश्या' म क्रिया के साथ नञ का सम्बध है। ऐसी तरह अनचि च ८।४।४७ म क्रिया के साथ नञ का सम्बन्ध है। प्रसज्य प्रतिषेध समस्त म भी होता है असमस्त म भी होता है। समस्त का उदाहरण अभानुभेद्य तम है असमस्त का उदाहरण गह घटो नास्ति है। नागेश के अनुसार असमस्त रूप म प्रसज्यप्रतिषेध का अथ अत्यन्ताभाव ह। असमस्त रूप म उसका अथ अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ह। प्रागभाव और प्रध्वसाभाव नञ स द्योत्य होते है।

पयुदास सदृशग्राही माना जाता ह। निषेध की प्रतीति अथ जन्य होती ह। कोई इस आहायज्ञान के रूप म भी स्वीकार करत है। पयुदास प्राय समस्त म ही होता ह। कहीं कहीं समास के विकल्प म असमास म भी देखा जाता ह।

नञ के ■ अथ के विषय मे निम्नलिखित कारिका प्रचलित ह

तत्सादृश्यमभावश्च तद यत्व तदल्पता।
अप्राशस्त्य विरोधश्च नञर्था षट प्रकल्पिता ।[3]

भोज न न नञथ द्वारा उत्तरपदाथ की विशेषता उत्तरपदाथ द्वारा नञथ की

---

१ महाभाष्य २।२।६
२ महाभाष्य प्रदीपोद्योत २ ।६
३ मजूषा पृ०, ६६८

विशेषता दोनों द्वारा अन्यपदार्थ की विशेषता के आधार पर नञ्‌ के तीन घटक दिए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(क) अत्यन्ताभाव—जैसे अरूपो वायु ।
अनत्यन्ताभाव—जैसे, अनुदरा कन्या ।
अन्यतराभाव—अकिंचन पुमान ।
तादात्म्याभाव—अपिशाच कुड्य ।
संसर्गाभाव—अघट भूतलम ।
प्रध्वंसाभाव—अनङ्ग काम ।

(ख) प्रागभाव—अनुत्पन्नो घट ।
सामर्थ्याभाव—अप्रघण्य सुमन ।
अव्यवस्थनाभाव—असूपित कान्त ।
इतरेतराभाव—अवपा हमत ।
सत्ताभाव—असत पतिवियाणम ।
भावाभाव—अनुदभिन्न प्रवास ।

(ग) तदभाव—अनय ।
तदन्य—अनग्नि ।
तत्सदृश—अब्राह्मण ।
तद्विरुद्ध—असित ।
तदपकृष्ट—अमनुष्य ।
तदुत्कृष्ट—अमानुष ।

नञ्‌ अन्यपदार्थ म कभी व्यवस्थित होते हैं कभी सम्बन्धित होते हैं । अनुदरा कन्या अलोमिका एडका आदि म व्यवस्थित माने जाते हैं । अनेक[४] अनक, अजन्मा आदि म सम्बन्धित माने जाते हैं ।

कुछ लोग निम्नलिखित चार को असमर्थ समास म परिगणित मानते हैं कुछ इनमें भी समुदाय म विभक्तिविशेष की प्रतिपत्ति दिखाते हैं

अश्राद्ध भोजी ब्राह्मण ।
असूर्य पश्या राजदारा ।
अलवणभोजी भिक्षु ।
अपुनर्गेया श्लोका ।

महाभाष्य म निम्नलिखित असमर्थसमास नञ्‌ समास का उल्लेख है जो संस्कृत की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग हैं । किन्तु उन दिनों लोक म व्यवहृत होते थे ।

---

४ नागेश न अनेक शब्द को असाधु माना है—एक अनेक इति बहुव्रीहिसमासे वर्तते बोध्यमिति मंजूषायां विस्तर ।

—व्याकरणसिद्धान्तवाचे भाग १ पृ० १७८
गुरुप्रसाद शास्त्री स०

और इसी आधार पर द्वारा उल्लेख महाभाष्यकार ने किया है—

अविज्ञिरा कुर्वाणम।
अमाण हरमाणम।
अगाधात् उत्कृष्टम्।

इनका शुद्ध रूप क्रमश या है—विचिन्व अकुर्वाणम् मापम अहरमाणम गाधात् अनुत्कृष्टम्। किन्तु लोक व्यवहार म विचिद अकुर्वाणम के स्थान पर अविचित कुर्वाणम शब्द चल पडा था और लोग बोलने वाले नञ समास के रूप म ही बोलते थे।

कयट ने स्पष्ट किया है कि य प्रयोग गावी गोणी आदि की तरह असाधु है किन्तु लोक व्यवहार म इनके प्रयोग देख जाते हैं

गा यादिवदसाधुरपि समस्तत्वाभिमतो लोके प्रयुज्यते।

—महाभाष्यप्रदीप २।१।१

भाषाविज्ञान की दृष्टि से य प्रयोग वस्तुत महत्त्वपूर्ण हैं। य केवल मिथ्यासादृश्य के सिद्धान्त के ही उदाहरण नहीं हैं अपितु इस बात के भी द्योतक हैं कि साधुता असाधुता का निर्णायक लोक है। अन्यथा महाभाष्य जस ग्रन्थ म इनका कोई स्थान नहीं होना चाहिए था।

भाव विचार

पाणिनि न तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११६ द्वारा भाव म त्व और तल प्रत्यय का विधान किया है। शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त भाव शब्द स कहा जाता है। कात्यायन के इस सूत्र पर के दो वार्तिक व्याकरण दर्शन की दृष्टि स बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। व हैं—

(१) सिद्ध तु यस्य गुणस्य भावाद द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ ५।१।११६ ५

(२) यद्वा सर्वे भावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषा भावस्तदभिधाने ५।१।११६ ६

गुण शब्द यहा विशेषण अर्थ म है। द्रव्य विशेष्य है। जिस विशेषण की सत्ता स विशेष्य म शब्द का प्रवृत्ति होती है उसके अभिधान म त्व और तल प्रत्यय होते हैं—यह प्रथम वार्तिक का शब्दार्थ है।

वार्तिक म गुण शब्द स जो कुछ पराश्रय है भेदक है जसे जाति आदि वे सभी यहा गृहीत है। भावात शब्द का अर्थ विद्यमान होने से है। द्रव्य शब्द से विशेष्यभूत सत्वभावापन्न अर्थ अभिप्रेत है। शब्दनिवेश का अर्थ शब्द की प्रवृत्ति है। शब्द से वाच्य अथवा अवाच्य जिस गुण के भाव स द्रव्य म शब्द की प्रवृत्ति होती है वह त्व और तल स अभिधेय है। गुणमात्र वृत्ति वाले रूपादि शब्दों स गुण समवायी सामान्य म भाव प्रत्यय होता है जसे रूपत्वम। शुक्ल आदि शब्द जो गुण और गुणी म अभेद के कारण अथवा मतुप के लोप के कारण गुण और गुणी उभय वृत्ति हैं उन गुणवाचक शब्दों स गुण समवायी सामान्य म भावप्रत्यय होता है और गुणीवाचक

से गुण में प्रत्यय होता है। अणु, महत्, दीर्घ आदि गुणवाचक शब्द केवल परिमाण में न होकर नित्य परिमाणों में रहते हैं इस लिए उनसे परिमाण गुण में भाव प्रत्यय होता है। षत्व णत्व आदि में प्रत्यय भिन्न वर्ण व्यक्ति में समवेत सामान्य विशेष में होते हैं। वर्णों में भेद उच्चारण भेद के कारण अथवा औपाधिक हो सकता है। गो आदि जब केवल जातिवाचक हैं तब उनसे भावप्रत्यय शब्द स्वरूप के अर्थ में होता है। अर्थ रूप जाति में शब्द के स्वरूप का अध्यास किया जाता है जो गो शब्द है वही अर्थ है इस रूप में। अतः शब्द स्वरूप ही ऐसे शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त हैं। जितने यदृच्छा शब्द हैं उनमें जाति इसी पद्धति से सिद्ध की जाती है। व्याकरण दर्शन एक व्यक्ति में भी जाति की सत्ता मानता है। शब्द के उच्चारण भेद से शब्द में अनेकता में एकत्व की सिद्धि की जाती है जिससे अनुगताकार प्रत्यय होता है। इसी तरह अर्थ में अवस्था भेद के आधार पर भेद कर अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर एकत्व की सिद्धि की जाती है। फलतः अनेक समवेत एकत्व (जाति) की सत्ता व्यक्ति में भी सिद्ध हो जाती है। द्रव्यवाची गो आदि में जाति में भाव प्रत्यय होते हैं। समास, कृत और तद्धित से सम्बन्ध में प्रत्यय होता है यद्यपि ये केवल सम्बन्ध नहीं व्यक्त करते हैं फिर भी सम्बन्धी में वर्तमान रूप से प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। जैसे राजपुरुषत्व से स्वस्वामिभाव की प्रतीति होती है। पाचकत्व में क्रियाकारक सम्बन्ध की झलक है। औपगवत्वम् में अपत्यापत्यवत् सम्बन्ध है। किसी किसी के मत से औपगवत्वम् में अपत्यप्रत्ययान्त से भाव प्रत्यय का अभिधेय जाति है। जैसा कि कहा जाता है समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमन्यत्र रूढ्यभिन्न—रूपाव्यभिचरित सम्बन्धेभ्यः।[1]

गौरश्वर, सप्तपर्ण लोहितशालि आदि जाति विशेष से सापन्न द्रव्य विशेष वाची शब्दों में ही भावप्रत्यय होता है। इसी तरह कुम्भकारत्वम् हस्तित्वम् आदि में भी। मतुप् के लुक् दशा में शुक्ल आदि तद्धितान्त हैं। फिर भी उनमें भावप्रत्यय गुण में ही होता है सम्बन्ध में नहीं होता। जिस तरह जाति और तद्वान् में लोकनिरूढ़ सम्बन्ध के आधार पर भेद तिरोहित सा हो जाता है और अभेद भासित होता है उसी तरह गुण और गुणी में भी वह यह है इस अध्यास सम्बन्ध से गुणवचन शब्दों से मतुप् के लुक् की दशा में उनमें अभेद भासित होता है और अभेद रूप से उनका अभिधान होता है उनमें भेद मानकर मत्वर्थ की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। सत्ता में अव्यभिचरित सम्बन्ध से सतोभाव इस रूप में जाति में ही भावप्रत्यय होता है। वस्तु सत्तासम्बन्ध को नहीं छोड़ती (न हि पदार्थः सत्तां व्यभिचरति—योगभाष्य) ३।१७ इस सत्ता सम्बन्ध की अपेक्षा के कारण सम्बन्ध में प्रत्यय नहीं होता। राजा और पुरुष में सम्बन्ध सनातन नहीं है अतः उसकी अपेक्षा रख कर ही राज और पुरुष शब्द अपना अपना अर्थ व्यक्त करते हैं इसलिए यहाँ सम्बन्ध में भाव प्रत्यय भी होता है।

---

१ यह प्राचीन आचार्यों की परिभाषा है। सीरदेव ने इसे परिभाषा रूप में स्वीकार किया है। कौण्डभट्ट ने इसे भर्तृहरि का वाक्य माना है। यह वार्तिकों में नहीं मिलता।

है। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी पदार्थों में नित्य समवायसम्बन्ध से रहने वाली और शब्द प्रवृत्ति की हेतु सत्ता ही भावप्रत्यय से वाच्य है। सत और सत्ता का सम्बन्ध समवाय वाच्य नहीं है। घवर्गादिरत्र जैसे स्थल में जाति के न होने के कारण जाति समुदाय में भावप्रत्यय है। कुछ जैसे शब्दों में सत्तासम्बन्ध का मनो में वह यह के रूप में अध्यास कर भाव प्रत्यय विधान होता है। कुछ लोग ऐसे स्थलों में सत्तासमानि सम्बन्ध में भाव प्रत्यय मानते हैं। इस तरह कैयट ने उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या की है।

भाष्यकार ने वार्तिक की व्याख्या में गुण और द्रव्य की परिभाषा पर विचार किया है। शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध को गुण मानकर इनसे भिन्न को द्रव्य माना है। यह एक मत है। गुण से अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता अनुमानगम्य है। अथवा भिन्न भिन्न गुणों के प्रादुर्भाव से भी जिसका तत्त्व खण्डित नहीं होता वह द्रव्य है। अथवा अवयव रूप में गुण का सद्भाव द्रव्य है। डित्थ आदि में वृत्ति (भावप्रत्यय), भाष्यकार के अनुसार प्राथमकल्पिक नित्य के आधार पर सम्भव हो सकेगी। प्राथमकल्पिक डित्थ की कोई क्रिया या कोई गुण यदि किसी में पाई जाय तो इस आधार पर उसमें भी भाव प्रत्यय हो सकेगा।

दूसरे वार्तिक का अर्थ है कि जब सभी शब्द अपने (स्व) अर्थ व्यक्त करते हैं वह उनका अर्थ है और उसी के अभिधान में त्व और तल प्रत्यय होते हैं। शुक्ल का भाव शुक्लत्व है। गुण में वर्तमान शुक्ल शब्द का भाव गुणसमवायिसामान्य है। उसके निमित्त से शुक्ल शब्द अपने गुणलक्षण अर्थ में प्रवृत्त होता है। द्रव्य में वर्तमान गुण शब्द का भाव गुण है। द्रव्य में वर्तमान गो शब्द का भाव जाति है। राजपुरुष का भाव सम्बन्ध है। इस तरह अन्य को भी समझना चाहिए।

नानात्व सहत्व यौगपद्य आदि में वृत्ति विषय में नाना शब्द असहभूत अर्थ में है। सह शब्द सहभूत अर्थ में है युगपत शब्द युगपद्भूत अर्थ में है। इनमें असहभाव आदि में भाव प्रत्यय है। इसका निष्कर्ष कैयट के शब्दों में यह है

तत्र भवत्यनेनेति करणसाधनेन भावशब्देन आत्यादिके उच्यमाने वाक्यसम्बन्धिनि शब्दसम्बन्धिनि वा पूर्वोक्त न्यायाद् द्रव्यवाचिनः शब्दाभिधायिनो वा शुक्लादेः त्वतलावेव इति स्थितम्—महाभाष्यप्रदीप, ५।१।११६

स्वार्थ की एक दूसरे तरह से भी व्याख्या की जाती है। स्व शब्द आत्मीय वाची है अर्थ शब्द अभिधेयवाची है। स्वार्थ अनेक प्रकार का होता है जैसे जाति गुण क्रिया सम्बन्ध और स्वरूप। गो शुक्ल पाचक राजपुरुष और डित्थ। शब्द अपना अर्थ (स्वार्थ) निरपेक्षरूप में करता है। अपने अर्थ (स्वार्थ) व्यक्त करते समय उस अर्थगत किसी निमित्तान्तर की आवश्यकता नहीं रहती। अपना स्वार्थ कह कर उस स्वार्थ से सम्बद्ध द्रव्य का कथन करता है। द्रव्य शब्द से व्याकरण दर्शन प्रसिद्ध द्रव्य अर्पित है। व्याकरण दर्शन में इदं तत सर्वनाम से परामर्श योग्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं। अब यदि जाति शब्द जाति में है आरोपित स्वरूपवाली स्वरूप से एकीकृत जाति व्यक्त करता है तब उसका स्वरूप स्वार्थ है और जाति द्रव्य है। जब वह जाति विशिष्ट द्रव्य को व्यक्त करता है तब उसका स्वार्थ जाति है। शुक्ल आदि जब गुण

जाति में स्थित हैं, उनका स्वरूप स्वार्थ है और जाति द्रव्य है। जब वे गुण में स्थित हैं गुण सामान्य उनका स्वार्थ है और गुण द्रव्य है। समवेत द्रव्य का अभिधान कर शब्द, लिंग वचन और विभक्ति का भी व्यक्त करता है। यद्यपि लोक में पद के उच्चारण करने पर युगपत् पांच अर्थ भासित होते हैं क्योंकि शब्द का व्यापार विरम्य विरम्य कर नहीं होता फिर भी शास्त्र में व्यवहार के लिए कल्पित अन्वय-व्यतिरेक का आश्रय लिया जाता है। इसके आधार पर प्रयोग के अनुपयुक्त प्रातिपदिक में अर्थवत्ता की कल्पना की जाती है और उसमें एक क्रम माना जाता है क्योंकि 'नागृहीत विशेषण-विशेष्य बुद्धि' इस न्याय के अनुसार शब्द सर्वप्रथम स्वार्थ की अभिव्यक्ति करेगा। तब लिंग आदि के आधार भूत द्रव्य का अभिधान करेगा। बहिरंग संख्या की अपेक्षा लिंग अन्तरंग है अतः संख्या से पूर्व लिंग का अभिधान करेगा। तब संख्या कि अभिव्यक्ति करेगा। क्योंकि संख्या और कारक में संख्या अतरंग है और कारक बहिरंग है। संख्या केवल तुल्यजातीयापेक्ष है जब कि कारक विजातीय क्रियापेक्ष होने के कारण बहिरंग है। अन्त में संख्या के बाद कारक की अभिव्यक्ति होगी। वस्तुतः कात्यायन के अनुसार नानार्थकल्पना बौद्धिक है। इसी दृष्टि से तत्र व्यपदेशिवद् वचन, एकाना द्वे प्रथमाथम १।१।२१ ७ ३ का प्रत्याख्यान अवचनाल्लोक विज्ञानात् सिद्धम् १।१।२१ ५ वार्तिक द्वारा किया है। बुद्धिसमारोपित भेद के आश्रय से मुख्य की तरह एक में भी द्विवचन आदि कार्य हो सकते है। यह वार्तिककार का अभिप्राय है।

प्रकार का स्वरूप

पाणिनि ने प्रकारवचन शब्द का व्यवहार किया है। व्याख्याकारों में प्रकार के अर्थ के विषय में मतभेद है। स्थूलादिभ्यः प्रकार वचने कन् ५।४।३ सूत्र में प्रकार सादृश्य-बोधक है। सादृश्य अर्थ को सामने रखकर कात्यायन ने चञ्चत् बृहतोरुपसंख्यानम्' इस वार्तिक को इस सूत्र पर लिखा है। चञ्चत् और बृहत् इन दो शब्दों का मणि विशेष के अर्थ में प्रयोग कात्यायन के समय में होता था। जो चञ्चत (चमकीला) न हो किन्तु चञ्चत सा जान पड़े उसे चञ्चत्क कहते थे। प्रभा की लहर से ऐसा जान पड़ता था। इसी तरह जो बृहत न हो किन्तु बृहत-सा जान पड़े उसे बृहत्क कहते थे। मणि की कान्ति के प्रसार से ऐसा होता था।

कुछ अन्य आचार्य सर्वत्र प्रकार का अर्थ सादृश्य मानते हैं। प्रकारवचने थाल् ५।३।२३ प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ स्थूलादिभ्यः प्रकार वचने कन् ५।४।३ आदि सूत्रों में सादृश्य अर्थ ही उन्हें अभिप्रेत है। यथा तथा शब्द से मुख्य द्रव्य [illegible] द्योतित होता है। पटुजातीय शब्द में जातीयर् प्रत्यय द्वारा मुख्य रूप [illegible] अभिहित होता है। पटु पटु शब्द में भी द्विवचन से विशेष्य में [illegible]

---

१ इस वार्तिक में मतभेद था—'चञ्चद्बृहतोरिति केचित् पठन्ति।' [illegible] द्रव्यम्—कारिका ५।४।३
भर्तृहरि ने चञ्चत्क, बृहत्क पाठ अपनाया है, वाक्यपदीय ३, वृत्ति [illegible]

भासित होता है। इसी तरह स्थूल शब्द में स्थूल लक्षण अर्थ होता है।

कुछ वैयाकरण प्रकार शब्द का भेद अर्थ मानते हैं। सामान्यस्य विशेष भेदक प्रकार —काशिका ५।३।२३। इस मत में यथा तथा शब्द में भेद अर्थ की प्रतीति होती है सामर्थ्य से यहा साहृश्य अर्थ जाना जाता है। इसी तरह पटुजातीय शब्द में भी भेद अभिप्रेत है। जहा भेद माना जाता है वहां सादृश्य सामर्थ्यगम्य होता है और जहा सादृश्य अर्थ माना जाता है वहा भेद सामर्थ्यगम्य समझा जाता है। पटुप्रकार देवदत्त इस वाक्य में सामान्यविशेषभाव न होने के कारण सामान्य ही प्रकार है।

ब्राह्मणप्रकारा माठरादय इस वाक्य में सामान्य का विशेष में अन्वय होने के कारण सादृश्य की संभावना न होने पर भेद प्रकार माना जाता है।

कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकारवान में होते हैं। जैसे जातीयर् और द्विवचन। कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकार मात्र में होते हैं जैसे थाल। किन्तु प्रकार में वृत्ति होते हुए भी प्रकारवान से सम्बद्ध होते हैं। इसलिए थाल और जातीयर में बाध्यबाधक भाव नहीं होगा। और थाल प्रत्यय के बाद भी जातीयर का प्रयोग देखा जाता है जैसे तथाजातीय।[२]

पाणिनि ने अव्यय विभक्ति २।१।६ सूत्र में यथा के अर्थ में अव्ययीभाव समास माना है और पुनः सादृश्य के अर्थ में भी माना है। यदि यथा और सादृश्य समानार्थक है तो पाणिनि को यथा शब्द से ही सादृश्य का काम चला लेना चाहिए था। इसका उत्तर भर्तृहरि ने यह दिया है कि उपर्युक्त सूत्र में सादृश्य सदृश का उपलक्षण है। इसीलिए इसका उदाहरण सदृश किरया सकिखि (शृगाल सदृश) दिया जाता है। जो अव्यय सादृश्य का अभिधायक हो सादृश्य ग्रहण से उसका अव्ययीभाव समास माना जाता है। सत्वभूत अर्थ के बोधक होने पर भी वचनबल से अव्यय माना जाता है। सादृश्यवचन यथा शब्द के साथ समास नहीं होता। किन्तु थालन्तप्रतिरूपक वीप्साबोधक निपात यथा शब्द के साथ समास होता है। अथवा योग्यतालक्षण यथा का अर्थ सादृश्यमात्र है। जो मूर्तिगत (द्रव्यगत) साम्य है वह सह शब्द से व्यक्त किया जाता है। सकिखि शब्द में सह शब्द से किसी निष्ठ अवयवसंनिवेश आदि के द्वारा सादृश्य व्यक्त होता है। इस दृष्टि से सादृश्य किरया सकिखि इस रूप में अर्थ करना चाहिए। इस तरह उपर्युक्त सूत्र में सादृश्य शब्द से द्रव्यगत सादृश्य अभिप्रेत है यथा शब्द से योग्यता नामक गुणगत सादृश्य द्योतित है

किमर्थमिदमुच्यते, यथार्थ इत्येव सिद्धम्।
गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यात्। काशिका २।१।६

---

२ थाल और जातीयर प्रत्यय में केवल इतना ही भेद है कि थाल् प्रत्यय प्रकार में होता है जबकि जातीयर प्रकारवान् में होता है—
जातीयरस्तु स्वभावात् प्रकारवान वर्तते थाल पुनः प्रकारमात्रे।

—काशिका वृत्ति ५।३।२३

कुछ लोग बुद्ध्यवस्थानिबन्धन सादृश्य को प्रकार मानते हैं। देवदत्त को अगर कुण्डल पहने देखकर 'पहले देवदत्त इस रूप में था इस रूप में' बुद्धिप्रकल्पित सादृश्य झलकता है। बाह्य अर्थ अन्तर्गत ज्ञान के अनुकारी मात्र हैं। इसलिए सर्वत्र सादृश्य ही प्रकार का अर्थ है। महाभाष्यकार ने प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ सूत्र में प्रकार के लिए 'अग्नि माणवक' और 'गौर्वाहीक' उदाहरण दिए हैं। ये उदाहरण प्रकार को सादृश्य मानने पर ही उपयुक्त हो सकते हैं। गौ के सादृश्य के कारण ही वाहीक को गौ कहा जाता है।[3] और अग्नि की तीक्ष्णता के सादृश्य से माणवक को अग्नि कहा जाता है। गोत्व अथवा अग्नि के रूप सामान्य का यह विशेष भेद नहीं है। गौर्वाहीक में गो शब्द का द्विवचन नहीं होता। शुक्ल आदि गुण शब्दों में चरितार्थ वाहीकाभिधायी गो शब्द का द्विवचन नहीं होता

गौर्वाहीक इति द्वित्वे सादृश्यं प्रत्युदाहृतम् ।
शुक्लादौ सति निष्पन्ने वाहीको न द्विरुच्यते ॥[4]

इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। कुछ लोग मानते हैं कि गुण उपसर्जन द्रव्यवाची का द्विवचन होता है जैसे शुक्लशुक्ल पट। गुणमात्रवाची का भी द्विवचन होता है जैसे शुक्लशुक्ल रूपम्। अन्य आचार्यों के मत में गुणविशिष्ट द्रव्यवाची का ही द्विवचन होता है। 'मूले मूले स्थूला' 'अग्रे अग्रे सूक्ष्मा' जैसे प्रयोगों को कात्यायन ने आनुपूर्वी के आधार पर समर्थन किया है यहाँ वीप्सा नहीं है। क्योंकि वीप्सा वहीं होती है जहाँ एक जातीय पदार्थों का अनेक रूप गुण आदि से सम्बन्ध होता है। मूले मूले स्थूला अथवा सूक्ष्मा एक ही वस्तु को लेकर कहा जाता है। अग्र मध्य और मूल ये तीन भाग हैं। एक ही मुख्य है अग्र भाग अथवा मूल भाग। दूसरे भागों का अग्र अथवा मूल व्यपदेश सापेक्ष है। अधः सन्निवेश की अपेक्षा से अग्र कहा जाता है। ऊपर के सन्निवेश की अपेक्षा से मूल कहा जाता है। एक रूप भागों का स्थौल्य अथवा सौक्ष्म्य नहीं होता। केवल मूल की ओर स्थूलता बढ़ती जाती है और अग्रभाग की ओर सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। इसलिए यहाँ वीप्सा का अभाव है। किन्तु मूले मूले पथि विटपिनाम् वाक्य में वीप्सा है। हेलाराज ने प्रथम मत को आश्रय दिया है

गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः शुक्लादेरेव द्विवचनं गुणमात्रवाचिनश्चेति शुक्लशुक्लः
पटः शुक्लशुक्लं रूपं पटुपटु इतीष्टं सिद्धम् ।

छ प्रत्यय पर विचार

इव अर्थ विषयक समास में दूसरे इव के अर्थ में पाणिनि ने छ प्रत्यय का विधान किया है—समासाच्च तद्विषयात् ५।३।१०६ व्याकरण और साहित्य शास्त्र में समास

---

३ गौर्वाहीक में गुणगुणी में सदा अभेदोपचार मानने से भेद द्योतक षष्ठी विभक्ति नहीं होती है—गुणगुणिनोश्चात्र विषये नित्यमभेदोपचाराद् भेदनिबन्धनषष्ठ्यभावः ।

—कैयट भाष्यप्रदीप, १

४ वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ६२४

शास्त्र या वश या वाचक है। उसका अवयव और अथ न्न ब अथ म सम्बन्ध नहीं है। कुछ सादृश्य हो सकता है। इस प्र क अथ से समन्वय न होन पर भी समुदाय के अथ की उपलब्धि होती है। इसलिए संग्रहकार क न्न य्यो न्न या अभिप्राय यह हो सकता है कि जहा समुदाय का अन्वय तो न्न म होता हो किन्तु उसका अन्वय शब्द के अथ पर निभर न करता हो। पर्यायवाची समुदाय व हैं जिनका अन्वय अथ म होता हो न्न द स नही। जसे श्रोत्रिय न्न। छ न्द अध्ययन करनेवाल क अथ म पाणिनि ने इसका निपातन किया है। यह शा्द दो चार उन न्न म म है जो वाक्य का अथ अपने म समेटे रहते हैं और इसलिए वाक्यार्थं प्रवचन कह जात है। यहाँ समुदाय अथ का श्रोत्र शा्द से कोई सम्ब ध नहीं है। वैडूय अथवा वदूय की उत्पत्ति वालवाय म होती थी। विदूर नगर में इसका केवल संस्कार होता था अथवा जिसकी की तरह यह उपचरित न्न है। इसी तरह पारावत (मोती निकलने का स्थान) का परन्तु न्न से कोई सम्बन्ध नहीं है। न गावा वयी समुदाय का सम्बन्ध अवयवगत शब्द और उनके अथ दोना के साथ होता है जस राजपुरुष नीलोत्पल और ब्राह्मण कम्बल श न्न म।

संग्रहकार ने यह भी कहा है कि ऐसे भी समुदाय होते हैं जो निरन्वय होत हैं। उनका अवयवगत शब्दों या उनके अर्थों से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं बठ पाता। ऐसे शा्न म मुसल उलूखल, बलाहक हैं। मुसल न्न सम्भवत कुणाल की तरह आरंभ म क्षाति क्रिया से सम्बन्ध रखता था। संग्रहकार का अभिप्राय यह है कि मुसल क अथ का न तो मुस और न ल से सम्बन्ध है न उनके अथ से न किसी से। मुसल श न्न समुदाय तो है किन्तु निरन्वय है। यही बात उलखल और बलाहक क लिए भी है।[1]

किन्तु एक वग ऐसा भी था जो इनम भी एक देशान्वय मानता था

एकदेशान्वयस्तु तेष्वपि विद्यते मोपजायत इत्येके।

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति हस्तलख।

स्वार्थिक दो प्रकार के हैं—असत्वभूताथ और सत्वभूताथ। इनम स प्रत्येक वाचक द्योतक विशेषक, सहाभिधायक सार्थक और निरर्थक भेद स छ प्रकार के होत हैं।

सार्थक स्वार्थिक के सम्बन्ध म भर्तृहरि ने ध्यानग्रहकार के मत का उल्लेख किया है। उनके मत म स्वार्थिका की अथवत्ता के प न म शेष समुच्चयादि क्रिया-कारक विशेषणविशेष्य सम्ब ध के अभाव म स्वार्थिको म उपचय सम्ब ध होना है

स्वार्थिकानामर्थवत्तापक्षे शेषसमुच्चयादि क्रियाकारकविशेषणविशेष्य

१ वधमान ने इन शब्दों का व्युत्पत्ति दी है—मुष्णाति चक्षुर्लानाति मुसल। उ व रा दिन यया श्रोणि उलूखलम्। वारिणो वाहक बलाहक। गणरत्नमहोदधि पृ० १०१, १०२ प० भामसेन सम्पादित। ये वैयाकरणों का बौद्धिक कौशल है।

सम्बन्धाभावे स्वार्थिकानामुपचयसम्बन्ध इति ध्यानकारदर्शनम् ।[1]

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवत्ति, हस्तलेख

---

१ भर्तृहरि का ध्यानकार दर्शन से अभिप्राय ध्यानग्रहकार के दर्शन से है। ध्यानग्रहकार का उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्य दीपिका में भी किया है—द्वीमन्त्र प्राप्नोति। उभये इति ध्यान ग्रहकारग्रन्थनम्। महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) पृ० ३२० हस्तलेख मद्रास ओरियण्टल मनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी। ध्यानग्रहकार का उल्लेख भामह ने भी किया है—

सूत्राम्भसं पदावर्तं पारायणरसातलम्।
धातूणादिगणग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्॥ (६।१)

मेरे विचार में भामह का ध्यानग्रह से भी अभिप्राय ध्यानग्रहकार से अथवा ध्यानग्रह व्याकरण से है। रोम से प्रकाशित उद्भट वृत्ति में यह अंश खण्डित है। अन्य लोगों ने ध्यान से समाधिवाला ध्यान अर्थ लिया है।

११

स्फोटवाद

संस्कृत व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का स्वरूप अविवादात्मक नहीं है। स्फोट का स्वरूप बदलता गया है और वह भौतिक से अभौतिक बन गया है। उसका मूल अज्ञात है। हरदत्त और नागेश ने स्फोट का सम्बन्ध स्फोटायन से जोड़ा है।[1] किन्तु इस कल्पना के पीछे कोई प्रौढ़ आधार नहीं है। दूसरे दर्शनों में स्फोटवाद की चर्चा व्याकरणदर्शन के सिद्धान्त के रूप में की गई है। स्फोटवाद के प्रवर्तक के रूप में बहुधा भर्तृहरि का नाम लिया जाता है। किन्तु स्वयं भर्तृहरि ने स्फोट के प्रसंग में मतभेदों की चर्चा की है। स्फोट शब्द का उल्लेख श्लोकवार्तिक में और महाभाष्य में भी है।[2] इसलिए स्फोट सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक आचार्य का अभी तक पता नहीं चला है। भर्तृहरि के समय तक स्फोट स्फोटवाद का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका था। मल्लवादि क्षमाश्रमण ने भर्तृहरि के कई मतों का उल्लेख किया है किन्तु स्फोटवाद का उल्लेख नहीं किया है। भर्तृहरि की दृष्टि में स्फोट के स्वरूप पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। महाभाष्य के बाद स्फोट की कुछ अधिक चर्चा वाक्यपदीय में होने के कारण स्फोटवाद का वाक्यपदीय में संबंध कर दिया गया है। वस्तुतः भर्तृहरि स्फोटवाद के आदि आचार्य नहीं जान पड़ते। उन्होंने स्फोट की व्याख्या ध्वनि के प्रसंग में की है और उसका आदि और अन्त ध्वनि से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त उसके पीछे कोई रहस्य नहीं है। किन्तु कैयट पुण्यराज हेलाराज जैसे मूर्धन्य विद्वान स्फोटवाद का स्रोत वाक्यपदीय में ही मानते हैं। जिन आचार्यों ने स्फोटवाद के खण्डन किए हैं उनका लक्ष्य भी भर्तृहरि ही जान पड़ते हैं।

अस्तु स्फोट का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में व्याकरणदर्शन से है और

---

१ 'स्फोटायन पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः'—पदमञ्जरी ६।१।१२३ पृ० ४८८ 'वैयाकरण नागेश स्फोटायन ऋषिमतम्' मंजूषा पृ० १५७३

२ किन्तु कई वैयाकरणों ने महाभाष्य को स्फोटप्रतिपादक ग्रन्थ नहीं माना है— तदेतस्मिन् महासमुद्रदर्शन सत्यपि विमृष्टे स्फोटायगावबोधनप्रतिपादने न काचिन् ध्वनि सिद्धान्तस्य वैयाकरणानाम्—महाभाष्यव्याख्या हस्तलेख मद्रास नं० आर० ४४३६

अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का पर्याप्त विवेचन किया गया है। यदि पतंजलि से लेकर नागेश तक के स्फोट-साहित्य को सामने रखकर स्फोट पर विचार किया जाय तो निम्नलिखित रूप सामने आते हैं

१—स्फोट ध्वनि रूप में।
२—स्फोट शब्द रूप में।
३—स्फोट नित्य शब्द रूप में।
४—स्फोट जाति रूप में।
५—स्फोट वाक्य रूप में।
६—स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में।

ये भेद एक दूसरे से सर्वथा विभक्त नहीं हैं। केवल विकास क्रम की दृष्टि से इस रूप में उल्लेख किया गया है। इनमें स्फोट के ध्वनि स्वरूप का विवरण महाभाष्य में है। पतंजलि ने स्फोट और ध्वनि में केवल यह भेद दिखाया है कि स्फोट ज्यों का त्यों रहता है जबकि वृद्धि विस्तार ध्वनि से होता है। ध्वनि का आभास स्पष्ट होता है। जबकि स्फोट लक्षित नहीं होता

स्फोटश्च तावान् एव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः।[1]
ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः॥—महाभाष्य १।१।७०

महाभाष्य के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्फोट और शब्द समानार्थक नहीं हैं। स्फोट ध्वनि से सदृश ही शब्द का गुण है। स्फोट से ध्वनि रूप का स्पष्ट संकेत महाभाष्य के इस वाक्य में है

अथवोभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते। रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति।
—महाभाष्य भाग १ पृ० २८ कीलहार्न संस्करण

महाभाष्यकार ने र ध्वनि के स्थान पर ल ध्वनि को स्फोटमात्र कहा है। टीकाकारों में यहां विवाद है। भर्तृहरि के अनुसार स्फोट से अभिप्राय उसके ध्वनिहीन स्वरूप से है। अथवा आद्य ध्वनि केवल रूपमात्र का प्रत्यायक ध्वनि यहाँ स्फोट शब्द से विवक्षित है। जो स्वतंत्र है समुदायस्थ है और विशेष का प्रतिपादक है वह ध्वनि यहां विवक्षित नहीं है। अथवा र श्रुति और ल श्रुति में ईषत् साम्य (आरूपमात्र) है वही विवक्षित है। अथवा करणप्रयत्न में संयोग से अथवा विभाग में अथवा संयोगविभाग दोनों से जो निष्पन्न होता है वह स्फोट है। करण-व्यापार स्फोट का निष्पादक है। अथवा स्फोटमात्र शब्द से आकृति अभिप्रेत है। ध्वनि के बिना आकृतिनिर्देश सम्भव नहीं है, अतः द्रव्य का उपादान नान्तरीयक रूप में होता है

अध्वनिकः स्फोट इत्युक्तं भवति। ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति। एवं तर्हि य एवासौ आद्यो ध्वनिः रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्तावानेवाश्रीयते। यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादको यः समुदायस्थो यः स्वतन्त्र इति नासावाश्रीयते। विद्यमानेऽपि तत्राविशेषेऽआरूपमात्रं यथा गोविशेषेऽप्युपलब्धि राऽरूपमात्रेण चोपलब्धिः तस्मात् आरूपमात्रग्रहणमुभयोः। अथवा करणयत

बुद्धिस्थत्वा इदमुच्यते । तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगात् विभागात् संयोग-विभागाभ्यां वा निष्पद्यते । यत्त्वनुरणन तत शब्दत एव । तेन य एवासौ स्फोटस्य निष्पादक करणस्य व्यापारस्तावत एवाश्रयणम् । अथवा स्फोट-मात्रमिति प्राकृतिनिर्देशो यमित्युक्त भवति ।

—महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ, ७६

अपने इन्ही विचारो को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय म भी कुछ विस्तार स दिया है।[3] अनित्यपक्ष म प्रथम अथवा आदि म निक स नाद का नाम स्फोट है जोस्थान करण आदि के सहारे स्वरूप ग्रहण करता है । नित्यपक्ष म संयोगज और विभागज ध्वनियो से व्यङ्ग्य स्फोट है

'अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुक प्रथमाभिनिवृत्त य नाद स स्फोट इत्युच्यते । नित्यपक्षे तु संयोगविभागजध्वनिव्यङ्ग्य स्फोट ।

—वाक्यपदीय १।१०२ हरिवृत्ति प० ९०

ऐसा जान पडता है संग्रहकार ने प्राकृतध्वनि और स्फोट को समान माना था । भर्तृहरि न प्राकृतध्वनि को स्फोट का परिच्छेदक माना है । उनके अनुसार प्राकृतध्वनि स्फोट का व्यंजक भी है । भर्तृहरि के अनुसार करण-संघात स जो ध्वनि उत्पन्न होती है और उससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है वे दोनो प्राकृत ध्वनि हैं । इन दोनो से विशेष (शब्दस्वरूप) की उपलब्धि होती है । जो ध्वनि ध्वनि से उत्पन्न होती है वह वैकृत ध्वनि है । उससे विशेष की उपलब्धि नही होती

'य करणसंनिपातादुत्पद्यते यश्च तस्मात् तौ प्राकृतौ । ताभ्या विशेषोप लब्धि । यस्तु ध्वनितो ध्वनिरुत्पद्यते स वैकृत । ततो विशेषाभावात् ।

—महाभाष्यदीपिका प० ४६

सम्भवत संग्रहकार ने शब्द क नित्य रूप को सामने न रखकर नाद के सामान्य विचार से प्राकृत ध्वनि और वैकृत ध्वनि का विवेचन किया था और प्राकृत ध्वनि को शब्द का ग्राहक माना था । प्राकृत ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति न होने से प्राकृत ध्वनि का काल ही स्फोट का काल मान लिया गया था । भर्तृहरि ने इसे उपचार रूप म स्वीकार किया था

■ च प्राकृतध्वनिकालो व्यतिरेकाग्रहणादध्यारोप्यमाण स्फोटे स्फोटकाल इत्युपचर्यते शास्त्रे । —वाक्यपदीय, १।७७ हरिवृत्ति

किन्तु भर्तृहरि ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि स्फोट की उपलब्धिसदा ध्वनि से संसृष्ट रूप म ही होती है

---

३ भर्तृहरि ने पहले महाभाष्यदीपिका (दीपिका) की रचना की थी । बाद म वाक्यपदीय लिखा था । इसका संकेत उनके इस वाक्य में है-क्रमेण तु वणतुरीयग्रहणे सति समुदयाभावात् अविषयत्वम् न्यायात् बुद्धेः प्राप्नोतीति संहितासूत्रभाष्यविवरण बहुधा विचारितम्—

—वाक्यपदीय १।८३ हरिवृत्ति

सम्भवत भाष्यदीपिका का मूल नाम भाष्यविवरण था ।

ध्वनिना तु संसृष्टं स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते ।

—वाक्यपदीय १।७६ हरिवृत्ति ।

यह वाक्य इस तथ्य का निदर्शक है कि भर्तृहरि का शब्ददर्शन और स्फोटदर्शन सर्वथा समान नहीं है। स्फोट ध्वनिनिरपेक्ष नहीं है। शब्द भर्तृहरि के मत में ध्वनिनिरपेक्ष भी है उसका अन्तःसन्निवेशी आन्तरिक बौद्धिक रूप भी है। अवश्य ही इस विषय में विवाद के लिए स्थान है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भर्तृहरि ने शब्द ग्रहण की प्रक्रिया के प्रसंग में ही स्फोट पर विचार किया है। शब्दग्रहण की प्रक्रिया से शब्द का स्वरूप अस्पष्ट है। अतः स्फोट और शब्द का परस्पर पर्याय के रूप में प्रयोग जहाँ तहाँ वाक्यपदीय में मिल जाते हैं।[४] इसी तरह शब्द और ध्वनि शब्द का पर्याय के रूप में प्रयोग महाभाष्य और वाक्यपदीय में मिलते हैं।[५] किन्तु इससे ऐसा निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं है कि इनका स्वरूप भी एक है। अखण्डस्फोट सखण्डस्फोट, निरवयवस्फोट बाह्यस्फोट आन्तरस्फोट आदि शब्दों के स्पष्ट उल्लेख वाक्यपदीय में नहीं हैं। दूसरे लेखकों ने शब्द और स्फोट को एक समझकर शब्दनित्यत्व के स्थान पर स्फोटनित्यत्व जैसे शब्दों के प्रयोग आरम्भ कर दिए हैं। अवश्य ही भर्तृहरि ने स्फोट को ध्वनि से व्यङ्ग्य माना है, उसे एक माना है और स्फोट की आत्मा को नित्य माना है किन्तु बहुत ही सावधानी के साथ उन्होंने शब्दतत्त्व को स्फोटतत्त्व से अलग रखा है। भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व शब्द के स्थान पर स्फोटतत्त्व शब्द का व्यवहार नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से शब्द और स्फोट के भेद पर विचार नहीं किया है। ध्वनि से जो व्यङ्ग्य है वही स्फोट है वही शब्द है। किन्तु स्फोट शब्द का एक पहलू एक पक्ष मात्र है। शब्द का एक स्फोटात्मक रूप है और उसका एक रूप स्फोटरूप से अधिक गहराई में है। भर्तृहरि का शब्ददर्शन स्फोट से परे प्रतिभा के तल तक जाता है। संक्षेप में एक स्थान पर शब्ददर्शन का चित्र उन्होंने दे दिया है

> इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही। नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः संहृतक्रमः, सर्वेषामन्तःसन्निवेशी, प्रभवो विकाराणाम्, आश्रयः कर्मणाम्, अधिष्ठानं सुखदुःखयोः सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः सर्वमूर्तीनामपरिणामा प्रकृतिः सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेदरूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां पर्जन्यवद् दावाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः महान् शब्दवृषभः ।
>
> —वाक्यपदीय १।१३० हरिवृत्ति[६]

---

४ जैसे, प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते वाक्यपदीय, १।७५

५ 'लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते'—महाभाष्य, कीलहार्न संस्करण भाग १ पृ० १ 'न भेदो ध्वनिशब्दयोः ।'
—वाक्यपदीय, १।६६

६ भर्तृहरि का यह अवतरण पाँचवीं शताब्दी के संस्कृत गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है और बाणभट्ट की शैली के पूर्वरूप इसमें देखे जा सकते हैं।

इस प्रघटक में शब्द को नित्य, सभी व्यवहार का मूल, सहतक्रम अन्त सनिवर्गी, विकार सप्टिक्रम का उत्पत्तिस्थान कम के आश्रय, सुख दुःख का अधिष्ठान आदि कहा गया है और उसे सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान के रूप में व्यक्त किया गया है। भर्तृहरि ने स्फोट के लिए इस तरह की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। अस्तु, वाक्यपदीय में व्यवहृत स्फोट स्फोटवाद के ध्वनिसम्बद्धरूप को प्रमुख रूप में व्यक्त करता है। स्फोट के भेद जैसे वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट इनका भी परिच्छेद भर्तृहरि ने ध्वनि के आधार पर ही किया है

वर्णपदवाक्यविषया हि विशिष्टा प्रयत्ना सतः प्रेरिताश्च वायवः स्थानान्य
भिहन्ति।

—वाक्यपदीय, १।८६ हरिवृत्ति

अर्थात वर्ण, पद और वाक्य ध्वनियों के प्रयत्न सापेक्ष इकाई मात्र है। इनका विभाग ध्वनि के परिच्छिन्न स्वरूप पर निर्भर करता है। भर्तृहरि के शब्दों में वर्णस्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट ध्वनि के अपचित और उपचित अवस्था से संबद्ध हैं

स एव प्रचिताप्रचितरूपा वर्णपदवाक्यस्फोटा।

—वाक्यपदीय १।१०२, हरिवृत्ति

भर्तृहरि ने भागशब्द और निर्भागशब्द का व्यवहार किया है। ये दोनों शब्द क्रमशः सखण्ड स्फोट और अखण्डस्फोट (निरवयवस्फोट) के आदि रूप हैं। भागशब्द का सिद्धान्त भेदवादियों का है। निर्भागशब्द का सिद्धान्त जातिस्फोट मानने वालों का है। भेदवादी प्राचीन मीमांसक थे जो शब्द को नित्य मानते थे किन्तु शब्द में भाग स्वीकार करते थे। उनके मत में गौ शब्द में गकार उकार और विसर्जनीय हैं। इनसे अतिरिक्त वर्णग्राहक कोई अन्य धर्म गौ शब्द में नहीं है और न इसके पीछे निर्भाग जैसा कोई दर्शन है। उपवर्ष इसी मत को माननेवाले थे। वे वर्ण को ही शब्द मानते थे।[*] इस मत में कुछ विप्रतिपत्तियों का निर्देश भर्तृहरि ने स्वयं किया है और उनका समाधान भी किया है। भागपक्ष में पद के स्वरूप का अवधारण ठीक से नहीं हो सकेगा क्योंकि क्रम से अभिव्यक्ति दशा में वर्णतुरीयांश की अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष में होने के कारण ठीक से नहीं हो सकेगी। वर्णक्रम के अनुसार वर्णतुरीय ध्वनि अप्रत्यक्ष्य इसलिए मानी जाती है कि ध्वनि अपकर्ष की काष्ठा तक पहुँचाई गई रहती है। वर्णतुरीयांश की अव्यपदेश्यता उसकी सीमा के ठीक परिज्ञान न होने के कारण भी मानी जा सकती है। कौनसी अन्तिम ध्वनि है इसका निर्णायक भाग पक्ष में क्रमपक्ष में कोई वस्तु नहीं है। इसी आधार पर अन्य सीमा के ठीक परिज्ञान न होने के कारण अन्त्यध्वनि परिच्छेद का विषय भी नहीं हो सकेगा अर्थात कहाँ से कहाँ तक इकाई मानी जाय इसके निर्णायक किसी तत्त्व के न होने के कारण शब्द के स्वरूप का परिच्छेद संभव न हो सकेगा। यदि एक साथ, युगपत सभी वर्णों (अवयवों)

---

* वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः —शाबरभाष्य, १।१।५

की अभिव्यक्ति मानी जायगी गवे, वेग तेन, न ते, आदि शब्दों मे श्रुतिभेद नही मानना पडेगा। इसका समाधान भर्तृहरि ने भेदवाद की दृष्टि से अर्थान्तर के आधार पर शब्दान्तर की कल्पना के सहारे किया है। शंकराचार्य ने पिपीलिका पंक्ति के दृष्टान्त के आधार पर समाधान किया है। पिपीलिका क्रम से चलती है फिर भी देखने वाले के मन मे एक पंक्ति का भान करा देती है। इसी तरह क्रम के आधार पर प्रवर्तित वर्ण भी पद बुद्धि जगा देते हैं। वर्णों के अविशेष होने पर भी क्रमविशेष के आधार पर पदविशेष का अवधारण हो जाता है।[८] अभिव्यंजक ध्वनिक्रम के आधार पर भेद की प्रतीति के लिए भर्तृहरि ने मण्डूकवसा आदि से प्रज्वलित दीप से रज्जु आदि में सर्प आदि की प्रतिपत्ति का दृष्टान्त दिया है। जो शब्दात्मा को निर्भाग मानते हैं उनके लिए भागभेद प्रकल्पित उपाय मात्र है वास्तविक नहीं है।

—वाक्यपदीय १।९३ हरिवृत्ति

शब्द के निर्भाग पक्ष के समर्थक जातिस्फोट का आश्रय लेते हैं। वे शब्द की नित्यता आकृतिनित्यता के माध्यम से मानते हैं। जातिस्फोट से अभिप्राय शब्दाकृति से है। उनके अनुसार स्फोट शब्द से शब्द की आकृति का ही बोध होता है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है। दोनो मे भेद यह है कि शब्दत्व सवशब्दसाधारण है जबकि शब्दाकृति का सम्बन्ध शब्दविशेष के रूप से है। शब्दाकृति क्रम से उत्पन्न एक साथ न होनेवाले वर्णों के आश्रय से अभिव्यक्त होती है। उसके उपलब्धिनिमित्त संस्कार कल्पित होते हैं। इस मत मे शब्दशक्ति उत्पन्न होती है किन्तु स्वयं अव्यपदेश्य है। फिर भी व्यपदेश्य स्फोट का द्योतन करती है और उस दशा में शब्द व्यक्ति का नाम ध्वनि हो जाता है (वाक्यपदीय १। ४ हरिवृत्ति)।

कुछ आचार्यों ने माना है कि शब्द अविकार है। शब्दव्यक्ति भी नित्य है। शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनि निमित्त मात्र है। किन्तु ध्वनिगत विकार से शब्द भी अनुरंजित रहता है। जैसे प्रकाशगत धर्म मे वस्तु अनुरंजित रहती है। वृषभ के अनुसार इस मत म प्रकाशगत एव स्फोटवर्ण है। करण के अभिघात से ध्वनि भेद होता है, वह ध्वनिभेद म निमित्त है किन्तु उससे बाह्यस्फोट म भेद नहीं होता।[९]

ध्वनि से शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु एक अभाववादी सम्प्रदाय था जो शब्द की अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं करता था।[१०] अभाववाद के प्रथम विकल्प के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति के लिए समान

---

८ अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमाना पदं स्युस्ततो जारा राजा कपि पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रत्ययो न स्यात्। त एव वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदाम —सत्यपि समस्तवर्णप्रत्ययवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव [पिपीलिका पंक्तिबुद्धिमारोहन्ति एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णा पदबुद्धिमारोहन्ति।—शांकर भाष्य १।३। ८।

९ वृषभ, वाक्यपदीय १।८५

१० आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के भी तीन विकल्प दिए हैं। आनन्दवर्धन के विचार के आधार अभिनव द्वारा प्रदर्शित अभिव्यञ्जना के विषय में तीन तरह के अभाव जान पडते हैं।

आदर्श म मुख का प्रतिबिम्ब उन्नत दिखाई देता है और उन्नत दपण म निम्न दिखाई देता है। यहाँ सस्थान भेद है। खड्ग म प्रतिबिम्ब दीर्घ होता है। यह प्रमाणभेद है। प्रियगु तल म प्रतिबिम्ब श्याम दिखाई देता है। यह वणभेद है। बिम्ब एक और अभिन्न है फिर भी अभिव्यजक के राग स अनुरजित होकर विभिन्न जान पडता है। स्फोट भी अभिव्यजक भेद से भिन्न जान पडता है। भतहरि प्रतिबिम्ब दशन के उस पक्ष को मान्य नही समझत जिसके अनुसार बिम्ब स प्रतिबिम्ब भावान्तर स्वतन्त्र सत्ता रखता है। क्योकि विरुद्ध परिणाम वाल वज्र (हीरा) मान्दशतल आदि म पवत के सदृश भावा की उत्पत्ति सभव नही है। इसलिए शब्द की अभिव्यक्ति होती है। और वणस्फोट पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट म भेद वृत्तिभेद के आधार पर होता है। सवथा स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।—वाक्यपदीय, १।९७ १०१

अभावस्वादियो क सदृश ही एक ऐसा भी वग था जो शब्द की अभिव्यक्ति तो मानता था किन्तु अभिव्यक्ति को अनित्य का समानधर्मा मानता था फलत शब्द को अनित्य मानता था। उनके मत म अनित्य घट आदि का प्रदीप आदि स अभिव्यक्ति देखी जाती है। शब्द भी घट की भाति अभिव्यग्य है। अत वह भी घट सदृश अनित्य है। यदि शब्द की अभिव्यक्ति नही स्वीकार की जाती तो शब्द की उत्पत्ति माननी होगी। और उत्पत्तिपक्ष म भी शब्द (स्फोट) अनित्य ही होगा। इसका समाधान यह है कि यह नियम नही है कि जो अभिव्यग्य होत हैं वे अनित्य ही होत है। व्यक्ति स जाति अभिव्यग्य है। फिर भी जाति नित्य है। जो जाति की सत्ता नही मानत उनके लिए यो तक दिया जाता है—जिस तरह से अनित्यवादी नित्यत्व को अगीकार न कर अनैकान्तिक दोष का परिहार करता है उसी प्रकार अभिव्यक्तिवादी भी जाति को नित्य मानकर व्यतिरेकासिद्धि का आश्रय लेता है। —वषभ वाक्यपदीय १।९६

जो लोग शब्द (स्फोट) की अभिव्यजना स्वीकार करते थे उनम भी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय म दो विकल्प थे अर्थात दो प्रकार स तीन तीन वाद थे। इह भत हरि ने 'वादा त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम'[11] और 'अथापरे भिव्यक्तिवादिना त्रयो दशनभेदा'[12] के रूप म व्यवहृत किया है। प्रथम तीन वाद क अनुसार क्रमश ध्वनि से इन्द्रियसस्कार ध्वनि से शब्द सस्कार ध्वनि स शब्द इन्द्रिय उभय सस्कार होते हैं। द्वितीय तीन वाद के अनुसार क्रमश स्फोट से अविभक्त रूप म ध्वनि का ग्रहण अगृह्यमाण रूप म ही ध्वनि अभिव्यजक, ध्वनि का स्वतन्त्र रूप म ग्रहण—य अभिव्यक्ति के प्रकार हैं।[13]

अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे एक तीसरा भी त्रिक वाद है जो अभिव्यजक के आधार पर है। एक के मत म स्फोट का व्यजक ध्वनि है। दूसरे मत मे स्फोट का व्यजक ध्वनिजन्य नाद है। तीसरे मत म ध्वनि से स्फोट आविर्भावकाल से ही सहज

---

११ वाक्यपदीय, १।७८
१२ वही १।८२ हरिवृत्ति।
१३ इनके विवरण इस ग्रन्थ क द्वितीय अध्याय में दिये गये हैं।

भाव से वैसे ही सम्बद्ध रहता है जैसे गन्ध से पुष्प

> नित्यपक्षे तु संयोग विभागजध्वनिव्यङ्ग्य स्फोट ।
> एकेषां संयोग विभागजध्वनिसंभूतनादाभिव्यङ्ग्य ।
> इह केचिदाचार्या व्यक्त स्फोट सहजनेन ध्वनिना सर्वतो दूरव्यापिना प्रका शस्थानीयेन गन्धेन युक्त द्रव्यमिवाविर्भावकाल एव सबध मन्यन्ते ध्वनिना ।
>
> —वाक्यपदीय हरिवृत्ति, १।१०३, १०५

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि के मत में ध्वनि और स्फोट अत्यन्त समीप की वस्तु हैं। स्फोट एक तरह से वाचक शब्द के लिए व्यवहृत हुआ है और उसके पीछे कोई उपनिषद (रहस्य) नहीं है।

कयट ने भर्तृहरि के मत का, अपने ढंग से यों सारांश दिया है—'वैयाकरण वर्ण से व्यतिरिक्त पद अथवा वाक्य में वाचकत्व मानते हैं। प्रत्येक वर्ण में वाचक मानने पर द्वितीय आदि वर्णों के उच्चारण अनर्थक होंगे। प्रत्येक वर्ण के अनर्थक मानते हुए भी वर्ण के समुदाय में वाचकता मानने पर भी काम नहीं चलेगा। समुदाय के उत्पत्तिपक्ष में दोष है क्योंकि समुदाय की युगपत् उत्पत्ति नहीं होती। समुदाय के अभिव्यक्तिपक्ष में वर्णों की क्रम से अभिव्यक्ति होगी फलत पूरे पद का आकलन नहीं हो सकेगा। वर्णों में एक स्मृति उपारूढ रूप में वाचकता मानने पर सर' रस जैसे स्थलों में अर्थविशेष की प्रतिपत्ति में बाधा पड़ने लगेगी, दोनों पदों से समान अर्थ झलकने लगेंगे। इसलिए वाक्यपदीय में वर्ण से व्यतिरिक्त नाद से अभिव्यक्त स्फोट का वाचक रूप में प्रतिपादन किया गया है (महाभाष्यप्रदीप पस्पशाह्निक पृ० १२ गुरुप्रसादशास्त्री संपादित)।

नागेश के अनुसार पद अथवा वाक्य का एकाकारक ज्ञान स्फोट की सत्ता और उसके ऐक्य में प्रमाण है। अनुभव क्रम से ही वर्णों की स्मृतिरूढता में, नागेश के अनुसार कुछ प्रमाण नहीं है। क्रम से अनुभूत के व्युत्क्रम रूप में भी स्मृति देखी जाती है

> इदमेकं पदम् एकं वाक्यमिति प्रत्ययः, स्फोटसत्त्वे तदैक्ये च प्रमाणम्।
>
> —महाभाष्यप्रदीपोद्योत पस्पशाह्निक पृ० १३

भोज ने भी वाचक ध्वनिसमूह को ही स्फोट नाम दिया है और प्रकृत्यादि स्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट के रूप में उसके प्रभेद किए हैं

> प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णजनितध्वनिसमूहोऽभिव्यङ्ग्यस्फोटलक्षणः अर्थात्मा अर्था वसायप्रसवनिमित्तं शब्द । तद्विशेषाश्च प्रकृत्यादिस्फोट, पदस्फोटो वाक्य स्फोट इति।
>
> —शृंगारप्रकाश पृ० १२५

स्फोट शब्द रूप में

शब्द रूप में स्फोट का प्रथम उल्लेख किसी श्लोकवार्तिककार ने किया है—
'स्फोट शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते ।'[१४]
शब्द का यावारग्रहण बुद्धि में होता है । महाभाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें शब्द का पौर्वापर्य बुद्धिगत माना गया है । प्रेक्षाकारी मनुष्य पहले अपनी बुद्धि में ही अर्थ की दृष्टि से शब्द का शब्द की दृष्टि से वर्ण का आकलन कर लेता है । ये सभी व्यापार बौद्ध होते हैं

> बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्त्वनीति ।
> शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम् ॥[१५]

भर्तृहरि ने भी शब्द के स्वरूप का अवधारण बुद्धि में माना है । अन्त्य ध्वनि परिपाक-प्राप्त बुद्धि में शब्द के स्वरूप का सन्निवेश करती है । किसी के मत में शब्दाकृति का सन्निवेश होता है । इसमें भी दो तरह के मत हैं । एक शब्द में कई वर्ण होते हैं । वक्ता उनका उच्चारण क्रम से करता है । अन्त्यवर्ण के उच्चारण के बाद एक विशेष संस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है । इस ज्ञान को अन्त्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहा जाता है । इसे अन्त्यबुद्धि भी माना जाता है । पूर्व के वर्णों से भी कुछ न कुछ संस्कार होता परन्तु वह संस्कार धुँधला होता है अथवा अस्पष्ट होता है । अन्त्यवर्णजन्यज्ञान पूर्ववर्णजन्य-ज्ञान की सहायता से जाति का ग्राहक होता है । दूसरा मत अन्त्यवर्णज्ञान को महत्त्व नहीं देता । उसके अनुसार सभी वर्णों से बुद्धि में संस्कार होता है । अन्त्यवर्ण के ज्ञान के बाद जातिग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है

> अत्रानेक दर्शनम् । केचिन्मन्यन्ते अन्त्यवर्णावलम्बनं यत् ज्ञानं तत् पूर्ववर्ण-ज्ञानाहितसंस्कारसहायं जाते ग्राहकम् । अपरे मन्यन्ते अन्त्यवर्णज्ञानसहितं सर्वैरेवपूर्ववर्णज्ञानैः संस्कारारम्भ । अन्त्यवर्णज्ञानानन्तरं तु जातिग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते ।
>
> —वृषभ वाक्यपदीय १।२३, पृ० ३३

महाभाष्यकार ने भी शब्द को बुद्धिग्राह्य माना है

> श्रोत्रोपलब्धि बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ।
>
> —महाभाष्य पस्पशाह्निक

कयट ने बुद्धिनिर्ग्राह्य शब्द का अभिप्राय भर्तृहरि के आधार पर ध्वनिजन्य संस्कार से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धिनिग्राह्य माना है

> पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धि निर्ग्राह्य इत्यर्थ ।
>
> —कयट महाभाष्यप्रदीप पृ० ९५ गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित

---

१४ वाक्यपदीय १।२३ हरिवृत्ति में अनुसंवाक्य के रूप में उद्धृत।
१५ महाभाष्य १।४।१०९

अभिनवगुप्त ने भी, व्याकरणदर्शन की दृष्टि में, वाक्यस्फोट को बुद्धिनिर्ग्राह्य माना है

वैयाकरणैरपि वाक्यस्फोटस्य प्रायशः बुद्धिनिर्ग्राह्यत्वं वर्णितम् ।[१६]

हेलाराज ने भी अभ्यास के आधार पर स्फुट स्फुटतर रूप में चरम बुद्धि में स्फोट तत्त्व की अभिव्यक्ति मानी है और शब्दतत्त्व को ही जातिस्फोट के रूप में दो में विभक्त स्वीकार किया है

चरमचेतसि चकास्ति स्फुटतरमवद स्फोटतत्त्वम् । शब्दतत्त्व जातिव्यक्तिभेदेन भिन्न स्फोटस्वभावमवाङ्मीकृतम् ।

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ जातिसमुद्देश ६

वर्णस्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट तीनों का बुद्धि में अध्यारोप प्रयत्नविशेष से उद्बुद्ध ध्वनियों द्वारा होता है

वर्णपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान स्फोटान पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति ।

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।८३

शब्द की बुद्धिनिर्ग्राह्यता और उसकी वाचकता के आधार पर शब्द को स्फोट माना जाता है । इस दृष्टि से स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति स्फुटत्यर्थो यस्मात —इस रूप में की जाती है ।

स्फोट शब्दनित्यत्व के रूप में

भर्तृहरि ने शब्द के निरवयव दर्शन पर प्रकाश डाला था । और उसके एक निर्विभाग नित्यस्वरूप की भी चर्चा की थी । ऐसे प्रसंगों में भर्तृहरि ने स्फोट शब्द का व्यवहार नहीं किया है । किन्तु पुण्यराज जैसे टीकाकारों ने ऐसे स्थलों में शब्द और स्फोट को एक माना है । पुण्यराज ने स्फोट के दो भेद किए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर । पुनः बाह्य स्फोट के दो भेद किए हैं—जातिस्फोट और व्यक्तिस्फोट ।[१७] शब्द का एक अनवयव स्वरूप पुण्यराज के अनुसार व्यक्तिस्फोट का प्रतीक है ।[१८] सघातवर्तिनी जाति जातिस्फोट का प्रतीक है । भर्तृहरि ने जिस बुद्ध्यनुसंहारलक्षण आन्तर शब्द कहा है उसे ही पुण्यराज ने आभ्यन्तरस्फोट माना है ।[१९] और एक अखण्ड व्यक्तिस्फोट अथवा जातिस्फोट को सिद्धान्त रूप में, वाचक के रूप में स्वीकार किया है

एक एव नित्य शब्दोऽभिव्यक्तिस्फोटो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वाचको ऽङ्गीकार्य इति सिद्धान्त ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।२९

१६ ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग २ पृ० १८८

१७ स्फोटस्तावद् द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः ।—पुण्यराज ७ वाक्यपदीय २।१

१८ अनेन एकानवयव शब्द इति बुद्धिस्थ प्रतिपादित स्फोटस्य स्वरूपमुक्तम् बोद्धव्यम् ।—पुण्यराज वाक्यपदीय २।१९

शब्दनित्यत्व के पक्ष में शब्दस्य न विभागोऽस्ति[२०] नित्येषु तु कुतः पूर्वम्[२१] जैसे भर्तृहरि के कई वक्तव्यों को स्फोटवादियों ने स्फोट के पक्ष में ले लिया है। स्फोटवाद के कतिपय समीक्षकों ने भी स्फोट का खण्डन शब्दनित्यत्व के खण्डन के आधार पर किया है।

स्फोट जाति रूप में

किसी आचार्य ने शब्दनित्यत्व का आधार आकृतिनित्यत्व माना था। उनके मत में स्फोट शब्द का वाच्य शब्दाकृति है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है। शब्दाकृति शब्दव्यक्ति (ध्वनि) से अभिव्यक्त मानी जाती है। शब्दव्यक्ति उत्पन्न होनेवाली और स्वतः अव्यपदेश्य होती है किन्तु व्यपदेश्य रूप स्फोट के द्योतक होने के कारण ध्वनि सुना जाता है। यह स्फोट शब्दाकृति है। इसी शब्दाकृति को भर्तृहरि ने दर्शनभेद के आधार पर अनेकव्यक्ति से अभिव्यक्त जाति माना था और उसे स्फोट के रूप में निर्दिष्ट किया था।[२२] किन्तु बाद में स्फोट को जाति से, विशेषकर सत्ताजातिवाद से संबद्ध कर दिया गया। सायण ने जातिस्फोट का उल्लेख 'परमार्थसद्वितलक्षणसत्ताजाति' के रूप में किया है।[२३] इस मत में सभी शब्दों का अर्थ सत्ता लक्षण जाति है। उपरञ्जक द्रव्य से स्फटिक की तरह सर्वाधिभेद से सत्ता में भेद प्रतिभासित होता है। इसीलिए सभी शब्द पर्याय नहीं हो पाते। गो अश्व आदि में सत्ता ही महासामान्य है। गोत्वादिक अपरसामान्य महासामान्य से भिन्न नहीं है। सभी शब्द वाचक रूप में उसी सत्ता में अवस्थित है। प्रातिपदिकार्थ भी सत्ता ही है। भाव भी सत्ता है। त्व तल आदि भावप्रत्यय से वही सत्ता व्यक्त की जाती है। क्रिया भी जाति है। वह सत्ता नित्य है। उसमें ह्रास अथवा विकास नहीं होता। वह देश काल अथवा वस्तु के परिच्छेद से रहित है और इसीलिए उसे महानात्मा कहा जाता है

> सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
> जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥
> तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
> सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः॥
>
> —वाक्यपदीय ३ जातिसमुद्देश ३३, ३४

बाद के वैयाकरणों ने जातिस्फोट को ब्रह्म पद तक पहुंचा दिया है

तथा च गवयादिव्यक्तावपि न्यायसाम्येनाकृत्यधिकरणतया यद्ब्रह्मतत्त्वमेव तत्तदुपहितं वाच्यं वाचकं च। अविद्यावधिक धर्मविशेषो वा जातिरिति

---

२० वाक्यपदीय ११३

२१ वही, ११२२

२२ अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।

—वाक्यपदीय, १।९४

२३ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३०४

पक्षे तु राम याचिकास्तियत्पाहु ।

—न्यासकौस्तुभ प० १०

कयट ने व्यवहारनित्यता के आधार पर वर्ण-पद वाक्य स्फोट अथवा जातिस्फोट को नित्य माना है

सच्च ब्रह्मतत्त्व परमार्थतो नित्यम । व्यवहारनित्यतया वर्णपदवाक्यस्फोटानाम नित्यत्वम जातिस्फोटस्य वा ।

—महाभाष्यप्रदीप(भमज) प० १४७ निर्णयसागर १९

शेषनारायण ने सखण्ड अखण्डभेद से पद वाक्य और ध्वनिस्फोट का विभेद किया है। जातिस्फोट भी दो तरह का माना है और किसी अन्य मत से वर्णस्फोट को भी जाति और व्यक्तिभेद से दो तरह का माना है। इनमे वाक्यस्फोट और जातिस्फोट को अधिक महत्त्व दिया है। जातिस्फोट एक ही साथ ब्रह्म और अविद्या दोनो हैं

यद्यप्यत्रानेके स्फोटा प्रतिपादिता, तथापि वाक्यस्फोट एव परमार्थ । तत्रापि जातिस्फोट इति । जातिश्च सर्वाधिष्ठानस्वरूपात्मक ब्रह्म व अविद्य व चेति ।

सूक्तिरत्नाकर हस्तलेख

शेषनारायण के मत म वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्म और स्फोटब्रह्म म केवल यही अन्तर है कि वेदान्त म न द निमित्तकारण के रूप म(सृष्टि के लिए) गृहीत है जबकि व्याकरण म उपादान कारण के रूप म माना जाता है

वेदान्तिभिरपि निमित्तकारणत्व शब्दस्याभीष्टम । अस्माभिस्तु उपादानत्वम् अभ्युपेयत इति विशेष ।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख ।

वाक् के रूप मे स्फोट

आगमो म परा पश्यन्ती आदि का सबध मूलाधार चक्र आदि से माना जाता है। भर्तृहरि आदि ने तो परावाक का विवेचन नही किया है और न वाक का सबध चक्र-विशेष से जोडा है किन्तु बाद के कुछ वैयाकरणो ने तन्त्र के प्रभाव के कारण परावाक को महत्त्व दिया है और वाक को तन्त्रप्रसिद्ध नादबिन्दु के क्षेत्र म देखा है। सायण ने किसी आगम के आधार पर लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अभिलषित अर्थ क लिए शब्द का प्रयोग करना चाहता है इच्छाजन्य प्रयत्न से मूलाधार म प्राणवायु का परिस्पन्द होता है। उस परिस्पन्द से मूलाधार मे सूक्ष्म परावाक प्रकट होती है जो सकल शब्द समुदाय का कारण है और स्वय निष्पन्द है। वही परावाक मूलाधार से उठ नाभिदेश म आकर पश्यन्ती कहलाती है। वह सामान्यज्ञानरूपा मानी जाती है। विवक्षित पदार्थ के दर्शाने के कारण उसे पश्यन्ती कहा जाता है। वही हृदयदेश म प्राप्त होकर मध्यमा कहलाती है। उसम अर्थविशेष की भावना व्यक्त हो गई रहती है। मध्यदेश म अवस्थान क कारण उसे मध्यमा कहा जाता है। वही वर्णरूप से कण्ठ तालु आदि स्थानो म व्यक्त होती हुई वैखरी कहलाती है। विशेष रूप से (वि) दूसरो को अवबोध करने म प्रचण्ड(खर)होने क कारण उसे वैखरी कहा जाता है।[२४]

---

२४ अथर्ववेद, सायणभाष्य ७।१ सायण ने इस सन्दर्भ में निम्नलिखित आगम उद्धृत किए हैं—

नागेश ने मध्यमा वाक् को स्फोट का प्रतिनिधि माना है

'तत्र मध्यमायां यो नादांश तस्यैव स्फोटात्मानो वाचकत्वेनाक्षति ।

—मंजूषा, पृ० १८०

उनके अनुसार प्रलयकाल में माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। एक तरह में सुप्त-सी अवस्थित रहती है। पुनः परमेश्वर में सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति उदित होती है। उससे बिन्दु रूप अव्यक्त त्रिगुण उत्पन्न होता है। यही शक्ति तत्त्व है। उस बिन्दु का अचित अंश बीज है। चित अचित मिश्र अंश नाद है। चित अंश बिन्दु है। अचित शब्द से अभिप्राय अविद्या से है जो शब्द और अर्थ उभय संस्काररूपा है। उस बिन्दु से चेतनमिश्र नादमात्र उत्पन्न होता है। वह वर्ण आदि विशेष ज्ञान से रहित है ज्ञानप्रधान है और सृष्टि के उपयोगी अवस्थाविशेषरूप है। उसका दूसरा नाम शब्दब्रह्म है। वह जगत का उपादान है। उसे रव परा आदि शब्द से भी कहा गया है। वह प्राणी में सर्वगत होते हुए भी मूलाधार में संस्कृतपवन के चलन से अभिव्यक्त होता है। संस्कृतपवन से अभिप्राय पवन के संस्कार से है। पवन का संस्कार व्यक्ति की विवक्षा से जन्य प्रयत्न के योग से होता है। उससे अभिव्यक्त निष्पन्द शब्दब्रह्म परावाक कहलाता है। वही नाभिपर्यन्त पहुँचकर उस पवन से अभिव्यक्त पश्यन्ती कहलाता है जिसका विषय मन है (मनोविषय)। परा और पश्यन्ती ये दोनों सूक्ष्मतर हैं। इनके अधिदेवता ईश्वर हैं और ये समाधि में योगियों के निर्विकल्प और सविकल्प के विषय बनती हैं। पुनः हृदयप्रदेश में पहुँचकर उस पवन द्वारा हृदय देश में अभिव्यक्त होकर वह मध्यमा वाक् कहलाता है। मध्यमा में शब्द और उसके अर्थ का आकार स्पष्ट हो गया रहता है। उसका विषय बुद्धि है अथवा बुद्धि से वह ग्राह्य है (बुद्ध्या विषयीकृता)। उसका देवता हिरण्यगर्भ है। मध्यमा भी सूक्ष्म है क्योंकि दूसरे के श्रवणेन्द्रिय से अभी ग्राह्य नहीं है। किन्तु स्वयं दोनों कानों को बन्द कर सूक्ष्मतर वायु के अभिघात से सुनी जा सकती है और उपांशुशब्दप्रयोग में भी श्रूयमाण होती है। इस मध्यमा वाक् में जो नादांश है वही स्फोट है।[२४] कलाटीकाकार वैद्यनाथ के अनुसार नादांश से अभिप्राय नाद से सम्बद्ध विमर्श से है।[२५]

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी।
यस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते॥
अविभागेन वर्णानां सर्वत्र संहृतक्रमा।
प्रायान्तः पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा।
मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा॥
अन्तः संकल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति।
ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यक्ता परबोधप्रकाशिनी।
मनुष्यमात्रसुलभा बाह्या वाग् वैखरी मता॥

२५ वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, पृ० १६८-१८०

२६ "नादांश—नादसम्बद्धविमर्शकशब्दरूपांश। तस्यैव विमर्शांशस्यार्थस्य वाचकत्वमग्रे वक्ष्यति।"—मंजूषा, कलाटीका, पृ० १८०

शारदातिलक के लेखक लक्ष्मणदेशिकेन्द्र के अनुसार 'परमेश्वर से शक्ति उद्भूत होती है। शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है। शक्तिमय परमेश्वर पुनः तीन रूपों में विभक्त होता है। बिन्दु, नाद और बीज उसके तीन भेद हैं। बिन्दु शिव है। बीज शक्ति है। नाद शिव और शक्ति का मिश्र रूप है। बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा उत्पन्न होती है जो क्रमशः शिव, ब्रह्मा और विष्णु के प्रतीक हैं। पर बिन्दु के स्फोट से रव उत्पन्न होता है। उस रव को आगमों में शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अन्य विचारक नादात्मा को शब्द ब्रह्म मानते हैं। पुनः कुछ अन्य आचार्य शब्द को ही शब्दब्रह्म मानते हैं। इन दोनों मतों में जड़त्व है। सर्वभूत में अवस्थित चैतन्य को शब्दब्रह्म समझना चाहिए।'[27]

पश्यन्ती और स्फोट की एकता की भी चर्चा आगमों में है। यद्यपि भर्तृहरि ने कहीं स्फोट और पश्यन्ती की समानता का उल्लेख नहीं किया है फिर भी सोमानन्द ने उनके ऐक्य की संभावना मानकर भी उनकी समीक्षा की है। उत्पल के अनुसार, स्फोटवादी पश्यन्ती और स्फोट दोनों को नित्य मानते हैं। इस दशा में स्फोट और पश्यन्ती दोनों एक हो सकते हैं दोनों में केवल शब्द का भेद है। दोनों में भेद मानने पर द्वैत होता है। असत्य पद आदि से सत्य अथवा कूटस्थनित्य स्फोट की व्यंजकता भी संदिग्ध है। पश्यन्ती और स्फोट के ऐक्य मानने पर आप्तवाक्यविचार और अनाप्त वाक्यविचार में भेद संभव नहीं हो सकेगा। दोनों प्रकार के वाक्यों के स्रोत एक होने से दोनों में पूर्णता माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त पश्यन्ती और स्फोट दोनों में बहुत्व मानना पड़ेगा (शिवदृष्टि, पृ० ७५-७६)। पहले कहा जा चुका है कि ये विचार सोमानन्द के कल्पित हैं। वाक् विचार के अवसर पर काश्मीर शैवागम और व्याकरण दर्शन दोनों की दृष्टि से पश्यन्ती पर विचार किया जा चुका है। भर्तृहरि ने अथवा किसी अन्य वैयाकरण ने पश्यन्ती और स्फोट की एकता का प्रतिपादन नहीं किया है।

स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में

भर्तृहरि ने *वाक्यपदीय* के आरम्भ में शब्दतत्त्व को अक्षर ब्रह्म के रूप में निर्देश किया और उससे अर्थरूप में जगत् का विवर्त माना है। कुछ लोग इस शब्दतत्त्व

---

२७ शारदातिलक, १।७—१३, शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट के अनुसार शब्दार्थ संज्ञक शब्दब्रह्म से अभिप्राय आन्तरस्फोट से है और आन्तरस्फोट सिद्धान्त आचार्यों का है। शब्द संज्ञक शब्दब्रह्म मत वैयाकरणों का है।

एके आचार्याः शब्दार्थं आन्तरस्फोटं शब्दब्रह्मेत्याहुः। यथाहुः—'निरंशः स्वाभिन्नो नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमयः आन्तरस्फोटः' इति। अपरे वैयाकरणाः पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्त तत् तत् पदसंस्कारसहायचरमपदग्रहोद्बुद्धं वाक्यस्फोटलक्षणं शब्दमखण्डैककार्यप्रकाशकं शब्द ब्रह्मेति वदन्ति। यदाहुः—'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो वा ब्रह्मरूप इति।—शारदातिलक टीका, पृ० ११, तुलना कीजिए—"इह निरंशः स्वाभिन्नो यदि स्फोटो जातिस्फोटो वा ब्रह्मरूप आन्तरः शब्दार्थमयो वा बुद्ध्यनुसंहारो वाक्यमिति स एव वाचक उपपन्नः।"

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१९

को स्फोट मानकर स्फोट को शब्दब्रह्म कहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी प्राचीन आगम के आधार पर भर्तृहरि ने अभिधान रूप में विवर्त और अभिधेय रूप में विवर्त का संकेत किया है। इस प्रसंग में उन्होंने प्राचीन ग्रंथ से एक उद्धरण भी दिया है जिसका अभिप्राय यों है—

जो सब तरह की कल्पनाओं के आभास से भी नहीं आता उसकी तर्क, आगम और अनुमान के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पना की जाती है। वह भेद और संसर्ग से परे है। उसमें न भाव है और न अभाव न क्रम है और न अक्रम। वह सत्य और अनृत से भी परे है। वह विश्वात्मा केवल अविवेक से प्रकाशित होता है। वह भूतों के अंत में अवस्थित है। वह समीप भी है दूर भी है। वह स्वयं अत्यंत मुक्त है। मुमुक्षु मोक्ष के लिए उसकी उपासना करते हैं जिस तरह ग्रीष्म के अंत में इंद्र शून्य आकाश में मेघ भर देता है वैसे ही वह प्रकृतिगत विकारों को बिखेर देता है उत्पन्न करता है। उसका चैतन्य यद्यपि एक है फिर भी अनेक रूपों में उसी तरह विभक्त हो जाता है जैसे उत्पात के अवसर पर समुद्र का जल (अङ्गाराङ्कित उदकम्)[२७क]। जैसे मारुत से जल बरसाने वाले बादल उत्पन्न होते हैं वैसे ही सामान्य रूप में अवस्थित उससे विकारमय व्यक्तिमय व्यक्तिसमूह उत्पन्न होते हैं। वह परम ज्योति त्रयी (वेद) के रूप में विवर्तित होती है। और अनेक दर्शनों में पृथक्-पृथक् रूप में दृष्टिभेद का आधार होती है। शान्तविद्यात्मक उसी का अंश है किन्तु वह अविद्या से ग्रस्त हो जाता है। अविद्या अनिर्वचनीय है। उसके परिणमित रूपों का अन्त नहीं है। उससे प्रभावित व्यक्ति अपने आप में अवस्थित नहीं रह पाता। जिस तरह कोई व्यक्ति दृष्टिदोष के कारण विशुद्ध आकाश को भी अनेक आकारों से चित्रित देखता है उसी तरह निर्विकार अमृत ब्रह्म भी अविद्या से आच्छन्न मति के कारण विकारयुक्त और विभक्त रूप में परिणमित दिखाई देता है। वह ब्रह्म शब्द है। जो कुछ है सब शब्द से निर्मित है। सबका मूल आधार शब्द है। शब्दमात्राओं से ही सबका विवर्त होता है और पुनः शब्दमात्राओं में ही सबका लय होता है।[२८]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने किसी आगम के आधार पर शब्दविवर्त का प्रतिपादन करना चाहा था। कुछ लोग शब्दविवर्त में शब्द से प्रणव अभिप्रेत

---

२७ क 'अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिराशाविवोदकम्' का अभिप्राय सिंहसूरगणिवादिक्षमाश्रमण ने यों दिया है—यथा उदन्वताम् तोयम उत्पाते अङ्गारराशिवत् प्रज्वलत्प्रतिपद्यते तथाप्यानेकरूपता मिथ्यैव प्रकृतित्वमिति—द्वादशारनयचक्र, पृ० ३००

२८ ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

—वाक्यपदीय, १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत।

वृषभ ने इसका एक दूसरा अर्थ भी यों दिया है—

अथवा ब्रह्मेदमिति विकारग्राममाह, अव्यतिरेकात्। तत शब्दनिर्माणमिति, शब्दतत्त्व निर्माणं, तत निर्मितत्वात्। शब्दशक्तिनिबन्धनमिति। शब्दशक्त्यो वा तत्त्वतामते प्रतीयन्ते वा तथैवेति।...

माना है। सभी शब्द और सभी अर्थों की प्रकृति शब्द है। माण्डूक्य में स्पष्ट भी द्रव्यविषयक के प्रतिपादन के अवसर पर प्रणव को ब्रह्म कहा है

> शिरः पृथिव्यापस्तु । पृथिव्यापावो हि शब्दम् । विज्ञानं । विज्ञाने हि शब्दम् । ज्ञानम् । ज्ञाने हि शब्दम् । ओम् । अथ तद् ब्रह्म ।[28]

प्रणव सभी शब्द और सभी अर्थ की प्रकृति है। सभी ज्ञान शब्दानुविद्ध है। वस्तु ज्ञान शब्दाकारानुगत होता है। सभी ज्ञान वाक् रूप से अनुस्यूत रहते हैं। ज्ञानशून्य अवस्था (असम्प्रज्ञात अवस्था) में भी वाणी के सूक्ष्म अंश अनुस्यूत रहते हैं।[29] बाह्य अर्थ का सर्वप्रथम परिचय (शिशु का) वस्तु के स्वरूप मात्र के रूप में होता है। वस्तुनिमित्त के ठीक से परिज्ञान न होने के कारण शब्द तत् जैसे भाव उसके मन में नहीं उठ पाते हैं। अर्थ शब्द का विवर्त है। शब्दब्रह्म और संसार, इस दृष्टि से, एक है।

भोज ने किसी अन्य आगम के आधार पर शब्द के अध्यास, विवर्त और विपरिणाम इन तीनों रूपों में अर्थ की उत्पत्ति की है। शब्द से भिन्न रूप में अर्थान्तर की उपलब्धि नहीं होती। अर्थ (जगत्) शब्द का अध्यास है। एक ही शब्द ग्राह्य ग्राहक और संवित्ति रूप में विपर्यास अथवा दृष्टिभेद के कारण अलग अलग जान पड़ता है। परमात्ममय ज्योतिरूप शब्द (सरस्वती) ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय रूप में प्रकट होता है।[31] जैसे जल तरंगादि रूप में सीमादि चित्र आदि रूप में विवर्तित होते हैं, शब्द अविद्या उपाधि के सहारे भिन्न भिन्न रूप में विवर्त प्राप्त करता है। भोज के अनुसार जहाँ शब्द से अर्थ के विवर्त का प्रतिपादन किया जाता है वहीं अर्थ में शब्द के विवर्त की प्रक्रिया दिखाई जा सकती है। किन्तु शब्दब्रह्म प्रवाद को महत्त्व देने के लिए शब्द से अर्थ का विवर्त दिखाया जाता है। भोज की दृष्टि में अभिधीयमान अर्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए शब्द के विपरिणाम पक्ष को अंगीकार करना चाहिए। जैसे मिट्टी से घट, क्षीर से दधि, शैशव से यौवन विपरिणाम के प्रतीक हैं उसी तरह शब्द ब्रह्म से, अविद्या उपाधि के सहारे अर्थ रूप में विपरिणाम होता है।[32]

---

२९ महाभाष्यदीपिका पृ० २९ (पूना संस्करण) इस अंश को हेलाराज ने वाक्यपदीय ३।३२ की टीका में उद्धृत किया है। द्वादशारनयचक्र पृ०४६५ पर भी इसी प्रकार उद्धृत किया गया है।

३० 'याप्यसंचेतितावस्था तस्यामपि वाग्धर्मानुगमोऽस्त्यावर्तते'
—वाक्यपदीय, १।१२५ हरिवृत्ति वृषभ ने असंचेतित अवस्था को स्वप्नावस्था माना है।

३१ अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥
अहीनग्रहणग्राह्यमायापथपरिच्युताम् ।
नमाम परमानन्दज्योतिरूपां सरस्वतीम् ॥—शृङ्गारप्रकाश, पृ० २२० पर उद्धृत।

३२ 'इदं शब्दब्रह्माव्यविद्योपाधेः तेन तेनार्थरूपेण तथा तथा विपरिणमते' भोज ने इसका एक रोचक उदाहरण दिया है—'तद् यथा, अस्ति मे पञ्च पुत्राः । मातरं पितरं शुश्रूषितवान् अस्मि । योऽहं युवा द्रमिडदेशे द्रमिडकन्याभिः सहावसं सोऽहं पश्चिमे वयसि गंगातीरे तपश्चरामीति।
—शृङ्गारप्रकाश पृ० २२१

शब्दविवर्त की आलोचना करते हुए शान्तरक्षित ने आपत्ति की है कि शब्द से जगत का परिणाम अपेक्षित है अथवा उत्पत्ति। परिणाम पक्ष अनुपपन्न है। क्योंकि शब्दात्मक ब्रह्म जब नील आदि रूप में परिणत होता है अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड देता है अथवा साथ रखता है? प्रथम पक्ष में (छोड देने के पक्ष में) शब्द ब्रह्म के अनादिनिधनत्व, अक्षरत्व आदि की हानि होती है क्योंकि पूर्व के स्वभाव का विनाश मानना है। यदि अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड नहीं देता है यह पक्ष अभिप्रेत है तो नील आदि के संवेदन के अवसर पर बधिर व्यक्ति को भी अश्रुत शब्द का संवेदन होने लगेगा क्योंकि नील के संवेदन से शब्द का संवेदन भिन्न नहीं है।[33]

वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म की प्रतिष्ठा कुछ भिन्न रूप में की है।

स्फोटवाद की समीक्षा

स्फोट सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्फोट का प्रकृत रूप प्राचीन काल से ही अस्पष्ट रहा है। जैसे उसके स्वरूप भिन्न भिन्न रूप में सामने लाए गये हैं उसकी आलोचना भी विभिन्न दृष्टिकोण से की गई है। आलोचकों के स्फोट संबंधी विवरण से स्फोट का स्वरूप जटिलतर होता गया है। स्फोटसिद्धांत के प्राचीन आलोचकों में उल्लेखनीय भामह, धर्मकीर्ति, शंकर, कुमारिल, वादिदेव सूरि और जयन्तभट्ट हैं।

भामह ने स्फोट के स्वरूप का निर्देश नहीं किया है। किन्तु ऐसा जान पडता है कि उनके मत में स्फोटवाद कूटस्थ, अनपायी नाद से भिन्न शब्द के रूप में गृहीत था। भामह के अनुसार शपथ लेकर भी स्फोटवादियों की बात नहीं माननी चाहिए। स्फोटवाद आकाश कुसुम सदृश है। अनादिकाल से वर्णव्यवहार द्वारा अर्थ अवबोध का एक समय (परिपाटी) निश्चित हो चुका है। अर्थ केवल सांकेतिक होते हैं पारमार्थिक नहीं होते।[34]

शब्द और अर्थ के संबंध को एक कल्पित समझौता के रूप में व्यक्त करना भामह की महत्त्वपूर्ण उक्ति है। किन्तु वर्ण अथवा नाद से सूक्ष्म किसी ध्वनितत्त्व की सत्ता को सर्वात्मना अनङ्गीकार करना अवैज्ञानिक है।

धर्मकीर्ति ने भी स्फोट का विवरण नहीं दिया है। ऐसा जान पडता है उनके सामने स्फोटवाद वर्ण से अनिश्चित एक आनुपूर्वी के रूप में और अपौरुषेय के रूप में था। आनुपूर्वी, उनके मत में अतद्रूप में तद्रूप की कल्पनामात्र है बुद्धि का एक विभ्रम है। न तो बुद्धिविभ्रम अपौरुषेय हो सकता है और न सकल शब्द अपौरुषेय हो सकते हैं।[35] धर्मकीर्ति ने समग्रतः मीमांसादर्शन के अपौरुषेय और वैयाकरणों

---

३३ तत्त्वसंग्रह, तथा पंजिका, १२९ १३१।

३४ काव्यालंकार ६।१२ १४

३५ प्रमाणवार्तिक, कारिका २७१, पृ० ६४ काशी संस्करण

के वर्णविचार को एकम गूंथकर स्फोट की चिंता की है और इसलिए वह चिन्त्य है।

आचार्य शंकर ने वर्णों में क्रम के आधार पर स्फोटपक्ष में गरीयसी कल्पना, दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना मानी है। इसका उत्तर नागेशभट्ट ने नित्य और विभु में क्रम के अभाव दिखाकर दे दिया है।[३६]

कुमारिल ने स्फोट की आलोचना कुछ विस्तार से किन्तु विशृंखल रूप में की है। मीमांसकों को अपनी स्फोट समीक्षा पर अभिमान है और वे इस वैयाकरणों की चिकित्सा सी मानते हैं।[३७]

मीमांसा दर्शन में स्फोट का खण्डन विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर किया गया है। स्फोटवाद की सत्ता मान लेने पर पद वर्ण आदि अवयवों की सत्ता व्यर्थ हो जाती है। फलतः पद और उसके अवयवाश्रित ऊह आदि भी मृषा जान पड़ेंगे महावाक्य में अवान्तरवाक्य सिद्ध नहीं हो पायेंगे प्रयाजादि आश्रित प्रसंग, तन्त्र आदि व्यर्थ जान पड़ेंगे। इसलिए उनके लिए स्फोटवाद का निराकरण आवश्यक हो जाता है।[३८] मीमांसकों के अनुसार दृढस्मतिबद्ध वर्णों में वाचकता है। वर्णों से अतिरिक्त शब्द की कल्पना तथा अनेक संस्कारों की कल्पना गौरवग्रस्त है। उनकी मान्यता में नाद वायुस्वरूप नहीं है और न संयोगविभागमय है। किन्तु वायुगुणवाले शब्दविशेष को ही नाद कहा जाता है और ध्वनि भी कहा जाता है। शब्द दो तरह का होता है वर्ण और ध्वनि। दोनों में शब्दत्व अनुगत रहता है। वर्णत्व और ध्वनित्व अवान्तर सामान्य है। गकार आदि वर्णविशेष हैं श्वासघोष आदि ध्वनिविशेष हैं। ध्वन्यात्मक शब्द वायुगुण वाला है। जैसे प्रभारूप आवान्तर का अभिव्यंजक होता है शब्द वर्णात्मक गकार आदि का व्यंजक होता है। वायु के कर्णविवर में प्रवेश से शब्द का ग्रहण संस्कृत श्रोत्र द्वारा होता है। कभी वर्णरहित केवल घोष आदि का ग्रहण होता है कभी वर्णसहित, वर्ण से उपश्लिष्ट ध्वनि का ग्रहण होता है।[३९] पद अथवा वाक्य में वर्तमान वर्ण या ध्वनि स्फोट के व्यंजक नहीं होते। वर्ण से व्यतिरिक्त रूप में स्फोट अर्थ का वाचक नहीं होता।[४०]

वाक्यों के अवयवाश्रय कार्यों की सिद्धि के लिए कुमारिल का आयास आयास मात्र है। भर्तृहरि ने स्फोट की सत्ता मानते हुए भी वाक्यधर्म के रूप में स्वयं प्रसंग तन्त्र आदि का विवेचन किया है। वर्णों में वाचकता मानना जैसे एक मान्यता है, वर्णों

---

३६ नित्यानां च विभूनां च क्रमो नास्त्येव वास्तव।
उपलब्धिनिमित्तोऽस्ति सा चेदेका कुतः क्रमः।
—स्फोटतत्त्व निरूपण ७

३७ चिकित्सेव कृता शब्दविदां मीमांसकैरियम्।
—शास्त्रदीपिका, युक्तिस्नेहप्रपूरणी, पृ० ६७

३८ न्यायरत्नाकर व्याख्या, पृ० ५४४

३९ श्लोकवार्तिक न्यायरत्नाकर पृ० ५११

४० श्लोकवार्तिक स्फोटवाद १३१, १३७

से व्यतिरिक्त स्फोट में वाचकता मानना भी एक मान्यता है। मान्यता विचारक के तर्क, कल्पना और स्वतन्त्रता से परिचालित होती है। इस दृष्टि से मीमांसादर्शन और व्याकरणदर्शन दोनों स्वतन्त्र हैं। कुमारिल के स्फोट की समीक्षा मण्डन मिश्र ने और योगसूत्र के टीकाकार किसी अर्वाचीन शङ्कर ने भी की है।

वादिदेवसूरि ने अनुपम रूप में उक्त भर्तृहरि के कई मन्तव्यों पर विचार किया है किन्तु मूल स्फोट के विषय में ऊहापोह कम है। उनकी मौलिक आलोचनाओं में दो उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि यदि अर्थप्रत्यायकत्व मात्र के आधार पर स्फोट को शब्द माना जायगा तो प्रत्यायक धूम में भी शब्दत्व माना जायगा। दूसरा यह कि नालिकेर द्वीप निवासी जिसे गो शब्द का संकेत नहीं ज्ञात है, कभी भी गो शब्द से अर्थ बोध नहीं कर सकेगा। इस तरह लोक व्यवहार विच्छिन्न हो जायगा।[४१] ये दोनों ही तर्क आपातरमणीय हैं। भर्तृहरि ने ध्वनि से सर्वथा निरपेक्ष रूप में स्फोट का प्रतिपादन नहीं किया है। अतः केवल प्रत्यायक धूम को शब्द नहीं माना जायगा। स्फोट सिद्धान्त का यह अभिप्राय नहीं है कि जो भाषा जो नहीं जानता हो उसके श्रवण से भी उसे अर्थ बोध हो। ध्वनि के साथ ध्वनि की प्रतीतपदार्थकता है।

जयन्तभट्ट ने स्फोट को प्रत्यक्षगम्य अथवा अनुमेय नहीं माना है। किन्तु यदि ध्वनि से संपृक्त रूप में ही स्फोट की उपलब्धि होती है स्फोट को ध्वनि की तरह श्रोत्रग्राह्य रूप में प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। प्रतीति वचित्र्य भी ध्वनि वचित्र्य के कारण होती है अथवा मणि कृपाण आदि में एक ही मुख की अनेकधा अभिव्यक्ति की तरह एक ही स्फोट की अनेकधा अभिव्यक्ति संभव है।

शब्द ब्रह्मवाद

प्रतिभातत्त्व और वाक् तत्त्व एक ही वस्तु है। और वाक् तत्त्व और ब्रह्म एक ही वस्तु है। भर्तृहरि के अनुसार ब्रह्म आदि अन्त से रहित है। सब तरह की कल्पनाओं से परे है। सब तरह के भेद और समग्र से परे विद्या अविद्या आदि सभी तरह की शक्तियों से समाविष्ट है। शब्दतत्त्व और ब्रह्म की एकता दिखाने के लिए भर्तृहरि ने श्रुति का आधार अधिक लिया है। अपने मन्तव्य की परिपुष्टि में केवल एक तर्क उन्होंने उपस्थित किया है। शब्द ब्रह्म का उपग्राह्य है और उपग्राही है। अतः शब्द को ब्रह्मतत्त्व कहते हैं। शब्द उपग्राह्य इस रूप में है कि शब्द ब्रह्म द्वारा स्वीकृत होता है, वह शब्दस्वभाववाला है। शब्द ही रूप आदि के रूप में विवर्त प्राप्त करता है। विकार का प्रकृति में अन्वय देखा जाता है। रूप आदि विकार हैं, उनकी प्रकृति, भर्तृहरि के अनुसार, शब्द है। रूप आदि में सूक्ष्म शब्द का परिज्ञान होता है यह तभी संभव है जबकि रूप आदि की प्रकृति शब्द हो। रूप आदि सभी शब्दमय हैं। वे ही ब्रह्म के उपग्राह्य हैं। शब्द ब्रह्म का उपग्राही भी है अर्थात उसकी प्रतिपत्ति शब्दनिबन्धना है शब्द द्वारा उसका बोध होता है। इसलिए ब्रह्म शब्द तत्त्व है

---

४१ स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ६६७

'तत्तु (ब्रह्म) भिन्नरूपाभिमतानामपि विकाराणां प्रकृत्यवस्थितविकारोऽग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वमित्यभिधीयते ।

—वाक्यपदीय १।१ हरिवृत्ति

अभिप्राय यह है कि वाक्यपदीयकार ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके अनुसार ब्रह्म का स्वरूप शब्दमय है। शब्दस्वरूप होने के कारण ब्रह्म को शब्दब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म को शब्दस्वरूप मानने का मूल आधार विकार अपनी प्रकृति से संसृष्ट होते हैं यह सिद्धान्त है। रूपादि विकारों में शब्दभावना काम कर रही है। इसलिए उन सब विकारों की प्रकृति शब्द है। अपने इस मन्तव्य के समर्थन में भर्तृहरि ने श्रुतियों का सहारा लिया है। 'नामवेदरूप जैसे कथन' जैसे श्रुतिवाक्य शब्द को प्रकृति और गवादि अर्थ को विकार घोषित करते हैं।

शब्द ब्रह्म से विश्व का विकास

भर्तृहरि विवर्तवाद के आधार पर शब्द से विश्व के विकास का समर्थन करते हैं। उनके मत में विवर्त की परिभाषा निम्नलिखित है

"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः ।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय १।१

मूल तत्त्व एक है। वह कई रूपों में दिखाई पड़ सकता है। परन्तु इस विक्रिया से उसके मूलरूप में कोई भेद नहीं पड़ता। वह ज्यों का त्यों रहता है। संसार में अन्य पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के संसर्ग से अपने स्वरूप खोते हुए जान पड़ते हैं। पट हरित पीत आदि विभिन्न रंगों के सम्पर्क से हरित पीत आदि विभिन्न रंग का हो जाता है। स्फटिक लाल रंग आदि के साहचर्य से लाल आदि रूप में दिखाई देता है। पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। केवल भेद के अवभास के कारण एक होता हुआ भी वह अनेक रूप में विभक्त जान पड़ता है। अनेक रूप में उसका अवभास असत्य होता है। भेद के सहारे एक के अनेक रूप में अवभास को विवर्त कहते हैं। भर्तृहरि ने परिणाम शब्द का भी विवर्त के अर्थ में प्रयोग किया है। 'शब्दस्य परिणामोऽयम्' (वाक्यपदीय १।१२१) में भी परिणाम शब्द विवर्त-बोधक है जिसे एतद् विश्व विवर्तते (अवतरत) से स्वयं भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है। कई स्थानों पर हलाराज ने भी परिणाम को विवर्त के रूप में लेने का अनुरोध किया है

नेह साख्यनयवत् परिणामदर्शनमपि तु विवर्तपक्षः ।

—हेलाराज वाक्यपदीय ३, द्रव्यसमुद्देश १५

प्राचीन श्रुति के आधार पर भर्तृहरि ने दो तरह का विवर्त माना है। मूर्ति विवर्त और क्रिया विवर्त। दिक् शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त मूर्ति विवर्त है। क्रिया शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त क्रिया विवर्त है। दूसरे शब्दों में सिद्ध पदार्थों के लिए मूर्ति विवर्त और साध्य पदार्थों के लिए क्रियाविवर्त का व्यवहार किया जाता है। साध्य (क्रिया) और साधन (कारक, सिद्धरूप) के रूप में विभक्त होकर शब्द ब्रह्म का विवर्त होता है

प्रविभक्तसाध्यसाधनरूपो हि शब्दब्रह्मणो विवर्त

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२८, पृ० १२५

महाप्रलय के बाद जबकि सब-कुछ अस्त हो गया रहता है शब्द ब्रह्म से पुन सृष्टि का विकास होता है। उस समय शब्द म सम्पूर्ण भाव अगत संहृतक्रम रूप में रहता है। सभी भावों के एकत्र उपसंहार के कारण उनका अलग अलग अवधारण उस समय नहीं होता। विवर्त के कारण विकारों का आभास होने लगता है। सृष्टि के अन्त में प्रलय के समय सभी विकार पुन उसी शब्द तत्त्व में लीन हो जाते हैं

ब्रह्मेद शब्दनिर्माण शब्दशक्तिनिबन्धनम ।
विवर्त शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥[४२]

विवर्त का आधार किसी प्राचीन आगम के आधार पर भर्तृहरि ने अविद्याशक्ति को माना है। अविद्याशक्ति की प्रवृत्ति म सिद्ध और साध्य रूप म शब्द से विवर्त होने लगते हैं। हेलाराज ने भी इस मत का समर्थन किया है। अविद्याशक्ति म अनेक तरह के विकार प्रदर्शन की शक्ति है

सर्वावस्थासंभूतत्वात ब्रह्मण अनेकविकारप्रदर्शनसामर्थ्यलक्षणा अविद्याख्या शक्ति कार्यभेदादुपचरितनानात्वा समस्तीत्यागमविद ।[४३]

विवर्त की प्रक्रिया दर्शाने के लिए भर्तृहरि ने सत्ता विवर्त का आश्रय लिया है। पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि शब्द तत्त्व सत्ता अथवा महासामान्य को [illegible] समझते है। परब्रह्मस्वभावा सत्ता शक्तियों के आश्रय से षड्भावविकारों म परिणत (विवर्तित) हो जाती है। यही साध्यविवर्त है। जब क्रम रूप का [illegible] वस्था—अभिनेत होती है वही सत्ता सत्त्व (द्रव्य) रूप म प्रकट होती है। [illegible] सिद्ध अथवा साधन विवर्त है। सत्ता म ही सब शब्द व्यवस्थित हैं। [illegible] कहते है। उसी को प्रातिपदिकार्थ कहते है। त्व तल आदि प्रत्यय भी [illegible] है। वह नित्य है। महान आत्मा है

ने इसे स्पष्ट कर दिया है

> सर्वविच्च पश्यतोऽस्या पराया: पश्यन्त्याः ब्रह्ममयीनि ब्रह्मतत्त्व पारमार्थिक सत्त न विद्यते। विवर्तनावां तु वर्णमात्रा भव।[45]
>
> अविभागदशायां तु पश्यन्त्यामभिधानायां वाच्यवाचकभेदानुपातानात्मना विना कार्चित। इत्य च पृथक्ता वाच्यवाचकयोरिष्टात् व्यवहारे यमस्य तद वियोगात् सद विवर्तस्य विश्व सिद्धम्।[46]

अद्वैतवाद

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय म प्राय सभी तरह के दार्शनिक विचारों का उल्लेख किया है। उनकी यह शैली है कि वे गम्भीर विचारों के प्रसंग में दार्शनिक प्रवादों का उल्लेख करते हैं और व्याकरणदर्शन के सर्वपारिषद होने के कारण सभी नाना मतों का सर्वथा उचित था। परन्तु हेलाराज के अनुसार उनका झुकाव अद्वैतवाद की ओर रहा है। कई स्थानों पर हेलाराज ने उनके अपने सिद्धान्त का संकेत किया है

> परमार्थदृष्ट्या सर्वपार्षदत्वात पुनरस्य शास्त्रस्य दर्शनान्तरोपन्यास। एव च सर्वप्रवादस्य प्रकारस्यामिप्राय। पश्यन्त्यर्थविचारे ब्रह्मत्त्वनात्मनैव सम्बन्धादिविचार विनिगमनात।[47]
>
> अर्थोयविवर्तधर्मेणाद्वैतनय स्वमत सिद्धान्तयितुमुपक्रमते।[48]

इसम सन्देह नही कि वाक्यपदीय म अद्वैतविचारपरक तथ्यों की कमी नहीं है। उनका विवर्तवाद अद्वैतवाद का ही पोषक है। अद्वये पत्र सर्वस्मिन स्वभावादेर लक्षणे [49] जैसे वाक्य स्पष्ट रूप म अद्वैतवाद का अभिधान करते हैं। जब वे कहते हैं तत्त्व और अतत्त्व म कोई भेद नहीं है [50] वे अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करते जान पड़ते हैं। सत्य और असत्य दो रूप मानने से अद्वैतवाद की सगति न बठगी।

'एक ही सत्ता सब रूप म स्थित है। वही साध्य है। वही साधन है। वही फल है। वही फल का भोक्ता है।'[51]

त्रयी के रहस्य को जानने वाले उसी को सत्य मानते हैं जहां द्रष्टा, दृश्य और दर्शन सब अविकल्पित हैं।[52] विकल्पपरिघटित सब-कुछ असत्य है। अविकल्प तत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म है।

सागर, पृथ्वी वायु आकाश, सूर्य, दिशाएं आदि सभी अन्तःकरण तत्त्व की

---

४५ वाक्यपदीय द्रव्यसमुद्देश ११
४६ वही, सम्बन्धसमुद्देश २
४७ वही जातिसमुद्देश ३५
४८ वही सबध समुद्देश ६१वीं कारिका की अवतरणिका।
४९ वही, सबध समुद्देश ६४
५० वही द्रव्य समुद्देश ११
५१ वही क्रिया समुद्देश ३५
५२ वही सबध समुद्देश ७०

बाह्य अभिव्यक्ति है

> **द्यौ क्षमा वायुरादित्य सागरा सरितो दिश ।**
> **अन्त करणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिता ॥**[53]

आदि उक्तियां अद्वैतवादपरक है। परन्तु भर्तृहरि ने अद्वैत ब्रह्म को शब्द ब्रह्म से अलग रख कर नहीं देखा है। उनका अद्वैत ब्रह्म शब्द अद्वैत ब्रह्म कहा जा सकता है। कुछ विचारकों ने "शब्दाद्वैतवाद" शब्द का प्रयोग भी किया है। हेलाराज ने भी उपर्युक्त कारिका का भावार्थ बताते हुए शब्द ब्रह्म का ही समर्थन किया है

> **परमार्थे तु कीदृशोऽन्तर्बहिर्भाव । एकमेव सच्चिन्मय पर शब्दब्रह्म यथा—तथमवस्थितम्।**

इस प्रौढ आधार पर भर्तृहरि ने व्याकरण दर्शन को सुव्यवस्थित किया है। 'महाभाष्याब्धिपीयूषच्छटाच्छुरितविग्रह' वाले वाक्यपदीय की यही विशेषता है। उसमें विवेचित प्रातिपदिकार्थ अथवा आख्यातार्थ, पद अथवा वाक्य शब्द अथवा प्रतिभा सब का अनूठा सौंदर्य है। गाम्भीर्य और सौष्ठव की छाप सर्वत्र है। अत्यन्त शील के साथ विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख करते हुए और अपने आगम की रक्षा करते हुए भर्तृहरि ने व्याकरण दर्शन की मान्यताओं को परिपुष्ट किया है।

व्याकरणदर्शन वाणी का परम रस है पुण्यतम ज्योति है। मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है। एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञान कामधुक् है। शब्दसंस्कार परमात्मा की सिद्धि है। शब्दतत्त्व के अनुशीलन से ब्रह्मामृत की प्राप्ति होती है। संस्कृत के वैयाकरण इन मान्यताओं का सजीव स्पन्दन पाए है और उन्हें सिद्ध करते रहे हैं।

□□□

---

५३ वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ४१

चुने संदर्भ-ग्रन्थ तथा निबन्ध

अन्नंभट्ट	महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, २ भाग, मद्रास, १९४८-१९५२
अभिनवगुप्त	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ३ भाग, श्रीनगर, १९३८—४३
„	मालिनीविजय वार्तिक, श्रीनगर, १९२१
	परात्रिंशिका श्रीनगर १९१८
	अभिनवभारती (नाट्यविवृति) ४ भाग, बड़ौदा
अय्यर, के० ए० एस०	भर्तृहरि, ए स्टडी आफ वाक्यपदीय इन द लाइट आफ द एन्शेन्ट कमेन्टरीज, पूना, १९६९
„	स्फोटसिद्धि का अंग्रेजी अनुवाद, पूना, १९६६
	द प्वाइण्ट आफ व्यू आफ वैयाकरणाज, जरनल आफ ओरियण्टल रिसर्च मद्रास वाल्यूम १८, पार्ट २, १९५१
„	प्रतिभा एज द मीनिंग आफ सेन्टेन्स, आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस १९४०
उम्बेक भट्ट	श्लोकवार्तिकव्याख्या तात्पर्यटीका, मद्रास, १९४०
ऋषिपुत्र परमेश्वर	स्फोटसिद्धिटीका गोपालिका मद्रास १९३१
कमलशील	तत्त्वसंग्रहपंजिका २ भाग, बड़ौदा १९२६
कर्णकगोमी	प्रमाणवार्तिकटीका राहुल, सांकृत्यायन संपादित, इलाहाबाद १९३०
कविराज गोपीनाथ	डाक्ट्रिन आफ प्रतिभा इन इण्डियन फिलासफी, एनाल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च वाल्यूम ५
कीलहार्न, एफ०	भर्तृहरि इण्डियन एण्टीक्वेरी, वाल्यूम १२, १८८३
कुमारिल	श्लोकवार्तिक चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १८९८
कृष्णमित्र	वैयाकरणभूषणसारकिका टीका (हस्तलेख)

कृष्णमित्र	कुञ्जिका टीका (लघुमञ्जूषा), बनारस १९२५
कैयट	महाभाष्यप्रदीप ५ भाग, निर्णयसागर, बम्बई, १९१७—१९४१।
	—गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस १९३९
कौण्डभट्ट	वैयाकरण भूषण बम्बई १९१५
गोकुलनाथ	पदवाक्यरत्नाकर बनारस
चक्रवर्ती प्रभातचन्द्र	फिलासफी आफ संस्कृत ग्रामर कलकत्ता १९३०
,,	लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन आफ द हिन्दूज, कलकत्ता, १९३३
चटर्जी, क्षितीशचन्द्र	टेक्निकल टर्म्स एण्ड टेक्नीक आफ संस्कृत ग्रामर कलकत्ता १९४८
चन्द्रकीर्ति	प्रसन्नपदा (माध्यमिक कारिका टीका) पीटसबर्ग, १९१२
जगदीश भट्टाचार्य	शब्दशक्तिप्रकाशिका कलकत्ता १९१४
जयन्त भट्ट	न्यायमंजरी बनारस १९३६
जयादित्य वामन	काशिकावृत्ति (बालशास्त्री संपादित) द्वितीयावृत्ति, बनारस १८९८
जिनेन्द्रबुद्धि	काशिकाविवरणपञ्जिका(न्यास)राजशाही १९१३—१९२५
	प्रमाणसमुच्चयटीका, अडयार
दुर्गाचार्य	निरुक्त भाष्य २ भाग, बम्बई, १९४२
धर्मकीर्ति	प्रमाणवार्तिक पटना, बनारस १९५६
नागेश भट्ट	बृहच्छब्देन्दुशेखर, ३ भाग, काशी १९६०
	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा, बनारस, १९२८
	परमलघुमंजूषा बनारस १९४६
	महाभाष्यप्रदीपोद्योत निर्णयसागर १९१७—१९४५, गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस, १९३९
	स्फोटवाद, अडयार, १९४६
पतंजलि	महाभाष्य ३ भाग, कीलहार्न संपादित बम्बई, १८९२
पाठक, के० बी०	द डेट आफ भर्तृहरि एण्ड कुमारिल, जरनल आफ बंगाल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८९३
पाणिनि	अष्टाध्यायी बम्बई सम्वत १९८५
,,	पाणिनीय शिक्षा, मनमोहन घोष संपादित, कलकत्ता १९२८
पाण्डेय, रामाज्ञा	व्याकरणदर्शनभूमिका, काशी १९५४

पाण्डेय, आर० सी०	प्राब्लेम आफ मीनिंग इन इण्डियन फिलासफी, दिल्ली १९६३
पार्थसारथि मिश्र	न्यायरत्नाकर (श्लोकवार्तिकटीका) बनारस
पिषारटि, के० राम	द डाक्टरिन आफ स्फोट, अन्नामलै यूनिवर्सिटी जरनल वाल्यूम १, पार्ट २
पुण्यराज	वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड की टीका बनारस, १८८७
पुरुषोत्तमदेव	भाषावृत्ति, राजशाही, १९१८
	ज्ञापकसमुच्चय
	कारकचक्र
	परिभाषावृत्ति
	राजशाही १९४६
प्रभाकरगुप्त	प्रमाणवार्तिकटीका पटना
प्रभाचन्द्र	प्रमेयकमलमार्तण्ड बम्बई १९४१
प्रभाकर मिश्र	बृहती, ५ भाग मद्रास १९३६—१९६७
बियू मदलीन	स्फोटसिद्धि फ्रेंच अनुवाद पाण्डिचेरी, १९५८
बेलवाल्कर श्रीपादकृष्ण	सिस्टम्स आफ संस्कृतग्रामर बम्बई १९१५
भट्टाचार्य गिरिधर	विभक्त्यर्थनिर्णय बनारस १९०२
भट्टाचार्य गौरीनाथ	ए स्टडी इन द डाइलक्टिक्स आफ स्फोट जरनल आफ द डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स, कलकत्ता १९३७
भट्टाचार्य विष्णुपद	ए स्टडी इन लैंग्वेज एण्ड मीनिंग, कलकत्ता १९६२
भट्टोजिदीक्षित	शब्दकौस्तुभ बनारस, १९२७
भरत मिश्र	स्फोटसिद्धि त्रिवेन्द्रम १९२७
भर्तृहरि	महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा की गई प्रतिलिपि।
	महाभाष्यदीपिका (त्रिपादी) डॉ० वी० स्वामीनाथन द्वारा सम्पादित बनारस १९६५
	महाभाष्य दीपिका (त्रिपादी) श्री के० वी० अभ्यंकर तथा आचार्य वा० वी० लिमये द्वारा सम्पादित पूना १९६७—७१
	वाक्यपदीय काण्ड १-२ (प्रथम काण्ड पर [illegible] हरिवृत्ति तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की टीका सहित) मानवल्ली गङ्गाधर शास्त्री सम्पादित बनारस १८८७
	वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड श्री द्रव्येश झा प्रणीत प्रभावृत्ति प्रकाशिका मन्दिर, वृन्दावन १९२५

भर्तृहरि — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड श्री सूर्यनारायण शुक्ल विरचित भावप्रदीप व्याख्यान सहित बनारस, १९३७

वाक्यपदीय, स्वोपज्ञटीका तथा वृषभटीका सहित प्रथमकाण्ड श्री चारुदेव शास्त्री सपादित लाहौर, १९३४

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड (१८४ कारिका तक) स्वोपज्ञवृत्ति तथा पुण्यराज की टीका सहित, श्री चारुदेव शास्त्री सपादित लाहौर १९३९

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड स्वोपज्ञवृत्ति सहित, हस्तलेख ओरियण्टल मनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी, मद्रास

वाक्यपदीय प्रथम काण्ड भर्तृहरिवृत्ति तथा वृषभदेव टीका सहित प्रोफेसर के० ए० एस० अय्यर सपादित, पूना १९६६

वाक्यपदीय प्रथम तथा द्वितीयकाण्ड प० रघुनाथ शास्त्री विरचित अम्बाकर्त्री सहित, काशी १९६३—१९६९

वाक्यपदीय तृतीय काण्ड प्रकीर्णक प्रकाश सहित बनारस (चौखम्बा), १९०५—१९३५

वाक्यपदीय तृतीय काण्ड, भाग १(साधन लिङ्गसमुद्देश) हेलाराज की टीका सहित श्री साम्बशिव शास्त्री सपादित त्रिवेन्द्रम, १९३५

वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड भाग २ (वृत्तिसमुद्देश) रवि वर्मा द्वारा सपादित, त्रिवेन्द्रम १९४२

वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड भाग १, हेलाराज की टीका सहित, प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा सपादित, पूना १९६३

वाक्यपदीय श्री क० वी० अभ्यकर तथा आचार्य वी० पी० लिमये द्वारा सपादित, पूना १९६५

वाक्यपदीय सवृत्ति प्रथम काण्ड प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा अग्रेजी म अनूदित, पूना १९६५

वाक्यपदीय काण्ड १ २, डा० के० राघवन पिल्ल द्वारा अग्रेजी मे अनूदित दिल्ली १९७१

भोज — शृगार प्रकाश ३ भाग मसूर १९५५—६९

मण्डन मिश्र — स्फोटसिद्धि मद्रास, १९३१

,, — भावनाविवेक काशी १९२२—२३

मल्लवादि क्षमाश्रमण — द्वादशारनयचक्र ४ भाग अहमदाबाद

,, — द्वादशारनयचक्र, भाग १ मुनि जम्बूविजय सपादित,

सुचरित मिश्र	काशिका (श्लोकवार्तिकटीका) ३ भाग, त्रिवेन्द्रम १९२७—४३
"	काशिका (हस्तलेख)
सोमनाथ	शिवदृष्टि (उत्पल की टीका सहित) श्रीनगर १९३४
स्कन्दस्वामी	निरुक्तभाष्य लाहौर, १९३०
हरदत्त	पदमंजरी २ भाग, काशी १८९८
हरिराम	काशिका (वैयाकरणभूषण की टीका) बम्बई, १९१५
हीमन, बर्थी	स्फोट एण्ड ब्रह्म के० बी० पाठक कामेमोरेशन वाल्यूम
"	वाक् बिफोर भर्तृहरि, इण्डियन फिलासाफिकल कांग्रेस, अडयार
"	डाक्टरिन आफ स्फोट गंगानाथ झा रिसर्च जरनल, इलाहाबाद, १९४८
हेलाराज	प्रकीर्णक प्रकाश

अनुक्रमणिका